॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

श्रीरविचन्द्रमुनीन्द्रविरचितं

आराधनासमुच्चयम्

हिन्दी टीकाकर्त्री

गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी

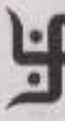

प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन मध्यलोक शोध संस्थान, सम्मेदशिखर

शिखरजी - ८२५३२९

गिरीडीह (झारखण्ड)

卐 सम्पादकीय 卐

श्री रविचन्द्र मुनीन्द्र विरचित **आराधनासमुच्चयं** २५२ संस्कृत आर्या छन्दों में निबद्ध जैनधर्म की प्रमुख मान्यताओं को निदर्शित करने वाली एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। स्वयं कृतिकार के शब्दों में **'आराधना-समुच्चयं आगमसारं'** है। निश्चय ही यह कृति जैनागम के सार को प्रस्तुत करती है। परन्तु यह **'रचितोऽयमखिलशास्त्रप्रवीण-विद्वन्मनोहारी'** है यानी यह कृति अखिल शास्त्रों में प्रवीण जो विद्वान् हैं उनके मन को हरने वाली है। शायद यही कारण है कि अन्य स्वाध्यायियों के स्वाध्याय हेतु इस ग्रन्थ का उपयोग नहीं हो सका।

भारतीय ज्ञानपीठ से १९६७ में डॉ. आ. ने. उपाध्ये के सम्पादकत्व में यह प्रथम बार मूल रूप में प्रकाशित हुआ था। मात्र मूल संस्कृत में होने के कारण पाठकों को इसके स्वाध्याय का लाभ नहीं मिल सका। १९७० में क्षुल्लक सिद्धसागर जी महाराज के मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद सहित यह कृति दिगम्बर जैन समाज मौजमाबाद-जयपुर (राज.) से प्रकाशित हुई थी। तभी स्वाध्यायियों को इस कृति के अन्तरंग का परिचय मिला। इस संस्करण के चौंतीस वर्षों बाद अब आगम के सार रूप यह कृति **पूज्य आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी** की विस्तृत हिन्दी टीका सहित स्वाध्यायी पाठकों के कर-कमलों में अर्पित है। पूज्य माताजी की प्रामाणिक लेखनी ने इस कृति को सहज बोधगम्य बना दिया है, यह पूज्य माताजी का हम पर बड़ा उपकार है। दुर्बोध विषय को सहज ग्राह्य बनाने के लिए कहीं-कहीं प्रसंगवश विषय की आवृत्ति भी हुई है पर वह दोषरूप कहीं नहीं है।

ग्रन्थ का नाम है- आराधनासमुच्चय। समुच्चय का अभिप्राय है- समूह, राशि, कुछ वस्तुओं या बातों का एक जगह एकत्र होना (cumulation)। आराधना का सामान्य अर्थ है भक्ति करना, उपासना करना। जैन दर्शन का यह पारिभाषिक शब्द है।

'अनगारधर्मामृत' कार ने लिखा है-

वृत्तिर्जातसुदृष्ट्यादेस्तदगतातिशयेषु वा।
उद्योतादिषु सा तेषां भक्तिराराधनोच्यते ॥९८/१०५॥

जिसके सम्यग्दर्शनादिक परिणाम उत्पन्न हो चुके हैं ऐसे पुरुष को उन सम्यग्दर्शनादिक में रहने वाले अतिशयों अथवा उद्योतादिक विशेषों में जो वृत्ति उसी को दर्शनादिक की भक्ति कहते हैं और इस भक्ति का नाम ही आराधना है।

'भगवती आराधना' में कहा है-

उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वाहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंसणणाणचरित्तं तवाणमाराहणा भणिया ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप इन चारों का यथायोग्य रीति से उद्योतन करना, इनमें परिणति करना, इनको दृढ़ता पूर्वक धारण करना, इनके मन्द पड़ जाने पर पुनःपुनः जागृत करना और इनका आमरण पालन करना सो आराधना है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप रूप आराधनाओं का संकलन है इस ग्रन्थ में इसीलिए यह **'आराधना समुच्चय'** है। ग्रन्थ की एक अन्य विशेषता है- तपाराधना के अन्तर्गत अन्तरङ्ग तप 'ध्यान' का वर्णन करते समय द्वादश अनुप्रेक्षाओं का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भ वर्णन।

चारों आराधनाओं का २१० पद्यों में शास्त्रोक्त समीचीन वर्णन करने के बाद ग्रन्थकर्त्ता ने ३० पद्यों में आराधना का स्वरूप, आराधकजन का स्वरूप, आराधना का उपाय और आराधना का फल इन चार विषयों की गम्भीर चर्चा कर ग्रन्थ की उपादेयता में वृद्धि की है। इस प्रकार ग्रन्थकार ने आराधना के माध्यम से निर्वाणप्राप्ति का सम्यक् मार्ग बताया है।

जैनाचार्यों ने 'आराधना' विषयक नाना कृतियों का प्रणयन किया है। इतिहासज्ञ डॉ. कस्तूर चन्द कासलीवाल लिखते हैं- "श्री वेलंकर ने अपने 'जिनरत्नकोश' में २७ से भी अधिक रचनाओं का उल्लेख किया है। इधर राजस्थान के जैन ग्रन्थ भण्डारों पर जो कार्य हुआ है और श्रीमहावीरजी क्षेत्र के साहित्य शोध विभाग की ओर से सूचियों के जो चार भाग प्रकाशित हुए हैं उनमें आराधना विषयक और भी कितनी ही रचनाओं का पता चला है। ये रचनायें देश के शास्त्रभण्डारों में अब तक उपलब्ध कृतियों में प्राकृत, संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में निबद्ध हैं। कुछ प्रमुख रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं - १. आराधनासार – आचार्य देवसेन (प्राकृत ९ वीं शताब्दी), २. भगवती आराधना (शिवार्य, प्राकृत), ३. आराधनासार प्रबन्ध (प्रभाचन्द्र, संस्कृत), ४. आराधनासार वृत्ति (आशाधर, संस्कृत, १३ वीं शताब्दी), ५. आराधना प्रबन्ध (सोमसूरि, प्राकृत), ६. आराधना कुलक (अभयसूरि), ७. आराधना पताका (वीरभद्र सूरि), ८. आराधना प्रतिबोधसार (भट्टारक सकलकीर्ति - हिन्दी), ९. आराधना प्रतिबोधसार (विमलेन्द्र सूरि, हिन्दी), १०. आराधनासार (ब्र. जिनदास, हिन्दी), ११. आराधना कथाकोश (ब्रह्म नेमिदत्त, संस्कृत), १२. आराधना समुच्चय (रविचन्द्र मुनीन्द्र)

"इससे यह स्पष्ट है कि आराधना विषय जैन विद्वानों की दृष्टि में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा है और समय-समय पर उन्होंने विभिन्न भाषाओं में ग्रन्थों का निर्माण किया है।" (प्रस्तावना, आराधना समुच्चय, मौजमाबाद प्रकाशन।)

अद्यावधि प्रकाशित आराधना विषयक ग्रन्थों में **शिवार्य** रचित **भगवती आराधना** ग्रन्थ सर्वोपरि है और अन्य ग्रन्थों के लिए आधारग्रन्थ है। दो वर्ष पूर्व पूज्य **आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी** ने **देवसेनाचार्य** विरचित **आराधनासार** एवं इसकी **रत्नकीर्तिदेव विरचित संस्कृत टीका** का अनुवाद किया था जो श्री दिगम्बर जैन मध्यलोक शोध संस्थान, सम्मेदशिखर जी से प्रकाशित हुआ है।

रचयिता श्री रवीन्द्र मुनीन्द्र के जीवन के सम्बन्ध में और उनकी अन्य कृतियों के सम्बन्ध में उनकी इस कृति से कुछ विशेष ज्ञात नहीं होता। बस, इतना ज्ञात होता है कि पनसोगे ग्राम में यह कृति रची गई। डॉ. ए. एन. उपाध्ये के अनुसार यह ग्राम कर्णाटक प्रदेश में स्थित है। यह तथ्य इस बात को दर्शाता है कि श्री रवीन्द्र मुनीन्द्र का कार्यक्षेत्र दक्षिण भारत रहा है। साक्ष्यों के अभाव में इनके समय के बारे में भी निश्चित नहीं कहा जा सकता। क्षुल्लक सिद्धसागर जी इन्हें १०वीं शताब्दी का स्वीकार करते हैं तो डॉ. कस्तूरचन्द्र

कासलीवाल कहते हैं कि "यदि उन्हें ११ वीं शताब्दी के आसपास का ही माना जावे तो वह उचित ही रहेगा।" डॉ. उपाध्ये इन्हें ११वीं शताब्दी का स्वीकार करते हैं। रचयिता रवीन्द्र मुनीन्द्र के कालनिर्णय हेतु अभी विशेषशोध अपेक्षित है।

विस्तृत हिन्दी टीका सहित इस ग्रन्थ का यह नवीन प्रकाशन पूज्य **आर्यिका श्री सुपार्श्वमती माताजी** के वैदुष्य एवं परिश्रम का सुपरिणाम है। आपकी कार्य-तत्परता की जितनी सराहना की जाए वह कम है। आयु के ७५ वसन्त पार कर लेने पर भी आपमें कार्य-निष्पादन की अद्भुत क्षमता है। आपकी लेखनी सतत गतिशील रहती है। कुछ समय पूर्व ही आपने 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थ का हिन्दी भाषान्तर पूर्ण किया है जो अभी सम्पादन प्रकाशन की प्रक्रिया में है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में पूज्य माताजी ने विस्तार से रचयिता रविचन्द्र मुनीन्द्र के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। ब्र. डॉ. प्रमिला बहिन ने पूज्य माताजी का परिचय प्रस्तुत किया है, साथ ही ग्रन्थ के प्रतिपाद्य की भी चर्चा की है। ग्रन्थ के अन्त में मूल श्लोक सूची व उद्धृत पद्यों की सूची सम्मिलित की गई है।

प्रस्तुत संस्करण के संयोजन-सम्पादन का भार मुझ अल्पज्ञ पर डालकर बहुश्रुतज्ञ पूज्य आर्यिकाश्री ने मुझ पर जो अनुग्रह किया है एतदर्थ मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मैं पूज्य माताजी के श्रीचरणों में सविनय वन्दामि निवेदन करता हूँ और कामना करता हूँ कि वे निरामय दीर्घायु प्राप्त कर इसी तरह जिनवाणी के हार्द को सहज बोधगम्य बनाकर प्रस्तुत करती रहें।

संघस्था **डॉ. प्रमिला बहिन** के प्रति भी उनके अनेकविध सहयोग के लिए आभार व्यक्त करता हूँ। ग्रन्थ के प्रकाशन में अर्थसहयोग करने वाले **श्री बगड़ा परिवार** को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

कम्प्यूटर कार्य के लिए निधि कम्प्यूटर्स के **श्री क्षेमंकर पाटनी** व उनके सहयोगियों विशेषरूप से **श्री सुनील भटनागर** को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। त्वरित मुद्रण के लिए **हिन्दुस्तान प्रिंटिंग हाउस, जोधपुर** को साधुवाद देता हूँ।

मेरे प्रमाद व अज्ञान से ग्रंथ की प्रस्तुति में भूलें रह जाना स्वाभाविक है। सहृदय पाठकों से सविनय अनुरोध करता हूँ कि वे क्षमा प्रदान करते हुए सौहार्द भाव से मुझे उन भूलों से अवगत कराने की अनुकम्पा करें।

श्रुत पंचमी
२४ मई, २००४

विनीत
डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी
अविरल, ५४-५५, इन्द्रा विहार
न्यू पावर हाउस रोड, जोधपुर

卐 आमुख 卐

ग्रन्थकर्त्ता :

जैन धर्म के इतिहास में बहुत से आचार्यों के लिखे ग्रन्थ तो प्राप्त होते हैं परन्तु उनके रचयिता का नामोल्लेख दुष्प्राप्य है । किन्हीं का नाम प्राप्त है तो उसमें भी विद्वानों का विवाद है क्योंकि एक नाम के कितने ही आचार्य हुए हैं, जैसे भद्रबाहु श्रुतकेवली भी हुए हैं और अन्य आचार्य भी हुए हैं। अत: 'भद्रबाहु संहिता' में विवाद है। इसी प्रकार **आराधना समुच्चय** के विषय में विवाद है क्योंकि **रविचन्द्र** नामक तीन आचार्य हुए हैं।

आचार्य रविचन्द्र अपने को मुनीन्द्र कहते हैं। उनका निवासस्थान कर्नाटक प्रान्त के अन्तर्गत 'पनसोग' नामका ग्राम है। कर्नाटक के शिलालेखों में रविचन्द्र का नाम कई स्थानों पर आया है। अभिलेखों से इनका समय ई. सन् की दशम शताब्दी सिद्ध होता है। धारवाड़ के सन् १९६२ ई. के एक अभिलेख में रविचन्द्र मुनि का उल्लेख आया है। (दक्षिण भारतीय एपिग्राफिका के वार्षिक प्रतिवेदन सन् १९३४-३५ पृ. ७ अभिलेख संख्या ४३२ में इसका उल्लेख है।)

एक अन्य रविचन्द्र का उल्लेख मासोपवासी सैद्धांतिक के रूप से प्राप्त होता है। इस अभिलेख में माघनन्दी की गुरु परम्परा दी गई है। बताया है कि नन्दिसंघ बलात्कारगण के वर्त्तमान मुनि होयसल राजा के गुरु थे। उन्होंने माघनन्दी की परम्परा इस प्रकार लिखी है- श्रीधर, त्रैविद्य पद्मनन्दी, त्रैविद्यवासुपूज्य, सैद्धान्तिक शुभचन्द्र भट्टारक, अभयनन्दी भट्टारक-अरुहणंदि सैद्धान्तिक, देवचन्द्र अष्टोपवासी, कनकचन्द्र, नयकीर्त्ति, मासोपवासी रविचन्द्र, हरिनंदी, श्रुतकीर्त्ति, त्रैविद्य वीरनंदी, हरियनन्दी, श्रुतकीर्त्ति त्रैविद्य, वीरनन्दि सैद्धान्तिक, गण्डविमुक्त, नेमिचन्द्र भट्टारक, गुणचन्द्र, जिनचन्द्र, वर्द्धमान, श्रीधर, वासुपूज्य, विद्यानन्दी स्वामी, कटकोपाध्याय, श्रुतकीर्त्ति, वादिविश्वासघातक, मलेयालपाण्डय देव, नेमिचन्द्र-मध्याह्न कल्पवृक्ष, वासुपूज्य इत्यादि माघनन्दी आचार्य की परम्परा जैन शिलालेख संग्रह भाग चार में स्पष्ट रूप से लिखी है।

एक रविचन्द्र का उल्लेख श्रवणबेलगोला के अभिलेख सं. ५३ में आया है। इस अभिलेख के अनुसार रविचन्द्र सन् ११३० में वर्त्तमान थे। माघनंदी आचार्य की परम्परा में होने वाले रविचन्द्र का समय ई. सन् की १३ वीं शताब्दी सिद्ध होती है।

'आराधना समुच्चय' के रचयिता रविचन्द्र उपर्युक्त रविचन्द्र ही हैं या इनसे भिन्न हैं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार ने स्वयं अपना परिचय एक पद्य में इस प्रकार दिया है।

श्रीरविचन्द्रमुनीन्द्रैः पनसोगेग्रामवासिभिर्ग्रन्थः।
रचितोऽयमखिलशास्त्रप्रवीण-विद्वन्मनोहारी ॥४२॥

इस श्लोक से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि रविचन्द्र आचार्य दक्षिण भारत के रहने वाले थे और जैन शास्त्रों के अद्भुत ज्ञाता थे। माघनन्दी की परम्परा में हलेवीड़ के एक संस्कृत और कन्नड़मिश्रित अभिलेख में अभयनन्दी का नामोल्लेख है।

"स्वस्ति श्री मूलसंघ देशीयगण, पुस्तक गच्छ कोण्डकुन्दान्वय दिङ्नलेश्वर दबलिय श्रीसमुदायद-माघनंदिभट्टारकदेवर प्रिय शिष्य सं. श्रीमन्नेमिचन्द्र भट्टारक देवसं श्रीमदभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्त्ती गलुं शकवर्ष १११७ ने मय भाव संवत्सरद भाद्रपद शुद्ध १२ बुधवारद।"

हलेबीड़ के एक अन्य अभिलेख में जो शक संवत् १२०१ (ई. सन् १२७९) का है इसमें अभयचन्द्र के समाधिमरण का उल्लेख है।

एक लेख में ईस्वी सन् १२०५ है। इससे सिद्ध होता है कि रविचन्द्राचार्य का काल १२ वीं या १३वीं शताब्दी है।

आराधना समुच्चय में रविचन्द्र मुनीन्द्र ने पूर्वाचार्यों के अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। इन उद्धरणों से उनके पाण्डित्य और समय सम्बन्ध का भी अनुमान लगाया जा सकता है। इन्होंने रामसेन द्वारा विरचित **तत्त्वानुशासन** का निम्नलिखित पद्य 'उक्तञ्च' कहकर उद्धृत किया है।

तत्त्वज्ञानमुदासीनमपूर्वकरणादिषु।
शुभाशुभमलाभावाद्विशुद्धं शुक्लमभ्यधुः ॥१०४॥

अर्थात् अपूर्वकरणादि स्थानों में जो उदासीन अनासक्तिमय तत्त्वज्ञान होता है वह शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के मल का नाशक होने के कारण शुक्ल ध्यान कहा गया है। यही श्लोक तत्त्वानुशासन में क्र.सं. ३४२ पर है। इससे सिद्ध होता है कि रविचन्द्र रामसेन के बाद में हुए हैं।

'आराधना समुच्चय' का उल्लेख शुभचन्द्र ने स्वामी कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत व्याख्या में किया है। शुभचन्द्र ने अपनी यह व्याख्या ई. सन् १५५६ में पूर्ण की है। अतएव यह निश्चित है कि रविचन्द्र की ख्याति उस समय तक व्याप्त हो चुकी थी। इसलिए भी उनका समय ई. सन् १५५६ के पूर्व सिद्ध होता है।

यदि हम माघचन्द्र की परम्परा का अवलोकन करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि 'आराधना समुच्चय' के रचयिता हलेबीड़ के कन्नड़ लेख में रविचन्द्र है। हलेबीड़ का कन्नड़ में लिखित लेख १२०५ का है। इसी प्रकार १३वीं शताब्दी में होने वाले 'केलगेरे' के अभिलेख में भी मासोपवासी रविचन्द्र सिद्धान्तदेव का उल्लेख है। अतः इनका समय ई. सन् की १२ वीं शताब्दी का अन्तिम पाद या १३वीं शती का प्रथम पाद संभव है। इस **आराधना समुच्चय** के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उन्होंने बहुत ग्रन्थों का अध्ययन किया था और आचार्यों की परम्परा को सुरक्षित रखने के लिए पूर्व आचार्यों का अनुकरण किया है।

इन्होंने मंगलाचरण में 'आगमसारं आराधनासारं प्रवक्ष्यामः' इस सूत्र में आगम का सार और प्रवक्ष्यामः ये दो शब्द विचारणीय हैं। ''प्रवक्ष्यामः'' 'प्र' शब्देन (प्रबंधनेन - आचार्योपदेशपारम्पर्येण आगतं वक्ष्यामः। प्राहुः इति व्याख्यानार्थत्वात्। तदनेनानादिरयं शास्त्रप्रबन्धः केवल तत्संक्षेपादिविधावेव शास्त्रकाराणामाधिपत्यमिति दर्शयति। न्यायविनिश्चय विवरणं।) यह विवरण 'न्यायविनिश्चय' के टीकाकार वादिराज सूरि ने तीसरे श्लोक की व्याख्या में 'प्राहुः' शब्द का अर्थ करते समय लिखा है कि आचार्य की परम्परा से आये हुए अर्थ को कहना 'प्राहु' कहलाता है (उसी प्रकार परम्परा से आये हुए शास्त्र के कथन की प्रतिज्ञा करना 'प्रवक्ष्यामः' कहा जाता है। इससे यह फलित होता है कि शास्त्रों की यह परम्परा अनादिकालीन है। अर्थ की अपेक्षा ग्रन्थों की रचना के कर्ता सर्वज्ञ देव हैं इसीलिए कहा जाता है कि 'मूलग्रन्थकर्त्तारः सर्वज्ञ-देवाः') इति।

ग्रन्थ :

आचार्यदेव ने 'आराधना समुच्चयं' यह नाम सार्थक रखा है।

''राध् और साध्'' धातु सिद्धि अर्थ में होते हैं। 'आ' समन्तात् राध्यते साध्यते आत्मनः सिद्धिः यया सा आराधना। जिसके द्वारा आत्मा की सिद्धि की जाती है, शुद्धात्मा की प्राप्ति की जाती है उसको आराधना कहते हैं।

आत्मसिद्धि की साधना में जिसकी आराधना की जाती है वह आराध्य है। मुक्ति का अभिलाषी आराधना करने वाला आराधक कहलाता है। स्वर्ग, मोक्ष की प्राप्ति फल कहलाता है।

आराधना समुच्चय में इन चारों का वर्णन है। आचार्यदेव ने इनका कथन सुचारु रूप से किया है।

आराधना सम्बन्धी यद्यपि आराधना सार, भगवती आराधना आदि अनेक हैं परन्तु इस ग्रन्थ में एक अनूठा ही कथन है। इसके माध्यम से इन्होंने तपाराधना में ध्यान का वर्णन करते समय कर्मों की बन्ध-व्युच्छित्ति सत्ता-व्युच्छित्ति, उदय-व्युच्छित्ति, उदीरणा-व्युच्छित्ति का बहुत सुन्दर ढंग से कथन किया है।

यह ग्रन्थ संस्कृत पद्यों में लिखा गया है। इसमें २५२ पद्य हैं, जिनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप का वर्णन है। गुण और गुणी के भेद से आराध्य दो प्रकार के कहे हैं। गुणी आराध्य का कथन करते समय ग्रन्थकार ने पंच परमेष्ठी का कथन किया है।

गुण आराधना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप के भेद से चार प्रकार की कही है। इन चारों प्रकार के गुणों का विस्तार रूप से कथन किया है। इस ग्रन्थ की विशेषता है आराध्य के कथन में गुण-गुणी के भेद से दो प्रकार से कथन करना।

रविचन्द्र आचार्य ने गुणी जनों का कथन करते समय आचार्य, उपाध्याय और साधुजनों के ३६-२५-२८ गुणों का कथन करने के पूर्व देश-कुल और जाति की शुद्धि का कथन करना भी परमावश्यक समझा अतः उसका वर्णन किया है-

शिष्यानुग्रह-निग्रह-कुशलाः कुलजातिदेशसंशुद्धाः।
षट्त्रिंशद्गुणयुक्तास्तात्कालिकविश्वशास्त्रज्ञाः ॥६॥
आचारं पंचविधं भव्यानाचारयन्ति ये नित्यं।
शक्त्याचरन्ति च स्वयमाचार्यास्ते मते जैने॥७॥

जैन दर्शन ने देश, कुल और जाति शुद्ध वाले को ही आचार्य, उपाध्याय और साधु बनने का आदेश दिया है।

प्रवचनसार में भी कुन्दकुन्दाचार्य ने देश-कुल-जाति की शुद्धि का कथन किया है जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करने वाले के लिए।

अन्य ग्रन्थों में ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना, चारित्राराधना और तपाराधना इस क्रम से आराधनाओं का कथन किया है। परन्तु रविचन्द्राचार्य ने सर्वप्रथम दर्शनाराधना का कथन किया है। सामान्यतः वस्तु स्वरूप को जानकर ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है क्योंकि देशनालब्धि के बिना कभी किसी को भी सम्यग्दर्शन नहीं होता अतः प्रायः सर्व प्रथम ज्ञान आराधना का कथन है।

न्याय विनिश्चय में लिखा है, सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, ऐसी बात नहीं है अपितु सम्यग्ज्ञान और असम्यग्ज्ञान दोनों ही प्रमाण हैं। लौकिक दृष्टि में भी मैंने दीपक से देखा, चक्षु से जाना, धूम से अग्नि को जाना, शब्द (शास्त्र) से जाना आदि लोक-व्यवहार होता ही है।

सम्यग्दर्शन के पूर्व ज्ञान को प्रमाण उपचार से कहते हैं, "ऐसा भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि "यस्य प्रमितिक्रियां प्रति साधकतमता तस्य प्रामाण्यमिति प्रसिद्धिः" अतः प्रमाणपदाच्चोक्तस्यैवार्थस्यावगमः। तथा शास्त्रान्तरेऽपि - अव्यभिचारादि विशेषण-विशिष्टोपलब्धि जनकस्य बोधस्याबोधस्य वा सामान्येन प्रमाणत्व-प्रसिद्धिः।"

जो ज्ञान प्रमिति क्रिया के प्रति साधकतम होता है वह प्रमाण होता है, यह प्रसिद्धि है क्योंकि प्रमाण पद से उक्त अर्थ का ज्ञान होता है इसलिए सम्यग्ज्ञान और असम्यग्ज्ञान दोनों को प्रमाण माना है अतः देशनालब्धि प्रमाण से वस्तु को जानकर ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है इसलिए ज्ञानाराधना प्रथम कही है दर्शनाराधना तदनन्तर।

जिनको सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञान आराधना इष्ट है उन्होंने सम्यग्दर्शन आराधना के अनन्तर ज्ञान आराधना का कथन किया है, ऐसा प्रतीत होता है। स्वयं रविचन्द्र आचार्य ने आराधक जन का कथन करते समय १७-१८-१९ गाथा में कथन किया है कि सम्यग्दृष्टि के द्रव्यात्मक और भावात्मक दोनों ही ज्ञान सम्यक् होते हैं। अत: दर्शन आराधना के बाद ज्ञान आराधना कही है और मिथ्यादृष्टि के ग्यारह अंग तक के द्रव्य श्रुतज्ञान को देखकर प्रथम ज्ञान आराधना कही है, इसमें आचार्यों में परस्पर विरोध नहीं है।

पूर्ववर्त्ती आचार्यों की प्राकृत रचनाओं का अनुसरण कर लिखे गए इस ग्रन्थ में २५२ गाथाएँ आर्याछन्द में निबद्ध हैं। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में प्राकृत भाषा के दो और संस्कृत भाषा के पाँच, कुल सात उद्धरण हैं।

अनेक पदों में कुन्दकुन्दाचार्य का अनुसरण दृष्टिगोचर होता है, जैसे कुन्दकुन्द ने लिखा है-

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं शिष्याणं।
तं सोऊण सकण्णो दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥

इसी प्रकार इन्होंने पूर्वार्ध का अनुसरण करते हुए लिखा-

वृक्षस्य यथा मूलं प्रासादस्य च यथा अधिष्ठानं ।
विज्ञानचरिततपसां तथा हि सम्यक्त्वमाधार:।

और भी बहुत से श्लोकों में पूर्वाचार्यों का अनुसरण है। इसके पठन, मनन, चिन्तन से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि भव्य जीवों पर कृपादृष्टि रखने वाले आचार्यदेव ने इस लघु कृति में गागर में सागर की कहावत को सत्यकर चतुर्विध आराधना और इससे सम्बन्धित आराध्य, आराधक जन, आराधनोपाय और आराधना के फल का सुव्यवस्थित रूप से कथन किया है।

इस ग्रन्थ की रचना में अधिकतम कथन तप आराधना के अन्तर्गत द्वादश अनुप्रेक्षाओं पर किया गया है और द्वादश अनुप्रेक्षाओं के वर्णन का क्रम भी वहीं है जो शिवार्य, वट्टकेर और कुन्द-कुन्दाचार्य ने अपनाया है तथा यह स्वाभाविक भी है क्योंकि शिवार्य की कृति '**भगवती आराधना**' आत्मशांति रूप समाधिमरण के लिए रचित प्रत्येक ग्रन्थ के लिए एक महत्वपूर्ण आधार ग्रन्थ है।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और कायक्लेशों की वृद्धि करने वाले मिथ्यातपश्चरण रूपी हलाहल विष का वमन कराकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप रूपी अमृत प्रदान करने के लिए यह ग्रन्थ परमौषधि है। इस ग्रन्थ में संक्षेप से ११ अंग और चौदह पूर्व के सारभूत चारों अनुयोगों का विषय पूर्ण रूप से समाहित है। बड़ी कठिनता से जिसका विषय जाना जाता है, जिसमें विद्वज्जनों का ही प्रवेश है मुझ जैसे अज्ञानी का नहीं, फिर भी मैंने इसकी भाषा टीका करने का दु:साहस किया है। इसके विषयों को अन्य ग्रन्थों के आधार पर सरल बनाया है। इसमें यदि कोई भूल रही हो तो विद्वज्जन क्षमा करें, मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

इस कार्य में सहयोग देने वाले मुख्यतया संघस्था **डॉ. प्रमिलाजी** और **डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी, जोधपुर** को मैं शुभाशीर्वाद देती हूँ कि उनके ज्ञान-ध्यान और धर्माचरण की प्रतिदिन वृद्धि हो और अन्त में समाधिमरण प्राप्त कर वे उत्तम पद को प्राप्त करें।

आचार्यवर्य वीरसागर जी की अन्तिम शिष्या

आर्यिका सुपार्श्वमती

❋ ❋ ❋

卐 विषय सूची 卐

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ संख्या
१.	सम्यग्दर्शन आराधना	१
२.	सम्यग्ज्ञान आराधना	७२
३.	सम्यक् चारित्र आराधना	१२७
४.	सम्यक् तप आराधना	१५६
५.	द्वादश अनुप्रेक्षा	२०६
६.	आराध्य-स्वरूप	२७२
७.	आराधकजन-स्वरूप	२९२
८.	आराधना-उपाय	२९९
९.	आराधना-फल	३४६
•	श्लोकानुक्रमणिका	३६४

ॐ

श्रीरविचन्द्रमुनीन्द्रविरचितम्

आराधनासमुच्चयम्

तस्योपरि पूज्य १०५ गणिनी आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी विरचिता
भाषा टीका

१. सम्यग्दर्शनाराधना:

मंगलाचरण एवं ग्रन्थरचना की प्रतिज्ञा

सम्यग्दर्शनबोधनचरित्ररूपान् प्रणम्य पंचगुरून्।
आराधनासमुच्चयमागमसारं प्रवक्ष्याम: ॥१॥

अन्वयार्थ - **सम्यग्दर्शनबोधनचरित्ररूपान्** - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप। **पंचगुरून्** - पंच परमेष्ठी को। **प्रणम्य** - नमस्कार करके। **आगमसारं** - आगम के सारभूत। **आराधनासमुच्चयं** - आराधना समुच्चय ग्रन्थ। **प्रवक्ष्याम:** - कहूँगा।

भावार्थ - किसी भी कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए सर्वप्रथम मंगलाचरण किया जाता है।

मं - पापं। गलं - गालयति, नाशयति इति मंगलं - जो पापों का नाश करता है उसको मंगल कहते हैं अथवा मंगं - शुभं, लाति - देता है उसको मंगल कहते हैं। अर्थात् - जिनका चिंतन, मनन, स्मरण, कीर्तन करने से अनादि काल से बँधी हुई पाप रूपी साँकल टूट जाती है - वा पाप कर्मप्रकृति का शुभ कर्मप्रकृति में संक्रमण हो जाता है तथा पुण्यानुबंधी पुण्य कर्म का आस्रव होता है उसको मंगल कहते हैं।

प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारंभ में मंगलाचरण करना परमावश्यक है, क्योंकि मंगलाचरण करने से शुभ कर्मों का आगमन होता है और अशुभ कर्मों के फल देने की शक्ति का अभाव होता है। **पंचास्तिकाय** में **जयसेन आचार्य** ने लिखा है-

आई मंगलकरणे सिस्सा लहुपारगा हवंति त्ति।
मज्झे अव्वुच्छित्ति विज्जा विज्जाफलं चरिमे॥

आदि में (प्रारंभ में) मंगलाचरण करने से शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति होती है। मध्य में मंगलाचरण करने से शिष्य शीघ्र विद्या के पारगामी होते हैं और अंत में मंगलाचरण करने से विद्या का फल प्राप्त होता है।

ग्रन्थ के प्रारंभ में मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्त्ता इन छह अधिकारों का कथन करना अति आवश्यक है, क्योंकि इनके बिना ग्रन्थ में प्रमाणता नहीं आती है और शास्त्र का पूर्ण ज्ञान भी नहीं होता है। इसीलिए आचार्य ने ग्रन्थ के प्रारंभ में सर्वप्रथम मंगलाचरण किया है क्योंकि मंगलाचरण में छहों अधिकार गर्भित हो जाते हैं।

नास्तिकता के परिहार, शिष्टाचार के परिपालन, पुण्य की प्राप्ति और विघ्नों का विनाश करने के लिए मंगलाचरण किया जाता है।

वह मुख्य मंगल भाव और द्रव्य के भेद से दो प्रकार का भी कहा है।

आंतरिक भावना से जिनेन्द्र भगवान के गुणों का स्मरण करना **भाव मंगल** है तथा 'जिनेभ्यो नमः' इस प्रकार वचनों से उच्चारण करना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना **द्रव्य मंगल** है।

इस ग्रन्थ के मंगलाचरण में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारक पंच परमेष्ठी के गुणों के चिंतन स्वरूप भाव मंगल और 'प्रणम्य' रूप शब्द से द्रव्य मंगल किया गया है।

इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम आचार्यदेव ने रत्नत्रय के धारक पंच परमेष्ठी को नमस्कार करके आगम में सारभूत **आराधनासमुच्चय** को कहने की प्रतिज्ञा की है। **प्रणम्य** - प्रकर्षेण मनोवचकाययोगैः नम्य नत्वा, उत्कृष्ट मन, वचन और काय की एकाग्रता से पंच परमेष्ठी को नमस्कार करके इस ग्रन्थ के कहने की प्रतिज्ञा की है। **प्रवक्ष्यामः** - यह आराधना ग्रन्थ है। इस आराधना के यथार्थ स्वरूप का कथन करने के लिए **'प्रवक्ष्यामः'** इसका प्रयोग किया है अर्थात् उत्कृष्ट रूप से आराधनासमुच्चय को कहूँगा।

अथवा - धवला में मंगल के छह अधिकार कहे हैं - मंगल, मंगलकर्त्ता, मंगलकरणीय (मंगल करने योग्य), मंगल का उपाय, मंगल के भेद और मंगल का फल।

मंगल का लक्षण तो पूर्व में लिख चुके हैं। चौदह विद्याओं के पारगामी आचार्य मंगलकर्ता हैं। भव्यजन मंगल करने योग्य हैं अर्थात् भव्य जीवों के अनादि काल से बँधे हुए कर्मों का विनाश मंगल करने से होता है। अतः भव्यजीव मंगलकरणीय (मंगल करने योग्य) हैं। रत्नत्रय की साधक सामग्री (आत्माधीनता, मन-वचन-काय की एकाग्रता आदि) मंगल का उपाय है।

सामान्य से मंगल एक प्रकार का है।[१] पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ और सौख्य इत्यादि सर्व मंगल के ही पर्यायवाची शब्द हैं।

जो आत्मा को पवित्र करता है वा जिस क्रिया से आत्मा पवित्र होती है उसको **पुण्य** कहते हैं।[२]

वह पुण्य द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है।

भाव पुण्य के निमित्त से उत्पन्न सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृति रूप पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड **द्रव्य पुण्य** है।[३] दान, पूजा, षड़ावश्यक आदि क्रिया रूप जीव के शुभ परिणाम **भाव पुण्य** हैं।[४] सम्यग्दर्शन, श्रुतज्ञान, व्रतरूप परिणाम तथा कषाय के निग्रहरूप गुणों से परिणत आत्मा **पुण्य जीव** है।[५] पुण्य से आत्मा पवित्र होती है और मंगल से भी आत्मा पवित्र होती है। अत: पुण्य और मंगल एकार्थवाची हैं। इसी प्रकार पूत, पवित्र, प्रशस्त आदि शब्द भी आत्मा की पवित्रता के सूचक हैं। अत: ये मंगलवाची हैं। यह ज्ञानावरणादि द्रव्यमल और अज्ञान, अदर्शन आदि भाव मल को गलाता है, विनष्ट करता है, घातता है, दहन करता है, हनता है, शुद्ध करता है, विध्वंस करता है इसलिए 'मंगल' कहा गया है। इस मंगल के द्वारा मंगल करने वाला अपने कार्य की सिद्धि पर पहुँच जाता है। शास्त्र के अर्थ का निश्चय करता है, शास्त्र के अर्थ को ग्रहण करनेमें समर्थ होता है। अत: आचार्यवर्य शास्त्र वा किसी कार्य का प्रारंभ मंगलाचरण-पूर्वक ही करते हैं।

मुख्य एवं गौण के भेद से मंगल दो प्रकार का है। वीतराग प्रभु के गुणों का स्मरण करना **मुख्य मंगल** है और पीली सरसों, छत्र, श्वेत घोड़ा, कन्या आदि **गौण** (अमुख्य) **मंगल** हैं।

पंचास्तिकाय की तात्पर्य वृत्ति में लिखा है -

आदौ मध्येऽवसाने च मंगलं भाषितं बुधैः।
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं, तदविघ्नप्रसिद्धये॥

ज्ञानीजनों ने कार्यगत विघ्नों का निवारण करने के लिए कार्य वा शास्त्र के प्रारंभ, मध्य और अवसान (समाप्ति) में जिनेन्द्र के गुणों का स्तवन करने का कथन किया है। वह मुख्य मंगल कहा जाता है।

द्रव्य और भाव के भेद से मंगल दो प्रकार का है।

मंगलवाचक शब्दों को वचन से उच्चारण करना **द्रव्य मंगल** है और उन मंगलवाचक शब्दों का वा मांगलिक वस्तु का आश्रय लेकर परिणामों की विशुद्धि होती है वह **भाव मंगल** है।

---

१. मंगलसामान्यात्तदेकविधं - ध. १/१.१.१ २. स. सि. ६/३ ३. पं. का. ता. १०८/१७२
४. पं. का. ५. मू.आ. १२३४/गो.जी.मू. ६४।

निबद्ध और अनिबद्ध के भेद से मंगल दो प्रकार का है। जो ग्रन्थ की आदि में ग्रन्थकार के द्वारा इष्ट देवता को नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है अर्थात् श्लोकादि रूप में रचकर लिख दिया जाता है उसे **निबद्ध मंगल** कहते हैं और जो ग्रन्थ की आदि में ग्रन्थकार द्वारा देवता को नमस्कार किया जाता है जिसे लिपिबद्ध नहीं किया जाता है, तथा शास्त्र लिखना या बाँचना प्रारंभ करते समय मन, वचन, काय से जो नमस्कार किया जाता है उसे **अनिबद्ध मंगल** कहते हैं।[१]

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के भेद से मंगल तीन प्रकार का है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का लक्षण आगे कहेंगे। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारण करने से आत्मा पवित्र होती है और इनसे द्रव्य एवं भाव कर्म का नाश होता है, आत्मा को परम पद की प्राप्ति होती है। अत: ये तीनों मंगलस्वरूप हैं।

अरिहंत, सिद्ध, साधु और जिनधर्म के भेद से मंगल चार प्रकार का है। जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय रूप चार घातिया कर्मों का नाशकर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तबल रूप चार अनन्त चतुष्टय को प्राप्त कर लिया है, वे **अरिहंत** कहलाते हैं।

ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का नाश कर जिन्होंने सम्यग्दर्शनादि आठ गुणों को प्राप्त कर लिया है तथा जो लोक के अग्र भाग में पुरुषाकार से स्थित हैं, वे **सिद्ध** कहलाते हैं।

जो रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग की साधना करते हैं तथा अपनी साधना में लीन रहते हैं, वे **साधु** कहलाते हैं। जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित अहिंसामय वा वस्तु स्वभाव रूप **धर्म** है। इन चारों की आराधना, उपासना, अर्चना करने से आत्मस्थ कर्मों का विनाश होता है, द्रव्यमल और भावमल नष्ट होते हैं अत: ये चार मंगल स्वरूप हैं।

पंच परमेष्ठी के स्तवनरूप पाँच मंगल हैं। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं।

सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी को **अरिहंत** आप्त कहते हैं। स्वात्मोपलब्धि, शिवसौख्यसिद्धि को प्राप्त, कृतकृत्य **सिद्ध** कहलाते हैं।

जो शिष्यों को शिक्षा-दीक्षा देते हैं, स्वयं दर्शनाचार, ज्ञानाचार, तपाचार, चारित्राचार और वीर्याचार रूप पाँच आचारों का पालन करते हैं तथा भव्य जीवों से इन पंचाचारों का पालन कराते हैं उनको **आचार्य** कहते हैं।

---

१. तत्थ णिबद्धं णाम जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्धदेवदाणमोक्कारो तं णिबद्धमंगलं। जो सुत्तस्सादीए सत्तारेण कायदेवदाणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं। ध.१।१, १, १/४१/५

जो शिष्यों को अध्यापन कराते हैं, धर्मोपदेश देकर जीवों को सन्मार्ग में लगाते हैं, जो रत्नत्रय से युक्त होते हैं, वे **उपाध्याय** कहलाते हैं। उपाध्याय भव्य जीवों को आत्मकल्याण का मार्ग दिखाते हैं, अतः ये मार्गदर्शक हैं। आचार्य मार्गसंचालक होते हैं। **साधु** उस मार्ग के अनुयायी हैं।

संक्षेप में कथन है - जिस किसी व्यक्ति के रागद्वेष की कुछ कमी हो जाती है उसे हम भला आदमी कहते हैं। वह स्वयं गलत कार्यों में नहीं जाता तथा दूसरों के लिए उपयोगी एवं कार्यसाधक ही सिद्ध होता है, बाधक नहीं। यदि किसी व्यक्ति के राग-द्वेष की कमी कुछ अधिक मात्रा में हुई हो तो लोग उसे सज्जन कहते हैं। ऐसा व्यक्ति न्यायपूर्वक आचरण करता है, सत्य बोलता है तथा स्थूल रूप से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पाँचों पापों का त्यागी होता है, शांत परिणामी होता है, उसे व्रती कहते हैं। इस व्रती मानव के हृदय से अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ ये आठ कषायें शांत हो जाती हैं। अपने अन्तस् में परम सुख का अनुभव करता है, क्योंकि वास्तव में व्रत वही है - बहिरंग में सावद्यक्रियाओं का त्याग और अंतरंग में आत्मस्वरूप का अनुभव।

सागार धर्मामृत में लिखा है कि अंतरंग में रागादि क्षय की तारतम्यता से आत्मानुभव विकसित हो रहा है और बाहर में संकल्पी हिंसा आदि का त्याग है, वही व्रती है।[१]

जिस व्यक्ति में रागद्वेष की मात्रा और न्यून हो जाती है अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ ये १२ कषायें शांत होती हैं; इनकी उदयव्युच्छित्ति हो जाती है वे आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी कहलाते हैं। यद्यपि इनमें बाह्य कार्य की उपाधि से भेद दिखता है, परन्तु अंतरंग के कषायों का अभाव तीनों में समान ही रहता है।

जब साधक (आचार्य, उपाध्याय, मुनि) के अंतरंग में १२ कषायों का अभाव होता है, तब वह पंच महाव्रत, पंच समिति, पंचेन्द्रियरोध, षड़ावश्यक तथा शेष सात गुणों का पालन करता है और अंतरंग में आत्मस्वभाव में रमण करने का प्रयत्न करता है। **अहिंसा महाव्रत** - हिंसा दो प्रकार की होती है-भाव और द्रव्य। उन दोनों प्रकार की हिंसा का अभाव अहिंसा है। आंशिक रूप से हिंसा का त्याग अणुव्रत और पूर्ण रूप से त्याग महाव्रत है। छह काय के जीवों की विराधना करना **द्रव्य हिंसा** है और राग द्वेष की उत्पत्ति होना **भाव हिंसा** है। दिगम्बर साधु अहिंसा महाव्रत का पालन करते हैं क्योंकि बाह्य में त्रस स्थावर की विराधना का त्याग कर द्रव्य अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन करते हैं और रागद्वेष का अभाव होने से वा मंद संज्वलन होने से उनके भाव हिंसा का भी अभाव है। इसी प्रकार झूठ, चोरी, कुशील एवं बाह्याभ्यंतर परिग्रह के त्यागी होते हैं जिससे द्रव्य और भाव रूप दोनों अहिंसा के पालन की पुट लगी रहती है। रागद्वेष के घट जाने से पंचेन्द्रिय विषयों से मन स्वयमेव पराङ्मुख हो जाता है। अतः पाँचों इन्द्रियाँ आत्माधीन

१. रागादिक्षय, सागारधर्मामृत

हो जाती हैं। अर्थात् निजस्वभाव के आस्वादन की बाधक कषायों के मन्द हो जाने से निज स्वभाव का स्वाद आता है तो शेष सर्वस्वाद नीरस एवं बेस्वाद हो जाते हैं। निज स्वभाव-स्पर्श के समक्ष परस्पर्श की इच्छा उत्पन्न ही नहीं होती। निज स्वभाव का अवलोकन किया तो अन्य कुछ देखने योग्य नहीं रहता। स्वभाव के अनहद नाद को सुना तो अन्य कुछ सुनने को नहीं रह जाता। निज गंध में रम जाने पर अन्य गन्ध-ग्रहण में मन स्वयमेव नहीं जाता। इस प्रकार अपने स्वभाव का अवलम्बन लिया तो पाँचों इन्द्रियों का निरोध स्वयमेव हो जाता है।

आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी के रागांश इतने मन्द हो जाते हैं कि सांसारिक भोगों के प्रति उनकी आसक्ति नहीं रहती। उनकी कोई भी क्रिया यत्नाचार के बिना नहीं होती, न उनकी आहारादि में आसक्ति होती है और न शरीर के प्रति अनुराग। इसलिए शरीर से विरक्त होकर वे दिन में एक बार भोजन करते हैं और स्नानादि का त्याग कर नग्न मुद्रा धारण करते हैं। वे अन्तर्मुहूर्त्त के भीतर-भीतर सातवें गुणस्थान में जाकर आत्मानुभव रस में लीन हो जाते हैं। जब आत्मानुभव रस के स्वाद से च्युत होते हैं तो समता, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, संस्तवन और कायोत्सर्ग रूप षट् आवश्यक क्रियाओं में लीन हो जाते हैं। इन महात्माओं के हृदय से भोगों की वाञ्छा निकल जाती है। अतः वे आत्मनिष्ठ रहते हैं परनिष्ठ नहीं। परनिष्ठा तब होती है जब पर में सुख माना जाता है। महामना मुनिराज आत्मस्वभाव में लीन रहते हैं। वे क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर शुक्ल ध्यान रूपी शस्त्र के द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर अर्हंत बन जाते हैं और अपने केवलज्ञान के द्वारा सर्व पदार्थों का अवलोकन कर भव्य जीवों को सन्मार्ग का उपदेश देते हैं। अन्त में अघातिया कर्मों का नाश कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त करते हैं। इनकी आत्मा परम पवित्र होती है, परम मंगल रूप होती है।

इन महापुरुषों के संस्तवन, चिंतन, स्मरणादि से अनादिकालीन कर्मशृंखला टूट जाती है।

"जिसके हृदय में पंचपरमेष्ठी स्थित होते हैं उसके निबिड़ घोर कर्मबन्ध भी ढीले पड़ जाते हैं, जैसे - चन्दन की शाखा पर मयूर के बैठ जाने से चन्दन के चारों तरफ लिपटी हुई सर्प की कुण्डलियाँ ढीली पड़ जाती हैं अर्थात् सर्प चन्दन वृक्ष को छोड़कर भाग जाते हैं।" **(कल्याणमन्दिरस्तोत्र ८)**

नाम मंगल - **णमो अरिहंताणं** आदि पंच परमेष्ठी के नाम का उच्चारण करना, चतुर्विंशति तीर्थंकरों का नाम लेना **नाम मंगल** है।

स्थापना मंगल - कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालयों की वन्दना करना, उनकी स्तुति करना **स्थापना मंगल** है।

द्रव्यमंगल - जिनेन्द्र भगवान के शरीर का रंग या उनके शरीर की ऊँचाई, आयु आदि का कथन करके स्तवन करना **द्रव्य मंगल** है। जैसे -

द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलौ द्वाविन्द्रनीलप्रभौ,
द्वौ सन्ध्याभ्रसमप्रभौ जिनवृषौ द्वौ च प्रियंगुप्रभौ।
शेषाः षोडश जन्ममृत्युरहिताः संतप्तहेमप्रभाः,
ते संज्ञानदिवाकराः सुरनुताः सिद्धिं प्रयच्छन्तु नः ॥६॥

- कृत्रिमाकृत्रिम-जिनचैत्य-पूजार्घ्य

चन्द्रप्रभु और पुष्पदंत कुन्द फूल के समान, चन्द्रमा के समान, बर्फ के समान अथवा हीरों के हार के समान श्वेत वर्ण के हैं। नेमिनाथ और मुनिसुव्रत नीलमणि के समान मनोज्ञ वर्ण वाले हैं। पद्मप्रभु एवं वासुपूज्य लाल वर्ण के हैं। पारसनाथ और सुपार्श्वनाथ मयूर के कंठ समान हरितवर्ण के हैं और शेष सोलह तीर्थंकर संतप्त सुवर्ण के समान वर्ण वाले हैं। इस प्रकार जिनेन्द्रदेव के शरीर के रंग के अनुसार उनकी स्तुति करना **द्रव्य मंगल** है। जैसे -

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये,
धामोद्दाममहिस्विनां जनमनो मुष्णान्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात् क्षरन्तोऽमृतं,
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥[१]

जिनकी दिव्यध्वनि भव्य जीवों के कानों में अमृत झराती है अर्थात् अमृत की वर्षा करती है, जिनका दिव्य रूप मनुष्यों के मन को मोहित करता है, जो एक हजार आठ लक्षण के धारी हैं वे भगवान मेरी रक्षा करें।

केकी कंठ समान छवि वपु उतंग नव हाथ।
लक्षण उरग निहार पद बन्दूँ पारसनाथ ॥[२]

जिनकी छवि मयूरकण्ठ के समान (नील वर्ण) है, जिनका शरीर नव हाथ ऊँचा है और जिनके चरण में सर्प का चिह्न है - ऐसे पार्श्वनाथ की मैं वन्दना करता हूँ, इत्यादि ग्राम-नगर, शरीरवर्ण, शरीर की ऊँचाई आदि रूप से जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करना **द्रव्य मंगल** है।

जिस नगर में भगवान का जन्म हुआ है, जहाँ पर भगवान ने दीक्षा ग्रहण की है, जहाँ तपश्चरण किया है, जिस स्थान पर केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है और जहाँ से केवली भगवान ने मोक्षपद प्राप्त किया है, वह **क्षेत्र मंगल** है। जैसे -

---

१. समयसार आत्मख्याति।

२. श्रीपार्श्वनाथजिनपूजा - जयमाला, कविवर बख्तावर।

अट्ठावयम्मि उसहो, चंपाए वासुपुज्ज जिणणाहो।
उज्जंते णेमि जिणो, पावाए णिब्बुदो महावीरो॥१॥

वीसं तु जिणवरिंदा अमरासुर-वंदिदा धुदकिलेसा।
सम्मेदे गिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं॥२॥[1]

अष्टापद (कैलास पर्वत) पर आदिनाथ भगवान ने निर्वाण प्राप्त किया है। वासुपूज्य जिननाथ ने चम्पापुर से निर्वाण प्राप्त किया है, ऊर्जयन्त (गिरनार) पर्वत पर नेमिनाथ ने निर्वाण प्राप्त किया है, पावापुर से महावीर भगवान मोक्ष पधारे हैं तथा देवों के द्वारा पूजित, क्लेश जिनके शांत हो गये हैं, जिनवरों में श्रेष्ठ ऐसे अजितादि बीस तीर्थंकरों ने सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया है। ऐसे सिद्धक्षेत्रों को मेरा बारंबार नमस्कार हो, इत्यादि रूप से निर्वाणक्षेत्र की स्तुति करना **क्षेत्रमंगल** है।

अथवा जिनेन्द्र भगवान का पाँच सौ धनुष से लेकर सात हाथ प्रमाण जो शरीर है वह तीर्थंकर की आत्मा से पवित्र होने से **क्षेत्र मंगल** स्वरूप है। उसकी स्तुति करना क्षेत्र मंगल है।

ये गुरु चरण जहाँ धरें जग में तीरथ होय।
सो रज मम मस्तक चढ़ो 'भूधर' मांगे सोय॥ (गुरु स्तवन)

महान् पुरुषों के द्वारा सेवित क्षेत्र महान् पवित्र होता है। जिस प्रकार इक्षु रस के संयोग से आटे में मधुरता आती है उसी प्रकार महापुरुषों के चरण-स्पर्श से वहाँ की भूमि परम पवित्र एवं मंगलमय बन जाती है। अतः वह **क्षेत्र मंगल** कहलाता है।

जिस तिथि में वा जिस संध्या काल आदि में तीर्थंकरों ने जन्म लिया है, दीक्षा ग्रहण की है, केवलज्ञान प्राप्त किया है तथा मोक्षपद प्राप्त किया है वह तिथि, वह समय परम मंगल स्वरूप है। सम्मुख चन्द्रमा का होना, योगिनी पीठ पीछे होना, आदि जो शुभ मुहूर्त्त हैं वे एक तरफ हैं और तीर्थंकर प्रभु के जन्म आदि का दिन एक तरफ है। उसके समान कोई दूसरा मंगल दिवस नहीं है, अतः तीर्थंकरों के जन्मादि की तिथि **काल मंगल** है।

जिनेन्द्र देव की अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय के अनुसार स्तुति करना **भाव मंगल** है।

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिकाः यत्र॥[2]

---

१. निर्वाणकाण्ड प्राकृत गाथा १-२

२. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय-मंगलाचरण।

जिस केवलज्ञान ज्योति में अनन्त गुण पर्याय सहित सर्व पदार्थ वैसे ही प्रतिबिम्बित होते हैं जैसे दर्पण में पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, वह ज्ञानज्योति जयवन्त रहे।

इस प्रकार आत्मा के अनन्त गुणों का आश्रय लेकर जो स्तवन किया जाता है, वह **भाव मंगल** है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से अलौकिक वा मुख्यमंगल इस तरह छह प्रकार का भी होता है।

मंगल का फल विघ्नों का विनाश है, सो ही कहा है

णासदि विग्घं भेददि यंहो दुट्ठा सुरा ण लंघंति।
इट्ठो अत्थो लब्भइ जिणणामग्गहण-मेत्तेण ॥३०॥

सत्थादिमज्झ-अवसाणएसु जिणथोत्त मंगलुच्चारो।
णासइ णिस्सेसाइं विग्घाइं रविव्व तिमिराइं ॥ति.प./१/३१॥

जिनेन्द्र भगवान के नामग्रहण मात्र से विघ्न नष्ट हो जाते हैं, पाप नष्ट हो जाते हैं। दुष्ट देव उल्लंघन नहीं करते हैं और इष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है। शास्त्र के आदि, मध्य और अवसान में जिनेन्द्र भगवान ने मंगल कहा है। जिस प्रकार सूर्य के द्वारा अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मंगलाचरण से विशेष विघ्न नष्ट हो जाते हैं।

मानतुंगाचार्य ने मंगल का फल लिखा है –

"हे प्रभो ! तुम्हारे स्तवन से भव-भव के बँधे हुए पाप क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। जैसे सूर्य के उदय होते ही रात्रिकालीन अंधकार नष्ट हो जाता है।"[१] यह तो मंगल का लौकिक फल है। अलौकिक वा मुख्य फल है श्रेयोमार्ग की सिद्धि। सो ही **आप्तपरीक्षा** में कहा है -

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुंगवाः ॥२॥

परमेष्ठी के प्रसाद से श्रेयोमार्ग की सिद्धि होती है इसलिए शास्त्र के प्रारंभ में मुनिराजों ने परमेष्ठी के गुणों के स्मरण रूप मंगलाचरण का कथन किया है।

मंगलाचरण का मुख्य फल है - मोक्ष और गौण फल है अभ्युदय (स्वर्गादि की प्राप्ति)[२]

इस ग्रन्थ के मंगलाचरण में आचार्यदेव ने मंगल, मंगलकर्त्ता, मंगल करने योग्य (मंगलकरणीय), मंगल का उपाय, मंगल के भेद और मंगल के फल का कथन किया है।

---

१. भक्तामर स्तोत्र -७ २. धवल १/१११

अर्थात् स्वयं यह ग्रन्थ मंगल रूप है। मंगलकर्त्ता रविचन्द्र आचार्य हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की है तथा स्वयं ने इस ग्रन्थ में निबद्ध रूप मंगलाचरण किया है। स्वयं रविचन्द्र आचार्य वा उनके भव्य शिष्य मंगलकरणीय (मंगल करने योग्य) हैं, क्योंकि इस मंगलाचरण का श्रद्धान, विश्वास करने से भव्य जीवों के अनादिकालीन कर्मबन्ध नष्ट हो जाते हैं।

इस मंगलाचरण के पठन से एकाग्रता आती है। मन, वचन और काय वश में हो जाते हैं, आत्मा परम पावन बन जाती है अत: मंगल का उपाय (आत्मा को पवित्र बनाने का साधन) रविचन्द्राचार्य के द्वारा रचित यह मंगलाचरण है क्योंकि इस मंगलाचरण में कथित, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धनी पाँच परमेष्ठियों के ध्यान से ही एकाग्रता आती है। अत: यह मंगलाचरण रत्नत्रय का साधन है या उपाय है।

आचार्यदेव ने इस मंगलाचरण में मंगलाचरण के भेदों का कथन भी किया है। क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सम्पन्न पाँच परमेष्ठी मंगल रूप हैं। इसमें सम्यग्दर्शन भी मंगल स्वरूप है, सम्यग्ज्ञान और चारित्र भी मंगल स्वरूप हैं, तथा पंच परमेष्ठी मंगल स्वरूप हैं। इस मंगलाचरण में मंगल के जितने भी भेद हैं उन सब का समावेश है। इनसे भिन्न कोई वस्तु मंगलस्वरूप नहीं है।

इस संसार में देव, शास्त्र, गुरु वा पंच परमेष्ठी मंगलरूप हैं क्योंकि इनके नामस्मरण मात्र से सारे सांसारिक दु:ख समाप्त हो जाते हैं।

पंच परमेष्ठी ही शरणभूत हैं, परन्तु वास्तव में पंच परम गुरु वे ही हैं जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से युक्त हैं, पवित्र हैं। इस कथन से जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से रहित हैं वे पंचगुरु नहीं हो सकते। इस प्रकार मंगलाचरण का कथन समाप्त हुआ।

आराधना की सिद्धि हेतु घटक

आराध्याराधक-जनसोपायाराधनाफलाख्यं तु।
पादचतुष्टयमेतत्समुदितमाराधनासिद्ध्यै ॥२॥

अन्वयार्थ - **आराधना-सिद्ध्यै** - आराधना की सिद्धि के लिए। **आराध्याराधकजन-सोपायाराधनाफलाख्यं** - आराध्य, आराधक जन, आराधना का उपाय और आराधना का फल। **एतत्** - यह। **पादचतुष्टयं** - पाद चतुष्टय। **समुदितं** - कहा है।

भावार्थ - आ समन्तात् राध्यते, साध्यते यया आत्मसिद्धि असौ आराधना।

राध् धातु और साध् धातु सिद्धि अर्थ में आती है। अत: जिससे आत्मा की सिद्धि-स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति की जाती है उसे **आराधना** कहते हैं।

जो वस्तु आराधना करने योग्य होती है, उसे **आराध्य** कहते हैं। आराधना करने वाला **आराधक** या आराधक जन कहलाता है। आराधना करने की विधि **आराधना का उपाय** कहलाती है, तथा आराधना से प्राप्त होने वाला कार्य **आराधना का फल** कहलाता है। इन सबका विस्तारपूर्वक कथन स्वयं आचार्य इसी ग्रन्थ में करेंगे अर्थात् इस ग्रन्थ का प्रयोजन है आराध्य, आराधकजन, आराधना का उपाय और आराधना के फल का कथन करना।

आराध्य के भेद एवं चार गुण

तत्राराध्यं गुणगुणिभेदाद् द्विविधं गुणाश्च चत्वारः।
सम्यग्दर्शनबोधनचरिततपो नाम समुपेताः ॥३॥

अन्वयार्थ - च - और। **तत्र** - यहाँ। **आराध्यं** - आराध्यवस्तु। **गुणगुणि भेदात्** - गुण गुणी के भेद से। **द्विविधं** - दो प्रकार का है, उसमें। **गुणाः** - गुण। **सम्यग्दर्शन बोधन चरित तपो नाम समुपेताः** - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप रूप नाम से युक्त। **चत्वारः** - चार प्रकार के हैं।

भावार्थ - इस ग्रन्थ में आराध्य वस्तु गुण-गुणी के भेद से दो प्रकार की है अर्थात् कहीं पर गुणों की आराधना की जाती है और कहीं पर गुणी की।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और **सम्यक्तप** के भेद से गुण चार प्रकार के हैं।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

आप्तागमतत्त्वार्थश्रद्धानं तेषु भवति सम्यक्त्वम्।
व्यपगतसमस्तदोषः सकलगुणात्मा भवेदाप्तः ॥४॥

अन्वयार्थ - तेषु - उन चार प्रकार के आराध्य गुणों में। **आप्तागमतत्त्वार्थश्रद्धानं** - आप्त, आगम और तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना। **सम्यक्त्वं** - सम्यग्दर्शन। **भवति** - होता है। **व्यपगतसमस्तदोषः** - नष्ट हो गए हैं सारे दोष जिसके। **सकल गुणात्मा** - सकल गुणों का समूह। **आप्तः**- आप्त। **भवेत्** - होता है।

भावार्थ - सच्चे देव शास्त्र गुरु और जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना **सम्यग्दर्शन** कहलाता है।[१]

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में देव, शास्त्र और गुरु का तीन मूढ़ता, आठ मद रहित और आठ अंग सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा है।

---

१. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढा-पोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं ॥५॥[1]

आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है।

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं - जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्वों के स्वरूप का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है।[2]

मिथ्यादर्शन से उत्पन्न विपरीताभिनिवेश रहित सात तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। सूत्र पाहुड़ में जीवादि तत्त्वों को हेय एवं उपादेय रूप से जानना वा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन का लक्षण अनेक प्रकार से कहा गया प्रतीत होता है, परन्तु शब्दाधिकरण पृथक्-पृथक् होते हुए भी अर्थाधिकरण सबका एक ही है। उसमें कोई भेद नहीं है।

इस ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्यदेव ने **'आप्तागमतत्त्वार्थश्रद्धानंसम्यक्त्वं'** कहा है। उसमें सम्यग्दर्शन वाचक सारे शब्दाधिकरणों का समावेश अर्थात् आप्तागम श्रद्धान से देव, शास्त्र एवं गुरु का श्रद्धान और तत्त्व शब्द से सात तत्त्व, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय का ग्रहण किया गया है।

जिसके सारे क्षुधादि एवं रागादि दोष नष्ट हो गये हैं तथा जो अनन्त गुणों से युक्त है उसको **आप्त** कहते हैं।

"नि:शेष दोषों से जो रहित है और केवलज्ञान आदि परम गुणों से जो संयुक्त है, वह परमात्मा कहलाता है, उससे विपरीत है, वह परमात्मा नहीं है।"[3]

नियम से वीतराग, सर्वज्ञ तथा आगम का ईश (हितोपदेशी) ही आप्त होता है। जिसमें ये गुण नहीं हैं वह आप्त नहीं हो सकता।[4]

जिसके रागद्वेष, मोह का सर्वथा क्षय हो गया है, उसको आप्त कहते हैं।

स्वयं आचार्य ने छठे और सातवें श्लोक में आप्त के स्वरूप का कथन किया है।

आगम और तत्त्वार्थ का लक्षण

आप्तोक्ता वागागमसंज्ञा नानाप्रमाणनयगहना।
स्यादागमप्ररूपितरूपयुतार्था हि तत्त्वार्थाः ॥५॥

अन्वयार्थ - नानाप्रमाणनयगहना - नाना प्रमाणों और नयों से गहन। **आप्तोक्ता वाक्** - आप्त के द्वारा कथित वचन। **आगमसंज्ञा** - आगम कहलाता है। **हि** - निश्चय से। **आगमप्ररूपितरूपयुतार्था**

---

१. नियमसार-गाथा ५ २. दर्शनपाहुड़ ३. नियमसार-५ ४. रत्नकरण्ड श्रावकाचार-५।

- आगम के द्वारा कथित तत्त्व का स्वरूप। **तत्त्वार्थः** - तत्त्वार्थ । **स्यात्** - कहलाता है।

भावार्थ - आचार्यश्री ने आप्त, आगम और तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी को आप्त कहते हैं।

अनेक प्रकार के प्रमाण और नयों से गहन, आप्त के द्वारा कथित (वचन) शास्त्र आगम कहलाता है।

"प्रमीयते इति प्रमाणं" जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं उसको प्रमाण कहते हैं अथवा जो हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ होता है उसको प्रमाण कहते हैं वा सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं अथवा ज्ञान को ही प्रमाण कहते हैं। विशेष रूप से आप्त का लक्षण आगे कहेंगे।

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है। ज्ञानात्मक प्रमाण को स्वार्थ प्रमाण कहते हैं और वचनात्मक प्रमाण को परार्थ प्रमाण कहते हैं अर्थात् जो स्वयं तो जानता है दूसरों को समझा नहीं सकता उसको **स्वार्थ प्रमाण** कहते हैं। जो वचनों के द्वारा दूसरों को समझा सकते हैं उसको **परार्थ प्रमाण** कहते हैं।[१]

मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चार ज्ञान स्वार्थ ही हैं परन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ के भेद से दो प्रकार का है। क्योंकि आदान-प्रदान श्रुतज्ञान के द्वारा ही होता है इसलिए श्रुतज्ञान परार्थ है तथा स्व का अनुभव भी जो ज्ञान के द्वारा होता है, इसलिए यह स्वार्थ भी है।

ज्ञान ही प्रमाण है और ज्ञान के पाँच भेद हैं अतः प्रमाण भी पाँच प्रकार का है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।

सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से ज्ञान दो प्रकार का है। उसमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान सविकल्प ज्ञान हैं और केवलज्ञान निर्विकल्प है। क्योंकि मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यय ज्ञान मन सहित होते हैं- इसलिए ये सविकल्प हैं और केवलज्ञान मन रहित होने से निर्विकल्प है।

पंचाध्यायीकार ने लब्धि-आत्मक ज्ञान को निर्विकल्प कहा है और उपयोगात्मक ज्ञान को सविकल्प कहा है। उन्होंने यह भी लिखा है कि स्वात्मा को ग्रहण करने में निश्चय से मन ही उपयोगी होता है तथापि विशिष्ट दशा में मन स्वतः ज्ञान रूप हो जाता है क्योंकि मन भी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होने वाली ज्ञान की ही एक पर्याय है और वास्तव में स्वयं ज्ञानचेतना रूप शुद्ध स्वकीय आत्मा का उपयोग होता है। वह विषय से विषयान्तर में संक्रमित न होने से निर्विकल्प कहलाता है।

द्रव्यसंग्रह में कहा है कि - जो निश्चय भाव श्रुतज्ञान है वह शुद्धात्मा के अभिमुख होने से

---

१. सर्वार्थसिद्धि १-६ ।

सुखसंवित्ति या सुखानुभवरूप है। वह यद्यपि निज आत्मा के आकार से सविकल्प है तो भी इन्द्रिय तथा मन से उत्पन्न जो विकल्प रूप है उनसे रहित होने के कारण निर्विकल्प है। **(गाथा ४२ की टीका)**

शंका - जैन सिद्धान्त में दर्शन को निर्विकल्प और ज्ञान को सविकल्प माना है अतः ज्ञान के सविकल्प और निर्विकल्प ये दो भेद कैसे हो सकते हैं ?

समाधान - जैन सिद्धान्त स्याद्वादमय है अतः इसमें ज्ञान को भी कथंचित् सविकल्प और कथंचित् निर्विकल्प माना है - जैसे विषयों में आनन्द रूप जो स्वसंवेदन है वह रागानुभवरूप विकल्पस्वरूप होने से सविकल्प है तथापि शेष अनिच्छित सूक्ष्म विकल्पों का उनमें सद्भाव होने पर भी उन विकल्पों की उसमें मुख्यता न होने से वह निर्विकल्प भी है। उसी प्रकार निज शुद्धात्मा के अनुभव रूप जो वीतराग स्वसंवेदन है वह आत्मसंवेदन के आकार रूप एक विकल्प के होने से यद्यपि सविकल्प है तथापि बाह्य विषयों के अनिच्छित विकल्पों का उस ज्ञान में सद्भाव होने पर भी उनकी उस ज्ञान में मुख्यता नहीं है। अतः उस ज्ञान को निर्विकल्प भी कहते हैं।

प्रवचनसार में **कुन्दकुन्द आचार्य** ने केवलज्ञान को भी सविकल्प और निर्विकल्प कहा है - ज्ञेयार्थ परिणमन रूप क्रिया की अपेक्षा सविकल्प है तथा मोहनीय कर्मजनित विकल्पों से रहित होने से निर्विकल्प है।

आप्त का स्वरूप (लक्षण)

क्षुत्तृड्भी क्रुध्राग प्रमोह चिन्ता जरारुजामृत्यु -
खेद स्वेद मदारति विस्मय निद्रा जनोद्वेगाः ॥६॥

दोषास्तेषां हन्ता केवलबोधादयो गुणास्तेषाम्।
आधारः स्यादाप्तस्तद्विपरीतः सदानाप्तः ॥युग्मं॥७॥

अन्वयार्थ - **क्षुत्तृड्भी क्रुध्राग प्रमोह चिन्ता जरारुजामृत्यु खेद स्वेद मदारति विस्मय निद्रा जनोद्वेगाः** - भूख, प्यास, भय, क्रोध (द्वेष), राग, प्रमोह, चिन्ता, जरा (बुढ़ापा), रुज (रोग), मृत्यु, खेद, स्वेद (पसीना), मद, अरति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग। **दोषाः** - दोष हैं। **तेषां** - उन दोषों के। **हन्ता** - नाश करने वाले। **केवलबोधादयः** - केवलज्ञानादि। **गुणाः** - गुण। **तेषां** - उन गुणों का जो। **आधारः** - आधार है। **आप्तः** - आप्त। **स्यात्** - होता है। **तद्विपरीतः** - उससे विपरीत। **अनाप्तः** - अनाप्त। **स्यात्** - होता है।

भावार्थ - जिसमें भूख, प्यास, भय, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु, खेद, स्वेद (पसीना), मद (घमण्ड), अरति, आश्चर्य, निद्रा, जन्म और उद्वेग नहीं है तथा जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि गुणों के आधार हैं, इन गुणों से युक्त हैं वे आप्त कहलाते हैं तथा जो भूख, प्यास आदि दोषों से युक्त हैं तथा केवलज्ञानादि गुणों से रहित हैं, वे अनाप्त कहलाते हैं।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार (६) में भूख, प्यास आदि १८ दोष कहे हैं। ये सर्व दोष मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं इसलिए रागद्वेष और मोह का नाशक आप्त कहलाता है।

मोहनीय कर्म के अभाव में वीतरागता प्रगट होती है और ज्ञानावरण, दर्शनावरण के अभाव में सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता गुण प्रगट होते हैं।

अथवा, ज्ञानावरण कर्म के अभाव में अनन्त ज्ञान गुण प्रगट होता है। दर्शनावरण के अभाव में अनन्त दर्शन, मोहनीय कर्म के अभाव में अनन्त सुख और अन्तराय के अभाव में अनन्त बल प्रगट होता है। इन अनन्त चतुष्टय रूप गुणों का आधार वा धारक आप्त कहलाता है। इसके विपरीत अनाप्त है अर्थात् जिसमें ये गुण नहीं हैं, वह आप्त नहीं हो सकता।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है -

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥५॥

क्षुधादि दोषों से रहित सर्वज्ञ हितोपदेशी ही आप्त हो सकता है। ये गुण जिसमें नहीं हैं वह आप्त नहीं हो सकता। क्षुधादि को दोष कहा है, उनके नाश से वीतराग होते हैं।

परमेष्ठी (परमपद में स्थित), परं ज्योति (उत्कृष्ट ज्योति), वीतरागी, विमल (भावकर्म से रहित), कृती (कृतकृत्य), सर्वज्ञ (सारे द्रव्य और उनकी त्रैकालिक पर्यायों को वर्तमान में जानने वाला) आदि, मध्य और अन्त से रहित और समस्त जीवों का हित करने वाला आदि, अनन्त गुणों का धारक आप्त होता है।

यद्यपि अर्हन्त भगवान अनन्त गुणों के धारक हैं, परन्तु अनन्त गुणों का उल्लेख वचनों के द्वारा होना संभव नहीं है। अतः वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी अथवा अनन्त चतुष्टय रूप गुणों के धारक को आप्त कहते हैं, ऐसा आचार्यदेव ने कथन किया है।

आगम में आप्त के ४६ गुण कहे हैं। ३४ अतिशय, ८ प्रातिहार्य और ४ अनन्त चतुष्टय। इनमें चार अनन्त चतुष्टय ही आप्त के वास्तविक गुण हैं। शेष ४२ बाह्य चिह्न हैं, गुण नहीं हैं। गुण-गुणी से पृथक् नहीं होते हैं। अतः जो शरीर आश्रित तथा देवकृत अतिशय हैं और ८ प्रातिहार्य हैं, वे बाह्य दृष्टिगोचर होने वाले चिह्न हैं, आत्मीय गुण नहीं। अतः **समन्तभद्राचार्य** ने आप्त के तीन गुण कहे हैं -सर्वज्ञता, हितोपदेशिता और वीतरागता। आप्त का यह लक्षण अव्याप्त, अतिव्याप्त और असंभव दोषों से रहित है।

आप्त परीक्षा में इन्हीं तीन गुणों की आप्त में सिद्धि की गई है। जिनमें ये गुण नहीं हैं, जो इन गुणों का आधार नहीं है, वह आप्त नहीं हो सकता। वह अनाप्त है।

इस ग्रन्थ में इन्हीं गुणों के आधारवान को आप्त कहा है अर्थात् जो क्षुधादि दोषों का घातक है और केवलज्ञानादि गुणों का आधार है वही आप्त है, इनसे विपरीत अनाप्त है।

आगम का लक्षण

तद्वक्त्रात् पूर्वापरविरोधरूपादिदोषनिर्मुक्तः।
स्यादागमस्तु तत्प्रतिपक्षोक्तिरनागमो नाम ॥८॥

अन्वयार्थ - तद्वक्त्रात् - जो जिनेन्द्र के मुख से निकला है। **पूर्वापरविरोधरूपादिदोषनिर्मुक्तः** - पूर्वापर विरोध स्वरूप दोषादि से रहित। **आगमः** - आगम। **स्यात्** - कहलाता है। **तु** - और। **तत्प्रतिपक्षोक्तिः** - इससे विपरीत अर्थात् वीतराग द्वारा अकथित और पूर्वापर विरोधादि दोषों से युक्त शास्त्र। **अनागमः** - अनागम। **नाम** - कहलाता है।

भावार्थ - आचार्यदेव ने इस श्लोक में शास्त्र का लक्षण लिखा है। वास्तव में, शास्त्र वही है जो वीतराग, सर्वज्ञ के द्वारा कथित है, जिसमें पूर्वापर विरोध नहीं है अर्थात् जो प्रत्यक्ष एवं अनुमान से अबाधित है।

"जो आप्त के द्वारा कथित है, जो प्रत्यक्ष और अनुमान से अबाधित है अर्थात् जो प्रत्यक्ष ज्ञान से खण्डित नहीं होता तथा जो अनुमान के द्वारा अबाधित है अर्थात् जिसका खण्डन अनुमान के द्वारा भी नहीं होता, जिसमें तत्त्व का उपदेश दिया गया है; जो सर्वजीवों का हित करने वाला है तथा जो कुमार्ग का खण्डन करने वाला है, वही **आगम** है।"[१]

जिसके द्वारा अनन्त धर्मों से विशिष्ट जीव अजीव आदि पदार्थ जाने जाते हैं, ऐसी आप्त-आज्ञा **आगम** है, शासन है।

आप्त का वचन जिसमें कारण है ऐसे अर्थज्ञान को **आगम** कहते हैं।

वीतराग सर्वज्ञदेव प्रणीत छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थादि का सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, व्रतादिक का अनुष्ठान, अभेद रत्नत्रय के पालन-धारण आदि का जिसमें प्रतिपादन है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का जिसमें कथन है उसको **आगम** कहते हैं। आगम, सिद्धान्त और प्रवचन ये सर्व एकार्थवाची हैं।

जो सिद्धान्त पूर्वापरविरोध रूप दोषों से रहित है वही **आगम** कहलाता है।

इष्ट अर्थात् प्रयोजनभूत मोक्षादि तत्त्व किसी के प्रत्यक्ष हैं। प्रमाण से बाधित नहीं होते हैं इसलिए

---

१. आप्तोपज्ञमनुलंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनं॥ ९॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अविरोधी हैं अर्थात् जिसका अभिमत प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं होता है, वह वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी कहलाता है वा वह शास्त्र पूर्वापर अविरोधी कहलाता है।

आगम में तीन प्रकार के पदार्थों का कथन पाया जाता है - दृष्ट, अनुमेय और परोक्ष। इनमें से जिस प्रकार के पदार्थ को बताने के लिए आगम में जो वाक्य आया है उसको उसी तरह से प्रमाण करना चाहिए। यदि दृष्ट विषय का प्रकरण हो तो प्रत्यक्ष (इन्द्रियगोचर) प्रमाण से, अनुमेय विषय का प्रकरण हो तो अनुमान प्रमाण से और परोक्ष विषय का प्रकरण हो तो पूर्वापर का अविरोध देखकर आगम से प्रमाणित करना चाहिए।

जो पूर्वापरविरोध रूप दोष से रहित है वही वास्तव में आगम है, आत्मकल्याणकारक है। इससे विपरीत पूर्वापरविरोध सहित जो सिद्धान्त है, वह आगम नहीं है। जिस ग्रन्थ में कथित एक कथन का दूसरे कथन से विरोध आता है, वह आगम नहीं अनागम है।

तत्त्वार्थ का स्वरूप

जीवाजीवौ धर्माधर्मौ कालाकाशे च षडपि तत्त्वार्थाः।
नानाधर्माक्रान्ता नेतररूपाः कदाचिदपि॥९॥

अन्वयार्थ - नानाधर्माक्रान्ता - नाना धर्मों से आक्रान्त। **जीवाजीवौ** - जीव, अजीव। **धर्माधर्मौ** - धर्म, अधर्म। **च** - और। **कालाकाशे** - काल, आकाश। **षट्** - छह। **अपि** - भी। **तत्त्वार्थाः** - तत्त्वार्थ कहलाते हैं। **नेतररूपाः** - इन छह से विपरीत। **कदाचिदपि** - कोई भी पदार्थ। **न** - नहीं है।

भावार्थ - जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये छह तत्त्वार्थ हैं। ये छहों तत्त्व (द्रव्य) अनेक धर्मों से आक्रान्त हैं। अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य आदि अनेक धर्मों से युक्त होते हैं। अनेक धर्मों से विपरीत एकधर्मात्मक पदार्थ तत्त्व नहीं होता है।

जो पदार्थ जिस स्वरूप में है उसका उसी रूप से होना तत्त्व कहलाता है। तत्त्व शब्द भाव सामान्यवाचक है, क्योंकि 'तत्' यह सर्वनाम पद है और सर्वनाम सामान्य अर्थ में रहता है अतः उस द्रव्य का भाव तत्त्व कहलाता है। इस ग्रन्थ में जीव, अजीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों को तत्त्वार्थ कहा है, क्योंकि अपना तत्त्व स्वतत्त्व कहलाता है। स्व-भाव असाधारण धर्म को कहते हैं, अर्थात् वस्तु के असाधारण रूप स्वतत्त्व को तत्त्व कहते हैं। ये छहों द्रव्य स्व स्वरूप को कभी नहीं छोड़ते हैं, स्व स्वरूप में लीन रहते हैं। इसलिए इनको तत्त्व कहते हैं।

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणा गुणपज्जएहिं संजुत्ता॥९॥ नियमसार

नियमसार नामक ग्रन्थ में **कुन्दकुन्दाचार्य** ने नाना गुणों और पर्यायों से युक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को तत्त्वार्थ कहा है। **तत्त्वार्थसूत्र** में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात को तत्त्व कहा है।

तत्त्व का लक्षण सत् है अथवा सत् ही तत्त्व है और वह सत् स्वरूप तत्त्व स्वभाव से ही सिद्ध है, इसलिए वह अनादिनिधन स्वसहाय है और निर्विकल्प है। इस प्रकार तत्त्व का लक्षण अनेक प्रकार से किया है। **द्रव्यसंग्रह** में तत्त्व को जीव, अजीव की पर्याय कहा है क्योंकि तत्त्व पर्यायस्वरूप भी है।

बहिस्तत्त्व, अन्तस्तत्त्व और परमात्मतत्त्व के भेद से तत्त्व तीन प्रकार के होते हैं।

वास्तव में, जीव ही प्रयोजनभूत तत्त्व है, इसलिए आचार्यदेव ने **नियमसार** की **तात्पर्यवृत्ति** में बहिस्तत्त्व (बहिरात्मा), अन्तस्तत्त्व (अन्तरात्मा) और परमात्मतत्त्व (परमात्मा) के भेद से तत्त्व तीन प्रकार का कहा है।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष के भेद से तत्त्व सात हैं। इनमें पुण्य और पाप को मिला देने से नव तत्त्व (नौ पदार्थ) होते हैं।

तत्त्व, परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, परमपरम, ध्येय, शुद्ध और परम ये सर्व एकार्थवाची हैं।

ये तत्त्व ही ध्येय (ध्यान करने योग्य) हैं। तत्त्व ही द्रव्य का स्वभाव है, द्रव्यस्वरूप है।

प्रश्न - भाववाची तत्त्व का द्रव्य के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?

उत्तर - भाव, भाववान् द्रव्य से पृथक् नहीं है। जैसे पर्यायवान् द्रव्य से पर्याय पृथक् नहीं है अथवा द्रव्य में तत्त्व का या तत्त्व में द्रव्य का अध्यारोप भी कर लिया जाता है। जैसे गुण में गुणी का वा गुणी में गुणों का उपचार कर लिया जाता है। जैसे उपयोग रूप आत्म-गुण में आत्मा का अध्यारोप किया जाता है। 'उपयोग एवं आत्मा' उपयोग ही आत्मा है वा आत्मा ही उपयोग रूप है। अतः तत्त्व और द्रव्य कथंचित् भिन्न हैं, कथंचित् अभिन्न हैं।

अर्थ शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। वैशेषिक शास्त्र में द्रव्य, गुण, कर्म इन तीन की अर्थ संज्ञा है। अर्थ शब्द प्रयोजन अर्थ में भी है जैसे आप 'किमर्थं' किसलिए यहाँ आये हैं। अर्थ शब्द धनवाची भी है अर्थात् अर्थ शब्द का अर्थ धन भी है। अर्थ शब्द का अर्थ अभिधेय भी है अथवा जो द्रव्य स्वकीय गुण-पर्यायों को प्राप्त होता है वा गुण पर्यायों के द्वारा प्राप्त किया जाता है उसको अर्थ कहते हैं अथवा जो ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, जिसका निश्चय किया जाता है, वह अर्थ है। सत्ता, सत्त्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि ये नव शब्द सामान्य रूप से एक द्रव्य रूप अर्थ के ही वाचक हैं।

अर्थ शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - जिसका निश्चय किया जाता है। यहाँ पर तत्त्वार्थ शब्द तत्त्व

और अर्थ दो पदों के समास (वा संयोग) से बना है, जो 'तत्त्वेन अर्थः तत्त्वार्थः' ऐसा समास करने पर होता है, अर्थात् तत्त्व (स्वस्वभाव) से युक्त पदार्थ तत्त्वार्थ कहलाता है। 'वा तत्त्वमेवार्थः तत्त्वार्थः' तत्त्व ही अर्थ है। जो पदार्थ जिस स्वभाव से युक्त है, उसका उसी रूप से होना उसको तत्त्व कहते हैं। जैसे जीव द्रव्य (तत्त्व) है, वह ज्ञाता, द्रष्टा, केवल आत्मा है। इतना श्रद्धान करना तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं है, अपितु जीव है, उपयोगमय है, अमूर्त्तिक है, कर्त्ता है, स्वदेह परिमाण रहने वाला है, भोक्ता (अपने कर्मों के फल का भोक्ता) है, संसारी, सिद्ध (कर्मों का नाश कर स्वयं मोक्षपद को प्राप्त करने वाला) है और ऊर्ध्वगमन करने वाला है इत्यादि नौ अधिकारों के द्वारा आत्मा का श्रद्धान करना जीवतत्त्व का श्रद्धान है।

अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व और अगुरुलघुत्व रूप भी आत्मा है।

卐 द्रव्यमीमांसा 卐

द्रव्य अथवा तत्त्वबोध की जिज्ञासा जीवन की प्रक्रिया का मूलभूत अंग है। श्रमण संस्कृति में तत्त्वनिरूपण का उद्देश्य केवल जिज्ञासा की पूर्ति ही नहीं, अपितु चारित्रलाभ है। तत्त्वज्ञान का उपयोग साधक द्वारा आत्मविशुद्धि के लिए और प्रतिबन्धक तत्त्वों के उच्छेद के लिए किया जाना अपेक्षित है।

प्रत्येक विचार स्याद्वाद से परिमार्जित हो और प्रत्येक आचार अहिंसा से परिपूर्ण हो तो साधक के मुक्तिलाभ में कुछ विलम्ब नहीं रहता।

द्रव्य शब्द 'द्रु' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है द्रवित होना, प्रवाहित होना। स्व और पर अथवा अन्तरंग और बाह्य कारणों से होने वाली उत्पाद और व्यय रूप पर्यायों को जो प्राप्त हो तथा पर्यायों से जो प्राप्त होता हो, वह द्रव्य है।

एक साथ अनेकान्त की सिद्धि करने के लिए 'गुणपर्ययवद् द्रव्यं' ऐसा कहा जाता है और क्रम से अनेकान्त का ज्ञान कराने के लिए 'गुणवद्द्रव्यं, पर्यायवद्द्रव्यं' ऐसा कहा जाता है।

[१]द्रव्य के तीन लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं- (१) सद्द्रव्यलक्षणं, (२) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् और (३) गुणपर्ययवद्द्रव्यं।

ये तीनों परस्परविरोधी व पृथक्-पृथक् लक्षण नहीं हैं। जब एक महासत्ता रूप द्रव्य का भेद नहीं करके, द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वर्णन किया जाता है, तब 'सद्द्रव्यलक्षणं' ऐसा कहा जाता है तथा जब महासत्ता के पर्याय (अवान्तर सत्ता) मय धर्माधर्म आदि को द्रव्य कहा जाता है, तब व्यवहार-नय (पर्यायार्थिक) की अपेक्षा 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' ऐसा कहा जाता है।

अतः द्रव्य के उपर्युक्त तीन प्रकार के लक्षण मानने में कोई दोष नहीं है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ सूत्र २९, ३०, ३८।

उत्पाद, स्थिति और भंग अर्थात् क्षय या विनाश ये तीनों ही पर्यायों के होते हैं, पदार्थ के नहीं और उन पर्यायों का समूह ही द्रव्य कहलाता है। इसलिए ये तीनों मिलकर द्रव्य कहलाते हैं। लोक के समस्त पदार्थ पर्याय की अपेक्षा उत्पन्न होते हैं और समय पाकर नष्ट होते हैं, फिर भी उनका स्वरूप ध्रुव रूप से बना रहता है।

इस प्रकार तत्त्व के तीन स्वरूप निश्चित होते हैं : उत्पन्न होना, नष्ट होना, ध्रुव बने रहना।

हम जिसे वस्तु कहते हैं उसमें तीन रूप विद्यमान रहते हैं जैसे द्रव्य, गुण और पर्याय। वस्तु का आधारभूत अंशी द्रव्य है, सहभावी अंश गुण है और क्रमभावी अंश पर्याय है। एक उदाहरण द्वारा इन तीनों का स्वरूप समझें - जीव द्रव्य है, उसका सदा विद्यमान रहने वाला ज्ञान चैतन्यगुण है और मनुष्य, पशु, नारकी, देव, कीट, पतंग, रागद्वेष आदि दशायें पर्याय हैं। ये तीनों रूप सदैव परस्पर अनुस्यूत रहते हैं और वस्तु कहलाते हैं।

संक्षेप में, द्रव्य वह है जो गुण और पर्याय से युक्त हो अथवा जो उत्पाद और विनाश से युक्त होकर भी अपने स्वभाव अथवा अपने द्रव्यत्व का त्याग न करने के कारण ध्रुव हो। द्रव्य, गुण और पर्याय में भी पृथक्त्वरूप भिन्नता नहीं है। द्रव्य की अनादिनिधन शक्तियाँ, जो द्रव्य में व्याप्त होकर सदा वर्तमान रहती हैं, 'गुण' कहलाती हैं और उत्पन्न विनष्ट होने वाले विविध परिणाम 'पर्याय' कहलाते हैं। इन दोनों का समूह द्रव्य कहलाता है।

तात्त्विक एवं मौलिक दृष्टि से द्रव्य का विश्लेषण किया जाय तो केवल दो ही द्रव्य उपलब्ध होते हैं - चेतन और जड़। कतिपय दार्शनिक जगत् के मूल में एकमात्र चैतन्य तत्त्व की सत्ता अंगीकार करते हैं, तो दूसरे एकमात्र जड़ तत्त्व की। परन्तु जैन दर्शन न सर्वथा चैतन्यवादी है और न सर्वथा जड़वादी। यह दोनों तत्त्वों का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करता है। जड़ तत्त्व में इतनी विविधता और व्यापकता है कि उसे समझने के लिए विश्लेषण या पृथक्करण की आवश्यकता होती है। अतएव उसके पाँच विभाग कर दिये गये हैं। जीव के साथ उन पाँच प्रकार के अजीव द्रव्यों की गणना करने से सब पदार्थों की संख्या छह स्थिर होती है। वे ये हैं - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें 'जीव' के अतिरिक्त शेष पाँचों 'द्रव्य' अजीव हैं। उक्त छह द्रव्यों में से काल के अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्य 'अस्तिकाय' कहलाते हैं। क्योंकि वे अनेक प्रदेशों के पिण्ड हैं अथवा पिण्ड बन सकते हैं। कालद्रव्य प्रदेश-प्रचय रूप न होने के कारण अस्तिकाय नहीं कहलाता। काल-द्रव्य के दो या अधिक कालाणु मिलकर कभी संघात या पिण्ड नहीं बन सकते। इसलिए यह अस्तिकाय नहीं है, परन्तु यह द्रव्य अवश्य है।

सम्यग्दर्शन के चिह्न

सम्यग्दर्शनचिह्नं चित्ते प्रशमादिकं विजानीयात्।
त्रिविकल्पं तदपि भवेदुपशममिश्रक्षयजभेदात्॥१०॥

अन्वयार्थ - **चित्ते** - चित्त में। **प्रशमादिकं** - प्रशमादिक भाव हैं उसी को। **सम्यग्दर्शनचिह्नं** - सम्यग्दर्शन का चिह्न। **विजानीयात्** - जानना चाहिए। **अपि** - भी। **तत्** - वह सम्यग्दर्शन। **उपशममिश्रक्षयजभेदात्** - उपशम, क्षयोपशम और क्षय के भेद से। **त्रिविकल्पं** - तीन प्रकार का। **भवेत्** - होता है।

भावार्थ - चित्त में प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव ये सम्यग्दर्शन के चिह्न (स्वरूप) हैं।

कषायों का दमन करने को **उपशम** कहते हैं।

पंचाध्यायीकार ने कहा है - पंचेन्द्रियों के विषयों में और लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण तीव्रभाव-क्रोधादिकों में स्वरूप से मन का शिथिल होना ही **प्रशम भाव** कहलाता है।

अपराध करने वालों के प्रति उनके विनाश करने के भाव नहीं होना, अर्थात् भविष्यकाल में उनसे बदला लेने की भावना नहीं होना **प्रशम भाव** है।

प्रशम भाव की उत्पत्ति में निश्चय से अनन्तानुबंधी कषायों का उदयाभाव तथा अप्रत्याख्यानादि कषायों का मन्द उदय कारण है।

सम्यग्दर्शन का अविनाभावी प्रशम भाव सम्यग्दृष्टि का परम गुण है।

प्रशम भाव का झूठा अहंकार करने वाले मिथ्यादृष्टि के सम्यग्दर्शन का सद्भाव न होने से प्रशमाभास है; वास्तव में प्रशम, भाव नहीं है। वह मान, माया वा लोभ के वशीभूत होकर क्रोधादि कषायों का दमन करता है, परन्तु उसके वास्तव में प्रशम भाव ही नहीं है। यह प्रशम भाव रूप शीतल जल काम, क्रोधादि अग्नि से उत्पन्न संसारदाह का शमन करता है।

संसार के दुःखों से भयभीत होना **संवेग** है। अर्थात् द्रव्य-भाव रूप पंच प्रकार के संसार-परिवर्तन से भयभीत होना संवेग है। अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप धर्म में अनुराग होना, उत्साह होना **संवेग** है।

धर्म में, धर्म के फल में, धर्मात्माओं में तथा पंच परमेष्ठी के प्रति वास्तविक अनुराग होना, उनको देखकर चित्त का हर्षयुक्त होना **संवेग** है।

तृषातुर, क्षुधातुर अथवा शारीरिक, मानसिक दुःखों से पीड़ित प्राणियों पर दया करना, अंतरंग से आर्द्रचित्त होकर उनके दुःख को अपना दुःख समझकर उनके दुःखको दूर करने का प्रयत्न करना **अनुकम्पा** है।

सर्व प्राणियों के साथ मैत्रीभाव रखना **अनुकम्पा** है।

अनुकम्पा शब्द का अर्थ कृपा, दया समझना चाहिए अर्थात् बैर के त्यागपूर्वक सर्व प्राणियों पर

अनुग्रह, मैत्रीभाव, माध्यस्थ भाव और शल्य रहित वृत्ति **अनुकम्पा** है। जहाँ सब प्राणियों में समता या माध्यस्थ भाव है और दूसरे प्राणियों के प्रति दया का भाव है, वहीं वास्तव में शल्य के त्याग होने से **स्वानुकम्पा** है; क्योंकि सर्व प्राणियों के प्रति उपकार बुद्धि तथा मैत्री भाव ही अनुकम्पा है और वह भाव आत्महितकारी आत्मरक्षक है, अत: स्व अनुकम्पा है।

धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा, सर्वानुकम्पा के भेद से अनुकम्पा तीन प्रकार की है।

पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति रूप १३ प्रकार के चारित्र का पालन करने वाले महाव्रती, सर्व प्रकार के सावद्य योग से निवृत्त दिगम्बर साधुओं को देखकर चित्त का हर्षित होना, उन पर आने वाली आपत्तियों को दूर करना **धर्मानुकम्पा** है।

अन्त:करण में जब अनुकम्पा के भाव उत्पन्न होते हैं तब गृहस्थ मुनिराज के योग्य अन्नजल, निवासस्थान, निर्दोष प्रासुक औषधादि प्रदान करता है। अपनी शक्ति को न छिपाकर मुनिराज के उपसर्ग को दूर करता है। "हे प्रभो ! आज्ञा दीजिए" ऐसी प्रार्थना कर सेवा करता है। यदि कोई मुनि मार्गभ्रष्ट होकर दिग्मूढ़ हो गये हों तो उनको मार्ग दिखाता है। दिगम्बर मुनिराजों का समागम होने पर "आज मैं धन्य हो गया। आज मेरा जन्म सफल हो गया" ऐसा समझकर मन में आनन्दित होता है, धर्मसभा में उनके गुणों का कीर्त्तन करता है। मन में मुनिराजों को धर्मपिता वा धर्मगुरु समझता है, सदा मन में उनके गुणों का चिंतन करता है, 'ऐसे महात्माओं का पुन:संयोग कब होगा' ऐसा विचार करता है, उनके सहवास में हमेशा रहने की भावना करता है, दूसरे के द्वारा उनके गुणों का वर्णन सुनकर सन्तुष्ट होता है। यह धर्मानुकम्पा सम्यग्दर्शन की द्योतक है।

जो देशसंयमी सम्यग्दृष्टि है उनके दु:ख को दूर करना **मिश्रानुकम्पा** है, क्योंकि यह मानव एकदेश व्रतों का धारक है, अत: व्रतरूप धर्म के प्रति अनुकम्पा है। कुछ अंश में अव्रतरूप अधर्म भी उस प्राणी के हृदय में स्थित है। अत: अधर्म अनुकम्पा है इसलिए देशव्रती के प्रति जो अनुकम्पा है, अनुराग है, वह मिश्रानुकम्पा है।

जो प्राणी जिनधर्म से पराङ्मुख है वा जिनधर्म का पालन करने वाला है, परन्तु भूख-प्यास से आकुल-व्याकुल है, दरिद्र है, अंगविहीन है, ऐसे सर्वप्राणियों पर अनुकम्पा करना सर्वप्राणियों की रक्षा करने का भाव रखना **सर्वानुकम्पा** है।

सर्वश्रेष्ठ अनुकम्पा है, जीवों को दु:ख के नाशक धर्म का उपदेश देना। मन में निरंतर विचार करना कि यह संसारी प्राणी संसार के दु:खों से कैसे छूट जाये, इसके संसार-परिभ्रमण का नाश कैसे हो, आदि भाव **अनुकम्पा** कहलाती है।

इस अनुकम्पा का दूसरा नाम दया एवं करुणा भी है। सर्व संसारी प्राणियों को दु:ख से पीड़ित

देखकर चित्त का आर्द्र हो जाना, उनके दुःख को दूर करने का प्रयत्न करना करुणा है अर्थात् दीनों पर दया भाव रखना ही करुणा या दया है।

भगवती आराधना में लिखा है - शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक ऐसी असह्य दुःखराशि प्राणियों को सता रही है, यह देखकर अहो ! इन दीन प्राणियों ने मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से जिन अशुभ कर्मों का उपार्जन किया था वे कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का निमित्त पाकर उदय में आकर फल दे रहे हैं। 'इनका असाता कर्म कैसे दूर हो' इत्यादि विचार कर उनको धर्म का उपदेश देना, कर्मबंध के कारणों का स्वरूप बताकर उनको सन्मार्ग में लगाना करुणा है। करुणा सम्यग्दर्शन का चिह्न है।

पद्मनन्दि पंचविंशतिका में लिखा है - जिनभगवान के उपदेश से दयालुतारूप अमृत से परिपूर्ण जिस श्रावक के हृदय में प्राणिदया आविर्भूत नहीं होती है उसके धर्म कहाँ से हो सकता है। प्राणिदया धर्म रूपी वृक्ष की जड़ है, व्रतों में मुख्य है, सर्व सम्पत्तियों का स्थान है और गुणों का भण्डार है। अतः करुणामय हृदय का होना परम आवश्यक है। **धवला** की १३वीं पुस्तक में करुणा को जीव का स्वभाव कहा है और अकरुणा (अदया) को संयमघाती कर्म (कषाय) का फल कहा है। अतः 'धर्मस्य मूलं दया' धर्म रूपी वृक्ष की जड़ दया है।

प्रश्न - प्रवचनसार में करुणा को मोह का चिह्न कहा है। पदार्थ का अयथार्थ ग्रहण और तिर्यंचों व मनुष्यों के प्रति करुणा भाव तथा विषयों की संगति (इष्ट विषयों में प्रीति और अनिष्ट विषयों में अप्रीति) ये सब मोह के चिह्न हैं। अतः तिर्यंच और मनुष्य प्रेक्षायोग्य होने पर भी उनके प्रति करुणा बुद्धि से मोह को जानकर तत्काल उत्पन्न होते ही तीनों प्रकार (पदार्थों का अयथार्थ ग्रहण, तिर्यञ्च-मनुष्यों के प्रति करुणा भाव, विषयों की संगति) के मोह को नष्ट करना चाहिए।

उत्तर - शुद्धात्मोपलब्धि लक्षण परम उपेक्षा संयम से विपरीत करुणाभाव (दया परिणाम) मोह का चिह्न है। उपेक्षासंयम की प्राप्ति के पूर्व सराग अवस्था में दया का अभाव दर्शनमोह का चिह्न है। इसलिए सरागसंयमी, देशसंयमी तथा असंयत सम्यग्दृष्टि का करुणा रूप परिणाम सम्यग्दर्शन का चिह्न है।

अस्तित्व के भाव को आस्तिक्य कहते हैं। सर्वप्रथम शरीर से पृथक् अपनी आत्मा के अस्तित्व पर दृढ़ विश्वास, आस्था होना आस्तिक्य है। आत्मस्वरूप का भान जिनवाणी के द्वारा होता है। जिनवाणी का उत्पाद सर्वज्ञदेव से होता है और इसकी रचना गणधर (गुरु) के द्वारा होती है अतः देव, शास्त्र और गुरु के प्रति दृढ़ आस्था ही **आस्तिक्य** भाव है।

सर्वज्ञदेव, शास्त्र, गुरु, व्रत और जीवादि तत्त्वों के स्वरूप में संशय नहीं करके, शास्त्र में जो इनके स्वरूप का कथन किया है, यह वैसा ही है, अन्य रूप नहीं है, ऐसी रुचि ही सम्यग्दर्शन का चिह्न है।

स्वतःसिद्ध नव तत्त्वों के सद्भाव में धर्म, धर्म के कारण और धर्म के फल में जो निश्चय होता है, अडोल अकम्प विश्वास होता है, वह जीवादि पदार्थों में अस्तित्व बुद्धि रखने वाला **आस्तिक्य गुण** है। यह आस्तिक्य गुण ही प्रशम, संवेग एवं अनुकम्पा का कारण है क्योंकि आस्तिक्य भाव के बिना किसी भी गुण का प्रादुर्भाव नहीं होता। ये चार सम्यग्दर्शन के चिह्न हैं।

औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियों के या अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व इन पाँच प्रकृतियों के उपशम से जो तत्त्व श्रद्धान होता है उसको **औपशमिक सम्यग्दर्शन** कहते हैं।

यह औपशमिक सम्यग्दर्शन प्रथमौपशमिक सम्यग्दर्शन और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन के भेद से दो प्रकार का है। मिथ्यात्व गुणस्थान से दर्शन मोहनीय की तीन या एक प्रकृति के तथा अनन्तानुबन्धी की चारों प्रकृतियों के उपशमन से प्रथमौपशमिक सम्यग्दर्शन होता है।

जिस प्रकार पंक (कीचड़) आदि जनित कालुष्य के प्रशांत होने पर जल निर्मल हो जाता है उसी प्रकार दर्शन मोहादि सात प्रकृतियों के उपशम हो जाने पर सत्यार्थ श्रद्धान उत्पन्न होता है, वह औपशमिक सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन है। उपशम सम्यक्त्व के होने पर जीव के सत्यार्थ देव से अनन्य भक्ति भाव, विषयों से विराग, तत्त्वों का श्रद्धान और विविध मिथ्यादृष्टियों के मतों में असम्मोह प्रगट होता है।

उपशम सम्यग्दर्शन सादि और अनादि के भेद से दो प्रकार का है। जो उपशमक मिथ्यादृष्टि सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है, उसे लाभ सर्वोपशमना से होता है। इसी प्रकार विप्रकृष्ट जीव (अर्थात् जिसने पहले कभी सम्यक्त्व को प्राप्त किया था किन्तु पश्चात् मिथ्यात्व को प्राप्त होकर तथा सम्यक्त्व प्रकृति एवं सम्यक्त्व मिथ्यात्व कर्म की उद्वेलना कर बहुत काल तक मिथ्यात्व सहित परिभ्रमण कर पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त किया है अर्थात् अनादि तुल्य सादि मिथ्यादृष्टि) प्रथमोपशम सम्यक्त्व से गिर कर शीघ्र ही पुनः पुनः सम्यक्त्व को ग्रहण करता है अर्थात् सादि मिथ्यादृष्टि जीव सर्वोपशम[१] और देशोपशम[२] से भजनीय है। सादि मिथ्यादृष्टि के यदि सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय इन दो प्रकृतियों का सत्त्व हो तो उसके सात प्रकृतियों के उपशम से सम्यग्दर्शन होता है और यदि इन दो प्रकृतियों का सत्व नहीं है अर्थात् जिस सादि मिथ्यादृष्टि के इन दो प्रकृतियों की उद्वेलना हो चुकी हो, जो अनादि मिथ्यादृष्टि के तुल्य है उसके और अनादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व और चार अनन्तानुबंधी की एक साथ उपशमना होती है अर्थात् पाँच प्रकृतियों का उपशम कर अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त उपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है।

---

१. तीनों प्रकृतियों के उदयाभाव को सर्वोपशम कहते हैं।

२. सम्यक्त्व प्रकृति सम्बन्धी देशघाती के उदय को देशोपशमना कहते हैं।

अनादि मिथ्यादृष्टि उपशम सम्यग्दर्शन का अन्तर्मुहूर्त्त काल समाप्त हो जाने पर सासादन गुणस्थान में जाकर मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है। परन्तु जो सादि मिथ्यादृष्टि है वह सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से वेदक सम्यग्दृष्टि एवं मिश्र प्रकृति के उदय से मिश्रगुणस्थानवर्त्ती और मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यादृष्टि भी हो सकता है।

दर्शन मोहनीय का उपशम चारों गतियों में होता है, परन्तु तिर्यंच गति में पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्त और गर्भज के ही होता है, सम्मूर्च्छन के नहीं। साकार उपयोगी ही इस सम्यग्दर्शन का प्रारंभक होता है।

प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन के अभिमुख जीव असंयत ही होता है, साकारोपयोगी होता है अनाकार उपयोगी नहीं होता क्योंकि अनाकार उपयोगी के बाह्य अर्थप्रवृत्ति का अभाव है। कृष्णादि छहों लेश्याओं में हो सकता है, परन्तु अशुभ लेश्या के अंश हीयमान होने चाहिए और शुभ लेश्या के अंश वर्द्धमान होने चाहिए। उपशम सम्यग्दर्शन करने के लिए अधः करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणामों की विशुद्धि होनी चाहिए।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्व क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन से होता है, मिथ्यात्व से नहीं। यह सम्यक्त्व उपशम श्रेणी के सम्मुख होने वाले जीव के होता है। इस सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति अप्रमत्त गुणस्थान में होती है, परन्तु श्रेणी पर आरूढ़ होता है तब ११वें गुणस्थान तक चला जाता है और ऊँचे से गिरता है तो क्रम से १०, ९, ८, ७, ६ गुणस्थान को प्राप्त होता है। देशसंयत और असंयत में भी आ सकता है तथा मिथ्यात्व का उदय आने पर मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है तथा मिश्र प्रकृति के उदय से तीसरे गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है। किसी आचार्य के मतानुसार अनन्तानुबन्धी कषाय की किसी प्रकृति का उदय आने पर दूसरे गुणस्थान में भी जा सकता है।

वेदक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, मिश्र सम्यग्दर्शन ये तीनों एकार्थवाची हैं। इन तीनों में शब्दभेद है, परन्तु अर्थभेद नहीं है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का लक्षण

चार अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय और इन्हीं का सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती स्पर्धक वाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में जो तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है वह **क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन** कहलाता है।

जिसकी सम्यक्त्व संज्ञा है ऐसी दर्शनमोहनीय कर्म की भेद रूप प्रकृति के उदय से यह जीव क्षायोपशमिक (वेदक) सम्यग्दृष्टि होता है।

सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति के उदय से पदार्थों में जो चल, मलिन और अवगाढ़ श्रद्धान होता है वह क्षयोपशम सम्यग्दर्शन कहलाता है। यद्यपि यह सम्यग्दर्शन चल, मल आदि दोषों से युक्त है तथापि निश्चय

से दर्शन मोहनीय के क्षय का निमित्त है, अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि ही दर्शनमोह का नाश करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है।[१]

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि शिथिल श्रद्धानी होता है। अतः वृद्ध पुरुष के द्वारा पकड़ी हुई लकड़ी जैसे कम्पायमान रहती है, उसी प्रकार इस सम्यग्दृष्टि के परिणाम शिथिल रहते हैं। तत्त्वश्रद्धान में अकम्प नहीं रहता इसलिए कुगुरु और कुदृष्टान्तों के द्वारा उसे सम्यग्दर्शन को छोड़ते देर नहीं लगती। जैसे श्रेणिक राजा ने बौद्ध साधुओं के कहने से सम्यग्दर्शन का परित्याग कर दिया था।[२]

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का एक नाम कृतकृत्य वेदक भी है। जब यह जीव क्षायिक सम्यग्दर्शन करने के सम्मुख होता है तब सर्वप्रथम तीन करण करके अनन्तानुबन्धी चार कषाय की सत्ता-व्युच्छित्ति करता है पुनः अन्तर्मुहूर्त काल तक विश्राम करके तीन करण के द्वारा मिथ्यात्व एवं सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति का नाश करके केवल सम्यक्त्व प्रकृति का वेदन करता है, तब अन्तर्मुहूर्त्त तक कृतकृत्य वेदक होता है। अन्तर्मुहूर्त्त के बाद वह नियम से सम्यक्त्व प्रकृति का नाश कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन जाता है। यद्यपि यह सम्यग्दर्शन क्षायिक सम्यग्दर्शन के सम्मुख होने से क्षायिक ही है परन्तु सम्यक्त्व प्रकृति का वेदन करने वाला होने से वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है, अतः इसका नाम कृतकृत्य वेदक है।

वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने पर जीव की बुद्धि शुभानुबन्धी हो जाती है। शुचि कर्म में रति उत्पन्न होती है। श्रुत के प्रति संवेग (प्रीति) उत्पन्न होता है। तत्त्वार्थ में श्रद्धान, जिनधर्म में अनुराग एवं संसार से निर्वेद (विरक्ति) जागृत होती है। यह सम्यग्दर्शन अनादि मिथ्यादृष्टि के नहीं होता है, सादि मिथ्यादृष्टि के ही होता है।

सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्व होता है, उसके बाद मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त हो जाने के बाद सम्यक्त्व प्रकृति का उदय आ जाने पर क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होता है। जिस जीव ने उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त कर पल्य का असंख्यातवाँ भाग व्यतीत हो जाने पर सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यक्त्व मिथ्यात्व प्रकृति की उद्वेलना कर दी है ऐसे सादि मिथ्यादृष्टि को भी क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन नहीं होता है।

मिथ्यात्व गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त्त रहने के बाद ही क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है।

वेदक सम्यग्दृष्टि में असंख्यातवें भाग सम्यग्दृष्टि सम्यग्दर्शन से च्युत होकर मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त हो जाते हैं। उसके असंख्यातवें भाग क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ जाने से तृतीय गुणस्थान को प्राप्त हो जाते हैं और शेष, क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर मोक्ष चले जाते हैं।

यह क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन एक दिन में हजारों बार छूट सकता है और पुनः सम्यग्दर्शन को प्राप्त

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा २५

२. धवला १/१.१.१२

हो जाता है। इसके स्थिर रहने का उत्कृष्ट काल ६६ सागर है, जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त्त है। या तो इतने काल में क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर मोक्ष चला जाता है वा मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त कर उत्कृष्ट रूप से अर्ध पुद्गल परिवर्त्तन कर संसार में भटकता रहता है। अन्त में, पुन: सम्यग्दृष्टि होकर मोक्ष में चला जाता है। सम्यग्दर्शन का ऐसा प्रभाव-महिमा है कि एक बार प्राप्त हो जाने पर यह जीव अर्धपुद्गल परावर्तन से अधिक संसार में भ्रमण नहीं कर सकता।

卐 क्षायिक सम्यग्दर्शन 卐

अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन सात प्रकृतियों की सत्ताव्युच्छित्ति होने पर जो अडोल अकम्प दृढ़ श्रद्धान होता है, वह **क्षायिक सम्यग्दर्शन** कहलाता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि मेरु के समान निष्कम्प रहता है तथा यह सम्यग्दर्शन निर्मल, अक्षय और अनन्त है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव कभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता, किसी प्रकार का सन्देह भी नहीं करता और मिथ्यात्वजन्य अतिशयों को देखकर विस्मय को भी प्राप्त नहीं होता।

क्षायिक सम्यग्दर्शन के प्रारंभ होने पर अथवा प्राप्ति या निष्ठापन होने पर क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव के ऐसी विशाल गंभीर एवं दृढ़ बुद्धि उत्पन्न हो जाती है कि वह कुछ असंभव या अनहोनी घटनाएँ देखकर भी विस्मय एवं क्षोभ को प्राप्त नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्त्तुं क्षमन्ते परं,
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं,
जानन्त: स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि।। स.सा.कलश१५४।।

सम्यग्दृष्टि जीव ही ऐसा साहस करने में समर्थ है कि भय से तीन लोक के प्राणियों को अपने मार्ग से चलायमान करने वाली ध्वनि वाले वज्रपात के होने पर स्वभाव से निर्भय होने से सारी शंका को छोड़कर 'मैं अवध्य (अघातक) ज्ञान शरीर वाला हूँ' ऐसा जानते हुए कभी अपने ज्ञान एवं श्रद्धान से च्युत नहीं होते।

क्षायिक सम्यग्दर्शन छूटता नहीं है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि भव की अपेक्षा अधिक-से-अधिक चार भव तक संसार में रह सकता है। यदि पूर्व में किसी भी आयु का बंध नहीं किया हो तो उसी भव से मोक्ष जा सकता है। काल की अपेक्षा आठ वर्ष कम दो कोटि पूर्व और तैंतीस सागर तक संसार में रह सकता है। जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त में मोक्ष चला जाता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन केवली वा श्रुतकेवली के चरण-सान्निध्य में ही होता है, अन्य स्थान में नहीं होता है।

इस सम्यग्दर्शन के प्रारंभक कर्मभूमिया मनुष्य ही होते हैं, निष्ठापना चारों गतियों में हो सकती है अर्थात् जिस कर्मभूमिया मनुष्य ने मिथ्यात्व अवस्था में नरक, तिर्यंच और मनुष्य आयु का बन्ध कर लिया हो और मरण के अन्तर्मुहूर्त्त पूर्व क्षायिक सम्यग्दर्शन करना प्रारंभ किया, अनन्तानुबंधी चतुष्क, मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों की सत्ता-व्युच्छित्ति करके कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि होकर मरा तथा प्रथम नरक, भोगभूमिया तिर्यंच, मनुष्य वा कल्पवासी देवों में उत्पन्न हुआ, वह निवृत्यपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व प्रकृति का नाश कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है।

उक्तं च-

तत्सरागं विरागं च द्विधौपशमिकं तथा।
क्षायिकं वेदकं त्रेधा, दशधाज्ञादिभेदतः ॥इति॥

अन्वयार्थ - तत् - वह सम्यग्दर्शन। **सरागं** - सराग। **च** - और। **विरागं** - विराग के भेद से। **द्विधा** - दो प्रकार का है। **तथा** - और । **औपशमिकं** - औपशमिक। **क्षायिकं** - क्षायिक। **वेदकं** - वेदक के भेद से। **त्रेधा** - तीन प्रकार का है। **आज्ञादिभेदत** - आज्ञादिक भेद से। **दशधा** - दश प्रकार का है।

भावार्थ - इस श्लोक में सम्यग्दर्शन के भेद - प्रभेदों का कथन किया है। सामान्यतः तत्त्वश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन एक प्रकार का है।

सम्यग्दर्शन सराग और वीतराग के भेद से दो प्रकार का है।

''प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्यादिलक्षणं सरागसम्यक्त्वं''

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव से प्रगट होने वाला सराग सम्यग्दर्शन है।

आत्मविशुद्धि मात्र वीतराग सम्यक्त्व है।

राजवार्त्तिक में प्रशम आदि भावों से प्रगट होने वाले सम्यग्दर्शन को सराग सम्यग्दर्शन कहा है तथा अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन सात प्रकृतियों के अत्यन्त क्षय होने से जो आत्मविशुद्धि होती है वा श्रद्धान होता है उसे वीतराग सम्यग्दर्शन कहा है।

अमितगति श्रावकाचार में लिखा है कि - ''सराग, वीतराग के भेद से सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है। औपशमिक एवं क्षायोपशमिक सराग सम्यग्दर्शन है और क्षायिक वीतराग सम्यग्दर्शन है। वा प्रशमादि भावों से प्रगट होने वाला सराग और उपेक्षा संयम के साथ होने वाला वीतराग सम्यग्दर्शन है।

भगवती आराधना में लिखा है कि प्रशस्त राग वाले प्राणियों के सराग सम्यग्दर्शन और प्रशस्त एवं अप्रशस्त दोनों राग से रहित क्षीणमोही वीतरागियों के वीतराग सम्यग्दर्शन होता है।

समयसार की **तात्पर्य वृत्ति** में लिखा है कि सराग सम्यग्दृष्टि केवल अशुभ कर्मों के कर्त्तापने को छोड़ता है, शुभकर्म के कर्त्तापने को नहीं छोड़ता है, परन्तु निश्चय चारित्र के अविनाभूत वीतराग सम्यग्दृष्टि शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकार के कर्त्तापने को छोड़ देता है। भक्ति आदि शुभ राग से परिणत सराग सम्यग्दृष्टि है और वीतराग चारित्र का अविनाभावी वीतराग सम्यग्दृष्टि है। इस प्रकार सराग, वीतराग सम्यग्दर्शन के स्वरूप के कथन आचार्यों ने किया है।

निश्चय और व्यवहार के भेद से सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है।

सम्यग्दर्शन समस्त रत्नों में सारभूत रत्न है और मोक्ष रूपी वृक्ष का मूल है, इसके निश्चय एवं व्यवहार ऐसे दो भेद जानने चाहिए। (र.सा. ४)

हिंसादि रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग वा गुरु इनमें श्रद्धा होना व्यवहार सम्यग्दर्शन है अथवा जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान, सच्चे देव-शास्त्र एवं गुरु का श्रद्धान ये सब लक्षण व्यवहार सम्यग्दर्शन के हैं क्योंकि व्यवहार भेद को ग्रहण करता है।

नौ पदार्थों से भिन्न, स्वकीय शुद्धात्मा की रुचि, 'शुद्धात्मा ही उपादेय है और सर्व हेय है', ऐसी भावना निश्चय सम्यग्दर्शन है।

'रागादि से भिन्न, स्वात्मा से उत्पन्न सुखस्वरूप जो परमात्मा है वैसा ही मैं हूँ' ऐसे दृढ़ वास्तविक श्रद्धान से उत्पन्न जो आत्मसंवेदन है, आत्मस्वरूप के भान का आनन्द है, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। वा 'रागादि विकल्प रहित चित् चमत्कार भावना से उत्पन्न मधुर रस का आस्वादन करने वाला मैं हूँ' ऐसी दृढ़ प्रतीति ही निश्चय सम्यग्दर्शन है।

शुद्धोपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न परम आह्लाद रूप सुखामृत रस का आस्वादन ही उपादेय है, इन्द्रियजन्य सुख हेय हैं, ऐसी रुचि रूप वीतराग चारित्र का अविनाभावी वीतराग नामधारी निश्चय सम्यग्दर्शन है।

निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन इन दोनों में परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध है। व्यवहार कारण है, निश्चय कार्य है। व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन का साधक है, निश्चय साध्य है।

जो व्यवहार नय के विषयभूत नव पदार्थ हैं उनको जानना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। उन नव पदार्थों में शुद्ध जीवास्तिकाय है, उसको जानना, उसका श्रद्धान करना निश्चय सम्यग्दर्शन है अर्थात् निश्चय और व्यवहार दोनों एक साथ ही रहते हैं। कहा भी है-

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं,
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।

अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं,
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥८॥ समयसारकलश

ये नव तत्त्व जीव और अजीव की पर्यायें हैं। उन पर्यायों में अनादि काल से छिपी हुई यह आत्मज्योति शुद्धनय से प्रकट हुई है। जैसे अनेक वर्ण वा कीट कालिमा से आच्छादित स्वर्ण स्वर्णकार के द्वारा प्रकट होता है, अत: उन सर्व नव तत्त्वों से भिन्न शुद्धात्मा का अवलोकन करो, पद-पद पर इसी का ध्यान करो।

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मन:,
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्य: पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं,
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोस्तु न: ॥

शुद्ध निश्चयनय से जो एकत्व में नियत, सर्वगुणों में व्याप्त पूर्ण ज्ञान घन आत्मा है, उस आत्मा का सर्व द्रव्यों से भिन्न अवलोकन करना ही सम्यग्दर्शन है, इसलिए नव पदार्थ की संतति को छोड़कर एक शुद्ध आत्मा ही हमको प्राप्त होवे।

इस प्रकार नव तत्त्व को जानने का कारण शुद्ध आत्मतत्त्व को जानना क्योंकि अनादिकाल से नव तत्त्व के मध्य में आत्मतत्त्व छिपा हुआ है, उसका ज्ञान तत्त्व को जाने बिना नहीं होता। अत: नव तत्त्व का श्रद्धान रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण है और निश्चय उसका कार्य है। नवतत्त्व ज्ञेय हैं और उनमें शुद्धात्मतत्त्व उपादेय है।

अथवा भूतार्थ नय से ज्ञात जीवादि सात तत्त्व वा नौ पदार्थ व्यवहार से सम्यग्दर्शन है क्योंकि इन तत्त्वों की जानकारी के माध्यम से शुद्धनय से स्थापित आत्मा की अनुभूति होती है। इसलिए व्यवहार सम्यग्दर्शन कारण है और निश्चय कार्य है तथा इनमें साध्य, साधक भाव भी है।

आगम भाषा में जिसको व्यवहार एवं निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं, अध्यात्म भाषा में उसी को सराग एवं वीतराग सम्यग्दर्शन कहते हैं।

शुद्ध जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान रूप सराग सम्यग्दर्शन को ही व्यवहार सम्यग्दर्शन जानना चाहिए और वीतराग चारित्र के अविनाभावी वीतराग सम्यग्दर्शन का ही दूसरा नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है। (द्रव्यसंग्रह टीका ४१)

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला सराग सम्यग्दर्शन ही व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

वीतराग चारित्र का अविनाभावी निजशुद्धात्मानुभूति लक्षण वाला वीतराग सम्यक्त्व ही निश्चय सम्यक्त्व है।

शुद्धोपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न परम आह्लादरूप सुखामृत का आस्वादन ही उपादेय है, इन्द्रियजन्य सुख हेय है, ऐसी रुचि-प्रतीति ही निश्चय सम्यग्दर्शन है, परन्तु ऐसी रुचि वीतराग चारित्र के बिना नहीं होती है अत: वीतराग चारित्र के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला वीतराग सम्यग्दर्शन ही निश्चय सम्यग्दर्शन है।

इस प्रकार सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व ही क्रमश: व्यवहार और निश्चय सम्यग्दर्शन हैं।

औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से सम्यक्त्व तीन प्रकार का है, उनका लक्षण पूर्व में लिखा जा चुका है।

ये तीनों सम्यग्दर्शन भी सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन में गर्भित हैं। क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शन वीतराग सम्यग्दर्शन है और औपशमिक एवं क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन सराग हैं।

आज्ञा सम्यक्त्व आदि के भेद से सम्यग्दर्शन दश प्रकार का भी है। जो वीतराग प्रभु ने कहा है वह सत्य है, वास्तविक है, अन्यथा नहीं है, अन्य प्रकार नहीं है, प्रभु की आज्ञा के प्रति ऐसी दृढ़ प्रतीति है, वह **आज्ञा** सम्यक्त्व है।

निर्ग्रन्थ मुनिराज की चर्या देखकर अर्थात् मोक्षमार्ग की क्रिया को देखकर जिनधर्म में रुचि होना **मार्ग** सम्यग्दर्शन है।

तीर्थंकर, बलदेव, चक्रवर्ती आदि त्रेसठ शलाका पुरुषों के जीवनचरित्र सुनकर अंतरंग में जिनधर्म के प्रति जो श्रद्धा वा प्रतीति होती है वह **उपदेश** सम्यक्त्व है क्योंकि हमारे आचार्यों ने धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय का स्वरूप पुराण पुरुषों का कथन करना ही कहा है। अर्थात् प्रथमानुयोग को सुनकर श्रद्धान होना उपदेश सम्यक्त्व है।

मुनिजन के चारित्र वा अनुष्ठान को सूचित (कथन) करने वाले मूलाचार आदि आचारशास्त्रों (चरणानुयोग) को सुनकर जो जिनधर्म एवं आत्मतत्त्व का विश्वास होता है, वह **सूत्र** सम्यग्दर्शन है।

शंका - मार्ग सम्यग्दर्शन एवं सूत्र सम्यग्दर्शन में क्या अन्तर है ? दोनों में ही मुनिचर्या कारण है?

समाधान - मार्ग सम्यग्दर्शन में मुनिचर्या का अवलोकन है। उनके स्वरूप को देखकर प्रतीति होती है और उपदेश सम्यक्त्व में शास्त्र के द्वारा या विद्वानों के मुख से सुनकर श्रद्धान होता है।

जिन जीवादि पदार्थों के समूह का वा गणितादि विषयों का ज्ञान दुर्लभ है, उनका किन्हीं बीजपदों

के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले भव्य जीव के जो दर्शनमोहनीय के उपशमवश तत्त्वश्रद्धान होता है, वह **बीज सम्यक्त्व** है अथवा सूक्ष्म अर्थ का कथन करने वाले 'ह्रीं' आदि बीजाक्षरों के अर्थ को सुनकर जिनधर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धा होती है, वह बीज सम्यग्दर्शन है।

जो भव्य जीव जीवादि पदार्थों के स्वरूप को संक्षेप से सुनकर श्रद्धान करता है, वह **संक्षेपदृष्टि** वा **संक्षेप सम्यग्दर्शन** है।

जो द्वादशांग के विषय को नय-निक्षेपादि के द्वारा विस्तार से जानकर श्रद्धान करता है, वह **विस्तार** सम्यग्दर्शन है।

वचन - विस्तार के बिना केवल अर्थग्रहण से जो जिनधर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह **अर्थ** सम्यग्दर्शन कहलाता है।

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत का अवगाहन करके जो अचल श्रद्धान होता है, वह **अवगाढ़** सम्यग्दर्शन कहलाता है।

परमावधि या केवलज्ञानदर्शन से प्रकाशित जीवादि पदार्थ विषयक प्रकाश से जिसकी आत्मा विशुद्ध है, वह **परमावगाढ़** सम्यग्दर्शन कहलाता है।

शब्दों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन संख्यात प्रकार का है, श्रद्धान करने वालों की अपेक्षा असंख्यात प्रकार का है और श्रद्धान करने योग्य पदार्थ वा अध्यवसायों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन अनन्त प्रकार का भी है। (रा.वा. १/७)

उत्पत्ति की अपेक्षा उपशमज सम्यग्दर्शन के भेद

तेषूपशमजसम्यग्दर्शनमुत्पत्तितो द्विधा भवति।
मिथ्यादृष्टेराद्यं वेदकसम्यग्दृशो ह्यन्यत्॥११॥

अन्वयार्थ - तेषु - उन तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शनों में। **उपशमजसम्यग्दर्शनं** - औपशमिक सम्यग्दर्शन। **उत्पत्तितः**- उत्पत्ति की अपेक्षा। **द्विधा** - दो प्रकार का। **भवति** - होता है (प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम)। **मिथ्यादृष्टेः** - मिथ्यादृष्टि के। **आद्यं** - प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। **हि** - और। **वेदक सम्यग्दृश** :- क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के। **अन्यत्** - दूसरा (द्वितीयोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है।)

क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक के भेद से सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का है। उनमें जो औपशमिक सम्यग्दर्शन है, वह उत्पत्ति की अपेक्षा दो प्रकार का है: प्रथमोपशमिक और द्वितीयोपशमिक।

उनमें जो प्रथमोपशमिक सम्यग्दर्शन है, वह मिथ्यादृष्टि के ही होता है। द्वितीयोपशमिक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के ही होता है।[१]

मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के होते हैं - सादि मिथ्यादृष्टि और अनादि मिथ्यादृष्टि। जिन्होंने सम्यग्दर्शन प्राप्त करके छोड़ दिया है, जो पुन: मिथ्यात्व को प्राप्त हो गये हैं, वे सादि मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं और जिन्होंने अभी तक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया है, वे अनादि मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। सादि मिथ्यादृष्टि भव्य ही होते हैं, परन्तु अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य और अभव्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

जिनमें सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने की शक्ति है, किसी काल में सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं, वे भव्य कहलाते हैं और इनसे जो विपरीत हैं, जो सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं कर सकते वे अभव्य कहलाते हैं।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले की योग्यता

मिथ्यादृष्टिर्भव्यो द्विविधः संज्ञी समाप्तपर्याप्तिः।
लब्धिचतुष्टययुक्तोऽत्यन्तविशुद्धश्चतुर्गतिजः ॥१२॥

जाग्रदवस्थावस्थः साकारात्मोपयोगसंयुक्तः।
योग्यस्थित्यनुभवभाक् सल्लेश्यावृद्धियुक्तश्च ॥१३॥

त्रिकरणशुद्धिं कृत्वाप्यन्तरमुत्पादितत्रिदृग्मोहः।
गृह्णात्याद्यं दर्शनमनन्तसंसारविच्छेदी ॥१४॥ त्रिकम्॥

अन्वयार्थ - **द्विविधः** - दो प्रकार के । **मिथ्यादृष्टिः** - मिथ्यादृष्टि। **भव्यः** - भव्य। **संज्ञी** - सैनी। **समाप्तपर्याप्तिः** - पर्याप्त। **लब्धिचतुष्टययुक्तः** - चार लब्धियों से युक्त। **अत्यन्त विशुद्धः** - अत्यन्त विशुद्ध। **चतुर्गतिजः** - चारों गतियों में स्थित। **जाग्रदवस्थावस्थः** - जाग्रत अवस्था में अवस्थित। **साकारात्मोपयोग संयुक्तः** - साकार आत्मोपयोग से जो संयुक्त है। **योग्यस्थित्यनुभवभाक्** - योग्य स्थिति और अनुभाग का भागी है। **सल्लेश्यावृद्धियुक्तः** - शुभ लेश्या की वृद्धि से युक्त। **च** - और। **त्रिकरणशुद्धिं** - तीन करण शुद्धि को। **कृत्वा** - करके। **अन्तरं** - अन्तर में। **उत्पादित त्रिदृग्मोहः** - उत्पन्न किया है तीन प्रकार के दर्शनमोहको जिसने ऐसा प्राणी। **अनन्तसंसार विच्छेदी** - अनन्त संसार का नाशक। **आद्यं** - प्रथमोपशम। **दर्शनं** - सम्यग्दर्शन। **गृह्णाति** - ग्रहण करता है।

भावार्थ - भव्य जीव के ही सम्यग्दर्शन होता है, अभव्य के नहीं। भव्यों में भी सभी भव्य सम्यग्दर्शन - उत्पत्ति के योग्य नहीं हैं, अपितु जो पंचेन्द्रिय है, संज्ञी है, पर्याप्त है, चार लब्धि (क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य) से युक्त है, अत्यन्त विशुद्ध है, चारों गतियों में स्थित है, जाग्रत अवस्था में स्थित

---

१. द्वितीयोपशमिक सम्यग्दर्शन उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होने वाले के ही होता है।

है, साकार (ज्ञान) उपयोग से युक्त है, योग्य स्थिति और अनुभाग का धारी है, शुभलेश्या की वृद्धि से युक्त है, तीन करण की शुद्धि को करके - अन्तर करके जिसने मिथ्यादर्शन के तीन टुकड़े किये हैं ऐसा प्राणी अनन्त संसार के छेदक प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन को ग्रहण करता है।

प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन सादि और अनादि दोनों ही मिथ्यादृष्टि प्राप्त कर सकते हैं। सासादन आदि शेष गुणस्थानवर्ती इस सम्यग्दर्शन के उत्पादक नहीं हैं।

सम्यग्दर्शन के उत्पादक भव्य ही होते हैं, अभव्य नहीं; इसलिए 'भव्य' यह विशेषण दिया है।

मिथ्यादृष्टि भव्य भी दो प्रकार के होते हैं - संज्ञी एवं असंज्ञी। इन दोनों में संज्ञी ही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है, असंज्ञी नहीं। क्योंकि असंज्ञी में हेय - उपादेय का विचार करने की शक्ति नहीं है, और हेयोपादेय के विचार बिना सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता।

संज्ञी प्राणी भी दो प्रकार के होते हैं - पर्याप्त और अपर्याप्त। अपर्याप्त सम्यग्दर्शन का उत्पादक नहीं है क्योंकि अपर्याप्त अवस्था में इन्द्रिय और मन के नहीं होने से तत्त्वस्वरूप ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं है।

लब्धिचतुष्टययुक्तः - यद्यपि सम्यग्दर्शन पाँच लब्धियों के अन्त में ही होता है अर्थात् करणलब्धि के अनन्तर ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है, तथापि प्रथम चार लब्धियों के बाद ही करणलब्धि होती है। चार लब्धियाँ होने के बाद सम्यग्दर्शन हो भी सकता है और नहीं भी परन्तु पूर्व में चार लब्धियों का होना आवश्यक है।

चार लब्धियों के नाम - क्षायोपशमिक लब्धि - संज्ञी पंचेन्द्रिय पद की प्राप्ति होना अथवा अशुभ कर्मों के अनुभाग की हानि होना।

"पूर्वसंचित कर्मों के मल रूप पटल के अनुभाग स्पर्धक जिस समय विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्त गुणहीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त किये जाते हैं, उसको **क्षयोपशम लब्धि** कहते हैं।" (धवल ६।१.९-८३)

"कषायों की मंदता वा शुभ कर्मों के अनुभाग की वृद्धि को **विशुद्धि लब्धि** कहते हैं।"

"प्रत्येक समय अनन्तगुणितहीन क्रम से उदीरित अनुभाग स्पर्धकों से उत्पन्न हुए साता आदि शुभ कर्मों के बंध के निमित्तभूत और असाता आदि अशुभ कर्मों के बंध के विरोधी, जो जीव के परिणाम हैं, उसे विशुद्धि कहते हैं। उसकी प्राप्ति को विशुद्धि लब्धि कहते हैं।" (धवल ६/१-९)

छह द्रव्यों और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम **देशना** है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उनके द्वारा उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को **देशना लब्धि** कहते हैं।

सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग का घात करके अन्त:कोड़ाकोड़ी स्थिति में एवं द्विस्थानीय अनुभाग में अवस्थान करने को **प्रायोग्य लब्धि** कहते हैं।

प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन के सम्मुख हुआ जीव विशुद्धता की वृद्धि करता हुआ प्रायोग्य लब्धि के प्रथम समय से लेकर पूर्व स्थिति बंध के संख्यातवें भाग मात्र अन्त:कोटाकोटी प्रमाण सात कर्मों का स्थिति-बंध करता है, आयु कर्म को छोड़कर।

यह प्राणी इस समय अप्रशस्त प्रकृतियों का द्विस्थानीय अनुभाग प्रतिसमय अनन्त गुणा घटता बाँधता है और प्रशस्त प्रकृतियों का चतु:स्थानीय अनुभाग प्रतिसमय अनन्त गुणा बढ़ता बाँधता है।

मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधिचतुष्क, स्त्यानगृद्धि त्रिक, देव चतुष्क, वज्रवृषभनाराच, प्रशस्त विहायोगति, सुभगादि (सुभग, सुस्वर, आदेय) तीन, नीच गोत्र इन २९ प्रकृतियों का उत्कृष्ट एवं अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है तथा महादण्डक में कही गई ६१ प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है।

उदयवान प्रकृतियों के उदय की अपेक्षा जो उदय को प्राप्त हुआ एक निषेक है उसी का भोक्ता होता है। अप्रशस्त प्रकृतियों के द्विस्थान रूप और प्रशस्त प्रकृतियों के चतु:स्थानीय रूप अनुभाग का भोक्ता होता है। उदयागत प्रकृतियों के अजघन्य वा अनुत्कृष्ट प्रदेशों का भोक्ता होता है।

जो प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग उदय रूप हों, उन्हीं की उदीरणा करने वाला होता है।

सत्ता रूप प्रकृतियों के स्थिति, अनुभाग प्रदेश अजघन्य और अनुत्कृष्ट होते हैं। इस प्रकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप चतुष्क है, अत: बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्त्व इन सब में चार प्रकार का बन्ध कहा है। यह क्रम प्रायोग्य लब्धि के अन्त पर्यन्त जानना चाहिए। इन चार लब्धियों से युक्त को लब्धि चतुष्टय युक्त कहा है।

अत्यंतविशुद्ध: - कषायों के विपाक की मन्दता को विशुद्ध स्थान कहते हैं। साता वेदनीय, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय आदिक परिवर्त्तमान शुभ प्रकृतियों के बंध के कारणभूत कषायस्थानों को विशुद्धिस्थान कहते हैं। सम्यग्दर्शन के सम्मुख हुए जीव के शुभकर्म प्रकृतियों का अनुभाग विशेष होता है।

चतुर्गतिज: - चारों गतियों के जीव प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं, परन्तु तिर्यञ्च गति में गर्भज जीव ही प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है, सम्मूर्च्छन नहीं।

जाग्रदवस्थावस्थ: - जो जीव जाग्रत अवस्था में अवस्थित है, वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है, निद्रा अवस्था में नहीं। निद्रा से यहाँ स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला इन तीन निद्राओं को ग्रहण किया है।

साकारोपयोग - साकार उपयोग (ज्ञानोपयोग) में अवस्थित के ही प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है, दर्शनोपयोग में अवस्थित प्राणी प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन का उत्पादक नहीं है।

अपर्याप्त अवस्था और सुप्त अवस्था में सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि नहीं होती।[१] दर्शनोपयोग के समय में सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि और सर्वोत्कृष्ट संक्लेश परिणामों का अभाव पाया जाता है। साकार उपयोग और जागृदवस्था के समय ही सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि एवं संक्लेश पाया जाता है।[२] विशुद्ध परिणामों के बिना कर्मों के स्थितिकाण्डघात आदि नहीं होते, इसलिए जाग्रत अवस्था और साकारोपयोग अवस्था अवस्थित कहा गया है।

प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन का प्रारंभक साकारोपयोगी होता है, किन्तु इस सम्यग्दर्शन का निष्ठापक एवं मध्यवर्ती जीव भजितव्य है अर्थात् वह दर्शनोपयोगी भी हो सकता है। (क. पा. सू. १० गा. १९८)

योग्य स्थिति एवं योग्य अनुभाग का भोक्ता ही प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है।

योग्य स्थिति - आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागरोपमहीन अन्त:कोड़ाकोड़ी सागरोपमप्रमाण को स्थापित करता है तथा अन्त:कोड़ाकोड़ी स्थिति को बाँधता है, तब प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न करने योग्य होता है।

सम्यग्दर्शन के सम्मुख होने वाले जीव के स्थिति काण्डघात और स्थिति बंधापसरण ये दो प्रक्रियाएँ स्थिति के लिए होती हैं।

जो स्थिति सत्ता में है उसका काण्ड रूप से घात करके अन्त:कोड़ाकोड़ी प्रमाण कर लेना स्थिति-काण्डघात है। एक साथ कर्मों की स्थिति का घात करना संभव नहीं है, अत: संख्यात हजार, संख्यात हजार वर्ष स्थिति का घात करता है। स्थिति काण्डघात सत्ता में पड़ी प्रकृतियों का होता है। जो वर्तमान में स्थिति बाँधता है, वह भी अंत:कोड़ा-कोड़ी प्रमाण बाँधता है, वह स्थिति बंधापसरण है। कर्मों की स्थिति अन्त:कोड़ाकोड़ी प्रमाण वाला जीव स्थितियोग्यभाक् कहलाता है क्योंकि इसी जीव में सम्यग्दर्शन उत्पन्न करने की योग्यता आती है। इसलिए स्थितियोग्य कहा है।

योग्य अनुभाग भाक् - अप्रशस्त प्रकृतियों का द्विस्थानीय अनुभाग प्रतिसमय अनन्त गुणा घटता हुआ बँधता है और प्रशस्त प्रकृतियों का चतु:स्थानीय अनुभाग प्रति समय अनन्त गुणा बढ़ता हुआ बँधता है, अर्थात् अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग द्विस्थानीय होता है, प्रशस्त कर्म प्रकृतियों का अनुभाग चतु:स्थानीय होता है तब यह जीव प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। इसे योग्य अनुभागभाक् कहते हैं।

---

१. अप्पज्जत्तकाले सव्वुक्कस्स विसोही णत्थि। ध. १२/४, २, ७, ३८।

२. सागारजागारद्धासु चेव सव्वुक्कस्स विसोहीयो सव्वुक्कस्स संकिलेसा च होंति ति। - ध. १२/४, २, ७, ३८।

सल्लेश्या वृद्धियुक्त - कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल के भेद से लेश्या छह प्रकार की है। उनमें कृष्ण, नील, कापोत ये तीन लेश्या अशुभ हैं और पीत, पद्म एवं शुक्ल ये तीन लेश्या शुभ हैं। छहों लेश्या वाले जीव इस सम्यग्दर्शन को उत्पन्न कर सकते हैं, क्योंकि नरक गति में तो तीन अशुभ लेश्या ही होती हैं, उनको प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन हो सकता है, अत: सल्लेश्यावृद्धियुक्त का अर्थ होता है कि यदि अशुभ लेश्या है तो हीयमान होनी चाहिए और शुभ लेश्या हो तो वर्धमान होनी चाहिए क्योंकि अशुभ लेश्या की वृद्धि और शुभ लेश्याओं की हानि संक्लेश परिणामों से होती है, संक्लेश परिणाम वाले सम्यग्दर्शन के प्रारंभक नहीं होते। इससे विपरीत अर्थात् अशुभ लेश्याओं की हीयमानता, शुभ लेश्याओं की वृद्धि, विशुद्ध परिणामों से होती है और विशुद्ध परिणाम वाला ही सम्यग्दर्शन का प्रारंभक होता है।

मिथ्यादृष्टि, भव्य, संज्ञी, पर्याप्त, लब्धिचतुष्टययुक्त, अत्यन्त विशुद्ध, चतुर्गतिज, जाग्रदवस्थावस्थ, साकार उपयोगी, योग्य स्थिति (अन्त:कोटाकोटि प्रमाण स्थिति), योग्य अनुभाग और सल्लेश्या युक्त यह सारी अवस्था पूर्व की है, यह अभव्य को भी प्राप्त हो सकती है। यद्यपि इनकी प्राप्ति के बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता परन्तु इनके होने पर सम्यग्दर्शन हो ही जायेगा, ऐसा नियम नहीं है।

जिस प्रकार बीज बोने के पूर्व क्षेत्र की शुद्धि करते हैं, तदनन्तर बीज बोते हैं, तब अंकुर पैदा होता है तथा धान्य की प्राप्ति होती है; उसी प्रकार ऊपर कथित सारी बातें क्षेत्र की शुद्धि के समान हैं। इसमें बीज बोने रूप तीन करण (पाँचवीं करणलब्धि) है। इसलिए आचार्यदेव ने लिखा है - **"त्रिकरणशुद्धिं कृत्वा"** तीन करण शुद्धि करके सम्यग्दर्शन उत्पन्न करके मिथ्यात्व के तीन टुकड़े करता है।

तीन करण शुद्धि - अध:करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण के भेद से तीन प्रकार की है। करण का अर्थ होता है परिणाम, उन परिणामों की शुद्धि त्रिकरण शुद्धि कहलाती है।

यहाँ पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होने वाले जीव के अध:प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के भेद से तीन प्रकार की विशुद्धियाँ होती हैं।

अध:करण में अनेक प्रकार के जीव स्थित रहते हैं, उनके परिणाम परस्पर समान नहीं होते हैं। कोई जीव, कुछ समय बाद अध:करण माँडने वाला अधिक विशुद्धि कर लेता है, पहले वाला इतनी विशुद्धि नहीं कर सकता, अत: इसको अध:करण कहते हैं।

अध:प्रवृत्तकरण के चार आवश्यक होते हैं - प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि होती है। उस अनन्त गुणी विशुद्धि के द्वारा अप्रशस्त कर्मों के द्विस्थानीय अर्थात् निम्ब एवं कांजी रूप अनुभाग को प्रति समय अनन्तगुणाहीन बाँधना। प्रशस्त प्रकृतियों के चतु:स्थानीय (गुड़, खांड, मिश्री एवं अमृत) रूप अनुभाग की प्रतिसमय अनन्त गुणी वृद्धि होना। **स्थिति बंधापसरण** अर्थात् अध:प्रवृत्तकरण के प्रथम समय में जो कर्मों का स्थितिबंध होता है उसके अन्तिम समय पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन अन्य स्थिति को बाँधता

है। इस प्रकार संख्यात हजार बार स्थिति बंधापसरण के करने पर अधःप्रवृत्तकरण का काल समाप्त हो जाता है। अधःप्रवृत्त यह नाम अन्तदीपक है। इसलिए प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने से पूर्व तक मिथ्यादृष्टि के पूर्वोत्तर समयवर्ती परिणामों में जो सदृशता पायी जाती है, उसकी अधःप्रवृत्त संज्ञा है।

इस अधःप्रवृत्तकरण में स्थित प्राणी के स्थिति काण्डघात, अनुभाग काण्डघात, गुणश्रेणी निर्जरा और गुणसंक्रमण नहीं होते हैं। क्योंकि इन अधःकरण परिणामों में पूर्वोक्त चतुर्विध कार्यों के उत्पादन करने की शक्ति का अभाव है।

अपूर्वकरण का लक्षण

करण शब्द का अर्थ परिणाम है और जो पूर्व अर्थात् पहले नहीं हुए, उन्हें **अपूर्व** कहते हैं। इसमें विवक्षित समयवर्त्ती जीवों के परिणामों से भिन्नसमयवर्ती जीवों के परिणाम असमान अर्थात् विलक्षण होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक समय में होने वाले अपूर्व परिणामों को **अपूर्वकरण** कहते हैं। इसमें एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश, विसदृश दोनों प्रकार के होते हैं, परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में तो सर्वथा असमानता ही है, समानता नहीं है, क्योंकि इस करण में अधःप्रवृत्तकरण के समान अनुकृष्टि रचना नहीं है।

इन अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा चार आवश्यक कार्य होते हैं। गुणश्रेणीनिर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखण्डन और अनुभाग खण्डन ।

इन परिणामों के द्वारा अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर गुणसंक्रमण पूर्ण होने के काल पर्यन्त स्थितिबंधापसरण होते हैं। यद्यपि स्थितिबंधापसरण प्रायोग्यलब्धि में भी होता है तथापि प्रायोग्यलब्धि में सम्यग्दर्शन होने का नियम नहीं है। इसलिए इसको यहाँ ग्रहण नहीं किया है।

गुणश्रेणी निर्जरा कर्मप्रदेश बंध में होती है अर्थात् प्रतिक्षण गुणाकार रूप से कर्मप्रदेशों का झरन, गलन होना गुणश्रेणी निर्जरा है।

गुणसंक्रमण प्रकृतियों में होता है। प्रतिक्षण अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा अशुभ प्रकृतियों का शुभ प्रकृतियों में संक्रमण होता है।

अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों की स्थिति का ह्रास होता है, इसको **स्थिति-काण्डघात** कहते हैं।

कर्मों की फलदानशक्ति का नाम अनुभाग है। उनमें अशुभ कर्मप्रकृतियों की फलदान शक्ति का ह्रास (घात) होता है क्योंकि शुभ कर्म प्रकृतियों के **अनुभागखण्डन** करने का सामर्थ्य अपूर्वकरण में नहीं है, अपितु शुभ कर्म प्रकृतियों का अनुभाग विशेष होता है।

इन परिणामों से **स्थितिबंधापसरण** और **स्थितिकाण्डकोत्करण** भी होते हैं।

इसमें कथित अपूर्व विशेषण से अधःप्रवृत्त परिणामों का निराकरण किया गया है क्योंकि जिन परिणामों में उपरितन समयवर्त्ती जीवों के परिणाम अधस्तन समयवर्त्ती जीवों के परिणामों के सदृश भी होते हैं और विसदृश भी होते हैं, ऐसे अधःप्रवृत्त में होने वाले परिणामों में अपूर्वता नहीं होती, क्योंकि ऊपर-ऊपर के समयों में नियम से अनन्तगुण विशुद्ध विसदृश परिणाम होते हैं, वही परिणाम अपूर्व कहलाते हैं।

इस करण में प्रथम समय की विशुद्धि से दूसरे समय की विशुद्धि असंख्यात लोक प्रमाण अधिक होती है, इसी प्रकार द्वितीयादि समय से लेकर अन्त तक जानना चाहिए।

अनिवृत्तिकरण का लक्षण

समान समयवर्त्ती जीवों के परिणामों की भेदरहित वृत्ति को **निवृत्ति** कहते हैं अथवा निवृत्ति शब्द का अर्थ व्यावृत्ति भी है। अतएव जिन परिणामों की निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती (जो छूटते नहीं) उन्हें ही अनिवृत्ति कहते हैं।

अन्तर्मुहूर्त्त मात्र अनिवृत्तिकरण के काल में से किसी एक समय में रहने वाले अनेक जीवों में जिस प्रकार शरीर के आकार, वर्ण आदि बाह्यरूप से और ज्ञानोपयोग आदि अंतरंग रूप से परस्पर भेद पाया जाता है, उस प्रकार उनमें परिणामों के द्वारा भेद नहीं पाया जाता है, उनको अनिवृत्तिकरण परिणाम वाले कहते हैं और उनके प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर अनन्त गुणी विशुद्धि से बढ़ते हुए समान वृद्धि वाले परिणाम पाये जाते हैं। इस करण में एक-एक समय के प्रति-एक एक ही परिणाम होते हैं, क्योंकि इस अनिवृत्तिकरण में एक समय में होने वाले जघन्य और उत्कृष्ट भेदों का अभाव है।

इस करण में प्रत्येक समय में परिणामों की विशुद्धि अधिक-अधिकतर होती है अर्थात् प्रथम समय सम्बन्धी विशुद्धि अल्प है। उससे द्वितीय समय सम्बन्धी विशुद्धि अनन्तगुणित है। उससे तृतीय समय सम्बन्धी विशुद्धि अजघन्योत्कृष्ट अनन्तगुणित है। इस प्रकार यह क्रम अनिवृत्तिकरणकाल के अन्तिम समय तक जानना चाहिए।

जिस प्रकार लोकपूरण समुद्घात में स्थित केवलियों के योग की समानता का प्रतिपादक आगम है, उस प्रकार अनिवृत्तिकरण में योग की समानता का प्रतिपादक आगम नहीं है। अतः अनिवृत्तिकरण के एक समय में स्थित सम्पूर्ण जीवों के योग की सदृशता का नियम नहीं है। इस करण में जब योगों की सदृशता नहीं है, तब प्रदेशबंध भी सदृश नहीं है क्योंकि प्रदेशबंध योग के निमित्त से ही होता है।

अनिवृत्तिकरण परिणामों के द्वारा स्थितिखण्ड अनुभाग, स्थितिकाण्डघात, अनुभागकाण्डघात, स्थितिबंधापसरण, गुणसंक्रमण, गुणश्रेणीनिर्जरा आदि अनेक कार्य होते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस प्रकार अध:प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप करण लब्धि भव्य के ही होती है। इस करण लब्धि के अनन्तर सम्यग्दर्शन अवश्य होता है। अत: करणलब्धि ही साक्षात् सम्यग्दर्शन की कारण है।

पाँच लब्धियों में यही लब्धि वास्तव में सार्थक नाम को धारण करने वाली है, क्योंकि 'लब्धि' का अर्थ है - प्राप्ति। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र के साथ जीव का समागम कराती है, उसको लब्धि कहते हैं।

यह करणलब्धि वाला भव्य जीव ऐसे परिणाम रूपी खड्ग के द्वारा मिथ्यात्वादि कर्मशत्रुओं को नष्ट करके सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है। उसके बाद उपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर मिथ्यात्व के मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व रूप तीन टुकड़े करता है।

जिनागम में अध्यात्मभाषा और आगमभाषा के भेद से दो प्रकार से कथन है।

आगमभाषा में जिन पाँच लब्धियों वा करणलब्धि को सम्यग्दर्शन का कारण कहा है उसी को अध्यात्म भाषा में निज शुद्धात्मा के सम्मुख परिणाम कहा गया है। यही सम्यग्दर्शन का कारण है।

आगमभाषा में पाँच लब्धियों से और अध्यात्मभाषा में निज शुद्धात्मा के सम्मुख परिणाम नामक निर्मल भावना रूपी खड्ग से प्रयत्न करके कर्मशत्रु को नष्ट करता है। (द्र. सं. टीका ३८)

आगमभाषा में दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से और अध्यात्म भाषा में निज शुद्धात्मा के सम्मुख परिणाम तथा काल आदि लब्धि विशेष से मिथ्यात्व नष्ट होना कहा जाता है। (पंचास्तिकाय)

प्रवचनसार में **जयसेन आचार्य** ने लिखा है कि आगम भाषा में अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामों के द्वारा दर्शनमोह का उपशमन करता है और क्षायिकसम्यग्दर्शन के सम्मुख हुआ प्राणी दर्शनमोह का क्षय करता है।

अध्यात्म भाषा में द्रव्य, गुण, पर्याय के द्वारा अर्हन्त को जानकर उसके बल से स्वकीय शुद्धात्मा की भावना के सम्मुख होकर सविकल्प स्वसंवेदन परिणाम के द्वारा अर्हन्तस्वरूप को अपने में जोड़ता है अर्थात् मैं भी अर्हन्त के समान हूँ, अभेदनय से मुझमें और अर्हन्त में कोई अन्तर नहीं है, ऐसी भावना करने वाले के दर्शनमोह का उपशमन वा क्षय होता है। अर्थात् आगम भाषा में पाँच लब्धियों में करण लब्धि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में मुख्य कारण है और अध्यात्म भाषा में द्रव्य गुण पर्याय से अरिहंत को जानकर स्वकीय आत्मस्वरूप के वेदन करने के सम्मुख होता है, तब दर्शनमोह का उपशम होता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप सामग्री को प्राप्त करके दर्शन मोह का उपशमन करता है। इनमें

जिनेन्द्र बिम्ब आदि द्रव्य हैं, समवसरण आदि क्षेत्र है, अर्धपुद्गल परिवर्तनविशेष काल है और अध:प्रवृत्तिकरण आदि करण लब्धि भाव है।

इस प्रकार यह भव्य प्राणी क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि आदि बाह्य कारण तथा करणलब्धि रूप अंतरंग कारण रूप सामग्री को प्राप्त कर उपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है।

आचार्यदेव ने इस श्लोक द्वारा प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के अंतरंग एवं बहिरंग कारणों का कथन किया है।

बहिरंग और अंतरंग कारणों के द्वारा संसार के विच्छेदक (नाशक) प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन को ग्रहण कर मिथ्यात्व के, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति रूप तीन टुकड़े करता है, मिथ्यात्व के तीन भेद करता है। इस कथन से सम्यग्दर्शन के फल को सूचित किया है।

विशेषार्थ - सम्यग्दर्शन के सम्मुख हुआ जीव क्रमश: पाँच लब्धियों को प्राप्त कर सम्यग्दर्शन को ग्रहण करता है। क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि ये पाँच लब्धियाँ हैं।

हेयोपादेय के विचारने की शक्ति का उत्पन्न होना **क्षयोपशम लब्धि** है। हेयोपादेय के विचार से प्रति समय परिणामों में विशुद्धि की वृद्धि होती है, कषायों की मन्दता होती है, उसको **विशुद्धि लब्धि** कहते हैं।

कषायों की मन्दता होने पर जो सम्यक् उपदेश अर्थात् जिनवचन को सुनने का अवसर प्राप्त होता है, सुने हुए श्रुत का मनन करना है, वह **देशना लब्धि** है। विशुद्धि लब्धि कारण है और देशना लब्धि कार्य है, क्योंकि जिसका चित्त कषायों से रंजित है उसे तत्त्व का अवगाहन नहीं होता। जैसे कृष्ण वस्त्र पर लाल वा श्वेत रंग नहीं चढ़ सकता। (स्वरूपसम्बोधन पञ्चविंशति : १७)

उस देशना के कारण से प्राप्त हुई परिणाम विशुद्धि के फलस्वरूप पूर्व कर्मों की स्थिति घटकर अन्त:कोटाकोटी सागर मात्र रह जाती है और नवीन कर्म भी इससे अधिक स्थिति के नहीं बँधते हैं, यह **प्रायोग्यलब्धि** है।

देशना के द्वारा सुने हुए तत्त्वोपदेश का सम्यक् प्रकार से निदिध्यासन (चिंतन) करना **करणलब्धि** है। इस करणलब्धि के भी तरतमता लिये हुए तीन भाग होते हैं। अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

अध:करण में परिणामों की विशुद्धि में प्रतिक्षण अनन्त गुणी वृद्धि होती है। अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग अनन्तगुणा हीन और शुभ प्रकृतियों का अनुभाग अनन्त गुणा अधिक बँधता है, परन्तु इन परिणामों

में गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिकाण्डघात, अनुभागकाण्डघात करने का सामर्थ्य नहीं है। यद्यपि स्थिति भी उत्तरोत्तर पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन-हीन बाँधता है, परन्तु स्थितिकाण्डघात नहीं कर सकता। जब शीघ्रता से परिणामों की अपूर्व-अपूर्व वृद्धि होने लगती है, तब वे परिणाम **अपूर्वकरण** कहलाते हैं। इन परिणामों से गुणश्रेणी निर्जरा, स्थितिकाण्डघात, अनुभागकाण्डघात और गुणसंक्रमण रूप कार्य होते हैं तथा स्थिति बंधापसरण भी होते हैं।

प्रतिक्षण विशुद्धि में अत्यन्त वृद्धि होने पर वह प्राणी **अनिवृत्तिकरण** में प्रवेश करता है। इसमें परिणाम अधिक वेग से वर्द्धमान होते हैं। ये तीनों ही करण जीव के उत्तरोत्तर वृद्धिगत विशुद्ध परिणामों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं। इनको प्राप्त करने में कोई अधिक समय भी नहीं लगता। तीनों ही प्रकार के परिणाम अन्तर्मुहूर्त्त मात्र काल में पूरे हो जाते हैं।

अनिवृत्तिकरणकाल के संख्यात भाग बीत जाने पर सम्यग्दर्शन सम्मुखी प्राणी **अन्तरकरण** करता है।

परिणामों की विशुद्धि के कारण सत्ता में स्थित कर्मप्रदेशों में कुछ निषेकों का, अपना स्थान छोड़कर, उत्कर्षण वा अपकर्षण द्वारा ऊपर एवं नीचे के निषेकों में मिल जाना ही **अन्तरकरण** है।

इन अन्तरकरण परिणामों द्वारा मिथ्यात्व कर्म के निषेकों की एक अटूट पंक्ति टूट कर दो भागों में विभाजित हो जाती है - एक **पूर्वस्थिति**[1] और दूसरी **उपरितनस्थिति**[2]। मध्य में अन्तर्मुहूर्त्त काल प्रमाण निषेकों का अन्तर पड़ जाता है। तत्पश्चात् उन्हीं परिणामों के प्रभाव से अनादिकालीन मिथ्यात्व नामा कर्म तीन भागों में विभाजित हो जाता है। - मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति। ये तीनों स्वतंत्र प्रकृतियाँ नहीं हैं, बल्कि उस एक मिथ्यात्व प्रकृति में ही कुछ प्रदेशों का अनुभाग तो पूर्व के समान रह जाता है, वह **मिथ्यात्व प्रकृति** कहलाती है। कुछ कर्मनिषेकों का अनुभाग अनन्तगुणा हीन हो जाता है, उसे **सम्यग्मिथ्यात्व कहते** हैं और कुछ निषेकोंका अनुभाग घटकर उससे भी अनन्त गुणा हीन हो जाता है उसको **सम्यक्त्व प्रकृति** कहते हैं। अन्तरकरण के द्वारा इन तीनों भागों (प्रकृतियों) की अन्तर्मुहूर्त्त के लिए ऐसी मूर्च्छित सी अवस्था हो जाती है कि वे न उदयावली में प्रवेश कर पाते हैं और न उनका उत्कर्षण, अपकर्षण आदि हो सकता है। तब इतने काल तक उदयावली में से दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसको ही **उपशमकरण** कहते हैं। इसके होने पर जीव को **उपशम सम्यक्त्व** उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि विरोधी कर्म का अभाव हो गया है, परन्तु अन्तर्मुहूर्त्त मात्र अवधि पूरी हो जाने पर वे कर्म पुनः सचेष्ट हो उठते हैं और उदयावली में प्रवेश कर जाते हैं। (ष.खं. ६/१९-८/सूत्र ३-८/२०३-२३८)

---

१. पूर्ववत् जैसे का तैसा रह जाना **पूर्वस्थिति** है।

२. उदयावली तथा गुणश्रेणी के ऊपर बहुत काल तक उदय आने योग्य निषेकों के समूह को **उपरितन स्थिति** कहते हैं।

इस कथन से आचार्यदेव ने सूचित किया है कि तीन करण की शुद्धि करके दर्शनमोह के तीन टुकड़े करके अनन्तर सम्यग्दर्शन उत्पन्न करता है।

गोम्मटसार में सम्यग्दर्शन रूपी यंत्र के द्वारा मिथ्यात्व के तीन विभाग करता है, ऐसा लिखा है।

धवला की छठी पुस्तक में लिखा है कि 'अन्तरकरण करके' ऐसा कहने पर काण्डघात के बिना मिथ्यात्व कर्म के अनुभाग का घात करके और उसको सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति के अनुभाग रूप आकार से परिणमाकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्राप्त होने के प्रथम समय में ही मिथ्यात्व रूप एक कर्म के तीन कर्मांश अर्थात् तीन भेद या खण्ड करता है। (धवल ६/१, ९-८, ७/२३५)

प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन के उत्पादक दो प्रकार के मिथ्यादृष्टि हैं – सादि और अनादि।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को **सर्वोपशमना** से सम्यग्दर्शन प्राप्त हैं।[१]

जिसने पूर्व में सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर छोड़ दिया है, वह **सादि मिथ्यादृष्टि** है। जिस सादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति और चार अनन्तानुबंधी इन सात प्रकृतियों का सत्त्व है, उसके देशोपशमना से (सम्यक्त्व प्रकृति रूप देशघाती) प्रकृति के उदय को **देशोपशमना** कहते हैं।) सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

जो सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन दोनों प्रकृतियों की उद्वेलना कर पाँच प्रकृति की सत्ता वाला है अर्थात् जिसके मोहनीय कर्म की २६ प्रकृति का सत्त्व है, ऐसा सादि मिथ्यादृष्टि चार अनन्तानुबंधी और मिथ्यात्व इन पाँच प्रकृतियों के प्रशस्त उपशम या सर्वोपशमविधान के द्वारा युगपत् पाँचों प्रकृतियों को उपशमाकर अन्तर्मुहूर्त्त काल पर्यन्त उपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है।

उपशम सम्यग्दृष्टि जीव के दर्शनमोहनीय कर्म अन्तर्मुहूर्त्त काल पर्यन्त सर्वोपशम से उपशांत रहता है। इसके पश्चात् नियम से उसके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति इन तीनों प्रकृतियों में किसी एक प्रकृति का उदय हो जाता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि ने प्रथम बार उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है। उसके नियम से मिथ्यात्व कर्म उदय में आता है और वह नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त करता है, परन्तु जिस सादि मिथ्यादृष्टि ने उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है, वह मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से मिथ्यात्व में चला जाता है, सम्यक्मिथ्यात्व के उदय से सम्यक्त्व से च्युत होकर तीसरे गुणस्थान में भी जा सकता है और सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से वेदक सम्यग्दृष्टि भी बन सकता है।

दर्शनमोह के तीनों कर्मांश उपशान्त अवस्था में सर्व स्थिति विशेष के साथ उपशांत रहते हैं अर्थात्

---

१. मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन तीनों के उदयाभाव को **सर्वोपशमन** कहते हैं।

उपशांत काल में इन तीनों प्रकृतियों में से किसी भी प्रकृति की स्थिति का उदय नहीं रहता है तथा एक ही अनुभाग में इन तीनों कर्मांशों के सभी स्थितिविशेष नियम से अवस्थित रहते हैं।

अनादि मिथ्यादृष्टि को पाँच प्रकृतियों के उपशमन से उपशम सम्यग्दर्शन होता है और सादि मिथ्यादृष्टि के सात प्रकृतियों के वा पाँच प्रकृतियों के उपशमन से उपशम सम्यग्दर्शन होता है अर्थात् जिस सादि मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व और सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति का सत्त्व है, उस मिथ्यादृष्टि के सात प्रकृतियों के उपशमन से सम्यग्दर्शन होता है, परन्तु जिस प्राणी ने सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना कर दी है उसके पाँच प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यग्दर्शन होता है।

दर्शनमोह का उपशमन करने वाला जीव उपद्रव वा उपसर्ग आने पर भी उनका उपशम किये बिना नहीं रहता है। इस अवस्था में मरण भी नहीं होता है।

उपशम सम्यग्दर्शन निर्मल होता है। जैसे कतक फल आदि के संयोग से कीचड़ नीचे बैठ जाता है और जल स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार **अप्रशस्त उपशमन**[१] के द्वारा सात या पाँच प्रकृति का उपशमन हो जाने से उपशम सम्यग्दर्शन निर्मल हो जाता है।

उपशम सम्यग्दर्शन का प्रारंभ मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ही होता है, परन्तु द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन से उत्पन्न होता है।

उपशम चारित्र के सम्मुख हुआ वेदक सम्यग्दृष्टि जीव स्वस्थान अप्रमत्त गुणस्थान में तीन करण कर के अनन्तानुबंधी की चार प्रकृतियों का विसंयोजन करता है। तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त्तकाल पर्यन्त हजारों बार प्रमत्त-अप्रमत्त में गमनागमन कर स्वस्थान अप्रमत्त गुणस्थान में विश्राम करता है। उसके बाद पुनः तीन करण करके एक साथ तीन दर्शनमोहनीय का उपशम करता है। वहाँ अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व के समान गुणसंक्रमण के बिना अन्य स्थितिकाण्डघात, अनुभागकाण्डघात, गुणश्रेणीनिर्जरा आदि सर्व विधान जानने चाहिए।

इस द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के करण-काल में अनन्तानुबन्धी के **विसंयोजन**[२] के समय भी सर्व स्थितिकाण्ड आदि पूर्ववत् जानने चाहिए।

अनिवृत्तिकरण काल का असंख्यातवाँ भाग अवशेष रहने पर सम्यक्त्व मोहनीय के द्रव्य का अपकर्षण कर उपरितन स्थिति में गुणश्रेणी आयाम में और उदयावलि में देता है। यहाँ पर उदयावलि में दिया

---

१. जिन प्रकृतियों के प्रदेशों में अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण होना शक्य है परन्तु उदयावली में नहीं आते हैं, वह अप्रशस्त उपशमन है।

२. स्वकीय स्वरूप को छोड़कर अप्रत्याख्यानादि रूप हो जाना अनन्तानुबंधी का विसंयोजन या उपशम है और उदय में नहीं आना ही दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम है।

हुआ जो उदीरणा द्रव्य है वह असंख्यात समयप्रबद्ध प्रमाण होता है। इसके अन्तर्मुहूर्त्त काल व्यतीत होने पर दर्शनमोहनीय का अन्तर करता है।

प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की जो विधि कही थी, वही विधि इस में है। परन्तु प्रथमोपशम सम्यक्त्व में जो गुण-संक्रमण आदि पूर्ण काल अन्तर्मुहूर्त कहा था, उससे संख्यात गुणा काल पर्यन्त द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि प्रथम समय से लगाकर प्रतिसमय अनन्त गुणी विशुद्धि करता है। यहाँ एकांतानुवृद्धता की वृद्धि का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। इस एकान्तानुवृद्धि काल के पश्चात् परिणामों की हानि-वृद्धि भी होती रहती है, जैसे का तैसा भी रह सकता है। कोई नियम नहीं है। इस प्रकार सम्यक्त्व प्रकृति रूप दर्शन मोहनीय का उपशमन कर द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। उसके बाद बहुत बार प्रमत्त, अप्रमत्त गुणस्थान में गमनागमन करके उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होता है।

इस उपशम सम्यग्दर्शन में सर्वप्रथम अनन्तानुबंधी का विसंयोजन होता है, तदनन्तर तीन दर्शन मोहनीय का उपशमन होता है।

अनन्तानुबंधी की विसंयोजना धवला, गोम्मटसार जीव प्रबोधिनी, लब्धिसार आदि के रचयिता आचार्य मानते हैं, परन्तु कषायपाहुड़ में उच्चारणाचार्य ने इसका निषेध किया है।

सम्यग्दर्शन के शुद्ध वा मिश्र भेद

शुद्धं वा मिश्रं वा विरतिभ्यां कर्मभूमिजः शुद्धम्।
शेषः क्षायिकदर्शनवत्तावत् कलुषताभावात्॥१५॥

अन्वयार्थ - यह उपशम सम्यग्दर्शन। **विरतिभ्यां** - व्रत और अव्रत या दो प्रकार की विरति (देशविरति, सकलविरति) के संयोग से। **शुद्धं** - शुद्ध (दोनों प्रकार के व्रतों के साथ वाला सम्यग्दर्शन शुद्ध)। **वा** - अथवा। **मिश्रं** - जो अव्रत सहित है मिश्र है। **कर्मभूमिजः** - कर्मभूमिज मनुष्यों के यह शुद्ध हो सकता है। **शेषः** - शेष गतियों में अशुद्ध होता है। **तावत्** - उसमें। **कलुषताभावात्** - कालुष्य भाव का अभाव होने से। **क्षायिकदर्शनवत्** - क्षायिक सम्यग्दर्शन के समान निर्मल होता है।

भावार्थ - यह सम्यग्दर्शन शुद्ध और मिश्र के भेद से दो प्रकार का है। जो सम्यग्दर्शन एकदेश वा सकलदेश व्रतों के साथ है, व्रती पुरुष के है, वह शुद्ध कहलाता है।

सम्यग्दर्शन स्वयं तो निर्मल है, शुद्ध है, क्षायिक सम्यग्दर्शन के समान निर्मल है, परन्तु अव्रत सहित है अतः अशुद्ध है। इसमें सम्यग्दर्शन है परन्तु अव्रती है इसलिए मिश्र है। कर्मभूमिज मनुष्य एवं तिर्यञ्च ही व्रती बन सकते हैं। इसलिए इनका सम्यग्दर्शन शुद्ध हो सकता है। शेष गतियों में व्रती बन नहीं सकता, अतः वहाँ मिश्र है।

उपशम सम्यग्दर्शन के साथ विरोधी का कथन

परिहारमनःपर्ययबोधाहारर्द्धिजननमरणाद्यैः।
रहितं तत्तत्कालो द्विविधोऽप्यन्तर्मुहूर्तः स्यात्॥१६॥

अन्वयार्थ - **तत्** - इन दोनों सम्यग्दर्शनों का। **द्विविधः** - जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकार का। **कालः**- काल। **अपि** - भी। **अन्तर्मुहूर्तः** - अन्तर्मुहूर्त। **स्यात्** - होता है। यह सम्यग्दर्शन। **परिहार-मनःपर्यय बोधाहारर्द्धिजननमरणाद्यैः** - परिहारविशुद्धि संयम, मनःपर्यय ज्ञान, आहारक ऋद्धि, जन्म और मरण आदि से। **रहितं** - रहित।

भावार्थ - प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन इन दोनों के जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही काल अन्तर्मुहूर्त्त हैं। इस सम्यग्दर्शन के साथ परिहारविशुद्धि संयम, मनःपर्यय ज्ञान और आहारक ऋद्धि नहीं होते हैं। यह सम्यग्दर्शन जन्म-मरण से रहित है अर्थात् इस सम्यग्दर्शन में जन्म और मरण नहीं होता।

उपशम सम्यग्दर्शन की विराधना के कारण

तत्कालस्यान्तर्यदि विराधितो वै भवेद् द्वितीयगुणः।
नोचेद्दर्शनमोहत्रितयान्यतरोदयं याति॥१७॥

अन्वयार्थ - **तत्कालस्यान्तः** - उस सम्यग्दर्शन के काल का अन्त होने पर। **यदि** - यदि। **वै** - निश्चय से। **विराधितः** - विराधना। **भवेत्** - होती है। **दर्शनमोहत्रितयान्यतरोदयं** - दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों में से किसी का भी उदय। **नोचेत् याति** - नहीं होता है तो। **द्वितीयगुणः** - दूसरा गुणस्थान हो जाता है।

भावार्थ - जब उपशम सम्यग्दर्शन का अन्तर्मुहूर्त्तकाल पूरा हो जाता है, तब सम्यग्दर्शन की विराधना हो जाती है, तो मिथ्यात्व में चला जाता है।

यदि दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियों में से किसी भी प्रकृति का उदय नहीं होता है, परन्तु अनन्तानुबन्धी क्रोधादि में से किसी एक प्रकृति का उदय आ जाता है तो फिर वह प्राणी दूसरे गुणस्थान में चला जाता है॥१७॥

दूसरे गुणस्थान का काल

कालो द्वितीयगुणिनो ह्यपरः समयः परः षडावलिकः।
मिथ्यात्वेऽसौ पतति तु भूम्यामिव गिरिशिरस्खलितः॥१८॥

अन्वयार्थ - **द्वितीयगुणिनः** - दूसरे गुणस्थान का। **अपरः** - जघन्य। **कालः** - काल। **समयः** - एक समय और। **परः** - उत्कृष्ट काल। **षडावलिकः** - छह आवली मात्र है। **तु** - इसके बाद।

हि - निश्चय से। **इव** - जैसे। **गिरिशिरस्खलितः** - पर्वत की चोटी पर से स्खलित हुआ प्राणी। **भूम्यां**- भूमि पर। **पतति** - गिरता है, उसी प्रकार उपशम गुणस्थान से गिरकर दूसरे गुणस्थान में आया हुआ। **असौ**- यह प्राणी। **मिथ्यात्वे** - मिथ्यात्व में। **पतति** - जाता है।

भावार्थ - प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्त्त काल में जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवली अवशेष रहने पर जब अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया वा लोभ इन चारों में से किसी एक का उदय होता है, तब यह जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है। जिस प्रकार पर्वत के शिखर से गिरा और भूमि का स्पर्श नहीं किया है, परन्तु मध्य की अवस्था है, उसी प्रकार जो प्राणी सम्यग्दर्शन रूपी पर्वत के शिखर से गिरा और मिथ्यात्व रूपी भूमि पर नहीं पहुँचा उसकी मध्य की अवस्था सासादन गुणस्थान है। सासादन का काल समाप्त होने पर यह नियम से मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि अनन्तानुबंधी कषाय मिथ्यादर्शन रूपी फल को उत्पन्न करती है, अतः मिथ्यात्व में आने का रास्ता खोल देती है।

इसमें सम्यग्दर्शन का काल छह आवली और एक समय कहा है। उसका तात्पर्य यह है कि जब तक दर्शनमोह का उपशम कर रहा है अथवा उपशम सम्यग्दर्शन का काल छह आवली से अधिक रहता है, या समाप्त हो जाता है तो वह सासादन में नहीं जाता है।

सासादन गुणस्थान में निषिद्ध कार्य

सासादनस्य नरकेषूत्पत्तिर्नास्ति मरणमप्यनये।
ह्येकविकलेन्द्रियेषूत्पत्तिरिहाचार्यमतभेदात् ॥१९॥

अन्वयार्थ - **सासादनस्य** - सासादन गुणस्थानवाले की। मरण होने पर। **नरकेषु** - नरकों में। **उत्पत्तिः** - उत्पत्ति। **न** - नहीं। **अस्ति** - है। **अनये** - अ - नय में। **मरणं** - मरण होने पर। **एकविकलेन्द्रियेषु** - एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों में। **उत्पत्तिः** - उत्पत्ति होती है। **इह** - इसमें। **आचार्यमतभेदात्** - आचार्यों का मतभेद है।

अर्थ - इस श्लोक में सासादन गुणस्थान में मरकर जीव कहाँ - कहाँ उत्पन्न होता है, कहाँ नहीं होता, इसका कथन किया है। सासादन गुणस्थान में मरा हुआ जीव नरक गति में उत्पन्न नहीं होता। अतः नरकों में अपर्याप्त अवस्था में सासादन गुणस्थान नहीं होता।

किसी आचार्य के मत से सासादन गुणस्थान वाला मरकर एकेन्द्रिय एवं विकलेन्द्रिय में उत्पन्न हो सकता है। किसी आचार्य के मत से एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में उत्पन्न नहीं होता।

भावार्थ - यद्यपि किन्हीं आचार्यों के मत से एकेन्द्रिय में उत्पन्न होता है, परन्तु एकेन्द्रियों में अग्निकाय, वायुकाय और लब्ध्यपर्याप्त में उत्पन्न नहीं होते। बादर पृथ्वीकाय, बादर जलकाय और बादर वनस्पतिकाय में उत्पन्न हो सकते हैं, सूक्ष्म में नहीं। एकेन्द्रिय में भी त्रस नाली के बाहर जन्म नहीं लेते,

त्रस नाली के भीतर जन्म नहीं लेते। सुदर्शन मेरुतल से अधोभागवर्त्ती एकेन्द्रिय जीवों में जन्म नहीं लेते। भवनवासी लोक के मूल भाग से ऊपर ही जन्म लेते हैं, भवनवासी देवों में नहीं। सासादन प्राप्ति के द्वितीय समय से लेकर आवली के असंख्यातवें भाग काल तक मरने वाले जीव नियम से देवगति में ही जन्म लेते हैं। इसके बाद आवली के असंख्यात भागकाल तक मरने वाले, मनुष्यों में जन्म लेने योग्य हैं। इसी प्रकार आगे क्रमशः संज्ञी तिर्यंच, असंज्ञी तिर्यञ्च, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय एवं एकेन्द्रियों में जन्म लेने योग्य काल होता है।

कोई आचार्य एकेन्द्रिय एवं विकलत्रयों में सासादन की उत्पत्ति नहीं मानते। उनका कहना है कि सासादन सम्यग्दृष्टि एकेन्द्रिय एवं विकलेन्द्रियों में समुद्घात तो करते हैं, परन्तु जन्म नहीं लेते। मरते समय वे मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त हो जाते हैं।

अथ मिथ्यात्वोदयगो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षात्।
पुद्गल परिवर्तार्धं तिष्ठति तद्द्विविधपरिणामैः ॥२० ॥

अन्वयार्थ - अथ - दूसरे गुणस्थान का काल समाप्त हो जाने पर। **मिथ्यात्वोदयगः** - मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यात्व गुणस्थान में चला जाता है। **तत्** - वह मिथ्यात्व गुणस्थान। **द्विविधपरिणामैः** - दो प्रकार के परिणामों के साथ। **जघन्यतः** - जघन्य से। **अन्तर्मुहूर्त्त** - अन्तर्मुहूर्त्तकाल पर्यन्त। **उत्कर्षात्** - उत्कृष्ट से। **पुद्गल परिवर्तार्धं** - अर्धपुद्गल परिवर्तन काल तक। **तिष्ठति** - रहता है।

भावार्थ - जब सासादन गुणस्थान का काल समाप्त हो जाता है तब मिथ्यात्व कर्म के उदय से वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है। इसको सादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

आचार्यदेव ने इस मिथ्यादृष्टि के दो प्रकार के परिणाम कहे हैं। इनमें कर्मचेतना, कर्मफलचेतना रूप दो प्रकार के परिणाम होते हैं। कर्मफलचेतना वाला हिताहित के विचार से रहित है परन्तु कर्मचेतना की प्रधानता वाले व्यवहार पंचाचार में प्रवृत्ति भी करते हैं।

जो केवल व्यवहार नयावलम्बी हैं वे वास्तव में भिन्न साध्य-साधन भाव के अवलोकन द्वारा निरन्तर अत्यन्त खेद पाते हुए पुनःपुनः धर्मादिक कार्यों में श्रद्धानपूर्वक चित्त लगाते हैं, श्रुत के संस्कार के कारण विचित्र विकल्प जालों में फँसे रहते हैं और मुनिचर्या वा तप में सदा प्रवृत्ति करते रहते हैं। कभी किसी विषय की रुचि करते हैं वा विकल्प करते हैं और कभी कुछ आचरण करते हैं।

दर्शनाचरण के लिए प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य को भी धारण करते हैं। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि आदि दोषों को दूर करने के लिए तत्पर रहते हैं। उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य, धर्म प्रभावना की भावना करते हुए बार-बार उत्साहित चित्त वाले भी होते हैं।

ज्ञानाचार के लिए स्वाध्याय काल का अवलोकन करते हैं। बहुत प्रकार के विनय का प्रपंच दिखाते

हैं। शास्त्रकथित दुर्धर उपधान (तपश्चरण) भी करते हैं। भली प्रकार बहुमान का भी विस्तार करते हैं। अनिह्नव (गुरु का नाम भी नहीं छिपाते हैं) का पालन करते हैं। अर्थ, व्यंजन तथा उभय, इनको शुद्ध पढ़ते हैं। अर्थात् ज्ञान के इन आठ अंगों का पालन करने के लिए निरंतर सावधान रहते हैं।

चारित्राचरण के लिए हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूप पाँच पापों के त्यागमय पंच महाव्रत का भी पालन करते हैं। सम्यग्योग निग्रह रूप तीन गुप्ति का भी पालन करते हैं। ईर्या समिति, भाषा समिति, ऐषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और उत्सर्ग समिति इन पाँचों समितियों का पालन भी प्रयत्न पूर्वक करते हैं।

तपश्चरण के लिए अनशन (चारों प्रकार के आहार का त्याग कर बेला तेला आदि करना), अवमौदर्य (भूख से कम खाना), वृत्ति परिसंख्यान (कोई अटपटा नियम लेना), रस परित्याग (छहों रसों में एक, दो या सर्व रसों का त्याग), विविक्त शय्यासन (एकान्त में बैठना तथा शयन करना), कायक्लेश (शरीर के द्वारा अनेक प्रकार के क्लेशों को सहन करना) इन छह प्रकार के बाह्य तपों का प्रयत्नपूर्वक आचरण भी करते हैं। प्रायश्चित्त (व्रतों में दूषण लगने पर दोषों का निराकरण करने के लिए गुरुओं के समीप जाकर दण्ड लेना), विनय (दर्शन, ज्ञान, चारित्र और उपचार रूप चार प्रकार के विनय का पालन), वैयावृत्ति (आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, संघ, कुल, साधु और मनोज्ञ इनकी आपत्ति दूर करना), स्वाध्याय (जिनेन्द्रकथित शास्त्रों का पढ़ना, पढ़े हुए को गुरुजनों से पूछना, बार-बार उनका चिंतन करना,बार-बार उच्चारण करना और धर्म का उपदेश देना), व्युत्सर्ग (बाह्य परिग्रह का त्याग, अभ्यन्तर का नहीं), ध्यान (बाह्य में ध्यान समान दीख रहा है, परन्तु अभ्यन्तर में आर्त्त-रौद्र ध्यान चल रहा है।) इस प्रकार कर्मचेतना की प्रधानता से पंचाचार का पालन करता है, इसके प्रभाव से नवग्रैवेयक में भी जा सकता है, परन्तु आत्मानुभव रूप सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं कर सकता।

कर्मफलचेतना वाला कुछ भी शुभ क्रिया नहीं कर सकता। (पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति गाथा १७२)

सामान्यतया मिथ्यादृष्टि हिताहित की परीक्षा से रहित और हिताहित परीक्षक इन दो श्रेणियों में विभाजित है। इनमें संज्ञी पर्याप्त में कोई हिताहित परीक्षक है, कोई नहीं है, परन्तु एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पर्यन्त जीव हिताहित परीक्षा के विचार से रहित हैं। (राजवार्तिक अ. ९ सूत्र १)

इन दोनों परिणामों का सूचक श्लोक में 'द्विविधपरिणामैः' शब्द है।

सादि मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्व गुणस्थान में रहने का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, तदनन्तर सम्यक्त्व प्रकृति का उदय आने से क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है या सम्यक् मिथ्यात्व के उदय से तीसरे गुणस्थान को प्राप्त होता है। उत्कृष्ट काल अर्धपुद्गल परिवर्तन है, अर्धपुद्गल परिवर्तन के भीतर नियम से सम्यग्दृष्टि होकर मोक्ष चला जाता है।

मिथ्यादर्शन के भेद-प्रभेद

द्वित्रिचतुः पंचादि-प्रभेदतस्तद्भवेदनेकविधम्।
कुगतिगमनैकमूलं मिथ्यात्वं भवति जीवानाम्॥२१॥

अन्वयार्थ - **तत्** - वह मिथ्यात्व। **द्वि त्रि चतुः पंचादि प्रभेदतः** - दो, तीन, चार, पाँच आदि के भेद से। **अनेकविधं** - अनेक प्रकार का है। **मिथ्यात्वं** - यह मिथ्यादर्शन ही। **जीवानां** - जीवों के। **कुगतिगमनैकमूलं** - कुगतिगमन का एक मूल कारण। **भवति** - होता है।

भावार्थ - मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य ये एकार्थवाची हैं। दृष्टि का अर्थ दर्शन या श्रद्धान है। जिसके उदय से दृष्टि विपरीत होती है, जिससे जीव जिन उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान नहीं करता है, प्रत्युत् अन्य से उपदिष्ट या अनुपदिष्ट पदार्थों के अयथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करता है।

इस मिथ्यात्व के दो, तीन, चार, पाँच आदि अनेक भेद हैं।

सामान्यतः अतत्त्व श्रद्धानरूप मिथ्यादर्शन एक प्रकार का है। नास्तिभावरूप और विपरीतरूपग्रहण की अपेक्षा मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है। जीवादि तत्त्वों का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करना नास्तिभाव रूप मिथ्यात्व है तथा वस्तु के स्वरूप से विपरीत बुद्धि होना विपरीत मिथ्यात्व है।

मूढ़ और स्वभाव निरपेक्ष के भेद से मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है।

गृहीत और अगृहीत के भेद से दो प्रकार का है। दूसरों के उपदेश को सुनकर जीवादिकों के अस्तित्व में अथवा उनके धर्म में अश्रद्धा होती है, वा मिथ्या धर्म में श्रद्धा होती है वह गृहीत या अभिगृहीत कहलाता है। परोपदेश के बिना मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से जीवादि पदार्थों का अश्रद्धानरूप भाव होता है, वह नैसर्गिक या अगृहीत मिथ्यादर्शन है।

संशय, अभिगृहीत, अनभिगृहीत के भेद से मिथ्यादर्शन तीन प्रकार का है।

जिसमें तत्त्वों का निश्चय नहीं है ऐसे संशय ज्ञान के साथ सम्बन्ध रखने वाले श्रद्धान को **संशय** मिथ्यादर्शन कहते हैं। इसमें पदार्थों के स्वरूप का निश्चय नहीं होता तथा जीवादि तत्त्वों का स्वरूप ऐसा ही है, अन्य नहीं है ऐसी तत्त्वविषयक सच्ची श्रद्धा नहीं होती। **अभिगृहीत** (गृहीत), **अनभिगृहीत** (अगृहीत) इन दोनों का लक्षण पहले कहा है।

क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी के भेद से मिथ्यात्व **चार** प्रकार का है।

एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान के भेद से मिथ्यात्व **पाँच** प्रकार का है।

सारे पदार्थ नित्य ही हैं, अनित्य ही हैं, आदि धर्मधर्मी में एकान्त रूप से अभिप्राय रखना **एकान्त** मिथ्यादर्शन है। जैसे यह सर्व जगत् ब्रह्म स्वरूप है या सर्व पदार्थ नित्य हैं या अनित्य हैं। सत् ही है, असत्

ही है, एक ही है, अनेक ही है, सावयव है, निरवयव है आदि एकान्त अभिनिवेश को एकान्त मिथ्यादर्शन कहते हैं।

विपरीत मिथ्यात्व आत्मस्थित विपरीत मिथ्यादर्शन परिणाम रूपादिक की उपलब्धि होने पर भी कारण विपर्यास, भेदाभेद विपर्यास और स्वरूप विपर्यास को उत्पन्न करता है।

कारण विपर्यास - सांख्य मानता है कि रूपादि का एक कारण प्रकृति है जो अमूर्त है और नित्य है। वैशेषिक कहते हैं कि पृथ्वी आदि के परमाणु भिन्न-भिन्न जाति के हैं। उनमें पृथ्वी परमाणु चार गुण वाले हैं, जल परमाणु तीन गुण वाले हैं, अग्नि परमाणु दो गुण वाले हैं और वायु परमाणु केवल एक स्पर्श गुण वाला है। ये परमाणु अपने-अपने समान जातीय कार्य को ही उत्पन्न करते हैं। बौद्ध कहते हैं कि पृथ्वी आदि चार भूत हैं और इन भूतों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये भौतिक धर्म हैं। इन सबके समुदाय को एक रूपपरमाणु या अष्टक कहते हैं। कोई कहते हैं कि पृथ्वी में काठिन्यादि गुण हैं, जल में द्रवत्वादि गुण हैं, अग्नि में उष्णत्वादि गुण हैं और वायु में ईरणत्वादि गुण हैं। इस प्रकार पृथक्-पृथक् जाति के परमाणु अग्नि आदि कार्य को उत्पन्न करते हैं।

भेदाभेद विपर्यास - कारण से कार्य को वा गुण से गुणी को सर्वथा भिन्न वा अभिन्न मानना।

स्वरूप विपर्यास - रूपादिक निर्विकल्प है या रूपादिक है ही नहीं, या रूपादिक के आकार रूप से परिणत हुआ विज्ञान ही है, उसका आलम्बनभूत कोई बाह्य पदार्थ नहीं है।

इस प्रकार वस्तु स्वरूप के विपरीत श्रद्धा करना विपरीत मिथ्यात्व है अथवा सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ मानना, केवली को कवलाहारी मानना, स्त्री को मुक्ति प्राप्त करना मानना आदि श्रद्धान **विपरीत मिथ्यात्व** है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग हैं कि एक या दो है ? इस प्रकार चलचित्त रहना, वस्तु स्वरूप का निर्णय नहीं करना, **संशय मिथ्यात्व** है।

सुदेव, कुदेव, सग्रन्थ, निर्ग्रन्थ सबको एक समान मानना, सबका आदर करना **विनय मिथ्यादर्शन** है।

हित-अहित की परीक्षा नहीं करना **अज्ञान मिथ्यादर्शन** है। अर्थात् जिसमें हित-अहित का विचार नहीं है, नित्यानित्य विकल्पों से विचार करने पर जीव अजीव आदि पदार्थ नहीं हैं, अतः जीवादि पदार्थ अज्ञान ही हैं, 'पशुवध में धर्म है' इस प्रकार अहित में प्रवृत्ति कराने का उपदेश देना **अज्ञान मिथ्यात्व** है।

मूल में मिथ्यादर्शन के दो भेद हैं - नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक। इनमें से जो परोपदेश के बिना मोहनीय कर्म के उदय से जीवादि पदार्थों का अश्रद्धानरूप भाव होता है, वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है।

परोपदेश के निमित्त से जो अतत्त्व श्रद्धान होता है, उसको अधिगमज वा गृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं। यह गृहीत मिथ्यादर्शन चार प्रकार का है क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक।

क्रिया (अस्तित्व) की प्रधानता से जहाँ कथन किया जाता है वह क्रियावाद है। मरीचि कुमार, कपिल, उलूक, माठर आदि क्रियावादी हैं। इनके १८०भेद इस प्रकार हैं - जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, पुण्य, पाप, मोक्ष इन सब पदार्थों को एक पंक्ति में स्थापित करो। जीवादि पदार्थों के नीचे स्वतः और परतः ये दो भेद स्थापित करने चाहिए। पुनः प्रत्येक के नीचे नित्य और अनित्य को स्थापित करो। पुनः प्रत्येक के नीचे काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव रूप से पाँच-पाँच भेद स्थापित करने चाहिए। इस प्रकार जीव पदार्थ के २० भेद होंगे।

जीव स्वतः नित्यरूप है - काल

जीव स्वतः अनित्यरूप है - काल

जीव परतः नित्य रूप है - काल

जीव परतः अनित्य रूप है - काल

काल के साथ चार भेद हैं। इसी प्रकार ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव की अपेक्षा चार-चार भेद होने से जीव सम्बन्धी २० भेद हैं। इसी प्रकार अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, पुण्य, पाप और मोक्ष के २०-२० भेद हैं। सर्व मिलाकर १८० भेद क्रियावदियों के होते हैं।

यहाँ पर क्रिया का अर्थ अस्तित्व है।

(१) **कालवादियों** के मत में यह आत्मा अपने स्वरूप से विद्यमान है, नित्य है, परन्तु कालाधीन होकर प्रवृत्ति करता है। कालवाद मत के अभिप्राय से जन्म, मरण, सुख, दुःख, वस्तु परिपाक आदि सारे कार्य कालकृत हैं। काल पृथ्वी आदि भूतों के परिणमन में सहायक होता है। काल प्रजा का संहार करता है, काल सुलाता है, काल जगाता है, काल ही एक अवस्था से दूसरी अवस्था में ले जाता है। अतः काल अलंघ्य शक्ति है उसे कोई टाल नहीं सकता। इस प्रकार कालवाद का कथन है।

दूसरा विकल्प **ईश्वरवादियों** का है -

(२) जीव स्वतः विद्यमान है, नित्य है, परन्तु उसकी सारी प्रवृत्तियाँ ईश्वर के आधीन हैं अर्थात् ईश्वरवादी इस जगत् को ईश्वरकृत मानते हैं। वह ईश्वर सहज सिद्ध ज्ञान, वैराग्य, धर्म और ऐश्वर्य इस चतुष्टय का धारक है तथा प्राणियों को स्वर्ग-नरक में भेजने वाला है अर्थात् यह आत्मा स्वयं स्वकीय सुख-दुःख भोग के क्षेत्र को खोजने में असमर्थ है अतः अज्ञ आत्मा ईश्वर के द्वारा प्रेरित होकर ही सुख-दुःख भोगने के लिए स्वर्ग तथा नरक में जाता है।

(३) तीसरा विकल्प **आत्मवादियों** का है। आत्मवादी "इस समस्त जगत् को पुरुष रूप ही मानते हैं।" इनके मत से जगत् पुरुष (ब्रह्मरूप) है, अद्वैत है। उक्तं च -

एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

एक ही भूतात्मा सर्वत्र व्यवस्थित है। एक ही आत्मा जल में चन्द्रमा के समान पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर होता है।

(४) चतुर्थ विकल्प **नियतिवादियों** की दृष्टि है। नियतिवादियों का कथन है कि जीव स्वतः अस्तिरूप है, नित्य है, परन्तु उसका सारा कार्य-परिणमन नियत है।

जिसे, जिस समय, जिससे, जिस रूप में होना है, वह उससे, उसी समय, उस रूप में उत्पन्न होता है। इस प्रकार अबाधित प्रमाण से प्रसिद्ध इस नियति के स्वरूप को कौन बाधा दे सकता है, यह सर्वतः निर्बाध है।

(५) पाँचवाँ विकल्प **स्वभाववादियों** की अपेक्षा से है। स्वभाववादियों का कहना है कि जीव स्वतः अस्ति है, नित्य है, परन्तु सारी प्रवृत्तियाँ स्वभाव से ही कर रहा है। इसमें किसी की इच्छा का या प्रयत्न का कोई हस्तक्षेप नहीं है। काँटे, तीक्ष्णपना, पक्षियों में विचित्र स्वभाव, मधुर कूजन आदि स्वभाव से ही हैं। प्रत्येक वस्तु के कार्य का स्वभाव से अन्वय-व्यतिरेक है। इसलिए सभी कार्य स्वभावकृत हैं।

इस प्रकार 'स्वतः' जीव पद के काल, नियति आदि पाँच विकल्प होते हैं। इसी प्रकार 'परतः' पद के साथ भी पाँच विकल्प होते हैं। आत्मा अस्ति, नित्य है, परन्तु पर से व्यावृत्त है अर्थात् जीवादि सभी पदार्थों के स्वरूप का निर्णय परपदार्थों की व्यावृत्ति से ही होता है।

इस प्रकार जीव, अस्ति, नित्य, परतः के साथ काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव रूप पाँच भेद करने चाहिए।

जीव अस्ति स्वतः अनित्य पद के साथ पाँच भेद तथा परतः अनित्य के साथ पाँच भेद करने पर जीव के साथ २० भेद होते हैं।

इसी प्रकार अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, पुण्य, पाप और मोक्ष के भी २०-२० भेद करने पर क्रियावादी के १८० भेद होते हैं। यह क्रियावाद नामक मिथ्यात्व है। क्योंकि अस्तित्व का एकान्त पक्ष है।

अक्रियावादी के चौरासी भेद हैं। अक्रिया का अर्थ है, अस्तित्व का सर्वथा उच्छेद। अर्थात् सभी पदार्थ क्षणिक हैं। किसी भी क्षणिक पदार्थ की दूसरे क्षण तक सत्ता नहीं रहती, अतः उसमें क्रिया की

संभावना ही नहीं है। इसलिए आत्मा आदि नित्य पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं है। कोक्कुल, काण्ठेवि, द्विरोमक, सुगत आदि प्रमुख अक्रियावादी हैं। कहा भी है - सभी संस्कार क्षणिक हैं और अस्थिर पदार्थों में क्रिया कैसे हो सकती है ? अतः इन पदार्थों की भूति अर्थात् उत्पत्ति या एक क्षण स्थायिनी सत्ता ही क्रिया है, इसी भूति को ही कारण या कारक कहते हैं। इस प्रकार अक्रियावादियों के मत में किसी भी पदार्थ में परिणमन या क्रिया नहीं होती।

अक्रियावादियों के चौरासी भेद इस प्रकार हैं -

पुण्य, पाप को छोड़कर जीवादि सात पदार्थों को स्वतः और परतः इन दो भेदों से गुणा करने पर १४ भेद होते हैं। इन १४ भेदों को काल, ईश्वर, आत्मा, नियति, स्वभाव और यदृच्छा इन छह से गुणा करने पर ८४ भेद हो जाते हैं।

अक्रियावादी आत्मा (जीव, अजीव) आदि पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। अतः इनमें नित्य और अनित्य ये दो विकल्प नहीं होते हैं। जितने यदृच्छावादी हैं वे सब अक्रियावादी हैं अतः क्रियावादियों की भेद गणना में यदृच्छा विकल्प को नहीं गिनाया है।

अक्रियावादियों का प्रथम विकल्प 'नास्ति जीवः स्वतः कालतः' अर्थात् काल की दृष्टि से जीव स्वतः नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि पदार्थों की सत्ता का निश्चय या तो उनके लक्षण (असाधारण स्वरूप) से होता है या फिर उनका कार्य देखकर अनुमान से निश्चय किया जाता है। परन्तु आत्मा आदि का कोई भी ऐसा असाधारण लक्षण नहीं है, जिससे इनकी सत्ता सिद्ध की जा सके। जगत् में पर्वत आदि स्थूल कार्यों को देखकर उनके उत्पादक सूक्ष्म परमाणुरूप जगत् के कारणों का अनुमान किया जाता है परन्तु जीव, अजीव, आस्रव आदि का कोई भी स्थूल कार्य हमारे दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसलिए इनको अनुमान से सिद्ध करना भी संभव नहीं है। अतः आत्मा आदि पदार्थ नहीं हैं। इस प्रकार काल, ईश्वर, नियति आदि विकल्पों की अपेक्षा 'नास्ति' (अक्रियावाद) की मीमांसा कर लेनी चाहिए।

कालादि पाँच विकल्पों का स्वरूप तो क्रियावाद के प्रकरण में लिख चुके हैं।

यदृच्छा विकल्प इस प्रकार है - यदृच्छावादियों के मतानुसार यदृच्छा का अर्थ है - बिना संकल्प के ही अर्थ की प्राप्ति होना या जिसका विचार ही नहीं किया उसकी अतर्कित उपस्थिति होना। यदृच्छावादी पदार्थों में संतान की अपेक्षा निश्चित कार्यकारण भाव नहीं मानते हैं।

जिस प्रकार 'काकतालीय' न्याय से तालवृक्ष से गिरते हुए तालफल से उड़ते हुए कौए की टक्कर अकस्मात् बिना विचारे ही होती है, उसी प्रकार इस संसार में सभी प्राणियों को नाना प्रकार के सुख-दुःख अतर्कितोपस्थित बिना विचारे ही अपने आप हो जाते हैं। सुख-दुःख की उत्पत्ति में किसी का बुद्धिपूर्वक व्यापार नहीं होता।

इस प्रकार जीव स्वतः कालकृत नहीं है, ईश्वरकृत नहीं है, पुरुषार्थकृत नहीं है, नियतिकृत नहीं है, स्वभावकृत नहीं है और यदृच्छा से भी नहीं है, यह स्वतः कालकृत नहीं है, छह भंग हैं, उसी प्रकार 'परतः' की अपेक्षा छह भंग समझने चाहिए। जिस प्रकार जीव के १२ भेद स्वतः परतः की अपेक्षा होते हैं, उसी प्रकार अजीव आदि छह तत्त्वों के भी बारह-बारह विकल्प समझने चाहिए। इस प्रकार सातों जीवादि पदार्थों का बारह विकल्पों से गुणा करने पर अक्रियावादियों के ७ × १२ चौरासी भेद होते हैं। यह **अक्रियावाद नामक मिथ्यात्व** है क्योंकि इसमें नास्तित्व का एकान्त पक्ष है।

अज्ञानवाद का कथन और उसके ६७ भेद : असमीचीन ज्ञान को अज्ञान कहते हैं। शाकल्य, पिप्पलाद आदि अज्ञानवादियों का कथन है कि बिना विचारे अज्ञानपूर्वक किया गया कर्मबंध विफल हो जाता है। अतः अज्ञान ही श्रेष्ठ है क्योंकि ज्ञान वितण्डावादों की सृष्टि करता है। इस ज्ञान से ही एक वादी दूसरे के विरुद्ध तत्त्व प्ररूपणा करके विवाद का अखाड़ा बनाता है। वाद-विवाद से चित्त में कलुषता आदि दोष उत्पन्न होते हैं और उससे दीर्घ संसार में भ्रमण करना पड़ता है। अतः अनर्थमूलक ज्ञान को छोड़कर अज्ञान का ही आश्रय लेना चाहिए।

अज्ञान से ज्ञानमूलक अहंकार भी उत्पन्न नहीं होगा और अहंकार के अभाव में चित्त में कलुषता नहीं होगी, कालुष्य के न होने से कर्मबन्ध की संभावना भी नहीं होगी। यदि कालुष्य भाव के बिना कर्म बंध होगा तो उसका तीव्रफल भोगना नहीं पड़ेगा। मन में राग-द्वेषादि रूप अभिनिवेश उत्पन्न न होने देने का सबसे सरल उपाय है ज्ञानपूर्वक व्यापार को छोड़कर अज्ञान में ही संतोष करना। क्योंकि जब तक ज्ञान रहेगा तब तक वह कुछ-न-कुछ रागद्वेषादि रूप उत्पात करता ही रहेगा। यह कभी शांत रहने वाला नहीं है। अतः मोक्ष के अभिलाषी, मोक्षमार्ग में लगे हुए मुमुक्षुओं को अज्ञान ही साधक हो सकता है, ज्ञान नहीं। इस प्रकार का कथन अज्ञान मिथ्यात्व है।

इस अज्ञान मिथ्यात्व के ६७ भंग हैं। अज्ञानवाद मिथ्यात्व में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, पुण्य, पाप, मोक्ष और उत्पत्ति ये दश पदार्थ माने हैं। इनमें से उत्पत्ति पद को छोड़कर जीवादि नौ पदों को १ सत्त्व, २ असत्त्व, ३ सदसत्त्व, ४ अवाच्यत्व, ५ सदवाच्यत्व, ६ असदवाच्यत्व, ७ सदसदवाच्यत्व इन सात भंगों से गुणा करनेपर ६३ भंग होते हैं।

सत्त्व - वस्तु स्वस्वरूप की अपेक्षा सत् है। **असत्त्व** - वस्तु पर स्वरूप की अपेक्षा असत् है। **सदसत्त्व** - वस्तु स्वस्वरूप की अपेक्षा सत् तथा परस्वरूप की अपेक्षा असत् होने से क्रमशः दोनों अपेक्षाओं से सदसदुभय रूप है। यद्यपि वस्तु स्वभाव से हमेशा ही सदसद् उभयधर्म वाली है, फिर भी जो अंश प्रयोग करने वाले को विवक्षित होता है तथा उद्भूत होता है, उसी अंश से वस्तु का सत्, असत् या क्रमशः विवक्षित सदसत् रूप से व्यवहार हो जाता है। **अवाच्यत्त्व** - जब सत्त्व और असत्त्व दोनों ही धर्मों को एक साथ एक ही शब्द से कहने की इच्छा होती है तब युगपत् दोनों धर्मों को प्रधान रूप से कहने

वाले शब्द का अभाव होने से वस्तु अवक्तव्य है। ये चार भंग सकल वस्तु को विषय करने के कारण सकलादेश कहलाते हैं।

सदवाच्यत्व - जब एक अंश सद्रूप से तथा दूसरा अव्यक्त रूप से विवक्षित है तब वस्तु सदवाच्य होती है।

असदवाच्यत्व - जब एक अंग असद्रूप से तथा दूसरा अवाच्य रूप से विवक्षित होता है तब वस्तु असदवाच्य रूप होती है।

सदसदवाच्यत्व - जब एक भाग सत् रूप से, दूसरा असत् रूप से तथा तीसरा अवाच्य रूप से विवक्षित होता है, तब वस्तु सदसदवाच्य होती है।

इन सातों भंगों से जीवादि नौ पदार्थों को गुणा करने पर (७×९) ६३ भंग होते हैं।

दसवें **'उत्पत्ति'** के सत्, असत्, उभय तथा अवाच्य ये चार ही विकल्प होते हैं। शेष तीन भंग तो उत्पत्ति के बाद जब पदार्थ की सत्ता हो जाती है तब उसके अवयवों की अपेक्षा बनते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति के चार भंगों को ६३ में मिलाने पर अज्ञानवाद मिथ्यात्व के ६७ भेद होते हैं।

शंका - इसमें सप्तभंगी का कथन है, यह मिथ्यात्व कैसे ?

उत्तर - यद्यपि सप्तभंगी के द्वारा ये ६७ भेद होते हैं, परन्तु अज्ञान मिथ्यादृष्टि कहता है कि कौन जानता है कि 'जीव सत् है।' जीव की सत्ता सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, अतः उसकी सत्ता कोई सिद्ध नहीं कर सकता अथवा जीव आदि पदार्थों की सत्ता का ज्ञान भी हो जाये तो उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत् ज्ञान अहंकार का कारण होने से परलोक को बिगाड़ने वाला ही है।

इस प्रकार 'जीवादि नास्ति' इत्यादि विकल्पों में अज्ञानवाद की प्रक्रिया समझ लेनी चाहिए। इसी प्रकार उत्पत्ति सत् की होती है या असत् की अथवा उभयात्मक की या अवाच्य की ? यह सब कौन जानता है ? इनके जानने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसलिए इनको जानने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। इस प्रकार की विपरीत बुद्धि होने से अज्ञानवाद मिथ्यात्व है। यह वस्तु को जानता हुआ भी अनजान के समान होने से मिथ्यात्व है।

विनयपूर्वक जिनका आचार-व्यवहार है, वे **वैनयिक** कहलाते हैं। वशिष्ठ, पाराशर, वाल्मीकि व्यास, इलापुत्र, सत्यदत्त आदि प्रमुख वैनयिक हुए हैं। इनका वेष, आचार तथा शास्त्र आदि कुछ भी निश्चित नहीं है। प्रत्येक शास्त्र, वेष तथा आचार इन्हें इष्ट है। विनय करना ही इनका मुख्य कर्त्तव्य है।

विनयवाद नामक वैनयिक मिथ्यात्व के बत्तीस भेद इस प्रकार जानने चाहिए - देवता, राजा, साधु, ज्ञाति, वृद्ध, अधम, माता तथा पिता इन आठों की मन, वचन, काय तथा देश-कालानुसार दान देकर विनय

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

करनी चाहिए। अत: देवता आदि आठ को मन, वचन, काय और कालदेश इन चार से गुणा करने पर वैनयिक मिथ्यात्व के बत्तीस भेद सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार क्रियावादी आदि के भेद से मिथ्यादर्शन के तीन सौ त्रेसठ भेद होते हैं।

"वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, उसके किसी भी एक धर्म का अन्य धर्मों की अपेक्षा न करके 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार एकान्त रूप से अवधारण करने वाले जितने भी नय हैं, वे सब अपरिशुद्ध नय हैं, अर्थात् दुर्नय हैं। इन्हीं अपरिशुद्ध नयों को ही वचनमार्ग कहते हैं। वस्तु में जितने वचन मार्ग हैं अर्थात् एक-एक धर्म के निरपेक्ष भाव से अवधारण करने के प्रकार सम्भव हैं, उतने ही नयवाद होते हैं और जितने नयवाद हैं अर्थात् एक-एक धर्म को अवधारण करने वाले वचनों के प्रकार हैं उतने ही परसमय हैं - परदर्शन हैं।" क्योंकि स्वेच्छा से कल्पित शाब्दिक विकल्पों से ही परसमयों की सृष्टि होती है। इस जगत् में एक-एक धर्म के अवधारण करने वाले शब्दप्रयोग हो सकते हैं, उतने ही परदर्शन होते हैं। (ध. १/१, १, ९/गाथा १०५ व टीका/१६२) क्योंकि काल्पनिक विकल्प अपरिमित हैं अत: उनसे उत्पन्न होने वाले प्रवाद भी उतने ही होते हैं। अत: मिथ्यादर्शन अनगिनत हैं।

"इस प्रकार परोपदेश निमित्तक मिथ्यादर्शन के अन्य भी संख्यात विकल्प होते हैं तथा परिणामों की दृष्टि से असंख्यात और अनुभाग की दृष्टि से अनन्त भी भेद होते हैं। नैसर्गिक मिथ्यादर्शन भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंञ्च, म्लेच्छ, पुलिन्दादि स्वामियों के भेद से अनेक प्रकार का है।" (राजवा. ८/१)

अत: इस **आराधनासमुच्चय** ग्रन्थ में आचार्य ने संक्षेप से मिथ्यादर्शन के भेदों का कथन किया है।

यह मिथ्यादर्शन ही जीवों के कुगति (नरक, तिर्यञ्च गति) में गमन करने का एक (अद्वितीय) मूल कारण है। अर्थात् नरक गति में और तिर्यञ्च गति में मिथ्यादृष्टि ही जाता है। तिर्यञ्चायु और नरक आयु का बंध मिथ्यादृष्टि ही करता है।

स्वामी समन्तभद्र ने **रत्नकरण्डक श्रावकाचार** में लिखा है कि - सम्यग्दर्शन के समान प्राणियों का कोई कल्याणकर्त्ता नहीं है और मिथ्यादर्शन के समान कोई दूसरा अकल्याणकारी नहीं है।

सम्यङ्मिथ्यात्व और उसका काल

अथ सम्यङ् मिथ्यात्वं गतवांस्तस्योदयोत्थितैर्भावैः।
मिश्रश्रद्धानकरैः क्षायोपशमाह्वयैरास्ते ॥२२॥
अन्तर्मुहूर्तकालं तद्भवमरणादि-वर्जितस्तस्मात्।
च्युतवान् दर्शनमोहद्वितीयान्यतरोदयमुपैति ॥२३॥ युग्मं॥

अन्वयार्थ - अथ - सादि मिथ्यादर्शन का अन्तर्मुहूर्त वा अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल व्यतीत हो जाने पर। **तस्य** - सम्यङ्मिथ्यात्व का। **उदयोत्थितैः** - उदय से उत्पन्न। **मिश्रश्रद्धानकरैः** - मिश्र श्रद्धान को करने वाले। **क्षायोपशमाह्वयैः** - क्षायोपशमिक नामक। **भावैः** - भावों के द्वारा (मिश्र श्रद्धान भावों के द्वारा)। **सम्यङ्मिथ्यात्वं** - सम्यङ्मिथ्यात्व नामक तीसरे गुणस्थान को। **गतवान्** - प्राप्त हो जाता है और वहाँ पर। **अन्तर्मुहूर्तकालं** - अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यन्त। **आस्ते** - रहता है। **तद्भवमरणादिवर्जितः** - तद्भव मरण से रहित। **तस्मात्** - उस तीसरे गुणस्थान से। **च्युतवान्** - च्युत हो जाता है। **दर्शनमोह - द्वितीयान्यतरोदयं** - दर्शन - मोहनीय के द्वितीय (सम्यङ्मिथ्यात्व) से अन्यतर (मिथ्यात्व वा सम्यक्त्व प्रकृति) के उदय को। **उपैति** - प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ - इस श्लोक में मिश्रगुणस्थान का स्वरूप, मिश्रगुणस्थान में होने वाले भाव, उसका काल, उसमें निषिद्ध कार्य और उससे च्युत हो जाने के विधान का कथन किया है।

गुणस्थान औदयिक आदि भावों से होते हैं। मिश्रगुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव है।

सम्यक्त्व-मिथ्यात्व कर्म के उदय से श्रद्धान-अश्रद्धानात्मक, शबलित या मिश्रित भाव होते हैं। उसमें जो श्रद्धान का अंश है, वह सम्यक्त्व का अवयव है। उसे सम्यक्त्व मिथ्यात्व कर्म का उदय नष्ट नहीं कर सकता, इसलिए सम्यङ्मिथ्यात्व भाव क्षायोपशमिक भाव है। अर्थात् सम्यक्त्व मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने पर अवयवी रूप सम्यग्दर्शन गुण का तो अभाव रहता है, परन्तु सम्यक्त्व का अवयवरूप अंश प्रकट रहता है। यद्यपि जात्यन्तरभूत सम्यक्त्वमिथ्यात्व प्रकृति सर्वघाती है तथापि वह सम्यक्त्व अवयव रूप अंश का विघात नहीं कर सकती इसलिए यह क्षायोपशमिक भाव है। इस श्लोक में "क्षायोपशमिकाह्वयैः" इस पद से क्षायोपशमिक भाव को सूचित किया है।

शंका - इस सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति में सम्यग्दर्शन का अंश प्रगट कैसे रह सकता है ?

उत्तर - अभेदविवक्षा से यद्यपि सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति जात्यंतर है, न सम्यक्त्व रूप परिणाम है और न मिथ्यात्व रूप परिणाम है। जिस प्रकार अच्छी तरह मिले हुए दही और गुड़ को पृथक्-पृथक् करना शक्य नहीं है, उसी प्रकार सम्यङ्मिथ्यात्व के उदय से सम्यग् और मिथ्यात्व रूप मिश्र परिणाम होते हैं। अर्थात् जात्यन्तर रूप सर्वघाति सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से केवल सम्यक्त्व रूप या मिथ्यात्व रूप परिणाम न होकर मिश्र रूप परिणाम होता है। तथापि भेदविवक्षा से उसमें सम्यग्दर्शन का अंश प्रकट है। यदि इसमें सम्यग्दर्शन का अंश प्रगट नहीं माना जायेगा तो सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति को जात्यन्तर मानने में विरोध आता है अर्थात् उसको मिथ्यात्व ही मानना चाहिए, सम्यङ्मिथ्यात्व नहीं।

यह सम्यग् मिथ्यात्व रूपी क्षायोपशमिक भाव सम्यग् मिथ्यात्व रूप प्रकृति के उदय से उत्पन्न होता है। इसमें मिश्र श्रद्धान को कराने वाले भाव होते हैं। जैसे क्षीणाक्षीण मद शक्ति वाले कोंदू के उपभोग से कुछ मिला हुआ मद परिणाम होता है। उसी प्रकार सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तत्त्वार्थ का श्रद्धान और अश्रद्धानरूप मिला हुआ परिणाम होता है, इसलिए इसको मिश्रश्रद्धान वाला कहा है।

इसका काल अन्तर्मुहूर्त है। सम्यक्त्व से गिरते समय अथवा मिथ्यात्व से ऊपर चढ़ते समय अन्तर्मुहूर्त के लिए इस अवस्था का वेदन होना संभव है।

इस सम्यग् मिथ्यात्व गुणस्थान को क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि, औपशमिकसम्यग्दृष्टि और सादिमिथ्यादृष्टि ही प्राप्त होते हैं। परन्तु जो अनादि मिथ्यादृष्टि है अथवा जिस-जिस सादि मिथ्यादृष्टि ने सम्यक्त्व मिथ्यात्व प्रकृति की उद्वेलना कर दी है, वह मिश्रगुणस्थान को प्राप्त नहीं कर सकता।

जिनागम में १७ प्रकार के मरण कहे हैं-

१. आवीचिमरण - प्रतिक्षण आयु आदि प्राणों का क्षय होता है। आयु के निषेक स्वफल देकर निरंतर नष्ट हो रहे हैं, उसको आवीचि या नित्य मरण कहते हैं।

२. तद्भवमरण - पूर्व में बँधी हुई आयु, इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय इन सर्व प्राणों का नाश हो जाना अर्थात् नूतन शरीर रूप पर्याय को धारण करने के लिए वर्तमान आयु का पूर्णरूप से नष्ट हो जाना तद्भव मरण है।

३. अवधिमरण - जो प्राणी जिस प्रकार का मरण वर्तमान काल में प्राप्त करता है उसके दो भेद हैं, सर्वावधि व देशावधि। प्रदेशों सहित जो आयु वर्तमान समय में जैसी उदय में आती है, वैसी आयु फिर प्रकृत्यादि विशिष्ट बँधकर उदय में आवे वह सर्वावधिमरण कहलाता है, वही आयु आंशिक रूप से सदृश होकर बँधे व उदय में आवे उसे देशावधिमरण कहते हैं।

४. आद्यन्तमरण - यदि वर्तमानकाल के मरण या प्रकृत्यादि के सदृश उदय पुनः आगामी काल में नहीं आवेगा तो उसे आद्यन्तमरण कहते हैं।

५. अवसन्नसाधुमरण - मोक्षमार्ग में स्थित मुनियों का संघ जिसने छोड़ दिया, ऐसे पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील व संसक्तसाधु अवसन्न कहलाते हैं, उनका मरण अवसन्नमरण है।

६. सशल्यमरण - सशल्यमरण के दो भेद हैं। द्रव्यशल्य व भावशल्य। माया व मिथ्या आदि भावों को भावशल्य और उनके कारणभूत कर्मों को द्रव्यशल्य कहते हैं। भावशल्य की जिनमें संभावना नहीं है, ऐसे पाँचों स्थावरों व असंज्ञी त्रसों के मरण को **द्रव्यशल्यमरण** कहते हैं। **भावशल्यमरण** संयत, संयतासंयत व अविरत सम्यग्दृष्टि के होता है।

७. पलायमरण या बलाका मरण - विनय वैयावृत्य आदि कार्यों में आदर न रखने वाले तथा सर्व कृतिकर्म, व्रत, समिति आदि धर्मध्यान व नमस्कारादि से दूर भागने वाले मुनि के मरण को **पलायमरण** कहते हैं। सम्यक्त्व पण्डित, ज्ञान पण्डित व चारित्र पंडित ऐसे लोग इस मरण से मरते हैं।

८. वशार्त्तमरण - आर्त्त, रौद्र भावों युक्त मरना वशार्त्तमरण है। यह चार प्रकार का होता है - १. इन्द्रियवशार्त्त, २. वेदनावशार्त्त, ३. कषायवशार्त्त और ४. नोकषायवशार्त्त।

१. **इन्द्रियवशार्त्त** - पाँच इन्द्रियों के पाँच विषयों की अपेक्षा इन्द्रियवशार्त्त पाँच प्रकार का है। मनोहर विषयों में आसक्त होकर और अमनोहर विषयों में द्विष्ट होकर जो मरण होता है, वह श्रोत्र आदि इन्द्रियों व मन सम्बन्धी वशार्त्तमरण है।

२. **वेदनावशार्त्त** - शारीरिक व मानसिक सुखों में अथवा दुःखों में अनुरक्त होकर मरने से वेदनावशार्त्त सात व असात के भेद से दो प्रकार का होता है।

३. **कषायवशार्त्त** - कषायों के क्रोधादि भेदों की अपेक्षा कषायवशार्त्त चार प्रकार का है। स्वयम् में दूसरे में अथवा दोनों में उत्पन्न हुए क्रोध के वश मरना क्रोधकषायवशार्त्त है। इसी प्रकार आठ मदों के वश मरना मान वशार्त्त है, पाँच प्रकार की माया से मरना मायावशार्त्त और परपदार्थों में ममत्व के वश मरना लोभ वशार्त्त है।

४. **नोकषायवशार्त्त** - हास्य, रति, अरति आदि से जिसकी बुद्धि मूढ़ हो गई है, ऐसे व्यक्ति का मरण नोकषायवशार्त्त मरण है। इस मरण को बालमरण में अन्तर्भूत कर सकते हैं।

दर्शनपंडित, अविरत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत जीव भी इस मरण को प्राप्त हो सकते हैं। उनका यह मरण **बालपण्डित मरण** अथवा **दर्शनपण्डितमरण** समझना चाहिए। **विप्राणस** व **गृद्धपृष्ठ** नाम के दोनों मरणों का न तो आगम में निषेध है और न अनुज्ञा। दुष्काल में अथवा दुर्लंघ्य जंगल में, दुष्ट राजा के भय से, तिर्यंचादि के उपसर्ग में, एकाकी स्वयं सहन करने को समर्थ न होने से, ब्रह्मचर्य के नाश से, चारित्र में दोष लगने का प्रसंग आया हो तो संसारभीरु व्यक्ति कर्मों का उदय उपस्थित हुआ जानकर जब उसको सहन करने में अपने को समर्थ नहीं पाता है और न ही उसको पार करने का कोई उपाय सोच पाता है, तब वेदना को सहने से परिणामों में संक्लेश होगा और उसके कारण रत्नत्रय की आराधना से निश्चय ही मैं च्युत हो जाऊँगा, ऐसी निश्चलमति को धारते हुए, निष्कपट होकर चारित्र और दर्शन में निष्कपटता धारण कर धैर्य युक्त होता हुआ, ज्ञान का सहारा लेकर निदान रहित होता हुआ अर्हन्त भगवान् के समीप आलोचना करके विशुद्ध होता है। निर्मल लेश्याधारी वह व्यक्ति अपने श्वासोच्छ्वास का निरोध करता हुआ प्राण त्याग करता है ऐसे मरण को **विप्राणसमरण** कहते हैं। उपर्युक्त कारण उपस्थित होने पर वस्त्र ग्रहण करके जो प्राण त्याग किया जाता है वह **गृद्धपृष्ठमरण** है।

इन १७ प्रकार के मरणों में दो मरण मुख्य हैं आवीचि और तद्भवमरण। क्योंकि सारे मरणों का आधार ये दो मरण ही हैं। इनका सर्व मरणों के साथ सम्बन्ध है। इनमें आवीचि मरण तो निरंतर होता ही रहता है, जब तक मोक्ष नहीं होता तब तक कोई प्राणी ऐसा नहीं है वा कोई समय ऐसा नहीं है, जिसमें प्राणियों का आवीचि मरण न हो। इसलिए इस मरण को नित्य मरण भी कहते हैं।

इस श्लोक में तद्भव मरण का कथन है। तद्भव मरण के लिए कुछ स्थान निषिद्ध हैं। जैसे प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टि, आहारकमिश्र, उपशम श्रेणी में आरूढ़ अपूर्व गुणस्थान के प्रथम समय में मरण नहीं होता है।

जिस जीव ने अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन करके उपशम सम्यक्दर्शन प्राप्त किया, पुनः सम्यग्दर्शन की विराधना करके मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होता है, उसका एक आवलीकाल पर्यन्त मरण नहीं है।

अनन्तानुबंधी का पुनःसंयोजन होने पर भी एक अन्तर्मुहूर्त काल तक मरण नहीं होता। उसी प्रकार सम्यक् मिथ्यात्व गुणस्थान में मरण नहीं होता, मारणान्तिक समुद्धात भी नहीं होता और आयुबंध नहीं होता। जिस गुणस्थान में आयु का बंध हुआ है, उसी गुणस्थान में जाकर मरण होता है। इसीलिए आचार्य ने श्लोक में कहा है कि इस गुणस्थान में तद्भवमरण नहीं है। 'तद्भवमरण' शब्द से मारणान्तिक समुद्घात और आयुबंध का अभाव सूचित किया है।

दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होता है, यदि सम्यक्त्व प्रकृति का उदय आ जाता है तो चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है।

"सम्यग् मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आने पर मिथ्यात्व गुणस्थान में और सम्यक्त्व प्रकृति का उदय आने पर चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त होता है, इसका अन्य गुणस्थानों में जाने का अभाव है।" (ध. ४-५-९/३४३)

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट-जघन्य काल और स्वरूप

अथ सम्यक्त्वं प्राप्तस्तत्कर्मोदयभवैश्च परिणामैः।
क्षायोपशमिकसंज्ञैः शिथिलश्रद्धानजैर्वसति ॥२४॥
अन्तर्मुहूर्तकालं जघन्यतस्तत्प्रयोग्यगुणयुक्तः।
षट्षष्टिसागरोपमकालं चोत्कर्षतो विधिना ॥२५॥ युग्मम्॥

अन्वयार्थ - **अथ** - इसके बाद। **तत्कर्मोदयभवैः**- सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न। **शिथिलश्रद्धानजैः**- शिथिल श्रद्धानज। **क्षायोपशमिकसंज्ञैः** - क्षायोपशमिक नामक। **परिणामैः** - परिणामों के द्वारा। **सम्यक्त्वं** - सम्यग्दर्शन को। **प्राप्तः** - प्राप्त होता है और। **तत्प्रयोग्यगुणयुक्तः** - इस सम्यग्दर्शन के योग्य गुणस्थान से युक्त होकर। **विधिना** - विधि से। **जघन्यतः** - जघन्य से। **अन्तर्मुहूर्तकालं** - अन्तर्मुहूर्तकाल है और। **उत्कर्षतः**- उत्कृष्ट से। **विधिना** - विधिपूर्वक। **षट्षष्टि सागरोपमकालं** - छासठ सागरोपमकाल तक। **वसति** - रहता है।

भावार्थ - क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन दर्शन मोहनीय की सम्यक्त्व नामक प्रकृति के उदय से उत्पन्न होता है।

चार अनन्तानुबंधी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यङ् मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय और आगामी उदय में आने वाली इन्हीं छह प्रकृतियों का सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती स्पर्धक वाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जो तत्त्वश्रद्धान होता है, वह क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है। (स. सि. २/५)

इसका दूसरा नाम वेदक भी है क्योंकि इस सम्यग्दर्शन में दर्शन मोहनीय की भेदरूप सम्यक्त्व प्रकृति का वेदन होता है अर्थात् इस सम्यग्दर्शन में एकदेश रूप वेदन कराने वाली सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहता है। इसलिए इस श्लोक में सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से होने वाले क्षायोपशमिक परिणामों से उत्पन्न होने वाला यह शब्द दिया है।

"वेदक सम्यग्दृष्टि जीव शिथिल श्रद्धानी होता है, इसलिए वृद्ध पुरुष जिस प्रकार अपने हाथ में लकड़ी शिथिलतापूर्वक पकड़ता है, उसी प्रकार वह भी तत्त्वार्थ के श्रद्धान में शिथिलग्राही होता है। अत: कुहेतु और कुदृष्टान्त से उसे सम्यक्त्व की विराधना करने में देर नहीं लगती है।" (ध. १/१.१.१२)

आप्त, आगम और नव पदार्थों के श्रद्धान में शिथिलता और श्रद्धान की हीनता होना सम्यक्त्व प्रकृति का चिह्न है। (ध. ६।१.९.१.२१)

इस सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से ही सम्यग्दर्शन में शंका-कांक्षा आदि अतिचार लगते हैं। यह सम्यक्त्व प्रकृति ही सम्यक्त्व की स्थिरता और निष्कांक्षता गुणों का घात करती है तथा इसी के कारण यह सम्यग्दर्शन चल, मलिन एवं अगाढ़ दोषों से युक्त हो जाता है। इसलिए 'शिथिल श्रद्धानज' ऐसा कहा गया है।

इस सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट काल छासठ सागर है और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के बाद जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त काल में छूट जाता है, उत्कृष्ट छासठ सागर तक रह सकता है। मध्यम के अनेक भेद हैं। उसके बाद या तो क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जाता है या मिथ्यात्व गुणस्थान में चला जाता है अथवा तीसरे गुणस्थान में जाकर पुन: क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होकर छासठ सागर तक रह सकता है। कहा भी है-

लांतवकप्पे तेरस अच्चुदकप्पे य होंति बावीसा।
उवरिम एक्कत्तीसं एवं सव्वाणि छावट्ठी ॥इति॥ २५/१॥

लांतव कल्प में तेरह सागर, अच्युतकल्प में बावीस सागर और उपरिम ग्रैवेयक में इकत्तीस सागर इस प्रकार क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का छासठ सागर प्रमाण काल पूरा करता है। इसमें बीच में तीन भव मनुष्य के हैं, परन्तु उनकी आयु विशेष न होने से छासठ सागर में गर्भित हो जाती है, इसलिए इनका कथन पृथक् नहीं किया है।

श्लोक में कथित विधिना शब्द से यह सूचित किया गया है कि कहाँ-कहाँ उत्पन्न होकर छासठ सागर पूर्ण करता है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन किस गुणस्थान में रहता है इसको बताने के लिए 'तत्प्रयोगगुणयुक्त:' कहा गया है अर्थात् इस सम्यग्दर्शन वाला चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम इन चार गुणस्थानों में ही रहता है, अन्य गुणस्थानों में इसका अस्तित्व नहीं है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चारों गतियों में हो सकता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन के साथ मरकर जीवात्मा मनुष्य और स्वर्गवासी देवों के सिवाय किसी स्थान में जन्म नहीं लेता है। अत: छासठ सागर स्वर्ग और मनुष्य पर्याय में पूर्ण करता है।

वेदक सम्यग्दर्शन मनुष्य और स्वर्गवासी देवों में निवृत्यपर्याप्त अवस्था में हो सकता है और किसी के निवृत्यपर्याप्त अवस्था में क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन नहीं होता। परन्तु जिस कर्मभूमिया मनुष्य ने क्षायिक सम्यक्त्व करना प्रारंभ किया और करण लब्धि के द्वारा अनन्तानुबंधी चार कषाय एवं मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमिथ्यात्व का क्षय कर कृतकृत्य वेदक होता है, उस समय वह सम्यक्त्व प्रकृति का वेदन कर रहा है, अत: वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है। उस समय मरण संभव है। वह मरकर प्रथम नरक में, भोगभूमि-मनुष्य और तिर्यंचों में तथा स्वर्गवासी देवों में उत्पन्न हो सकता है। अत: निवृत्यपर्याप्त अवस्था में चारों गतियों में क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पाया जा सकता है, परन्तु वास्तव में कर्मभूमिया मनुष्य और स्वर्गवासी देवों में ही निवृत्यपर्याप्त अवस्था में क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के उपशम श्रेणी में प्रवेश करने के पूर्व का कार्य

वेदकसम्यग्दृष्टि - र्वाञ्छन्नारोढुमुपशमश्रेणीम्।
प्रथमकषायान्-करणैराचार्यमतेन विनियोज्य ॥२६॥

त्रिकरण्या दृङ् मोहत्रितयं प्रशमय्य याति चोपशमम्।
सम्यक्त्वमुपशमश्रेणी-निभकाल प्रवेशाभ्याम् ॥२७॥

उपशमकश्रेणिं तेनारुह्य, ततोऽवतीर्य वा म्रियते।
जननं लेश्यावशतो निवारितर्द्धिश्च समुपैति ॥२८॥ त्रिकम्।

अन्वयार्थ - उपशमश्रेणीं - उपशम श्रेणी में। **आरोढुं** - आरोहण करने की। **वाञ्छन्** - वाञ्छा करने वाला। **वेदक सम्यग्दृष्टि :-** क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि। **आचार्यमतेन** - किन्हीं आचार्य के मत से। **करणै:** - अध:करणादि तीन करण के द्वारा। **प्रथमकषायान्** - अनन्तानुबंधी कषायों का। **विनियोज्य** - विसंयोजन करने के पश्चात्। **त्रिकरण्या** - पुन: तीन करण के द्वारा। **दृङ्मोहत्रितयं** - तीसरे दर्शन मोह (सम्यक्त्व प्रकृति) का। **प्रशमय्य** - उपशमन करके। **उपशमश्रेणीनिभकाल प्रवेशाभ्यां** - उपशम श्रेणी के सदृश कालप्रवेश के द्वारा। **उपशमं** - उपशम। **सम्यक्त्वं** - सम्यग्दर्शन को। **याति** - प्राप्त होता है। **तेन** - उस उपशम सम्यग्दर्शन के साथ। **उपशमश्रेणीं** - उपशम श्रेणी को। **आरुह्य** - आरूढ़ होकर। **च** - और। तत: उसके बाद उपशम श्रेणी से। **अवतीर्य** - उतर कर। **म्रियते** - मर जाता है। **च** - और। **निवारितर्द्धि:** - जिनकी ऋद्धियाँ नष्ट हो गई हैं, ऐसा वह उपशम श्रेणी वाला जीव। **लेश्यावशत:** - लेश्या के वश से। **जननं** - जन्म को। **समुपैति** - प्राप्त होता है।

भावार्थ - क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि श्रेणी पर आरूढ़ नहीं हो सकता "क्योंकि चल, मल, अगाढ़

आदि से मलिन श्रद्धान के साथ क्षपक और उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होने का अभाव है।'' (ध. १/१-१-१४६) इसलिए जो क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होने की इच्छा करता है तब सर्वप्रथम तीन करण के द्वारा अनन्तानुबंधिकषाय का विसंयोजन करता है।

अनन्तानुबंधी का विसंयोजन करने में दो मत हैं। उच्चारणाचार्य का कथन है कि उपशमसम्यग्दृष्टि के चार अनन्तानुबंधी का विसंयोजन नहीं होता क्योंकि उपशमसम्यग्दृष्टि के एक अवस्थित पद ही होता है तथा उपशम सम्यक्त्व के काल की अपेक्षा अनन्तानुबंधी के विसंयोजन का काल अधिक है। अथवा इसमें अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना के कारणभूत परिणाम नहीं पाये जाते हैं, इससे प्रतीत होता है कि उपशम सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबंधी की विसंयोजना नहीं होती। (क.पा. २/१-१५)

धवला, लब्धिसार, गोम्मटसार, आदि ग्रन्थों में अनन्तानुबंधी की विसंयोजना स्वीकार की गई है। जिसका कथन पूर्व में द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन के कथन में किया है। इसी कथन की सूचना करने के लिए आचार्यदेव ने श्लोक में **'आचार्यमतेन'** यह शब्द दिया है।

लब्धिसार में कहा है कि उपशम सम्यग्दर्शन के सम्मुख हुआ वेदक सम्यग्दृष्टि सर्वप्रथम पूर्वोक्त विधि से अनन्तानुबंधी का विसंयोजन करता है। तदनन्तर तीन करण के द्वारा सम्यक्त्व प्रकृति का उपशम कर द्वितीयोपशमसम्यग्दर्शन को प्राप्त होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन वाला उपशम श्रेणी में आरूढ़ होकर उसके काल की समाप्ति होने पर या तो क्रमशः १०-९-८-७ और छठे गुणस्थान को प्राप्त होता है और यदि आयु समाप्त हो जाती है तो मरण भी हो जाता है तथा जिनकी ऋद्धियाँ (संयम) नष्ट हो गयी हैं ऐसा प्राणी लेश्या के वश से मरकर जन्म को भी प्राप्त हो जाता है अर्थात् द्वितीयोपशम सम्यक्त्व सहित मरकर स्वर्गवासी देव होते हैं, उत्कृष्ट से सर्वार्थसिद्धि तक जा सकते हैं।

उपशम श्रेणी वाला द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि और क्षायिकसम्यग्दृष्टि दोनों ही हो सकता है। क्योंकि जिसने दर्शनमोहनीय का उपशम वा क्षय नहीं किया है, वह उपशम श्रेणी पर आरूढ़ नहीं हो सकता। उपशांतकषाय अवस्था में आयु का क्षय हो जाने से मरण हो सकता है अथवा फिर कषायों की उदीरणा हो जाने से नीचे गिर जाता है।

उपशांतकषाय से प्रतिपात (गिरना) दो प्रकार से होता है। भवक्षय (आयुक्षय) निबंध और उपशमकालक्षय निबंध। उपशांतकषाय के काल में प्रथमादि से अन्तपर्यन्त किसी भी समय में आयु के विनाश से मरकर देवों में उत्पन्न होते हैं, तब चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है तथा उस चतुर्थ गुणस्थान के प्रथम समय में नियम से बंध, उदीरणा, संक्रमण आदि सारे करण उघाड़ता है अर्थात् यथाख्यात चारित्र की विशुद्धि के बल से उपशांतकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान में जिन कर्मों का उपशमन किया था उनका असंयत गुणस्थान में संक्लेश परिणामों के बल से अनुपशमन रूप उघाड़ना संभव है।

उपशांतकषाय का काल समाप्त होने पर प्रतिपात (गिरने वाला) जीव सूक्ष्म सांपरायिक गुणस्थान में गिरता है क्योंकि सूक्ष्म साम्परायिक गुणस्थान को छोड़कर अन्य गुणस्थानों में जाने का अभाव है। सूक्ष्म

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सांपरायिक गुणस्थान से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान को प्राप्त होता है। इसके पश्चात् क्रम से अपूर्वकरण, अधःप्रवृत्तकरण रूप अप्रमत्त को प्राप्त होता है। अधः प्रवृत्तकरण तक गिरने का यही निश्चित क्रम है। इसके बाद यदि विशुद्धि हो तो ऊपर के गुणस्थान में चढ़ता है, यदि संक्लेश युक्त हो तो नीचे के गुणस्थान में चला जाता है। कोई नियम नहीं है।

उपशांतकषाय के अन्तसमय तक अनुक्रम से नीचे उतर कर अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त होकर अप्रमत्त से प्रमत्त, प्रमत्त से अप्रमत्त गुणस्थान में हजारों बार चढ़ता उतरता है। संक्लेश भाव के साथ अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय हो जाने पर चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है।

उपशमश्रेणी से गिर कर नीचे आते समय प्रतिस्थान आरोह की अपेक्षा दूनी अवस्थिति और दूना अनुभाग पड़ता है। स्थितिबंधापसरण के स्थान पर स्थिति बंधोत्सरण होता है अर्थात् श्रेणी पर आरूढ़ होते समय जो स्थितिकाण्डघात, गुण-श्रेणीनिर्जरा आदि आठ कार्य होते हैं, उतरते समय उनका क्रम उलटा होता है।

उपशम श्रेणी से उतरकर पुनः उसी सम्यक्त्व से श्रेणी पर आरूढ़ होना असंभव है। क्योंकि श्रेणी का काल अधिक है, उपशम श्रेणी से उतरे हुए द्वितीयोपशम सम्यक्त्व का काल अल्प है।

द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति

द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति श्रेणी के सम्मुख हुए अप्रमत्त गुणस्थान में ही होती है। उस सम्यग्दर्शन को प्राप्त करते समय असंख्यात बार प्रमत्त में जाता है, फिर अप्रमत्त में आ जाता है। यदि उपशम श्रेणी से उतरते समय मरण हो जाता है या पंचम गुणस्थान में आ जाता है तो चतुर्थ पंचम गुणस्थान में भी उपशम सम्यग्दर्शन का अस्तित्व पाया जाता है।

गोम्मटसार में भी कहा है कि अप्रमत्त क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि तीन करण के द्वारा सात प्रकृतियों का उपशम कर द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। जिस लेश्या में मरता है, उसी में जाकर जन्म लेता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति और उसका स्वरूप

अविरतसम्यग्दृष्ट्याद्येषु चतुर्ष्वपि गुणेषु कस्मिंश्चित्।
वेदकदृष्टिस्त्रिकरण्यादिकषायान् विसंयोज्य ॥२९॥
निर्वृतियोग्ये क्षेत्रे काले लिङ्गे भवे तथा वयसि।
शुभलेश्यात्रयवृद्धिं कषायहानिं च संविदधत् ॥३०॥
क्षपकश्रेणीसदृश-प्रवेश-कालान्तरैस्त्रिभिः करणैः।
हत्वा दृङ्मोहत्रयमाप्नोति क्षायिकीं दृष्टिम् ॥३१॥ त्रिकम्

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अन्वयार्थ - **वेदकदृष्टिः** - क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि। **अविरतसम्यग्दृष्ट्याद्येषु** - अविरतसम्यग्दृष्टि आदि। **चतुर्षु** - चार। **गुणस्थानेषु** - गुणस्थानों में। **कस्मिंश्चित्** - किसी एक गुणस्थान में। **अपि** - भी। **त्रिकरण्या** - तीन करण के द्वारा। **आदिकषायान्** - प्रथम (अनन्तानुबंधी) क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों का। **विसंयोज्य** - विसंयोजना करके। **निर्वृतियोग्ये** - मोक्ष के योग्य। **क्षेत्रे** - क्षेत्र में। **काले** - काल में। **लिंगे** - लिंग में। **भवे** - भव में। **तथा** - और। **वयसि** - वय में। **शुभलेश्यात्रयवृद्धिं** - तीन शुभलेश्या की वृद्धि को। **च** - और। **कषायहानिं** - कषायों की हानि को। **संविदधत्** - करता हुआ। **क्षपकश्रेणीसदृशप्रवेशकालान्तरैः** - क्षपक श्रेणी सदृश प्रवेश काल के अन्तर में होने वाले। **त्रिभिः** - तीन। **करणैः** - करणों के द्वारा। **दृङ्मोहत्रयं** - तीन दर्शनमोह को। **हत्वा** - नाश कर। **क्षायिकीं** - क्षायिक। **दृष्टिं** - सम्यग्दर्शन को। **आप्नोति** - प्राप्त करता है।

भावार्थ - सर्वप्रथम उपशम सम्यग्दर्शन होता है, तदनन्तर क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। द्वितीयोपशमिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यग्दर्शन क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन से ही होते हैं।

अविरतादि चार गुणस्थानों में किसी एक गुणस्थान में क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि तीन करण (अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण) के द्वारा सर्वप्रथम अनन्तानुबंधी चार कषायों का विसंयोजन (सत्ताव्युच्छित्ति) करता है। इन तीन करणों का स्वरूप पूर्व में कह दिया गया है। तदनन्तर निर्वृत्तियोग्य क्षेत्र, काल, भव तथा वय में ही क्षायिक सम्यग्दर्शन की योग्यता है।

जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस भव में तथा जिस वय में निर्वाण की प्राप्ति होती है, उसी काल आदि में क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

काल - जैसे मोक्षप्राप्ति के योग्य चतुर्थ काल है अर्थात् चतुर्थ काल में मोक्ष की प्राप्ति होती है, वैसे ही क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भी चतुर्थ काल में ही होती है अर्थात् चतुर्थ काल में ही यह जीव क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है, अन्य काल में नहीं।

जैसे १५ कर्मभूमि रूप **क्षेत्र** में ही तीर्थंकर होते हैं, अन्य क्षेत्र में नहीं होते, उसी प्रकार क्षायिक सम्यग्दर्शन का प्रारंभक कर्मभूमिया जीव ही होता है, अन्य नहीं।

जैसे मोक्षपद कर्मभूमिया मनुष्यों को ही प्राप्त होता है, अन्य **भव** में नहीं; उसी प्रकार क्षायिक सम्यग्दर्शन को भी कर्मभूमिया मनुष्य ही प्राप्त करते हैं।

मोक्षपद पुरुष**लिंग** से ही प्राप्त होता है, अन्य स्त्री, नपुंसक वेद से मोक्षपद प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भी पुरुषवेद वाले को ही होती है, अन्य वेद वाले को नहीं।

वय - वय का अर्थ उम्र है। जैसे जन्म से आठ वर्ष के बाद ही मोक्षपद प्राप्त होता है। उसी प्रकार जन्म से आठ वर्ष के बाद ही क्षायिक सम्यग्दर्शन के योग्य होता है। इसलिए श्लोक में निर्वृति योग्य क्षेत्र, काल, भव, लिंग और वय कहा है। निर्वाण के योग्य क्षेत्र, काल, भव, लिंग और वय में क्षायोपशमिक

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सम्यग्दृष्टि जीव चतुर्थ गुणस्थान से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में सर्वप्रथम तीन करण के द्वारा अनन्तानुबंधी कषाय का विसंयोजन करता है। तदनन्तर तीन शुभ लेश्याओं की वृद्धि और कषायों के अनुभाग की हानि करता हुआ क्षपक श्रेणी के प्रवेशकाल में होने वाले करणों के समान तीन करणों के द्वारा दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों का नाश कर क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है।

क्षायिकसम्यग्दर्शन-माप्तोक्तार्थेषु निश्चलात्मरुचि:।
वातैर्मन्दरगिरिवन्न विचलति कुहेतुदृष्टान्तै: ॥३२॥

उत्पद्यते हि वेदकदृष्टि: स्वमरेषु कर्मभूमिनृषु।
कृतकृत्यक्षायिक दृग्बद्धायुष्कश्चतुर्गतिषु ॥३३॥

षट्स्वध: पृथ्वीषु ज्योतिर्वनभवनजेषु च स्त्रीषु।
विकलैकेन्द्रियजातिषु सम्यग्दृष्टेर्न चोत्पत्ति: ॥३४॥

अन्वयार्थ - **आप्तोक्तार्थेषु** - आप्त द्वारा कथित पदार्थों में। **निश्चलात्मरुचि:** - निश्चल है आत्मरुचि जिसकी ऐसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि का। **कुहेतुदृष्टान्तै:** - खोटे हेतु और दृष्टान्तों से। **क्षायिकसम्यग्दर्शनं** - क्षायिक सम्यग्दर्शन। **न** - नहीं। **विचलति** - विचलित होता है। **वातै:** - वायु के वेग से। **मन्दरगिरिवत्** - सुमेरु पर्वत के समान।

हि - निश्चय से। **वेदकदृष्टि:** - वेदक सम्यग्दृष्टि। **स्वमरेषु** - स्वर्ग के देवों में और। **कर्मभूमिनृषु** - कर्मभूमिया मनुष्यों में ही। **उत्पद्यते** - उत्पन्न होता है। परन्तु। **बद्धायुष्क:** - जिसने मिथ्यात्व अवस्था में आयु का बन्ध कर लिया है ऐसा। **कृतकृत्य क्षायिकदृग्** - कृतकृत्य क्षायिक सम्यग्दृष्टि (वेदक सम्यग्दृष्टि) और क्षायिक सम्यग्दृष्टि। **चतुर्गतिषु** - चारों गतियों में। **उत्पद्यते** - उत्पन्न होते हैं। **अध:** - नीचे। **षट्सु** - छह। **पृथ्वीषु** - पृथ्वियों में। **ज्योतिर्वनभवनजेषु** - ज्योतिष्क, व्यन्तर और भवनवासियों में। **स्त्रीषु** - सर्वप्रकार की स्त्रियों में। **च** - और। **विकलैकेन्द्रियजातिषु** - विकलेन्द्रिय और एकेन्द्रिय में। **सम्यग्दृष्टे:** - सम्यग्दृष्टि की। **उत्पत्ति:** - उत्पत्ति। **न** - नहीं है।

भावार्थ - क्षायिक सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित अर्थ (पदार्थ) में निश्चलमति - दृढ़मति होता है। जैसे सुमेरु पर्वत सारे संसार को कम्पित करने वाली महाप्रलय काल की वायु के वेग से भी कम्पित नहीं होता, स्वकीय स्थिरता को नहीं छोड़ता उसी प्रकार क्षायिक सम्यग्दृष्टि कुहेतुओं और कुदृष्टान्तों के द्वारा तत्त्वश्रद्धान से कभी च्युत नहीं होता। उसका मन मेरु के समान स्थिर रहता है।

वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दृष्टि स्वर्गवासी देवों में और कर्मभूमिया मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं, अन्य स्थानों में नहीं। अर्थात् मनुष्य और तिर्यंच वेदक सम्यग्दृष्टि मरकर स्वर्ग के देवों में ही उत्पन्न होते हैं और देव एवं नारकी कर्मभूमिया मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। परन्तु जो कृतकृत्यवेदक हैं अर्थात् जिन्होंने तीन करण के द्वारा अनन्तानुबंधी कषाय का क्षय कर दिया है; तदनन्तर तीन करण के द्वारा मिथ्यात्व और

सम्यक्त्व मिथ्यात्व की सत्ता व्युच्छित्ति करके कृतकृत्य वेदक हो जाता है, उस समय वह सम्यक्त्व प्रकृति का वेदन करता है। अतः वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दृष्टि है। उस कृतकृत्य वेदक अवस्था में मरण भी हो सकता है, ऐसे वेदक सम्यग्दृष्टि ने यदि पूर्व मिथ्यात्व अवस्था में आयु का बंध कर लिया है, तो वह चारों गतियों में जा सकता है, परन्तु नरक में जायेगा तो प्रथम नरक में ही जाता है, नीचे के छह नरकों में नहीं जाता। यदि देवों में उत्पन्न होता है तो भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवों में उत्पन्न नहीं होता, वैमानिक देवों में ही उत्पन्न होता है। स्वर्ग में भी देवांगनाओं तथा किल्विष जाति के देवों में उत्पन्न नहीं होता। तिर्यंच गति में एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय में उत्पन्न नहीं होता है तथा कर्मभूमिया तिर्यंचों में उत्पन्न नहीं होता।

बद्धायुष्कचतुष्कोऽप्युपैति सम्यक्त्वमुदितभेदयुतम्।
विरतिद्वितीयं बद्धः स्वर्गायुष्यात्परं नैव ॥३५॥

अन्वयार्थ - **बद्धायुष्कचतुष्कः** - चारों ही आयु का बाँधने वाला। **उदितभेदयुतं** - ऊपर कथित भेद वाले। **सम्यक्त्वं** - सम्यग्दर्शन को। **उपैति** - प्राप्त होता है। **विरतिद्वितीयं** - सकल या विकल दोनों प्रकार के व्रतों से युक्त प्राणी। **स्वर्गायुष्यात्** - स्वर्ग आयु से। **परं** - दूसरी आयु का। **बद्धः** - बंध। **नैव** - नहीं करता है अथवा स्वर्ग आयु से दूसरी आयु का जिसके बंध है, वह देशसंयम और सकलसंयम को प्राप्त नहीं होता है।

अर्थ - चारों ही आयु के बाँधने वाले मिथ्यादृष्टि तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु जिन्होंने देवायु को छोड़कर अन्य आयु का बंध कर लिया है वे देशव्रती और महाव्रती नहीं हो सकते।

भावार्थ - क्षायिक सम्यग्दर्शन का प्रस्थापक (प्रारंभक) तो मनुष्य ही होता है, परन्तु निष्ठापक चारों गतियों के जीव हो सकते हैं। चारों गतियों में नरक गति में केवल प्रथम नरक में प्रथम पाथड़े में ही निष्ठापना करता है, अन्य पृथ्वियों में नहीं।

तिर्यंचों में भोगभूमिज में पुरुषवेदी होता है, स्त्रीवेदी नहीं। मनुष्य गति में कर्मभूमिज मनुष्य प्रारंभक और निष्ठापक दोनों ही होते हैं, परन्तु भोगभूमिज मनुष्य क्षायिक सम्यग्दर्शन के निष्ठापक हो सकते हैं, प्रारंभक नहीं।

देवगति में वैमानिक देव क्षायिक सम्यग्दर्शन के निष्ठापक होते हैं, अन्य भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देव तथा सर्व प्रकार की देवांगनाएँ नहीं। क्योंकि जिन जीवों ने मिथ्यात्व अवस्था में तिर्यंचायु, नरकायु और मनुष्यायु का बंध कर लिया है, तत्पश्चात् क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव मरकर प्रथम नरक के नारक भोगभूमिया तिर्यंच, भोगभूमिया मानव हो सकते हैं, परन्तु स्त्री पर्याय में उत्पन्न नहीं होते। यदि पूर्व में आयुबंध नहीं किया है तो नियम से स्वर्ग के देव होते हैं या मोक्ष में जाते हैं। मोहनीय कर्म की सात कर्मप्रकृतियों के क्षय से उत्पन्न होने वाला यह क्षायिक सम्यग्दर्शन मेरु के समान निष्कम्प, निर्मल, अक्षय और अनन्त होता है।

पुद्गलपरिवर्त्तार्धं परतो व्यालीढवेदकोपशमौ।
वसतः संसाराब्धौ क्षायिकदृष्टिर्भवचतुष्कः ॥३६॥

अन्वयार्थ - **व्यालीढवेदकोपशमौ** - प्राप्त किया है वेदक और उपशम सम्यग्दर्शन को जिन्होंने ऐसे प्राणी। **परतः** - उत्कृष्ट से। **पुद्गलपरिवर्त्तार्धं** - अर्धपुद्गल परिवर्तन तक। **संसाराब्धौ** - संसारसमुद्र में। **वसतः** - रहते हैं। **क्षायिकदृष्टिः** - क्षायिक सम्यग्दृष्टि। **भवचतुष्कः** - उत्कृष्ट चार भव तक संसारसमुद्र में रहता है।

भावार्थ - वेदक सम्यग्दर्शन और उपशम सम्यग्दर्शन हो जाने पर यह अधिक-से-अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन तक संसार में रह सकता है, इसके भीतर-भीतर मोक्ष में चला जाता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि चार भव तक संसार में रह सकता है, इससे अधिक नहीं। कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष में चला जाता है।

सम्यग्दर्शन के भेद और उसका माहात्म्य

अथवा द्वेधा दशधा बहुधा सम्यक्त्वमूनमेतेन।
ज्ञानचरित्रतपो वै नालं संसारमुच्छेत्तुम् ॥३७॥

अन्वयार्थ - **अथवा** - अथवा। **सम्यक्त्वं** - सम्यग्दर्शन। **द्वेधा** - दो प्रकार का। **दशधा** - दश प्रकार का। **बहुधा** - बहुत प्रकार का है। **एतेन** - इस सम्यग्दर्शन से। **ऊनं** - रहित। **ज्ञानचारित्रतपः** - ज्ञान, चारित्र और तप। **वै** - निश्चय से। **संसारं** - संसार को। **उच्छेत्तुं** - नाश करने के लिए। **अलं** - समर्थ। **न** - नहीं है।

भावार्थ - वह सम्यग्दर्शन सराग, वीतराग वा निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। आज्ञा आदि के भेद से दश प्रकार का है। क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है। शब्दों की अपेक्षा संख्यात प्रकार का है तथा श्रद्धान करने वाले की अपेक्षा असंख्यात प्रकार का है और श्रद्धान करने योग्य पदार्थों वा अध्यवसायों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन अनन्त प्रकार का भी है। आज्ञादि दश प्रकार के सम्यग्दर्शन का कथन पूर्व में दसवें श्लोक के अर्थ में किया है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता, किसी प्रकार का सन्देह भी नहीं करता और मिथ्यात्वजन्य अतिशयों को देखकर विस्मय को भी प्राप्त नहीं होता।

यदि मिथ्यात्व अवस्था में आयुबंध कर लिया है, तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है, परन्तु प्रथम नरक के नीचे नहीं जाता। तिर्यंचों में एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, कर्मभूमिया तिर्यंच नहीं हो सकता, पहले आयु का बंध नहीं किया है तो नियम से देव ही होता है। देव, नारकी मरकर कर्मभूमिया मनुष्य होते हैं। मनुष्य, तिर्यंच मरकर स्वर्ग के देव होते हैं।

चारों आयु में से किसी भी आयु का बंध हो जाने पर तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन हो सकते हैं, परन्तु मरते समय उपशम सम्यक्त्व छूट जाता है। यदि द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन है तो मरकर स्वर्गवासी देव हो सकता है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्य मरकर स्वर्ग के देव होते हैं और देव, नारकी मरकर कर्मभूमिया मनुष्य होते हैं।

देवायु को छोड़कर अन्य तीन आयु का बंध हो जाने पर प्राणी देशव्रत और महाव्रत को धारण नहीं कर सकते।

सम्यग्दर्शन जिसके नहीं है उसके ज्ञान, चारित्र और तप संसार का उच्छेद करने में समर्थ नहीं हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान, चारित्र सम्यक्चारित्र और तप सम्यक् तप कहलाता है। वही सम्यग्ज्ञान, चारित्र, तप संसार का उच्छेद करने में समर्थ है।

ज्ञान, चारित्र और तप के आधार का कथन

वृक्षस्य यथा मूलं प्रासादस्य च यथा ह्याधिष्ठानम्।
विज्ञानचरिततपसां तथाहि सम्यक्त्वमाधारः ॥३८॥

अन्वयार्थ - यथा - जैसे। **वृक्षस्य** - वृक्ष का। **आधारः** - आधार। **मूलं** - जड़ है। **यथा** - जैसे। **हि** - निश्चय से। **प्रासादस्य** - प्रासाद (महल) का। **आधारः** - आधार। **अधिष्ठानं** - नींव है। **तथा** - वैसे ही। **विज्ञानचरिततपसां** - विज्ञान, चारित्र और तप का। **आधारः** - आधार। **हि** - निश्चय से। **सम्यक्त्वं** - सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ - वृक्ष का आधार जड़ है, जड़ के कट जाने पर वह वृक्ष फल-फूल एवं छाया देने में समर्थ नहीं रहता है; धराशायी हो जाता है। महल, घर का आधार उसकी नींव है। नींव यदि मजबूत नहीं है तो वह घर स्थिर नहीं रह सकता, गिर जाता है, उसमें मानव नहीं रह सकते। उसी प्रकार ज्ञान, चारित्र और तप का आधार सम्यग्दर्शन है। इसलिए सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान, चारित्र और तप संसार की संतति का उच्छेद करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि समीचीन ज्ञान, चारित्र तथा तप के अभाव में संसारच्छेद नहीं हो सकता और ज्ञान, चारित्र और तप में समीचीनता सम्यग्दर्शन से ही आती है।

सम्यग्दर्शन का माहात्म्य

दर्शननष्टो नष्टो न तु नष्टो भवति चरणतो नष्टः।
दर्शनमपरित्यजतां परिपतनं नास्ति संसारे ॥३९॥

अन्वयार्थ - दर्शननष्टः - दर्शन (सम्यग्दर्शन) से नष्ट (भ्रष्ट) हो। **नष्टः** - नष्ट (भ्रष्ट)। **तु** - परन्तु। **चरणतः** - चारित्र से। **नष्टः** - भ्रष्ट। **नष्टः** - नष्ट। **न** - नहीं है। **दर्शनं** - दर्शन को। **अपरित्यजतां** - नहीं छोड़ने वाले का। **संसारे** - संसार में। **परिपतनं** - परिपतन (भ्रमण)। **नास्ति** - नहीं है।

भावार्थ - सम्यग्दर्शन से रहित प्राणी भ्रष्ट है, संसार में भ्रमण करता रहता है, उसका संसारवास छूट नहीं सकता। चारित्र से भ्रष्ट भ्रष्ट नहीं है क्योंकि उसको दृढ़ विश्वास है कि चारित्र धारण किये बिना

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मुक्ति नहीं होगी। वह एक दिन चारित्र अवश्य धारण करेगा, परन्तु जिसको आत्मा-अनात्मा का हेयोपादेय का भान ही नहीं है, वह संसार से कैसे छूट सकता है ? अत: सम्यग्दर्शन को नहीं छोड़ने वाला संसार में भ्रमण नहीं करता।

सम्यग्दर्शन का माहात्म्य

त्रैलोक्यस्य च लाभाद्दर्शनलाभो भवेत्तरां श्रेष्ठः।
लब्धमपि त्रैलोक्यं परिमितकाले यतश्च्यवते ॥४०॥

निर्वाणराज्यलक्ष्म्याः सम्यक्त्वं कण्ठिकामतः प्राहुः।
सम्यग्दर्शनमेव निमित्तमनन्ताव्ययसुखस्य ॥४१॥

अन्वयार्थ - **त्रैलोक्यस्य** - तीन लोक के। **लाभात्** - लाभ की अपेक्षा। **दर्शनलाभः** - सम्यग्दर्शन का लाभ। **श्रेष्ठः** - श्रेष्ठतर। **भवेत्तरां** - होता है। **यतः** - क्योंकि। **लब्धं** - प्राप्त हुआ। **अपि** - भी। **त्रैलोक्यं** - तीन लोक का राज्य। **परिमित काले** - परिमित काल में। **च्यवते** - नष्ट हो जाता है।

अतः - इसलिए। **सम्यक्त्वं** - सम्यग्दर्शन को। **निर्वाणराज्यलक्ष्म्याः** - निर्वाणराज्यलक्ष्मी का। **कण्ठिकां** - कण्ठाभरण। **प्राहुः** - कहा है। **अनन्ताव्ययसुखस्य** - अनन्त अव्यय सुख का। **निमित्तं** - निमित्त। **सम्यग्दर्शनं** - सम्यग्दर्शन। **एव** - ही है।

अर्थ - तीन लोक की सम्पदा की प्राप्ति से भी श्रेष्ठतर प्राप्ति है सम्यग्दर्शन की। अर्थात् सम्यग्दर्शन तीन लोक की सम्पदा से भी श्रेष्ठ है क्योंकि तीन लोक की सम्पदा परिमित काल तक रहने वाली है, नाशवंत है, परन्तु सम्यग्दर्शन की सम्पदा स्थायी है, नित्य रहने वाली है।

सम्यग्दर्शन ही निर्वाणराज्यलक्ष्मी के कण्ठ का आभूषण है और अनन्त अव्यय सुख का निमित्त है।

यह सम्यग्दर्शन आराधना का स्वरूप है, अत: निरंतर सम्यग्दर्शन की आराधना करनी चाहिए।

यह सम्यग्दर्शन सर्वदुखों का नाश करने वाला है, अत: इसमें प्रमादी मत बनो।

भावार्थ - सम्यक्त्व का आचरण करने वाले धीर पुरुष संख्यात व असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा करते हैं तथा संसारी जीवों की मर्यादा रूप जो सर्वदुख हैं उनका नाश करते हैं।

जिनोपदिष्ट सम्यग्दर्शन को अन्तरंग भावों से धारण करो, क्योंकि यह सर्वगुणों में और रत्नत्रय में सार है तथा मोक्षमन्दिर की प्रथम सीढ़ी है।

जिस प्रकार भाग्यशाली मनुष्य कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न और रसायन को प्राप्त कर मनोवांछित सुख को प्राप्त होता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से भव्य जीवों के सर्व प्रकार के सर्वोत्कृष्ट सुख

व समस्त प्रकार के भोगोपभोग स्वयमेव प्राप्त होते हैं, सम्यग्दर्शन को यह जीव जब प्राप्त हो जाता है, तब परम सुखी हो जाता है और जब तक उसे प्राप्त नहीं करता, तब तक दुःखी बना रहता है।

तीन काल और तीन जगत् में जीवों के लिए सम्यक्त्व के समान कुछ भी कल्याणकारी नहीं है, मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी नहीं है। शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव कान्ति, प्रताप, विद्या, वीर्य, यशोवृद्धि, विजय, विभव, उच्चकुल, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के साधक तथा मनुष्यों में शिरोमणि होते हैं।

॥ इति सम्यग्दर्शनाराधना ॥

❖ ❖ ❖

२. सम्यग्ज्ञानाराधना

दर्शनोपयोग

दर्शयति यत्पदार्थानन्तर्ज्योतिः प्रकाशवज्ज्ञानात्।
पूर्वमनाकारं तच्चैतन्यं दर्शनं विन्द्यात्॥४२॥

अन्वयार्थ - **यत्** - जो। **अन्तर्ज्योतिः** - अन्तर्ज्योति। **प्रकाशवत्** - प्रकाश के समान। **ज्ञानात्** - ज्ञान से। **पूर्वं** - पहले। **पदार्थान्** - पदार्थों को। **दर्शयति** - दिखाती है। **तत्** - उस। **अनाकारं** - अनाकार। **चैतन्यं** - आत्मा के उपयोग को। **दर्शनं** - दर्शन। **विन्द्यात्** - समझो।

अर्थ - ज्ञान के पूर्व जो अन्तर्ज्योति प्रकाश के समान पदार्थों का अवलोकन कराती है, वह अनाकार चैतन्यभाव **दर्शनोपयोग** कहलाता है।

सम्यग्ज्ञान आराधना के कथन में आचार्यदेव ने सर्वप्रथम दर्शनोपयोग का कथन किया है। यह दर्शनोपयोग छद्मस्थों के ज्ञान के पूर्व होता है तथा अनाकार होता है क्योंकि ज्ञान साकार उपयोग है और दर्शन अनाकार उपयोग है। यह दर्शन अन्तश्चित्प्रकाशक है।

"अन्तश्चित् प्रकाश को दर्शन और बहिश्चित्प्रकाश को ज्ञान कहते हैं।"[१]

जो आलोकन करता है उसको आलोकन या आत्मा कहते हैं और वर्तन अर्थात् वृत्ति को आत्मा (आलोक) की वृत्ति कहते हैं। आत्मा की वृत्ति अर्थात् आत्मवेदन रूप व्यापार को आलोकनवृत्ति या स्वसंवेदन कहते हैं और उसी को दर्शन कहते हैं।[२]

बाह्य अर्थ को ग्रहण करने के पूर्व जो विशिष्ट आत्मस्वरूप का वेदन होता है, उसको दर्शन कहते हैं।

विषय-विषयी का सन्निपात होना दर्शन है अथवा प्रकाशवृत्ति को दर्शन कहते हैं। प्रकाश ज्ञान को कहते हैं और उस ज्ञान के लिए जो आत्मा का व्यापार होता है, उस प्रकाशवृत्ति को दर्शन कहते हैं।

---

१. ध. १/१.१.४ २. ध. १/१.१.४

दर्शनोपयोग में सामान्य-विशेषात्मक पदार्थों के आकारविशेष को ग्रहण न करके केवल निर्विकल्प रूप से अंश का या स्वरूप मात्र का सामान्य ग्रहण होता है। किसी भी आकारविशेष का इसमें ग्रहण नहीं है, अतः यह अनाकार है।

इस उपयोग में शुक्ल, कृष्ण इत्यादि का विकल्प नहीं होता, अतः यह निर्विकल्प है।

छद्मस्थ जीवों को दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है परन्तु केवली भगवान के ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं।

दर्शनोपयोग के भेद

तच्चक्षुरादिदर्शनभेदात् प्रविकल्प्यमानमाप्नोति।
चातुर्विध्यमनेकप्रभेद-संदोह-संयुक्तम् ॥४३॥

अन्वयार्थ - तत् - वह दर्शनोपयोग। **चक्षुरादिदर्शनभेदात्**- चक्षु आदि दर्शन के भेद से। **चातुर्विध्यं** - चार प्रकार का और **प्रविकल्प्यमानं** - प्रविकल्प्यमान। **अनेकप्रभेदसंदोहसंयुक्तं** - अनेक प्रकार के प्रभेद के सन्दोह से संयुक्त को। **आप्नोति** - प्राप्त होता है।

अर्थ - यह दर्शनोपयोग चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के भेद से चार प्रकार का है। ये चारों भेद अनेक भेदों के समूह से संयुक्त हैं अर्थात् इन चारों के अन्तर्गत अनेक भेद हैं। जिस प्रकार ज्ञानोपयोग पाँच प्रकार का है, परन्तु उनके उत्तर भेद अनेक हैं, उसी प्रकार दर्शनोपयोग के भी अनेक भेद हैं। जैसे अचक्षुदर्शन के स्पर्शन अचक्षुदर्शन, रसना अचक्षुदर्शन, घ्राणअचक्षुदर्शन, कर्णअचक्षुदर्शन, मानसिक अचक्षुदर्शन आदि अनेक भेद से युक्त दर्शनोपयोग है। इसी विषय को सूचित करने के लिए आचार्यदेव ने 'अनेक प्रभेद संदोह संयुक्त' कहा है। अथवा मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हैं, उन तीन सौ छत्तीस भेदरूप ज्ञान के पूर्व होने वाला चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन भी तीन सौ छत्तीस प्रकार का हो सकता है।

चक्षुदर्शन का लक्षण

चक्षुर्ज्ञानात्पूर्वं प्रकाशरूपेण विषयसंदर्शी।
यच्चैतन्यं प्रसरति तच्चक्षुर्दर्शनं नाम ॥४४॥

अन्वयार्थ - चक्षुज्ञानात् - चक्षु ज्ञान से। **पूर्वं** - पूर्व (पहले) **प्रकाशरूपेण** - प्रकाश रूप से। **विषयसंदर्शी** - विषय को दिखाने वाला। **यत्** - जो। **चैतन्यं** - आत्मा का। **प्रसरति** - व्यापार होता है। **तत्** - वह। **चक्षुर्दर्शनं नाम** - चक्षुदर्शन कहलाता है।

अर्थ - जिस प्रकार प्रकाश वस्तु को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार प्रकाश रूप से चक्षुज्ञान के पूर्व विषयों को दिखाता है, अवलोकन कराता है। चैतन्य के सम्मुख उपयोग होता है, उसको चक्षु दर्शन कहते हैं।

"चक्षु दर्शनावरण के क्षयोपशम से और चक्षु इन्द्रिय के अवलम्बन से मूर्त पदार्थों का विकल रूप (एकदेश) से जो सामान्य अवबोध कराता है, वह चक्षु दर्शन है।"[१]

जो चक्षु से प्रकाशित होता है, दिखता है अथवा चक्षु के द्वारा देखा जाता है, वह चक्षु दर्शन है अर्थात् चक्षुइन्द्रियज्ञान के पूर्व जो सामान्य स्वशक्ति का अनुभव होता है, जो चक्षुज्ञान की उत्पत्ति का निमित्त है वह चक्षुदर्शन है।[२] चक्षु दर्शन और चक्षु ज्ञान में निमित्त-नैमित्तिक वा कारण-कार्य सम्बन्ध है। इसमें चैतन्य शब्द का प्रयोग होने से यह चैतन्य का स्वरूप है, ऐसा जाना जाता है।

अचक्षु दर्शन का लक्षण

शेषेन्द्रियावबोधात् पूर्वं तद्विषयदर्शियज्ज्योतिः।
निर्गच्छति तदचक्षुर्दर्शनसंज्ञं स्वचैतन्यम्॥४५॥

अन्वयार्थ - **शेषेन्द्रियावबोधात्** - चक्षु इन्द्रिय को छोड़ कर शेष इन्द्रिय और मन सम्बन्धी ज्ञान के। **पूर्वं** - पूर्व। **तद्विषयदर्शि** - उस विषय की दर्शक। **यत्** - जो। **ज्योतिः** - ज्योति। **निर्गच्छति** - निकलती, उत्पन्न होती है। **तत्** - वह। **अचक्षुर्दर्शनसंज्ञं** - अचक्षुदर्शन नामक। **स्वचैतन्यं** - आत्मा का उपयोग है।

अर्थ - स्पर्शन, रसना, घ्राण, कर्ण और मन से विकसित होने वाले ज्ञान के पूर्व जो उन इन्द्रियों के विषयों का प्रकाशित करने वाली ज्योति (आत्मा का व्यापार) प्रगट होती है, वह अचक्षुदर्शन उपयोग है।

चक्षु इन्द्रिय को छोड़कर शेष इन्द्रियों के आवरण का क्षयोपशम होने पर स्पर्शन, रसना, घ्राण, कर्ण और मन के अवलम्बन से मूर्त एवं अमूर्त द्रव्यों को विकल्परूप (एकदेश) से जो सामान्यतः अवबोध कराता है, वह अचक्षु दर्शन है। अर्थात् चक्षु इन्द्रिय को छोड़कर शेष इन्द्रियों के ज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व ही अपने विषय में प्रतिबद्ध स्वशक्ति अचक्षुज्ञान की उत्पत्ति में निमित्तभूत जो सामान्य से संवेदन या अनुभव होता है, वह अचक्षु दर्शन है।

शंका - किसी स्थल पर वस्तु के सामान्य अवलोकन को दर्शन कहा है और कहीं पर आत्मसंवेदन या आत्मग्राहक को दर्शन कहा है, इन दोनों में सामंजस्य कैसे है ?

उत्तर - यदि सिद्धान्त के अर्थ को जानकर, एकान्त दुराग्रह का त्यागकर नय विभाग से मध्यस्थता धारण करके व्याख्यान करता है तब तो सामान्य अवलोकन एवं आत्मग्राहक ये दोनों ही अर्थ घटित हो जाते हैं। क्योंकि तर्कशास्त्र में मुख्यता से अन्य मत को दृष्टि में रखकर कथन किया जाता है। इसलिए उसमें यदि कोई अन्य मतावलम्बी जैनाचार्य से पूछता है कि जैन सिद्धान्त में जीव के दर्शन और ज्ञान ये दो गुण माने गए हैं, वे कैसे घटित होते हैं ? तब उसके उत्तर में यदि उसे कहा जाए कि "आत्मग्राहक दर्शन है"

१. पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति गा. ४२। २. ध. ७/२.१.५६

तो उसके समझ में नहीं आयेगा। तब आचार्यदेव ने उसको प्रतीति कराने के लिए विस्तृत व्याख्यान से जो बाह्य विषय में सामान्य जानना है, उसका नाम 'दर्शन' स्थापित किया है और जो यह सफेद है, यह कृष्ण है, इत्यादि रूप से बाह्य में विशेष का जानना है, उसका नाम ज्ञान कहा गया है। ज्ञान में समीचीन और असमीचीनपना है, दर्शन में नहीं क्योंकि ज्ञान में यह कृष्ण है, श्वेत है, आदि विकल्प हैं। विकल्प असमीचीन भी हो सकते हैं, अत: ज्ञान में सम्यग्, असम्यग्पना है, परन्तु दर्शन में विकल्प नहीं है इसलिए दर्शन में सम्यग्पना - असम्यग्पना नहीं है। सामान्य का दूसरा अर्थ आत्मा भी है अत: सामान्य (आत्माभिमुखी) परिणाम भी दर्शन है।

अवधिदर्शन लक्षण

अवधिज्ञानात्पूर्वं रूपिपदार्थावभासि यज्ज्योति:।
प्रविनिर्याति स्वस्मान्नाम्नावधिदर्शनं तत्स्यात्॥४६॥

अन्वयार्थ - अवधिज्ञानात् - अवधिज्ञान से। **पूर्वं** - पूर्व। **रूपिपदार्थावभासि** - रूपी पदार्थों का अवभास कराने वाली। **यत्** - जो। **ज्योति:** - ज्योति। **स्वस्मात्** - अपने आप से। **प्रविनिर्याति** - निकलती है। **तत्** - वह ज्योति। **नाम्नावधिदर्शनं** - नाम से अवधिदर्शन। **स्यात्** - होता है।

अर्थ - अवधिज्ञान के पूर्व जो सामान्य अवलोकन होता है, वह अवधिदर्शन है। अवधिदर्शनावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर बिना किसी इन्द्रियों के अवलम्बन से मूर्त्तिक द्रव्य का विकल्प रूप से (एकदेश रूप) सामान्यत: अवबोध करता है, सामान्यत: वस्तु का अवलोकन होता है, वह अवधिदर्शन कहलाता है।

परमाणु से लेकर अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त जो पुद्गल द्रव्य स्थित है, उसके प्रत्यक्ष ज्ञान के पूर्व अवधिज्ञान का निमित्तभूत स्वशक्ति विषयक उपयोग होता है, वह अवधिदर्शन कहलाता है। अर्थात् सर्व लघु परमाणु से आदि लेकर सर्व महान् अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त जितने मूर्त्तिक द्रव्य हैं, उनका अवधिज्ञान के पूर्व प्रत्यक्ष सामान्य निराकार अवलोकन करता है, वह अवधि दर्शन है।

यह अवधिदर्शन आत्मा से होता है, इन्द्रियों का अवलम्बन नहीं लेता है, अत: **स्वस्मात्** यह शब्द दिया गया है।

केवलदर्शन का लक्षण

केवलबोधनविषयप्रकाशि यज्ज्योतिरात्मनो नि:सृतम्।
तत्केवलदर्शनमिति वदन्ति नि:शेषतत्त्वविद:॥४७॥

अन्वयार्थ - केवलबोधनविषयप्रकाशि - केवलज्ञान के विषय को प्रकाशित करने वाली। **यत्** - जो। **आत्मन:** - आत्मा से। **ज्योति:** - ज्योति। **नि:सृतं** - निकलती है। **तत्** - उसको। **नि:शेषतत्त्वविद:** - सम्पूर्ण तत्त्वों को जानने वाले केवली भगवान। **केवलदर्शनं** - केवलदर्शन। **इति** - इस प्रकार। **वदन्ति** - कहते हैं।

अर्थ - जो केवलज्ञान के विषय को प्रकाशित करने वाली आत्मा की ज्योति प्रगट होती है, उसको सर्वज्ञ भगवान केवलदर्शन कहते हैं। केवलदर्शनावरण कर्म के अत्यन्त क्षय हो जाने पर केवल आत्मशक्ति से मूर्त्त, अमूर्त्त द्रव्यों को सकल रूप से सामान्यत: अवलोकन करता है, प्रकाशित करता है, वह स्वाभाविक केवलदर्शन है।

बहुत जाति के, बहुत प्रकार के चन्द्र-सूर्य आदि के उद्योत तो परिमित क्षेत्र में ही पाये जाते हैं अर्थात् ये थोड़े ही पदार्थों को अल्प परिमाण में प्रकाशित करते हैं, किन्तु केवलदर्शन रूप जो उद्योत है, वह लोक और अलोक को भी प्रकाशित करता है। सर्व चराचर जगत् को स्पष्ट देखता है।

ज्ञान और दर्शन में कार्य-कारण भाव का कथन

दृक्पूर्वं एव बोधः कारणकार्यत्वदर्शनात्तु तयोः।
तदपि च्छद्मस्थानां क्रमोपयोगप्रवृत्तेः स्यात्॥४८॥

अन्वयार्थ - **तयोः** - दर्शन और ज्ञान में। **कारणकार्यत्वदर्शनात्** - कारण - कार्य भाव दृष्टिगोचर होने से। **दृक्पूर्व** - दर्शन पूर्वक। **एव** - ही। **बोधः** - ज्ञान होता है। **तदपि** - फिर भी। **छद्मस्थानां** - छद्मस्थों के। **क्रमोपयोगप्रवृत्तेः** - क्रम से उपयोग की प्रवृत्ति। **स्यात्** - होती है।

अर्थ - दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है क्योंकि दर्शन और ज्ञान में कारण - कार्यभाव देखा जाता है अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति में दर्शन कारण होता है, ज्ञान उसका कार्य है। वह उपयोग छद्मस्थ अवस्था में क्रम से प्रवृत्त होता है। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन क्षयोपशमयुक्त होने से प्रथम दर्शन होता है, तदनन्तर ज्ञान होता है अर्थात् छद्म ज्ञानावरण और दर्शनावरण को कहते हैं। दर्शनावरण और ज्ञानावरण से युक्त जीव को छद्मस्थ कहते हैं। उस छद्मस्थ के दर्शनोपयोग एवं ज्ञानोपयोग एक साथ नहीं होते हैं। क्रम से प्रथम दर्शनोपयोग होता है, तत्पश्चात् ज्ञानोपयोग होता है।

केवली दर्शनोपयोग की व्यवस्था

केवलदर्शनबोधौ समस्तवस्तुप्रभासिनौ युगपत्।
दिनकृत्प्रकाशतापवदावरणाभावतो नित्यम्॥४९॥

अन्वयार्थ - **दिनकृत्प्रकाशतापवत्** - सूर्य के प्रकाश और ताप के समान। **आवरणाभावतः** - आवरण का अभाव हो जाने से। **समस्तवस्तुप्रभासिनौ** - समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करने वाले। **केवलदर्शनबोधौ** - केवलदर्शन और ज्ञान। **युगपत्** - एक साथ होते हैं वे। **नित्यं** - नित्य हैं।

अर्थ - जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर उसका प्रकाश और ताप दोनों एक साथ होते हैं, उसमें समयभेद नहीं है; उसी प्रकार पूर्ण रूप से दर्शनावरण और ज्ञानावरण का अभाव हो जाने से, एक साथ तीन लोक के चराचर पदार्थों का अवलोकन करने वाले केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोग एक साथ ही होते हैं। छद्मस्थ जीवों के पहले दर्शन और फिर ज्ञान होता है, वैसे केवली के क्रमपूर्वक दर्शन और ज्ञान नहीं होते, एक साथ ही होते हैं।

गुणस्थानों में दर्शन का अस्तित्व

चतुरिन्द्रियादिनष्टकषायान्तं प्रथमदर्शनं विन्द्यात्।
एकेन्द्रियादिनष्टकषायान्तं स्याद् द्वितीयं च॥५०॥
अविरतसम्यग्दृष्ट्याद्या क्षीणकषायमवधिदर्शनकम्।
केवलिनोः सिद्धानां चतुर्थकं स्यादिति प्राहुः॥५१॥

अन्वयार्थ - चतुरिन्द्रियादिनष्टकषायान्तं - चार इन्द्रिय से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त प्रथम (चक्षु) दर्शन। **विंद्यात्** - जानना चाहिए। **च** - और। **एकेन्द्रियादिनष्टकषायान्तं** - एकेन्द्रिय से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त गुणस्थान तक। **द्वितीयं** - दूसरा (अचक्षु) दर्शन। **स्यात्** - होता है। **अविरत - सम्यग्दृष्ट्याद्या** - चतुर्थ गुणस्थान से लेकर। **क्षीणकषायं** - क्षीणकषायगुणस्थान - पर्यन्त। **अवधिदर्शनकं** - अवधिदर्शन। **केवलिनोः** - दोनों केवलियों के। **सिद्धानां** - सिद्धों के। **चतुर्थकं** - चौथा (केवल) दर्शन। **स्यात्** - होता है। **इति** - इस प्रकार। **प्राहुः** - कहा है।

अर्थ - चक्षुदर्शन चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के होता है। गुणस्थान की अपेक्षा चक्षुदर्शन प्रथम गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होता है। अचक्षुदर्शन एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सर्व जीवों के होता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त अवधिदर्शन का अस्तित्व रहता है।

सयोगकेवली, अयोगकेवली और सिद्धों के केवलदर्शन होता है।

दर्शन का काल

प्रथमतृतीये कालः सादिः सान्तो द्वितीयकेऽनादिः।
सान्तोऽनन्तश्च भवेच्चतुर्थके साद्यनन्तः स्यात्॥५२॥

अन्वयार्थ - प्रथमतृतीये - प्रथम और तृतीय (चक्षु एवं अवधि) दर्शन का। **कालः** - काल। **सादिः** - सादि। **सान्तः** - सान्त है। **द्वितीयके** - दूसरे (अचक्षु) दर्शन का। **अनादिः** - अनादि। **सान्तः** - सान्त। **च** - और। **अनन्तः** - अनन्त। **भवेत्** - होता है। **चतुर्थके** - चतुर्थ (केवल) दर्शन का काल। **साद्यनन्तः** - सादि और अनन्त। **स्यात्** - होता है।

अर्थ - चक्षुदर्शन और अवधिदर्शन सादि हैं क्योंकि चक्षुदर्शन चतुरिन्द्रिय जीव से ही प्रारंभ होता है और चतुरिन्द्रिय अनादि नहीं है क्योंकि जीव की अनादिकालीन पर्याय तो एकेन्द्रिय है। चक्षुदर्शन अनन्त काल तक रहने वाला नहीं है, इसलिए सान्त (अन्तसहित) है। अवधिदर्शन भी सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानी जीव के ही होता है, अतः यह भी सादि है और अवधिज्ञान अनन्तकाल तक रहता नहीं है अतः सान्त है। इसी प्रकार अवधिज्ञान के पूर्व होने वाला अवधिदर्शन भी सान्त है।

अचक्षुदर्शन एकेन्द्रिय से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यन्त होता है। जीव की एकेन्द्रिय पर्याय

अनादिकालीन है अर्थात् एकेन्द्रिय निगोद पर्याय में जीव अनादि काल से रह रहा है, अत: अचक्षु दर्शन अनादि है। जो भव्य संसारावस्था को छोड़कर मुक्तिपद को प्राप्त कर लेता है, उसकी अपेक्षा यह सान्त है। जो अभव्य हैं, कभी मोक्षपद प्राप्त नहीं करेंगे, उनकी अपेक्षा अनन्त है। अत: अचक्षुदर्शन अनादि, सान्त वा अनन्त है। चतुर्थ केवलदर्शन सादि अनन्त है। क्योंकि केवलदर्शन, अनादिकालीन तो है नहीं इसलिए सादि है और इसका नाश भी नहीं होता, इसलिए अनन्त है।

इस प्रकार आचार्यदेव ने ज्ञान आराधना के प्रकरण में दर्शनोपयोग का कथन किया है क्योंकि दर्शन भी चेतनागुण का भेद है। अत: ज्ञान आराधना में गर्भित है।

जीव की चैतन्यशक्ति दर्पण की स्वच्छत्व शक्तिवत् है। जैसे बाह्य पदार्थों के प्रतिबिम्बों के बिना का दर्पण पाषाण है, उसी प्रकार ज्ञेयाकारों के बिना की चेतना जड़ है। दर्पण की निजी स्वच्छतावत् चेतन का निजी प्रतिभास दर्शन है और दर्पण के प्रतिबिम्बोंवत् चेतना में पड़े ज्ञेयाकार ज्ञान हैं। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब - विशिष्ट - स्वच्छता परिपूर्ण दर्पण है, उसी प्रकार ज्ञान-विशेष्ट दर्शन परिपूर्ण चेतना है। दर्शन रूप अन्तरचित्प्रकाश तो सामान्य व निर्विकल्प है और ज्ञानरूप बाह्य चित्प्रकाश विशेष व सविकल्प है। यद्यपि दर्शन सामान्य होने के कारण एक है, परन्तु सामान्य जन को समझाने के लिए उसके चक्षु आदि भेद कर दिये गये हैं। जिस प्रकार दर्पण को देखने पर तो दर्पण व प्रतिबिम्ब दोनों युगपत् दिखाई देते हैं, परन्तु पृथक्-पृथक् पदार्थों को देखने से आगे - पीछे दिखाई देते हैं। इसी प्रकार आत्मसमाधि में लीन महायोगियों को तो दर्शन व ज्ञान युगपत् प्रतिभासित होते हैं, परन्तु लौकिकजनों को वे क्रम से होते हैं। यद्यपि सभी संसारी जीवों को इन्द्रियज्ञान से पूर्व दर्शन अवश्य होता है, परन्तु क्षणिक व सूक्ष्म होने के कारण उसकी पकड़ वे कर नहीं पाते। समाधिगत योगी उसका प्रत्यक्ष करते हैं। निज स्वरूप का परिचय या स्वसंवेदन दर्शनोपयोग से ही होता है, इसलिए सम्यग्दर्शन में श्रद्धा शब्द का प्रयोग न करके दर्शन शब्द का प्रयोग किया है। चेतना दर्शन व ज्ञान स्वरूप होने के कारण ही सम्यग्दर्शन को सामान्य और सम्यग्ज्ञान को विशेष धर्म कहा है।

शंका - यदि छद्मस्थों का ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है तो मतिदर्शन, श्रुतदर्शन और मन:पर्यय दर्शन भी होना चाहिए ?

उत्तर - मतिज्ञान इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है, अत: चक्षु और अचक्षु दर्शन मतिदर्शन हैं क्योंकि चक्षु इन्द्रिय ज्ञान के पूर्व चक्षुदर्शन और शेष इन्द्रिय और मन से होने वाले मतिज्ञान के पूर्व अचक्षुदर्शन होता है। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, उसके पूर्व चक्षु, अचक्षु दर्शन होता है, अन्य दर्शन की आवश्यकता नहीं है। मन:पर्यय ज्ञान, ईहा मतिज्ञानपूर्वक होता है उसमें भी दर्शन की आवश्यकता नहीं है अर्थात् मति दर्शनही उसमें कारण है क्योंकि यह ज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है।

प्रमाण का लक्षण

जानाति यत्पदार्थान् साकारं निश्चयेन तज्ज्ञानम्।
ज्ञायन्ते वा येन ज्ञप्तिर्वा तत्प्रमाणाख्यम् ॥५३॥

अन्वयार्थ - **यत्** - जो। **निश्चयेन** - निश्चय से। **पदार्थान्** - पदार्थों को। **जानाति** - जानता है। **वा** - अथवा। **येन** - जिसके द्वारा पदार्थ। **ज्ञायते** - जाना जाता है। **वा** - अथवा। **ज्ञप्तिः** - ज्ञप्ति होती है। **तत्** - वह। **ज्ञानं** - ज्ञान है। **तत्** - वही। **प्रमाणाकृतं** - प्रमाण है।

अर्थ - जो जानता है, वह ज्ञान है; यह कर्तृसाधन है। जिसकी सहायता से आत्मा पदार्थों को जानता है वा जिसके द्वारा जाना जाता है, वह ज्ञान है। यह करण साधन है। जानना मात्र ज्ञान है, यह भाव साधन है।

एवंभूत नयकी दृष्टि से ज्ञानक्रिया में परिणत आत्मा ही ज्ञान है क्योंकि वह ज्ञानस्वभावी है। यद्यपि ज्ञान और आत्मा में संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद है तथापि इनमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा भेद नहीं है। ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है। गुण गुणी में प्रदेशभेद नहीं होता। अतः आत्मा ही ज्ञान है।

हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ होता है, वह प्रमाण कहलाता है, वह वास्तव में ज्ञान ही है। अतः ज्ञान ही प्रमाण है। तत्त्वार्थ सूत्र में भी **'तत्प्रमाणे'** (१/१०) ज्ञान को ही प्रमाण कहा है।

ज्ञान के भेदों का कथन

तद् वै मतिश्रुतावधिधीपर्ययकेवलाख्यभेदेन।
भिन्नं पञ्चविकल्पं भवतीति वदन्ति विद्वांसः ॥५४॥

अन्वयार्थ - **वै** - निश्चय से अथवा (वै शब्द) पादपूर्ति हेतु भी है। **तत्** - वह ज्ञान। **मतिश्रुतावधिधीपर्ययकेवलाख्यभेदेन** - मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल नाम के भेद से। **भिन्नं** - भिन्न। **पंचविकल्पं** - पाँच विकल्पवाला। **भवति** - होता है। **इति** - इस प्रकार। **विद्वांसः** - विद्वान् लोग (ज्ञानीजन)। **वदन्ति** - कहते हैं।

अर्थ - ज्ञानियों का कथन है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान के भेद से ज्ञान पाँच प्रकार का है।

अज्ञान के नाशक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान रूप पाँच प्रकार के ज्ञान की भावना से जीव स्वर्ग और मोक्ष सुख का भाजन होता है।

सम्यग्ज्ञान आराधना से अपने जीवन में अवश्य ही वह ज्योति प्रकट होगी जिसके प्राप्त होने से नियम से स्वात्मोपलब्धि, शिवसौख्यसिद्धि की प्राप्ति होगी।

आत्मशांति का कारण ज्ञान के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। सारे विकल्प कलंक मिटाने का उपाय सम्यग्ज्ञान ही है।

मतिज्ञान का लक्षण और उसके भेद

इन्द्रियमनोभिरभिमुखनियमितरूपेण वस्तुविज्ञानम्।
भवति मतिज्ञानं तत् षट् त्रिंशत् त्रिशतभेदयुतम्॥५५॥

इन्द्रियमनसां षण्णां प्रत्येकमवग्रहादयो भेदाः॥
चत्वारस्तत्राद्यो द्विविधोऽर्थव्यञ्जनविकल्पात्॥५६॥

चक्षुर्मनसोर्नास्ति व्यञ्जनभेदः पृथक् पृथक् तेषाम्।
बहुबहुविधादिभेदाद् द्वादश निर्दर्शितास्तज्ज्ञैः॥५७॥

अथवा द्वित्रिचतुः पञ्चादिविकल्पैर्विकल्प्यमानं तत्।
संख्यातासंख्यातप्रभेदसंघातमाप्नोति॥५८॥

अन्वयार्थ - **इन्द्रियमनोभिः** - इन्द्रिय और मन के द्वारा। **अभिमुखनियमितरूपेण** - अभिमुख नियमित रूप से। **वस्तुविज्ञानं** - वस्तु का विज्ञान। **भवति** - होता है। **तत्** - वह। **षट्त्रिंशत्** - छत्तीस। **त्रिशतभेदयुतं** - तीन सौ भेदों से युक्त। **मतिज्ञानं** - मतिज्ञान। **भवति** - होता है। **षण्णां** - छहों। **इन्द्रियमनसां** - इन्द्रिय और मन के। **प्रत्येकं** - प्रत्येक के। **अवग्रहाद्याः** - अवग्रहादि। **चत्वारः** - चार। **भेदाः** - भेद। **तत्र** - उन चारों में। **आद्यः** - आदि (अवग्रह)। **अर्थव्यंजन-विकल्पात्** - अर्थ और व्यञ्जन के विकल्प से। **द्विविधः** - दो प्रकार का है। **चक्षुर्मनसोः** - चक्षु और मन के द्वारा। **व्यञ्जनभेदः** - व्यञ्जनावग्रह। **नास्ति** - नहीं है। **तज्ज्ञैः** - श्रुतज्ञान को जानने वाले महापुरुषों ने। **तेषां** - उन अवग्रह आदि के। **पृथक् पृथक्** - पृथक् पृथक्। **बहुबहुविधादिभेदात्** - बहुबहुविध आदि के भेद से। **द्वादश** - बारह प्रकार का। **निर्दर्शिताः** - कहा है। **अथवा** - अथवा। **द्वित्रिचतुपंचादिविकल्पैः** - दो, तीन, चार, पाँच आदि विकल्पों के द्वारा। **विकल्प्यमानं** - विकल्प्यमान। **तत्** - वह मतिज्ञान। **संख्यातासंख्यातप्रभेदसंघातं** - संख्यात एवं असंख्यात भेदों के समूह को। **आप्नोति** - प्राप्त होता है।

अर्थ - मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मन के अवलम्बन से शब्द, रस, स्पर्श, गन्ध आदि विषयों में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप ज्ञान होता है, वह मतिज्ञान है। उसके तीन सौ छत्तीस भेद हैं।

ज्ञान के द्वारा जानने योग्य पदार्थ एक, एकविध, बहु, बहुविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, निसृत, अनिसृत, उक्त, अनुक्त, ध्रुव और अध्रुव ये १२ प्रकार के हैं। उनको जानने वाला ज्ञान भी १२ प्रकार का है।

इन १२ प्रकार के पदार्थों को ग्रहण करने के लिए अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप मतिज्ञान के चार भेद हैं।

विषय (पदार्थ) विषयी (इन्द्रियों) का सन्निपात होने पर वस्तु मात्र का सामान्य आलोचन रूप दर्शन होता है।

दर्शन के बाद यह स्पर्श है, गंध है, रस है, शब्द रूप है इत्यादि ज्ञान होता है, वह अवग्रह कहलाता है।

अवग्रह के अनन्तर यह गंध किसकी है ? यह कृष्ण वस्तु क्या है ? इत्यादि रूप से संशय उत्पन्न होता है, उसका निवारण करने के लिए, वस्तु का निर्णय करने की जो विशेष आकांक्षा उत्पन्न होती है, वह ईहा ज्ञान है।

ईहा के बाद जो वस्तु का निर्णय होता है कि यह शुक्ल पताका है, बगुला नहीं है, यह अवाय ज्ञान है। अवाय के द्वारा निर्णीत वस्तु को कालान्तर में नहीं भूलना धारणा ज्ञान है।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों ज्ञान एकादि के भेद से १२ प्रकार के होते हैं।

एक वस्तु को ग्रहण करना वा एक व्यक्ति रूप पदार्थ को ग्रहण करना **एक** कहलाता है। एक प्रकार के पदार्थ को ग्रहण करना **एकविध** है अथवा एक व्यक्ति को ग्रहण करना एक है और एक जाति को ग्रहण करना एकविध है। जैसे अल्प श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से 'तत' 'वितत' आदि में से किसी एक शब्द को सुनकर ग्रहण करता है, वह एकविध अवग्रह है।

'बहु' शब्द संख्यावाची और वैपुल्यवाची दोनों प्रकार का है। इन दोनों को यहाँ ग्रहण किया गया है क्योंकि संख्यावाची बहुवचन में और वैपुल्यवाची बहुवचन में कोई विशेषता नहीं है। संख्यावाची 'बहु' शब्द जैसे एक, दो, तीन आदि। वैपुल्यवाची 'बहु' शब्द जैसे बहुत से गेहूँ, बहुत से चावल आदि। 'विध' शब्द प्रकारवाची है। जैसे बहुत प्रकार के घोड़े, हाथी या गेहूँ, चावल आदि। **संख्या** में सौ, दो सौ, चार सौ या संख्यात, असंख्यात आदि अनेक प्रकार से संख्या का ग्रहण होता है।

श्रोत्रेन्द्रियावरण का प्रकृष्ट क्षयोपशम होने पर युगपत् (एक साथ) तत, वितत, घन, सुषिर आदि बहुत शब्दों को सुनता है, वह बहु का ज्ञान है और तत, वितत आदि शब्दों के एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात, अनन्त प्रकारों को ग्रहण कर बहुविध शब्दों को जानता है, वह श्रोत्रेन्द्रिय सम्बन्धी, बहु, बहुविध अवग्रह ज्ञान का लक्षण है। इसी प्रकार रसना आदि इन्द्रियों में लगाना चाहिए। जैसे किसी ने दूर से आने वाली गाने की आवाज सुनी। यह गाने की आवाज है, यह कर्णज **अवग्रह** मतिज्ञान है, दूसरे यह कौनसे गाने की आवाज है, या कौन गा रहा है, किसकी आवाज है, इस प्रकार जानने की अभिलाषा **ईहा** मतिज्ञान है। तदनन्तर निर्णय कर लेना कि यह गाना है, इस प्रकार का है, इस आदमी की आवाज है, यह **अवाय** है तथा अवाय के द्वारा निर्णीत ज्ञान को कालान्तर में नहीं भूलना **धारणा** ज्ञान है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों और मन में भी लगाना चाहिए।

प्रश्न - बहु और बहुविध में क्या अन्तर है ?

उत्तर - इनमें एक प्रकार और अनेक प्रकार की अपेक्षा अन्तर है। एकविध में एक जाति की वस्तु का ग्रहण होता है। 'बहु' में बहुत सी जातियों का ग्रहण है। बहुविध में बहुत प्रकार की जातियों का ग्रहण

होता है। अर्थात् **बहु** में प्रकार भेद इष्ट नहीं है, **बहुविध** में प्रकार भेद इष्ट है। जैसे कोई शास्त्रज्ञ शास्त्रों का सामान्य रूप से व्याख्यान करता है, बहुत प्रकार के विशेष अर्थों के द्वारा नहीं करता और दूसरा शास्त्रज्ञ उसी शास्त्र का बहुत प्रकार के अर्थों के द्वारा अनेक दृष्टान्तों के साथ विशेष व्याख्यान करता है। जैसे तत, वितत आदि शब्दों के ग्रहण में विशेषता न होते हुए भी जो उनमें प्रत्येक 'तत' आदि शब्दों के ग्रहण में एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण रूप से परिणत शब्दों का ग्रहण है, वह बहुविध ग्रहण है और जो सामान्य रूप से ग्रहण है, वह बहुग्रहण है।

क्षिप्र शब्द का अर्थ अर्थ को शीघ्र ग्रहण करना है। अतः शीघ्रतापूर्वक वस्तु को ग्रहण करना क्षिप्र अवग्रह है और धीरे-धीरे ग्रहण करना **अक्षिप्र** अवग्रह है। उत्कृष्ट श्रोत्रेन्द्रियावरण के क्षयोपशमादि परिणाम के कारण शीघ्रता से शब्दों को सुनता है, वह क्षिप्र अवग्रह है और क्षयोपशमादि की न्यूनता में देरी से वा धीरे-धीरे शब्द को ग्रहण करता है, वह अक्षिप्र अवग्रह है। इसी प्रकार स्पर्श, रसना आदि इन्द्रियों के प्रति भी लगाना चाहिए।

निसृत का अर्थ निकला हुआ या प्रगट पदार्थ है, **अनिसृत** का अर्थ अप्रगट पदार्थ है। ज्ञानावरण कर्म का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर वस्तु का एकदेश अवलम्बन लेकर सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान कर लेना अनिसृत अवग्रह है। जैसे सरोवर में जलमग्न हाथी की सूंड देखकर पूरे हाथी का ज्ञान होना अथवा किसी स्त्री का मुख देखकर चन्द्रमा का या (इसका मुख चन्द्रमा के समान है) ऐसी उपमा का ज्ञान होना, अथवा गवय को देखकर गाय का ज्ञान होना, ये सब अनिसृत अवग्रह के उदाहरण हैं।

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता होने पर पूरे रूप से निसृत पदार्थ का ज्ञान होना वा पूरे रूप से उच्चारित शब्द का ज्ञान होना निसृत अवग्रह है। अथवा अभिमुख अर्थ को ग्रहण करना निसृत अवग्रह है और अनभिमुख अर्थ को ग्रहण करना अनिसृत है।

मुख के द्वारा नहीं कहने पर भी अभिप्राय मात्र से वा संकेत मात्र से वस्तु को जान लेना, **अनुक्त** अवग्रह है और मुख के द्वारा कथन करने पर जानना **उक्त** अवग्रह है।

श्रोत्रेन्द्रियावरण का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर शब्द का उच्चारण किये बिना अभिप्राय मात्र से अनुक्त शब्द को जान लेता है कि आप यह कहने वाले हैं अथवा वीणा आदि के तारों को सम्हालते समय ही यह जान लेना कि "इसके द्वारा यह राग बजाया जायेगा" अनुक्त ज्ञान है। उक्त अर्थात् कहने पर शब्द को जानना उक्त है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों में भी लगा लेना चाहिए।

अथवा नियमित गुणविशिष्ट अर्थ को ग्रहण करना उक्त अवग्रह है। जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा धवल अर्थ को ग्रहण करना, घ्राण इन्द्रिय के द्वारा गंध द्रव्य का ग्रहण करना, इत्यादि।

अनियमित गुणविशिष्ट द्रव्य को ग्रहण करना अनुक्त अवग्रह है। जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा रूप देखकर गुड़, आम आदि के रस को ग्रहण करना अथवा घ्राण इन्द्रिय के द्वारा दही के गंधग्रहण काल में उसके खट्टे-मीठे आदि रस को ग्रहण करना।

अन्य के उपदेश पूर्वक वस्तु को ग्रहण करना उक्त है और स्वत: प्रत्यक्ष प्रगट वस्तु को ग्रहण करना निसृत है। इसी प्रकार किसी अन्य के द्वारा नहीं कहने पर भी संकेत या स्वयमेव वस्तु का स्वरूप समझ लेना अनुक्त है तथा वस्तु के एक भाग को देखकर दूसरे भाग को जान लेना अनिसृत है।

संक्लेश परिणामों के अभाव में यथानुरूप श्रोत्रेन्द्रियावरण के क्षयोपशमादि परिणामरूप कारणों के अवस्थित रहने से जैसा प्रथम समय में शब्द का ज्ञान हुआ था आगे भी वैसा ही ज्ञान होता रहता है न कम होता है और न अधिक होता है, यह **ध्रुव** ग्रहण है। परन्तु पुन:पुन: संक्लेश और विशुद्धि में झूलने वाले आत्मा को यथानुरूप श्रोत्रेन्द्रिय का सान्निध्य रहने पर भी उसके आवरण का किंचित् उदय रहने के कारण पुन:पुन: प्रकृष्ट वा अप्रकृष्ट श्रोत्रेन्द्रियावरण के क्षयोपशमरूप परिणाम होने से शब्द का अध्रुव ग्रहण होता है। अर्थात् कभी बहुत शब्दों को जानता है और कभी अल्प को, कभी बहुत प्रकार के शब्दों को जानता है और कभी एक प्रकार के शब्द को, कभी शीघ्रता से शब्द को जान लेता है तो कभी देर से, कभी प्रगट शब्द को जानता है और कभी अप्रगट को भी, कभी उक्त को ही जानता है और कभी अनुक्त को भी।

अथवा निरन्तर रूप से वस्तु को ग्रहण करना ध्रुव अवग्रह है और इससे विपरीत ग्रहण को अध्रुव अवग्रह कहते हैं।

यह वही है - इस प्रकार का ग्रहण ध्रुव अवग्रह है और वह यह नहीं है इस प्रकार के अवग्रह को अध्रुव कहते हैं। ये अवग्रह के १२ भेद हैं। इसी प्रकार ईहा, अवाय और धारणा के भी बारह - बारह (१२) भेद जानने चाहिए। ये ४८ (अड़तालीस) भेद एक इन्द्रिय सम्बन्धी हैं, इसी प्रकार शेष चार इन्द्रियों और मन के भेदों को गुणा करने पर कुल २८८ भेद होते हैं।

अवग्रह के दो भेद हैं अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह। व्यक्त ग्रहण के पूर्व जो अव्यक्त ग्रहण होता है, वह व्यञ्जनावग्रह है। अथवा अंज् धातु व्यक्त अर्थ में आती है। 'वी' नहीं है ' अंज्' प्रगटता जिसमें उसको व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। व्यक्त अर्थग्रहण का नाम अर्थावग्रह है और अव्यक्त अर्थ को ग्रहण करना व्यंजनावग्रह है।

विशद और अविशद के भेद से भी अवग्रह दो प्रकार का है। निर्मल अवग्रह जिसके अनन्तर ईहा आदि ज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं, उसको विशदावग्रह या अर्थावग्रह कहते हैं और जिसके अनन्तर ईहा आदि ज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं उसको अविशद अवग्रह कहते हैं। व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता इसलिए इसके ४८ भेद होते हैं। २८८ में ४८ भेद मिलाने पर ३३६ भेद मतिज्ञान के होते हैं।

अथवा मतिज्ञान के दो, तीन, चार, पाँच आदि विकल्पों की अपेक्षा संख्यात एवं असंख्यात भेद भी होते हैं।

सामान्यत: मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जनित पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा मूर्त्तिक और अमूर्त्तिक पदार्थों को विकल्पसहित या भेदसहित जानता है, वह मतिज्ञान है।

यह मतिज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। वास्तव में मतिज्ञान परोक्ष है, परन्तु इन्द्रियों और मन के द्वारा लौकिक कार्यों में जो प्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान होता है, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है।

उपलब्धि, भावना और उपयोग के भेद से मतिज्ञान तीन प्रकार का है।

मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न (पदार्थों) को जानने की शक्ति है, वह उपलब्धिमतिज्ञान है। यह नीला है, यह पीला है इत्यादि रूप से जो पदार्थ जानने का व्यापार है, उसको उपयोग मतिज्ञान कहते हैं। जाने हुए पदार्थों का बार-बार चिंतन करना भावना मतिज्ञान है।

यही मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के भेद से चार प्रकार का है अथवा कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारी बुद्धि और संभिन्नश्रोतृताबुद्धि के भेद से चार प्रकार का है।

मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध के भेद से मतिज्ञान पाँच प्रकार का है।

इन्द्रियों और मन के द्वारा यथायोग्य पदार्थ जिसके द्वारा मनन किये जाते हैं, मनन करता है या मनन मात्र मति कहलाती है।

भूतकाल के कार्यों का स्मरण स्मृति है अर्थात् मति वर्तमान को जानती है और स्मृति भूतकाल की बात जानती है। अनुभव और स्मरण पूर्वक होने वाला जोड़ रूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। मति, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान तीनों ज्ञान मिलकर एक ऐसा ज्ञान उत्पन्न करते हैं जो व्याप्ति को ग्रहण करने में समर्थ होता है। यद्यपि ये चारों अभिनिबोध (मति) ज्ञान ही हैं तथापि इनमें भेद है, क्योंकि मति वर्तमानकालीन पर्याय को ही विषय करता है। स्मरण भूतकालीन पर्याय का द्योतन करता है और प्रत्यभिज्ञान अतीत और वर्तमान पर्यायों में रहने वाली एकता और सदृशता को विषय करता है। इस प्रकार मतिज्ञान के अनेक भेद हैं।

निश्चय नय से, निर्विकार शुद्धात्मानुभव के सम्मुख जो मतिज्ञान है वही उपादेयभूत अनन्तसुख का साधक होने से ग्रहण योग्य है, उसी का साधक जो बाहरी मतिज्ञान है, वह व्यवहार नय से उपादेय है।

श्रुतज्ञान और उसके भेद

निष्पतदन्तर्ज्योतिर्बलमतिविभवप्रभाषितादर्थात्।
अर्थान्तरविज्ञानं श्रुतविज्ञानं विजानीयात्॥५९॥

पर्यायाक्षरपदसंघातादिविकल्पभिद्यमानं तत्।
विंशतिभेदं भवतीत्याहुर्विश्वार्थतत्त्वज्ञाः॥६०॥

यत्तु जघन्यं ज्ञानं सूक्ष्मैकेन्द्रियजलब्ध्यपर्याप्तेः।
तल्लब्ध्यक्षरसंज्ञं पर्यायाख्यं निरावरणम्॥६१॥

तस्योपरि षड्वृद्धिषु पर्यायसमासनामयुक्तानि।
ज्ञानानि संभवन्ति हि संख्यातीतानि तेष्वन्त्यात् ॥६२॥
ज्ञानादनन्तगुणविज्ञानं कैवल्यबोधसंख्येय-।
भागप्रमाणमक्षरविज्ञानं कथ्यतेऽर्हद्भिः ॥६३॥

अन्वयार्थ - **बलमतिविभवप्रभाषितात्** - बलवान मतिज्ञान रूपी विभव से प्रतिभासित। **अर्थात्** - पदार्थों से। **निष्पतत्** - निष्पन्न। **अर्थान्तरविज्ञानं** - अर्थान्तर ज्ञान को। **अन्तर्ज्योतिः** - अन्तर्ज्योति रूप। **श्रुतविज्ञानं** - श्रुतज्ञान। **विजानीयात्** - समझो।

तत् - वह श्रुतज्ञान। **पर्यायाक्षरपदसंघातादिविकल्पभिद्यमानं** - पर्याय, अक्षर, पद, संघात आदि विकल्पों से भिद्यमान। **विंशतिभेदं** - बीस भेद वाला। **भवति** - होता है। **इति** - इस प्रकार। **विश्वार्थतत्त्वज्ञाः** - विश्व के पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले सर्वज्ञ भगवान ने। **प्राहुः** - कहा है।

यत् सूक्ष्मैकेन्द्रियजलब्ध्यपर्याप्तेः - सूक्ष्म एकेन्द्रियज लब्ध्यपर्याप्त के। **जघन्यं** - जघन्य। **ज्ञानं** - ज्ञान। **तत्** - वह। **निरावरणं** - निरावरण। **पर्यायाख्यं** - पर्याय नामक ज्ञान है।

तस्य - उसके। **उपरि** - ऊपर। **षड्वृद्धिषु** - छह वृद्धियों में। **पर्याय समास नामयुक्तानि** - पर्यायसमासयुक्त। **ज्ञानानि** - ज्ञान। **संभवन्ति** - होते हैं। **हि** - क्योंकि। **तेषु** - उनमें। **अन्त्यात्** - अन्त होने से। **संख्यातीतानि** - संख्यातीत हैं (असंख्यात हैं)।

ज्ञानात् - इस ज्ञान से। **अनन्तगुणविज्ञानं** - अनन्त गुण विज्ञान। **कैवल्यबोधसंख्येयभागप्रमाणं** - कैवल्य बोध (ज्ञान) के संख्येय भाग प्रमाण। **अक्षरविज्ञानं** - अक्षरविज्ञान। **अर्हद्भिः** - अर्हन्त भगवान द्वारा। **कथ्यते** - कहा जाता है।

भावार्थ - मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ के अवलम्बन से निष्पन्न तत्सम्बन्धी दूसरे पदार्थों का जो उपलम्भ अर्थात् ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। शब्द सुनने के बाद जो मन की ही प्रधानता से अर्थज्ञान होता है, वह श्रुत है। एक घड़े को इन्द्रिय और मन से जानकर तज्जातीय विभिन्न देशकालवर्ती घटों के सम्बन्ध, जाति आदि का जो विचार होता है, वह श्रुत है। अथवा इन्द्रिय और मन के द्वारा एक जीव को जानकर उसके सम्बन्ध के सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव आदि अनुयोगों के द्वारा नाना प्रकार से प्ररूपण करने में जो समर्थ होता है, वह श्रुतज्ञान है।

अथवा, जिस ज्ञान में मतिज्ञान कारण पड़ता है, जो मतिज्ञान से ग्रहण किये गये पदार्थ को छोड़कर तत्संबंधित दूसरे पदार्थ में व्यापार करता है और श्रुत ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान का विषयभूत अर्थ श्रुत है। विशेष रूप से तर्कणा करना अर्थात् ऊहा करना वितर्क श्रुतज्ञान कहलाता है।

जो परोक्ष रूप से सब वस्तुओं को अनेकान्तरूप दर्शाता है; संशय, विपर्यय आदि से रहित उस ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। अर्थात् श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर नाना पदार्थों के समीचीन स्वरूप का निश्चय कर सकने वाले अस्पष्ट ज्ञान को श्रुत कहते हैं। यह श्रुतज्ञान अर्थलिंगज और शब्दलिंगज के भेद से दो प्रकार का है।

पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वारसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृत समास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तु समास, पूर्व और पूर्व समास इस तरह श्रुतज्ञान के बीस भेद हैं। ये अर्थलिंगज श्रुतज्ञान के भेद हैं।

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के जो सबसे जघन्य ज्ञान होता है, उसको **पर्यायज्ञान** कहते हैं। इसमें विशेषता केवल यही है कि इसके आवरण करने वाले कर्म के उदय का फल इसमें (पर्यायज्ञान में) नहीं होता, किन्तु इसके अनन्तर ज्ञान के (पर्यायसमास) प्रथम भेद में ही होता है।

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में सबसे जघन्य ज्ञान होता है। इसी को पर्याय ज्ञान कहते हैं। इतना ज्ञान हमेशा ही निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है।

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के अपने जितने भव (छह हजार बारह) सम्भव हैं, उनमें भ्रमण करके अन्त के अपर्याप्त शरीर को तीन मोड़ाओं के द्वारा ग्रहण करने वाले जीव के प्रथम मोड़ा के समय में सर्वजघन्य ज्ञान होता है।

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में स्पर्शन इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान होता है।

लब्धि नाम श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम का है और अक्षर नाम अविनश्वर का है, इसलिए इस ज्ञान को लब्ध्यक्षर कहते हैं क्योंकि इस क्षयोपशम का कभी विनाश नहीं होता, कम-से-कम इतना क्षयोपशम तो जीव के रहता ही है।

सर्व जघन्य पर्याय ज्ञान के ऊपर क्रम से अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुण वृद्धि, असंख्यात गुण वृद्धि, अनन्त गुण वृद्धि ये छह वृद्धि होती हैं।

इस प्रकार अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान में असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थान होते हैं। ये सब पर्यायसमास ज्ञान के भेद हैं।

असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थानों में अन्त के षट्स्थान की अन्तिम उर्वक वृद्धि से युक्त उत्कृष्ट पर्यायसमास ज्ञान से अनन्तगुणा अर्थाक्षर ज्ञान होता है। यह अर्थाक्षर सम्पूर्ण श्रुतज्ञान रूप है।

एकाक्षरादिवृद्ध्या वृद्धास्तस्योपरि क्रमेणैते।
ह्यक्षरसमासबोधाः संख्येयाः संभवन्त्येवम् ॥६४॥

संख्येयाक्षरजनितं पदविज्ञानं वदन्ति विश्वज्ञाः ॥
प्राग्वत्तदुपरि वृद्धा बोधाः स्युः पदसमासाख्याः ॥६५॥

संघातादिज्ञानान्यापूर्वसमासमुक्तया वृद्ध्या।
ज्ञेयान्येवं भव्यैः सर्वज्ञाज्ञाविधानेन ॥६६॥

अन्वयार्थ - तस्य - उस अक्षरज्ञान। **उपरि** - ऊपर। **क्रमेण** - क्रम से। **एकाक्षरादिवृद्ध्या** - एक अक्षर आदि की वृद्धि से। **संख्येयाः** - संख्यात। **वृद्धाः** - वृद्धि होती है। **एते** - ये। **एवं** - इस प्रकार। **अक्षरसमासबोधाः** - अक्षरसमास ज्ञान। **संभवन्ति** - होते हैं।

विश्वज्ञाः - विश्व को जानने वाले। **संख्येयाक्षरजनितं** - अक्षर समास के ऊपर संख्यात अक्षरवृद्धि से जनित ज्ञान को। **पदविज्ञानं** - पदज्ञान। **वदन्ति** - कहते हैं। **प्राग्वत्** - पहले (अक्षर समास) के समान पदज्ञान के। **उपरि** - ऊपर। **वृद्धा** - वृद्धि होने पर। **पदसमासाख्याः** - पदसमास नामक। **बोधाः** - ज्ञान। **स्युः** - होता है।

एवं - इस प्रकार। **सर्वज्ञाज्ञाविधानेन** - सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा के विधान से। **उक्तया** - ऊपर कथित। **वृद्ध्या** - वृद्धि से। **आपूर्वसमासं** - पूर्व समास पर्यन्त। **संघातादिज्ञानानि** - संघात, संघातसमास आदि ज्ञान। **भव्यैः** - भव्यों को। **ज्ञेयानि** - जानना चाहिए।

अर्थ - एक अक्षर ज्ञान के ऊपर असंख्यात लोकप्रमाण अक्षर की वृद्धि **अक्षरसमास** है, उसके बाद **पदज्ञान** होता है।

पद तीन तरह के होते हैं: अर्थ पद, प्रमाणपद और मध्यम पद। इनमें से "सफेद गौ को रस्सी से बाँधो", "अग्नि को लाओ" इत्यादि अनियत अक्षरों के समूह रूप किसी अर्थ विशेष के बोधक वाक्य को अर्थपद कहते हैं। आठ आदिक अक्षरों के समूह रूप किसी अर्थविशेष के बोधक वाक्य को **अर्थपद** कहते हैं। आठ आदिक अक्षरों के समूह को **प्रमाणपद** कहते हैं, जैसे - अनुष्टुप् श्लोक के एक पाद में आठ अक्षर होते हैं।

इसी तरह दूसरे छन्दों के पदों में भी उस छन्द के लक्षण के अनुसार नियत संख्या में अक्षरों का प्रमाण न्यूनाधिक होता है। परन्तु इस प्रकरण में कथित पद के अक्षरों का प्रमाण सर्वदा के लिए निश्चित है, इसी को **मध्यम पद** कहते हैं।

परमागम में द्रव्यश्रुत का ज्ञान कराने के लिए जहाँ पदों का प्रमाण बताया गया है, वहाँ यह मध्यम पद ही समझना चाहिए।

एक पद के आगे भी क्रम से एक - एक अक्षर की वृद्धि होते - होते संख्यात हजार पदों की वृद्धि हो जाय उसको **संघात** नामक श्रुतज्ञान कहते हैं।

एक पद के ऊपर और संघात नामक ज्ञान के पूर्व जितने ज्ञान के भेद हैं, वे सब **पदसमास** के भेद

हैं। यह संघात नामक श्रुतज्ञान चार गतियों में से एक गति के स्वरूप का निरूपण करने वाले अपुनर्युक्त मध्यम पदों के समूह से उत्पन्न अर्थज्ञान रूप है।

चार गतियों में से एक गति का निरूपण करने वाले संघात श्रुतज्ञान के ऊपर पूर्व की तरह क्रम से एक-एक अक्षर की तथा पदों और संघातों की वृद्धि होते - होते जब संख्यात हजार संघात की वृद्धि हो जाय तब एक **प्रतिपत्ति** नामक श्रुतज्ञान होता है। संघात और प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान के मध्य में ज्ञान के जितने विकल्प हैं, उतने ही **संघातसमास** के भेद हैं। यह ज्ञान नरकादि चार गतियों का विस्तृत स्वरूप जानने वाला है।

चारों गतियों के स्वरूप का निरूपण करने वाले प्रतिपत्ति ज्ञान के ऊपर क्रम से पूर्व की तरह एक - एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब संख्यात हजार प्रतिपत्ति वृद्धि हो जाय, तब एक **अनुयोग** श्रुतज्ञान होता है। इसके पहले और प्रतिपत्तिज्ञान के ऊपर सम्पूर्ण **प्रतिपत्तिसमास** ज्ञान के भेद हैं। अन्तिम प्रतिपत्तिसमास ज्ञान के भेद में एक अक्षर की वृद्धि होने से अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। इस ज्ञान के द्वारा चौदह मार्गणाओं का विस्तृत स्वरूप जाना जाता है।

चौदह मार्गणाओं का निरूपण करने वाले अनुयोग ज्ञान के ऊपर पूर्वोक्त क्रम के अनुसार एक - एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब चतुरादि अनुयोगों की वृद्धि हो जाय तब **प्राभृतप्राभृत** ज्ञान होता है। इसके पहले और अनुयोग ज्ञान के ऊपर जितने ज्ञान के विकल्प हैं वे सब **अनुयोगसमास** के भेद हैं।

प्राभृत और अधिकार, ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। अतएव प्राभृत के अधिकार को **प्राभृत-प्राभृत** कहते हैं।

प्राभृत-प्राभृत ज्ञान के ऊपर पूर्वोक्त क्रम से एक - एक अक्षर की वृद्धि होते - होते जब चौबीस प्राभृत-प्राभृत की वृद्धि हो जाय तब एक **प्राभृत** श्रुतज्ञान होता है। प्राभृत के पहले और प्राभृत प्राभृत के ऊपर जितने ज्ञान के विकल्प हैं, वे सब ही **प्राभृत-प्राभृतसमास** के भेद हैं। उत्कृष्ट प्राभृत-प्राभृतसमास के भेद में एक अक्षर की वृद्धि होने से **प्राभृत** ज्ञान होता है।

पूर्वोक्त क्रमानुसार प्राभृत ज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब क्रम से बीस प्राभृत की वृद्धि हो जाय तब एक वस्तु अधिकार पूर्ण होता है। वस्तु ज्ञान के पहले और प्राभृत ज्ञान के ऊपर जितने विकल्प हैं, वे सब **प्राभृतसमासज्ञान** के भेद हैं। उत्कृष्ट प्राभृतसमास में एक अक्षर की वृद्धि होने से **वस्तु** नामक श्रुतज्ञान पूर्ण होता है।

एक-एक वस्तु अधिकार में बीस-बीस प्राभृत होते हैं और एक-एक प्राभृत में चौबीस-चौबीस प्राभृत-प्राभृत होते हैं। अक्षरसमास के प्रथम भेद से लेकर उत्कृष्ट भेद पर्यन्त एक-एक अक्षर की वृद्धि होती है।

पूर्वज्ञान के चौदह भेद हैं जिनमें से प्रत्येक में क्रम से दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह,

सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश वस्तु नामक अधिकार हैं। इस प्रकार सर्वज्ञ की आज्ञा से पर्याय, पर्यायसमास से लेकर पूर्व समास तक भेद जानने चाहिए।

अक्षरलिंगज श्रुतज्ञान के विशेष भेदों का कथन

अक्षरजमनक्षरजं चेति द्विविधं समासतस्तत्स्यात्।
द्विविधं चाक्षरसंभवमङ्गानङ्गप्रभेदेन ॥६७॥

अन्वयार्थ - समासतः - संक्षेप से। **तत्** - वह श्रुतज्ञान। **अक्षरजं** - अक्षर से उत्पन्न। **च** - और। **अनक्षरजं** - अनक्षर से उत्पन्न। **इति** - इस प्रकार। **द्विविधं** - दो प्रकार का है। **अक्षरसंभवं** - अक्षर से उत्पन्न ज्ञान। **अङ्गानङ्गप्रभेदेन** - अंग और अंग-बाह्य के भेद से। **द्विविधं** - दो प्रकार का है।

अर्थ - संक्षेप से श्रुतज्ञान दो प्रकार का है - अक्षरज और अनक्षरज। अक्षर से उत्पन्न ज्ञान अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के भेद से दो प्रकार का है ।

दो भेदों का कथन

आचारादिविकल्पाद् द्वादशभेदात्मकं भवेत्प्रथमम्।
सामायिकादिभेदादितरच्च चतुर्दशविकल्पम् ॥६८॥

अन्वयार्थ - प्रथमं - अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान। **आचारादिविकल्पात्** - आचारादि के विकल्प से। **द्वादशभेदात्मकं** - बारह भेद वाला। **भवेत्** - होता है। **च** - और। **इतरत्** - अंगबाह्य। **सामायिकादिभेदात्** - सामायिक आदि के भेद से। **चतुर्दशविकल्पं** - चौदह प्रकार का है।

अर्थ - अक्षर से उत्पन्न अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान आचारादिक के भेद से १२ प्रकार का है और अंगबाह्य श्रुतज्ञान सामायिक आदि के भेद से १४ प्रकार का है।

विशेषार्थ - श्रुतज्ञान शब्दलिंगज और अर्थलिंगज के भेद से दो प्रकार का है। उसमें भी जो शब्दलिंगज श्रुतज्ञान है, वह लौकिक और लोकोत्तर के भेद से दो प्रकार का है। सामान्य पुरुष के मुख से निकले हुए वचन समुदाय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है,वह लौकिक शब्दलिंगज श्रुतज्ञान है। असत्य बोलने के कारणों से रहित पुरुष के मुख से निकले हुए वचनसमुदाय से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, वह लोकोत्तर **शब्दलिंगज** श्रुतज्ञान है तथा धूमादिक पदार्थ रूप लिंग से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, वह **अर्थलिंगज** श्रुतज्ञान है। इसका दूसरा नाम **अनुमान** भी है।

अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक के भेद से श्रुतज्ञान के दो भेद हैं। वाचक शब्द से वाच्यार्थ का ग्रहण **अक्षरात्मक श्रुत** है और शीतादि स्पर्श में इष्टानिष्ट का होना **अनक्षरात्मक श्रुत** है।

आचारांग आदि बारह अंग, उत्पाद पूर्व आदि चौदह पूर्व और चकार से सामायिकादि १४ प्रकीर्णक स्वरूप **द्रव्यश्रुत** है और इनके सुनने से उत्पन्न हुआ ज्ञान **भावश्रुत** है। पुद्गलद्रव्यस्वरूप अक्षर पदादिक रूप से द्रव्यश्रुत है और उनके सुनने से श्रुतज्ञान की पर्याय रूप जो उत्पन्न हुआ, वह भावश्रुत है।

श्रुतज्ञान लब्धि व भावनारूप से दो-दो प्रकार का होता है अथवा प्रमाण व नय के भेद से दो प्रकार का होता है। सकल वस्तु को ग्रहण करने वाले को प्रमाणरूप और वस्तु के एकदेश ग्रहण करने वाले को नयरूप होता है।

प्रावचन, प्रवचनीय, प्रवचनार्थ, गतियों में मार्गणता, आत्मा, परम्परालब्धि, अनुत्तर, प्रवचन, प्रवचनी, प्रवचनाद्धा, प्रवचन संनिकर्ष, नयविधि, नयान्तर विधि, भंगविधि, भंगविधि विशेष, पृच्छाविधि, पृच्छाविधि विशेष तत्त्व, भूत, भव्य, भविष्यत्, अवितथ, अविहत, वेद, न्यास, शुद्ध, सम्यक्दृष्टि, हेतुवाद, नयवाद, प्रवरवाद, मार्गवाद, श्रुतवाद, परवाद, लौकिकवाद, लोकोत्तरीयवाद, अग्यमार्ग, यथानुमार्ग, पूर्व, यथानुपूर्व और पूर्वातिपूर्व ये श्रुतज्ञान के पर्याय नाम हैं। यह श्रुतज्ञान सब नयों के विषय के अस्तित्व का विधायक है, इसलिए इसको विधि भी कहते हैं।

शब्दलिंगज श्रुतज्ञान के दो भेद - अंग बाह्य और अंग प्रविष्ट होते हैं अथवा दो, अनेक भेद और बारह भेद हैं।

अंगश्रुत यह गुणनाम है, क्योंकि जो तीनों काल के समस्त द्रव्यों या पर्यायों को 'अंगति' अर्थात् प्राप्त होता है या व्याप्त करता है, वह अंग है। इस प्रकार अंग शब्द सिद्ध होता है।

'अंग्यते' अर्थात् मध्यम पदों के द्वारा जो लिखा जाता है, वह अंग कहलाता है। अथवा समस्त श्रुत के एक - एक आचारादि रूप अवयव को अंग कहते हैं। ऐसे अंग शब्द की निरुक्ति है।

आचारांग आदि १२ प्रकार का ज्ञान **अंग प्रविष्ट** कहलाता है। गणधरदेव के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा अल्पायु-बुद्धिबल वाले प्राणियों के अनुग्रह के लिए अंगों के आधार से रचे गये संक्षिप्त ग्रन्थ **अंगबाह्य** कहलाते हैं।

अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं - आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृतदश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद।

आचारांग - आचरंते मोक्षमार्गमाराधयन्ति अस्मिन्ननेनेति वा आचारः। जिसमें मोक्षमार्ग का आचरण किया जाता है - मोक्षमार्ग की आराधना की जाती है, वह आचारांग है अर्थात् जिसमें मुनिराज के आचरण का कथन है।

सूत्रकृतांग - सूत्रैः कृतं करणं क्रियाविशेषः वर्ण्यते यस्मिन् तत् सूत्रकृतं। ज्ञान, विनय आदि निर्विघ्न अध्ययन क्रिया का एवं प्रज्ञा, प्रभा, कल्पाकल्प, छेदोपस्थापना आदि व्यवहार धर्मक्रिया का तथा स्वसमय और परसमय का कथन करने वाला सूत्रकृतांग है।

जिसमें सम्पूर्ण द्रव्यों का एक से लेकर जितने विकल्प होते हैं, उनका कथन किया गया है। जैसे जीव द्रव्य एक है, संसारी और मुक्त के भेद से दो प्रकार का है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की अपेक्षा तीन

भेद हैं, चार गति की अपेक्षा चार भेद हैं। इसी प्रकार पुद्गलादि के भेद जानने चाहिए। इनका कथन करने वाला **स्थानांग** है।

सम्पूर्ण द्रव्यों में किसी धर्म की अपेक्षा सादृश्य है, उसका कथन करने वाला **समवायांग** है। जैसे प्रदेशों की अपेक्षा धर्म, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्य समान हैं।

जिस अंग में जीव अस्ति है ? नास्ति है ? अवक्तव्य है ? वक्तव्य है ? नित्य है या अनित्य है, एक है या अनेक है, इत्यादि गणधरदेव कृत साठ हजार प्रश्नों का कथन (व्याख्यान) है। वह **व्याख्याप्रज्ञप्ति** अंग है।

जिस अंग में जीवादि वस्तुओं का स्वभाव, तीर्थंकरों का माहात्म्य, उनकी दिव्यध्वनि का समय, उसका माहात्म्य, उत्तम क्षमादि दशधर्म, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय धर्म तथा गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि की कथा एवं उपकथाओं का कथन है - वह **ज्ञातृकथा वा नाथ धर्म कथांग** है।

जिसमें उपासकों (श्रावकों) की सम्यग्दर्शन, अष्ट मूलगुण, ग्यारह प्रतिमा सम्बन्धी, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, उनके अतिचार तथा गर्भाधानादि १०८ क्रिया और उनके मंत्रादि का विस्तारपूर्वक कथन किया गया है, वह **उपासकाध्ययनांग** है।

जिसमें प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में जो दस-दस मुनि चार प्रकार का उपसर्ग सहन करके संसार के अन्त को प्राप्त होते हैं, उनका वर्णन किया जाता है, उसको **अन्तकृद्दशांग** कहते हैं।

जिसमें प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में होने वाले उन दस-दस दक्ष मुनिराजों का कथन है जो घोर उपसर्ग सहन करके अन्त में समाधि के द्वारा अपने प्राणों का विसर्जन करके विजयादि पाँच प्रकार के अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होते हैं, उनका वर्णन है उसको **अनुत्तरौपपादिक** दशांग कहते हैं।

जिसमें दूत वाक्य, नष्ट, मुष्टि, चिन्ता आदि अनेक प्रश्नों के अनुसार तीन काल सम्बन्धी धन-धान्यादि का लाभालाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, जय-पराजय आदि का वर्णन होता है, उसको **प्रश्नव्याकरण अंग** कहते हैं। अथवा प्रश्न के अनुसार आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदिनी, निर्वेजनी इन चार प्रकार की कथाओं का भी वर्णन **प्रश्नव्याकरण** में है।

जिसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार शुभाशुभ कर्मों की तीव्र मंद मध्यम आदि अनेक प्रकार की अनुभाग-शक्ति के फल देने रूप विषय का कथन किया गया है वह - **विपाकसूत्रांग** कहलाता है।

जिस अंग में तीन सौ त्रेसठ मिथ्यादृष्टियों का निराकरण किया जाता है, उसको **दृष्टिवाद** अंग कहते हैं।

दृष्टिवाद अंग के पाँच भेद हैं- परिक्रम, सूत्र, प्रथमानुयोग, चूलिका और पूर्वगत।

जिसमें गणित के करणसूत्रों का कथन है, वह परिक्रम है। उसके पाँच अधिकार हैं - चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति।

जो चन्द्रमा की आयु, विमान, परिवार, ऋद्धि, अयनगमन, हानिवृद्धि, ऊँचाई, सकलांश, अर्धांश, चतुर्थांश एवं ग्रहण आदि का वर्णन करता है, वह **चन्द्रप्रज्ञप्ति** नामक परिक्रम है।

जिसमें सूर्य की आयु, विमान, परिवार, ऋद्धि, अयन (दक्षिणायन, उत्तरायण), गमन (एक मुहूर्त्त में कितने योजन गमन करता है, किस-किस ऋतु में किन-किन गलियों में गमन करता है।) उनका परिमाण तथा बिम्ब की ऊँचाई, दिन की हानि-वृद्धि, किरणों का प्रमाण, प्रकाश सकलांश, अर्द्धांश, चतुर्थांश आदि का कथन है, उसको **सूर्यप्रज्ञप्ति** कहते हैं।

जिसमें जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरु, छह कुलाचल, पय आदि तालाब, भरतादि सात क्षेत्र, कुण्ड, वेदिका, वन, व्यन्तरों का आवास, गंगा आदि महानदियाँ, भूतारण्य, देवारण्य, विजयार्धपर्वत आदि का कथन है, वह **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति** है।

जिसमें असंख्यात द्वीप-समुद्रों का तथा तत्रस्थ अकृत्रिम चैत्यालयों का कथन किया गया है, वह **द्वीपसागरप्रज्ञप्ति** है। अर्थात् इसमें द्वीप-समुद्रों में स्थित ज्योतिष देवों के स्थान, व्यन्तर देवों के भवन, उनमें स्थित अकृत्रिम जिनमन्दिर, उनमें स्थित प्रासाद, उनका व्यास, तोरण, मण्डप, मुख्य मण्डप, माला आदि का भी कथन है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति अधिकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल रूप छह द्रव्य, उनके भेद, भव्य, अभव्य जीवों का परिमाण, उनका लक्षण, अनन्तसिद्ध, परम्परासिद्ध, स्थानप्राप्त आदि का विस्तारपूर्वक कथन करता है।

दृष्टिवाद के दूसरे भेद **सूत्र** में तीन सौ त्रेसठ मिथ्यादृष्टियों का पूर्वपक्षपूर्वक निराकरण है अर्थात् क्रियावादियों के एक सौ अस्सी भेद हैं, अक्रियावादियों के चौरासी, अज्ञानवादियों के सड़सठ और विनयवादियों के बत्तीस भेद हैं। इन सर्व तीन सौ त्रेसठ मिथ्या पाखण्डों का खण्डन सूत्र में किया गया है।

दृष्टिवाद के तृतीय भेद प्रथमानुयोग में त्रेसठ शलाका पुरुषों का कथन है। अथवा मिथ्यादृष्टि, अव्रतिक और अव्युत्पन्न (अज्ञानी) को प्रथम कहते हैं और अधिकार को अनुयोग कहते हैं। मिथ्यादृष्टि, अव्रतिक और अव्युत्पन्नरूप प्रतिपाद्य का आश्रय लेकर जो अनुयोग प्रवृत्त होता है, उसको **प्रथमानुयोग** कहते हैं।

दृष्टिवाद के चौथे भेद पूर्व नामक अधिकार के १४ भेद हैं। **उत्पादपूर्व** - इसमें प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य और उनके संयोगी धर्मों का उल्लेख है। यह उत्पाद पूर्व दस वस्तुगत दो सौ प्राभृतों के एक करोड़ पदों द्वारा जीव, काल और पुद्गल द्रव्य के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का वर्णन करता है।

अग्रायणी पूर्व - अग्र अर्थात् द्वादशांगों में प्रधानभूत वस्तु के अयन (ज्ञान) को अग्रायण कहते हैं और द्वादशांगों में प्रधानभूत वस्तु का कथन करना जिसका प्रयोजन है, वह दूसरा अग्रायणी पूर्व है। यह सात सौ सुनय, दुर्नय, पंचास्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व रूप पदार्थों के समूह का निरूपण करता है। इसमें चौदह वस्तु, दो सौ अस्सी प्राभृत और छ्यानवे लाख पद हैं।

वीर्यानुवाद पूर्व - जीवादि पदार्थों के वीर्य (शक्ति सामर्थ्य) का अनुवाद (कथन) जिसमें होता है, वह वीर्यानुवाद है। यह आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, कालवीर्य, तपोवीर्य, गुणवीर्य, पर्यायवीर्य आदि अनेक प्रकार के वीर्य का वर्णन करता है। इसमें आठ वस्तु, एक सौ साठ प्राभृत और सत्तर लाख पद हैं।

अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व - कथंचित् अस्ति और कथंचित् नास्ति की प्रमुखता से जिसमें प्रवाद (कथन) है वह अस्ति-नास्ति प्रवाद पूर्व कहलाता है। इसमें अठारह वस्तु, तीन सौ साठ प्राभृत और साठ लाख पद हैं।

ज्ञानप्रवाद पूर्व - जो पूर्व मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान इन पाँच सम्यग्ज्ञानों का तथा कुमति, कुश्रुत, कुअवधि रूप तीन अज्ञानों का और इनके भेद-प्रभेदों का कथन करता है, उसको ज्ञानप्रवाद कहते हैं। इस प्रवाद में १२ वस्तु, दो सौ चालीस प्राभृत और एक कम एक करोड़ पद हैं।

सत्यप्रवाद पूर्व - जिसमें वचनगुप्ति[१], आठ प्रकार के शब्दोच्चारण के स्थान[२], पाँच प्रयत्न[३], वाक्संस्कार[४], वचन प्रयोग[५], १२ प्रकार की भाषा[६], अनेक प्रकार के असत्य, दस प्रकार के सत्य[७] आदि का वर्णन किया गया है, वह सत्यप्रवाद है। इसमें १२ वस्तु, दो सौ चालीस प्राभृत और एक करोड़ छह पद हैं।

आत्मप्रवाद पूर्व - आत्मा कर्ता है, भोक्ता है, वक्ता है, पुद्गल है, वेत्ता है, विष्णु है, स्वयंभू है, शरीरी है, मानव है, सक्त है, जन्तु है, मानी है, भावी है, योगी है, संकुचित है, असंकुचित है, क्षेत्रज्ञ है, अन्तरात्मा है, इत्यादि रूप से आत्मा का कथन जिसमें किया गया है वह आत्मप्रवाद है। इसके छब्बीस करोड़ पद हैं और १६ वस्तुगत तीन सौ बीस प्राभृत हैं।

कर्मप्रवाद पूर्व - ज्ञानावरणादि आठ मूल कर्म प्रकृति, १४८ उत्तर कर्म प्रकृति है तथा जीवों के परिणामों की भिन्नता या फलदान शक्ति की अपेक्षा असंख्यात लोकप्रमाण भेद वाले कर्मों का बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उपशम, निधत्ति, निकाचित आदि अनेक अवस्थाओं का

---

१. असत्य नहीं बोलना व मौन धारण करना।

२. शिर, कण्ठ, हृदय, जिह्वामूल, दाँत, नासिका, तालु और ओठ ये शब्दोच्चार के आठ स्थान हैं। इनको ही वाक्संस्कार कारण कहते हैं।

३. स्पष्ट, किंचित् स्पष्ट, विवृत, अविवृत और संविवृत ये पाँच शब्दोच्चारण के प्रयत्न हैं।

४. व्याकरण की पद्धति से शब्दों का शुद्ध उच्चारण करना।

५. वचन उच्चारण करते समय कौन से शुभाशुभ वचनों का वहाँ प्रयोग करना चाहिए सो वचनप्रयोग है।

६. अनिष्ट कथन, कलह वचन, पैशून्य वचन, असंयत प्रलाप, रतिवाक्, अरतिवाक्, उपधिवाक् निकृतिवाक्, अप्रणतिवाक्, मोषवाक्, सम्यग्दर्शनवाक्, मिथ्यादर्शनवाक्।

७. जनपद सत्य, संवृति सत्य, स्थापना सत्य, नाम सत्य, रूप सत्य, संभावना सत्य, भाव सत्य, प्रतीति (आपेक्षिक) सत्य, व्यवहार सत्य, उपमा सत्य।

जिसमें कथन किया गया है वह कर्मप्रवाद है। इसके बांस वस्तुगत चार सौ प्राभृत हैं और एक करोड़ अस्सी लाख पद हैं।

प्रत्याख्यानप्रवाद पूर्व - नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर पुरुष के संहनन, बल आदि के अनुसार परिमित काल एवं अपरिमित काल के लिए सावद्य वस्तुओं का त्याग, उपवास की विधि, उपवास की भावना के भेद, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि का वर्णन जिसमें किया गया है, वह प्रत्याख्यान प्रवाद पूर्व है। अथवा, प्रत्याख्याय, प्रत्याख्यायक, प्रत्याख्यातव्य का जो कथन करता है, वह प्रत्याख्यान प्रवाद है। इसके तीस वस्तुगत छह सौ प्राभृत और चौरासी लाख पद हैं।

विद्यानुवाद पूर्व - जिस पूर्व में अंगुष्ठसेनादि सात सौ लघु विद्याएँ, रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याएँ तथा इन विद्याओं का स्वरूप, इनकी शक्ति, इन विद्याओं को सिद्ध करने की पूजा, मंत्र आदि का प्रकाशन, सिद्ध हुई विद्याओं का फल, लाभ आदि का वर्णन और भौम, अंतरिक्ष, अंग, शब्द, छिन्न, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन इन अष्टांग निमित्त का कथन है, वह विद्यानुवाद है। इसमें १५ वस्तुगत तीन सौ प्राभृत और एक करोड़ दस लाख पद हैं।

कल्याणवाद पूर्व - जिस पूर्व में तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, मोक्ष रूप पाँच कल्याणकों का; कल्याणकों की कारणभूत षोड़शकारण भावना, तप, अनुष्ठान आदि का; तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण आदि के पुण्य विशेष का तथा सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और तारागणों के चारक्षेत्र, उत्पाद स्थान, गति, वक्रगति, उनके शुभाशुभ फलों का कथन है, वह कल्याणवादपूर्व है। इसमें दस वस्तु, दो सौ प्राभृत और छब्बीस करोड़ पद हैं।

प्राणावाय पूर्व - जिस ग्रन्थ में जिनेन्द्र भगवान ने सर्व भाषाओं के द्वारा चिकित्साप्रमुख भूतिकर्म, जांगुलिप्रक्रम के साधक अनेक भेद युत अष्टांग आयुर्वेद, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु रूप तत्त्वों के अनेक भेद, इंगला, पिंगला आदि प्राण, दस प्राणों के स्वरूप का प्ररूपण, प्राणों के उपकारक एवं अपकारक द्रव्य की गति आदि के अनुसार तेरह करोड़ पदों के द्वारा वर्णन किया गया है, वह प्राणावाय नामक पूर्व है। इस पूर्व में दस वस्तु सम्बन्धी दो सौ प्राभृत हैं। जिनेन्द्र भगवान के मुखारविन्द से निर्गत प्राणों का रक्षक प्राणावाय पूर्व है।

क्रियाविशाल पूर्व - इसमें जिनेन्द्र भगवान कथित संगीतशास्त्र, छन्द, अलंकार आदि पुरुषों की बहत्तर कलाओं का, स्त्री सम्बन्धी चौसठ गुणों का, चौरासी शिल्प आदि गुणों का, एक सौ आठ सुगर्भाधानादि क्रियाओं का और सम्यक्त्ववर्द्धिनी आदि पच्चीस क्रियाओं का कथन किया गया है तथा श्रावक और मुनियों के द्वारा प्रतिदिन करने योग्य नित्त एवं नैमित्तिक क्रियाओं का भी वर्णन किया गया है। इसमें दस वस्तु तथा दो सौ प्राभृत हैं तथा नौ करोड़ पद हैं। जितनी भी करने योग्य वा नहीं करने योग्य क्रियाएँ हैं उन सबका कथन इसमें है।

लोकबिन्दुसार - जिसमें तीन लोक, छत्तीस गुणित परिक्रम, आठ प्रकार का व्यवहार,

अंकविन्यासादि चार, बीज, मोक्ष के स्वरूप का, मोक्षगमन में कारणभूत शुभ धार्मिक क्रियाओं और लोक के अवयव और लोक के सार का वर्णन किया जाता है, वह चौदहवाँ लोकबिन्दुसार नामक पूर्व है। अथवा लोक का अर्थ जनसमुदाय, मज्जा, जल आदि अनेक अर्थ होते हैं। उनमें होने वाली सारभूत वस्तु का कथन इसमें पाया जाता है। इसमें दस वस्तु सम्बन्धी दो सौ प्राभृत और एक करोड़ पाँच लाख पद हैं।

दृष्टिवाद का पाँचवाँ भेद है **चूलिका**। जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता के भेद से चूलिका पाँच प्रकार की है।

जिसमें जलस्तंभन, जलगमन, अग्निस्तंभन, अग्निभक्षण, अग्निआसन (अग्नि पर बैठना), अग्निप्रवेश आदि के कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का वर्णन है, वह **जलगता चूलिका** है। जलगता चूलिका के दो करोड़, नौ लाख, नवासी हजार, दो सौ पद हैं।

मेरु कुलाचल भूमि आदि में प्रवेश, शीघ्रगमनादिक का जो वर्णन करती है वह स्थलगता है, वास्तु वा भूमि सम्बन्धी दूसरे शुभ-अशुभ कारणों का भी वर्णन करती है। स्थलगता चूलिका के दो करोड़, नौ लाख, नवासी हजार, दो सौ पद हैं।

जिस चूलिका में भूमि में प्रवेश करने का वा शीघ्रगमन करने का, भूमि में जल के समान डुबकी लगाने आदि के कारणभूत मंत्र, तंत्र तपश्चरण आदि का मनोज्ञ निरूपण है, वह **स्थलगता चूलिका** है।

जो माया रूप इन्द्रजाल तथा विक्रिया के कारणभूत मंत्र-तंत्र तपश्चरणादिक के कौतूहल का कथन करती है, वह **मायागत चूलिका** है।

सिंह, हाथी, घोड़ा, हिरण, मानव, वृक्ष, श्याल, खरगोश, बैल, व्याघ्र आदि रूप परावर्तन के कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का जो वर्णन करती है तथा मानवभव के सुख के कारणभूत क्रिया तथा चित्र, काष्ठ, लेप्य, उत्खनन आदि लक्षण धातुवाद, रसवाद आदि का वर्णन करती है, उसे **रूपगता चूलिका** कहते हैं।

आकाश में गमन आदि के कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का जो वर्णन करती है, वह **आकाशगता चूलिका** है। इसके भी दो करोड़, नौ लाख, नवासी हजार दो सौ पद हैं।

ऋत अर्थ के ज्ञाता गणधर देव के शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा कालदोष से अल्प आयु बुद्धिबल वाले प्राणियों के अनुग्रह के लिए अंगों के आधार से रचे गये संक्षिप्त ग्रन्थ **अंगबाह्य** हैं। कालिक और उत्कालिक के भेद से अंगबाह्य अनेक प्रकार के हैं।

स्वाध्याय काल में पढ़ने योग्य को **कालिक** कहते हैं।

जिनके पढ़ने का समय निश्चित नहीं है, किसी भी समय में पढ़ सकते हैं, उनको **उत्कालिक** कहते हैं।

सामायिक, चतुर्विंशति स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन,

कल्प्यव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, निषिद्धिका ये १४ (चौदह) प्रकीर्णक **अंगबाह्य** कहलाते हैं।

'सम्' उपसर्ग का अर्थ एकरूप है अत: एकत्व रूप से आत्मा में गमन (प्रवृत्ति) करना तथा परद्रव्य से निवृत्ति होने रूप उपयोग की प्रवृत्ति है उसको शास्त्र में **समय** - आत्मा कहा गया है। 'सं' अर्थात् एकत्वपने से 'आय' अर्थात् आगमन। परद्रव्यों से निवृत्त होकर उपयोग की आत्मा में प्रवृत्ति होना।

"मैं ज्ञाताद्रष्टा हूँ" इस प्रकार का आत्मगोचर ध्यान **सामायिक** है।

जिसमें नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के द्वारा चतुर्विंशति तीर्थंकरों के पंच कल्याणक, चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य, परम औदारिक शरीर, समवसरण की विभूति और धर्मोपदेश का वर्णन (किया जाता) है वह वा उससे प्रतिबद्ध **स्तवन** प्रकीर्णक है।

जिनेन्द्रों में से एक जिनेन्द्र सम्बन्धी तथा एक जिनेन्द्र के चैत्य वा चैत्यालय की स्तुति करना, जिनेन्द्रदेवकथित **वंदना** है।

द्रव्यादि के भेद से वंदना बहुत प्रकार की है। रत्नत्रय के धारक यति, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, वृद्धसाधु के उत्कृष्ट गुणों की श्रद्धा सहित विनय करना वा एक जिनदेव, उनके बिम्ब आदि का स्तवन करना वंदना है। अथवा ऋषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकर, भरतादि केवली, आचार्य एवं चैत्यालयादिकों के गुण-गुणभेद के आश्रित शब्दकलापों से युक्त गुणों का अनुस्मरण करके नमस्कार करने को वंदना कहते हैं।

जिसमें सात प्रकार के प्रतिक्रमणों का वर्णन होता है, वह **प्रतिक्रमण** प्रकीर्णक है।

जिस प्रकीर्णक (शास्त्र) में ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय के भेद से पाँच प्रकार के विनय का कथन किया जाता है, वह **वैनयिक** प्रकीर्णक है।

पंच परमेष्ठी (अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु), जिनवचन (शास्त्र), जिनधर्म, जिनालय और जिनप्रतिमा इन नव देवताओं की वंदना निमित्त आत्माधीनता, तीन प्रदक्षिणा, तीन बार नति, चार शिरोनति, बारह आवर्तन आदि नित्यनैमित्तिक क्रियाओं की विधि का बत्तीस दोष टालकर कृतिकर्म (वंदना) करने का प्ररूपण करने वाला **कृतिकर्म** प्रकीर्णक कहलाता है।

जो मुनिजनों की गोचरी विधि और पिण्ड शुद्धि का प्ररूपण करता है अथवा जिसमें दशवैकालिक सूत्र का वर्णन किया गया है, वह **दशवैकालिक** प्रकीर्णक है।

विशिष्ट काल को विकाल कहते हैं और विकाल में होने वाली क्रियाओं को वैकालिक कहते हैं और जिसमें दशवैकालिकों का वर्णन किया जाता है, वह दशवैकालिक है। यह मुनिजनों की आचरण विधि, गोचरी विधि और पिण्डशुद्धि का कथन करता है।

चार प्रकार (तिर्यञ्च, मानव, देव और अचेतनकृत) के उपसर्गों को कैसे सहन करना चाहिए,

बाईस परिषहों के सहन करने की विधि क्या है, उपसर्ग एवं परीषहों को सहन करने से क्या फल प्राप्त होता है, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर गुरु, शिष्यों के लिए देते हैं तथा प्रश्नों के उत्तर जिसमें पढ़े जाते हैं, प्रश्नों का अध्ययन किया जाता है, वह अष्टम **उत्तराध्ययन** नामक प्रकीर्णक कहलाता है।

अचेलकत्व, उद्दिष्ट भोजन का त्याग, शय्याग्रहण, वसतिका बनाने वाले वा सुधारने वाले के घर के आहार का त्याग, राजपिण्ड त्याग, कृतिकर्म, साधुओं की सेवा विनय करना। व्रत - जिसको व्रत का स्वरूप ज्ञात है, उसको व्रत देना। ज्येष्ठ - अपने से बड़े साधुओं की योग्य विनय करना। प्रतिक्रमण- प्रतिदिन लगे हुए दोषों का निराकरण करना। मासैकवासता - चातुर्मास को छोड़कर शेष समय में एक महीने से अधिक एक स्थान में नहीं रहना। वर्षाकाल में चार मास एक स्थान में रह सकते हैं, इत्यादि रूप से कल्प्य का कथन जिसमें है, वह **कल्प्य व्यवहार** प्रकीर्णक (शास्त्र) कहलाता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर ये मुनियों के कल्प्य करने योग्य हैं, ये अकल्प्य (नहीं करने योग्य) हैं। इस प्रकार का वर्णन जिसमें है, वह **कल्प्याकल्प्य** प्रकीर्णक कहलाता है।

आहार-विहार आदि क्रिया में कौनसी क्रिया करने योग्य है, आहार के योग्य कौन से घर हैं, अभोज्य घर में आहार नहीं करना चाहिए, आदि क्रियाओं का वर्णन इसमें किया जाता है।

कौनसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आश्रय लेने योग्य है; किस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का त्याग किया जाता है, आदि का कथन इसमें पाया जाता है।

काल और संहनन का आश्रय कर साधुओं के योग्य द्रव्य, क्षेत्रादिक का जो वर्णन करता है वा जिसमें उत्कृष्ट संहननादि विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर प्रवृत्ति करने वाले, जिनकल्पी साधुओं के योग्य त्रिकाल योग आदि अनुष्ठान का और स्थविरकल्पी साधुओं की दीक्षा-शिक्षा, गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना, उत्तम स्थान, गति, उत्कृष्ट आराधना आदि का विशेष वर्णन है, वह **महाकल्प्य** कहलाता है।

पुण्डरीक भवनवासी आदि चार प्रकार के देवों में उत्पत्ति के कारणरूप दान, पूजा, तपश्चरण आदि अनुष्ठानों का वर्णन करता है। **महापुण्डरीक** समस्त इन्द्रों और प्रतीन्द्रों में उत्पत्ति के कारणरूप तपोविशेष आदि आचरण का वर्णन करता है।

प्रमादजनित दोषों का परिहार करने के लिए **निषिद्धिका** शास्त्र का कथन है। यह कालादिभाव से प्रायश्चित्त विधान का कथन करता है।

ये चौदह प्रकीर्णक अंगबाह्य कहलाते हैं।

एक मध्यम पद में सोलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अक्षर होते हैं। समस्त मध्यम पदों के जितने अक्षर हुए वे अंगप्रविष्ट अक्षर हैं और शेष अक्षर रहे वे अंगबाह्य अक्षर हैं। अंगबाह्य अक्षरों का प्रमाण आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर है। इतने अक्षरों से

एक मध्यम पद नहीं होता इसलिए इतने अक्षरों का ही प्रमाण अंग बाह्य बताया है तथा इन अक्षरों को लेकर आरातीय पुरुषों ने 'चतुर्विंशति स्तवन' आदि १४ प्रकीर्णकों की रचना की है-अत: ये अंगबाह्य कहलाते हैं।

इस प्रकार संक्षेप से श्रुतज्ञान का कथन किया है।

मतिजश्रुतजे ज्ञाने सदृशे ते सर्वदाप्यविच्छेदात्।
तद् द्वितयमपि परोक्षं मतिजं व्यवहारतोऽध्यक्षम्॥६९॥

अन्वयार्थ - मतिजश्रुतजे - मति और श्रुत। **ज्ञाने** - दोनों ज्ञान। **सदृशे** - सदृश हैं। **सर्वदा** - निरन्तर। **अपि** - भी। **अविच्छेदात्** - अविच्छेद रूप से है। **तद्** - वह। **द्वितीयं** - श्रुतज्ञान तो। **परोक्षं**- परोक्ष ही है। **अपि** - परन्तु। **मतिजं** - मतिज्ञान। **व्यवहारत:** - व्यवहार से। **अध्यक्षं** - प्रत्यक्ष। **अपि**- भी है॥६९॥

अर्थ - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सदृश हैं क्योंकि ये दोनों ज्ञान सर्वकाल में आत्मा में अविच्छेद रूप से रहते हैं। उन दोनों ज्ञानों में श्रुतज्ञान तो परोक्ष ही है परन्तु मतिज्ञान एकदेशप्रत्यक्ष भी है। क्योंकि जिस प्रकार मतिज्ञान मानसिक प्रत्यक्ष और इन्द्रियप्रत्यक्ष होता है या अपने आत्मस्वरूप को जानने के लिए स्वसंवेदनप्रत्यक्ष है वैसा श्रुतज्ञान नहीं है, इसलिए मतिज्ञान को प्रत्यक्ष भी कहा है तथा न्यायग्रन्थों में मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है क्योंकि यह ज्ञान व्यवहार में मैंने इसको साक्षात् देखा है, यह काम करते मैंने इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया है कि यह आदमी कैसा है, इत्यादि का व्यवहार होता है।

अवधिज्ञान के भेदप्रभेद और उनका लक्षण

रूपिद्रव्यनिबद्धं देशप्रत्यक्षमवधिविज्ञानम्।
देशावधि-परमावधि-सर्वावधि-भेदतस्त्रिविधम्॥७०॥

देशावधिविज्ञानं भवगुणकारणतया द्विधा भवति।
तत्रैकैकं त्रिविधं जघन्यमध्योत्तमविकल्पात्॥७१॥

द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं च प्रति जघन्यमध्यपरम्।
मध्यमसंख्यातविधं शेषद्वितयं तदैकैकम्॥७२॥

गुणकारणजं तिर्यङ्मर्त्येषु विकल्पतस्तु षड्भेदम्।
भवकारणजं नारकदेवेषु बहुप्रभेदं तत्॥७३॥

प्रादेशिकं तु गौण्यं भवकारणमविकलात्मदेशभवम्।
प्रतिपाति लोकमात्रं ह्यप्रतिपाति तु ततोऽभ्यधिकम्॥७४॥

गुणकारणस्य नाभेरुपरि भवन्ति हि शुभानि चिह्नानि।
श्रीवृक्षादीनि स तैर्नेत्रेणेव स्फुटं पश्येत्॥७५॥

अन्वयार्थ - रूपिद्रव्यनिबद्धं - रूपीद्रव्य जिसका विषय है ऐसा। **देशप्रत्यक्षं** - एकदेश प्रत्यक्ष। **अवधिविज्ञानं** - अवधिज्ञान है। **देशावधिपरमावधिसर्वावधिभेदतः** - देशावधि, परमावधि, सर्वावधि के भेद से। **त्रिविधं** - तीन प्रकार का है॥७०॥

देशावधिविज्ञानं - देशावधि अवधिज्ञान। **भवगुणकारणतया** - भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय की अपेक्षा। **द्विधा** - दो प्रकार। **भवति** - होता है। **तत्र** - उनमें। **एकैकं** - भवप्रत्यय अवधिज्ञान एक प्रकार का है, परन्तु **गुणप्रत्यय, जघन्यमध्योत्तम विकल्पात्** - जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से। **त्रिविधं** - तीन प्रकार का है। देशावधि अवधिज्ञान। **द्रव्यं** - द्रव्य। **क्षेत्रं** - क्षेत्र। **कालं** - काल। **च** - और। **भावं** - भाव के। **प्रति** - प्रति। **जघन्यमध्यपरं** - जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है। **मध्यमसंख्यातविधं** - मध्यम अवधिज्ञान संख्यात प्रकार का है। **शेषद्वितीयं** - शेष दोनों (उत्कृष्ट और जघन्यज्ञान)। **तत्** - वह। **एकैकं** - एक-एक प्रकार का है॥७१-७२॥

गुणकारणजं - गुणों के कारण से उत्पन्न होने वाला गुणप्रत्यय अवधि ज्ञान। **तिर्यङ्मर्त्येषु** - तिर्यंच और मनुष्यों में होता है। **तु** - परन्तु वह गुणप्रत्यय। **विकल्पतः** - विकल्प से। **षड्भेदं** - छह प्रकार का है। **भवकारणजं** - भवप्रत्ययअवधि - ज्ञान। **नारकदेवेषु** - नारकी और देवों में होता है। **तत्** - वह भी। **बहुप्रभेदं** - बहुत प्रकार का है॥७३॥

भवकारणं - भवप्रत्यय अवधिज्ञान। **अविकलात्मदेशभवं** - अविकल आत्मप्रदेश से उत्पन्न होने के कारण इसमें। **प्रादेशिकं** - आत्मप्रदेश में उत्पन्न स्थान की। **गौण्यं** - गौणता है। **हि** - निश्चय से, इस भवप्रत्यय में जो। **प्रतिपाति** - प्रतिपाति है वह। **लोकमात्रं** - लोकप्रमाण है। **तु** - और। **अप्रतिपाति** - अप्रतिपाति है वह। **ततः** - उस प्रतिपाति की अपेक्षा। **अभ्यधिकं** - अति अधिक है अर्थात् प्रतिपाति की अपेक्षा अप्रतिपाति के अति अधिक भेद हैं॥७४॥

गुणकारणस्य - गुणप्रत्यय अवधि के। **नाभिः** - नाभि के। **उपरि** - ऊपर। **श्रीवृक्षादीनि** - श्रीवृक्ष आदि। **शुभानि** - शुभ। **चिह्नानि** - चिह्न। **भवन्ति** - होते हैं। **सः** - गुणप्रत्यय अवधि वाला। **तेन** - उसी। **नेत्रेण** - नेत्र से। **एव** - ही। **हि** - निश्चय से। **स्फुटं** - स्फुट। **पश्येत्** - देखता है॥७५॥

अर्थ - जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अवधि अर्थात् सीमा से युक्त अपने विषयभूत पदार्थ को जाने, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। सीमा से युक्त जानने के कारण परमागम में इसे सीमाज्ञान कहा गया है।

अधिकतर नीचे के विषय को जानने वाला होने से या परिमित विषय वाला होने से अवधि कहलाता है।

अथवा, अवधि मर्यादा, अवधिना प्रतिबद्धं ज्ञानमवधिज्ञानम्। तथाहि - 'रूपिष्ववधेः' (त.सू. १/२७) इति 'अव्' पूर्वक 'धा' धातु से कर्म आदि साधनों में अवधि शब्द बनता है। 'अव्' शब्द 'अधःवाची'

है जैसे अधःक्षेपण को अवक्षेपण कहते हैं, अवधिज्ञान भी नीचे की ओर बहुत पदार्थों को विषय करता है। नीचे गौरवधर्मवाला होने से पुद्गल की अवाग् संज्ञा है, उसे जो धारण करता है अर्थात् जानता है, वह अवधि है। अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, कालादि की मर्यादा से सीमित ज्ञान अवधिज्ञान है।

जो प्रत्यक्षज्ञान अन्तिम स्कन्धपर्यन्त परमाणु आदिक मूर्त द्रव्यों को जानता है उसको अवधिज्ञान जानना चाहिए। महास्कन्ध से लेकर परमाणु पर्यन्त समस्त पुद्गल द्रव्यों को, असंख्यात लोकप्रमाण क्षेत्र, काल और भावों को तथा कर्म के सम्बन्ध से पुद्गल भाव को प्राप्त हुए जीवों को जो प्रत्यक्ष रूप से जानता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ ही है। इसको एकदेशप्रत्यक्ष कहते हैं क्योंकि यह ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से नहीं होता है अपितु साक्षात् आत्मा से ही होता है।

यह अवधिज्ञान देशावधि, परमावधि और सर्वावधि के भेद से तीन प्रकार का है।

देशावधि ज्ञान के दो भेद हैं - भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय।

जिस अवधिज्ञान के होने में भव निमित्त है, वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है। वह देव और नारकियों के जानना चाहिए। भव, उत्पत्ति और प्रादुर्भाव ये पर्यायवाची नाम हैं। जिस अवधिज्ञान का निमित्त नरक व देव भव है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है। सम्यक्त्व से अधिष्ठित अणुव्रत और महाव्रत जिस अवधिज्ञान के कारण हैं, वह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है।

देश का अर्थ सम्यक्त्व है, क्योंकि वह संयम का अवयव है। वह जिस ज्ञान की अवधि अर्थात् मर्यादा है वह 'देशावधिज्ञान' है। देवों और नारकियों के भवप्रत्यय और तिर्यंचों एवं मनुष्यों के गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। क्षयोपशम के कारण गुणप्रत्यय अवधिज्ञान छह प्रकार का है : वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी।

सम्यग्दर्शनादि गुणों के वृद्धिंगत होने से जो अवधिज्ञान जितने प्रमाण में उत्पन्न हुआ था उससे असंख्यात लोकप्रमाण तक बढ़ता जाता है, जैसे ईंधन के बढ़ते रहने से अग्नि बढ़ती जाती है। ऐसे अवधि को **वर्द्धमान** अवधि कहते हैं। सम्यग्दर्शनादि गुणों की हानि और संक्लेश की वृद्धि होने से जितने प्रमाण उत्पन्न हुई थी उससे अंगुल के असंख्यातवें भाग तक घटते जाना जैसे ईंधन के घट जाने से अग्नि घटती जाती है ऐसी अवधि **हीयमान** कहलाती है। सम्यग्दर्शनादि गुणों के अवस्थित रहने से जो अवधि जितने प्रमाण में उत्पन्न हुई थी उतनी ही बनी रहना, न घटती है, न बढ़ती है, जैसे लिंग घटता-बढ़ता नहीं, ऐसे अवधिज्ञान को **अवस्थित** कहते हैं। सम्यग्दर्शनादि गुणों में कभी हानि और कभी वृद्धि होने से जितने प्रमाण में जो अवधि उत्पन्न हुई है उससे हानि और वृद्धि दोनों रूप होते रहना अर्थात् जितना बढ़ना चाहिए वहाँ तक बढ़ते रहना और जितना घटना चाहिए उतना घटना; जैसे वायु के वेग से प्रेरित जल की तरंगें होती हैं, ऐसे अवधि को **अनवस्थित** कहते हैं।

जो अवधिज्ञान परिणाम की विशुद्धि से सूर्य के प्रकाश के समान देशान्तर में जाने वाले के साथ जाता है वह **अनुगामी** है। विशुद्धि के नहीं होने से जो देशान्तर में साथ नहीं जाता, वहीं रह जाता है; जैसे शून्य हृदय वाले पुरुष का किया गया प्रश्न वहीं समाप्त होता है अर्थात् उस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता, ऐसी अवधि **अननुगामी** है।

जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर जीव के साथ जाता है वह अनुगामी अवधिज्ञान है। वह तीन प्रकार का है - क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी और क्षेत्रभवानुगामी। उनमें से जो अवधिज्ञान एक क्षेत्र में उत्पन्न होकर स्वत: या पर-प्रयोग से जीव के स्वक्षेत्र व परक्षेत्र में विहार करने पर विनष्ट नहीं होता है, वह **क्षेत्राननुगामी** अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर उस जीव के साथ अन्य भव में जाता है वह **भवानुगामी** है। जो भरत, ऐरावत और विदेह आदि क्षेत्रों में तथा देव, नारक, मनुष्य भव में भी साथ जाता है, वह **क्षेत्रभवानुगामी** अवधिज्ञान है। जो अननुगामी अवधिज्ञान है वह तीन प्रकार का है - क्षेत्राननुगामी, भवाननुगामी और क्षेत्रभवाननुगामी। जो क्षेत्रान्तर के साथ नहीं जाता, भवान्तर में ही साथ जाता है वह **क्षेत्राननुगामी** अवधिज्ञान कहलाता है। जो भवान्तर में साथ नहीं जाता; क्षेत्रान्तर में ही साथ जाता है वह **भवाननुगामी** अवधिज्ञान है। जो क्षेत्रान्तर और भवान्तर दोनों में साथ नहीं जाता किन्तु एक ही क्षेत्र और भव के साथ सम्बन्ध रखता है वह **क्षेत्रभवाननुगामी** अवधिज्ञान कहलाता है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर निर्मूल विनाश को प्राप्त होता है वह **सप्रतिपाती** अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर ही विनष्ट होता है, अन्यथा विनष्ट नहीं होता वह **अप्रतिपाती** अवधिज्ञान है।

जिस अवधिज्ञान का कारण जीवशरीर का एकदेश होता है, वह **एकक्षेत्रअवधिज्ञान** है। जो अवधिज्ञान प्रतिनियत क्षेत्र के बिना शरीर के सब अवयवों में रहता है वह **अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान** है। इसमें लोकाकाशप्रमाण अवधिज्ञान प्रतिपाती है और प्रतिपाती से अत्यधिक अप्रतिपाती है।

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान नाभि के ऊपर श्रीवृक्षादि अनेक शुभ चिह्नों से उत्पन्न होता है, उसी स्थानरूपी नेत्र के द्वारा अवधिज्ञानी पदार्थों को देखता है, जानता है।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव, नारकी और तीर्थंकर के होता है तथा यह भवप्रत्यय सर्वांग से उत्पन्न होता है, परन्तु गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य-तिर्यंचों के होता है। यह एक स्थान से उत्पन्न होता है, नाभि के ऊपर शंख, कमल, स्वस्तिक, श्रीवृक्ष, ध्वज, कलश, नन्द्यावर्त, हल, श्रीवत्स आदि शुभ चिह्नों से उत्पन्न होता है। अर्थात् गुणप्रत्यय अवधिज्ञान की उत्पत्ति के संस्थान होते हैं। एक जीव के एक ही स्थान में अवधिज्ञान का करण होता है, ऐसा नियम नहीं है क्योंकि किसी भी जीव के एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह आदि क्षेत्ररूप श्रीवृक्षादि शुभ संस्थान संभव हैं। ये संस्थान तिर्यंचों और मनुष्यों के नाभि के उपरि भाग में होते हैं, नीचे के भाग में नहीं होते। क्योंकि नाभि के नीचे शुभ संस्थान नहीं होते।

कहा भी है-

उत्पद्यतेऽथ मिथ्यागुणजस्य विभङ्गसंज्ञको जन्तोः।
नाभेरधस्थदर्दुरकाकोलूकाद्यशुभचिह्नात् ॥७५❊१॥ इति -

मिथ्यात्व गुणस्थानवाले जीव के विभंगावधि ज्ञान होता है। उसके नाभि के नीचे मेंढ़क, गिरगिट, उल्लू आदि अनेक अशुभ चिह्न होते हैं। अर्थात् अशुभ संस्थान नाभि के नीचे और शुभ संस्थान नाभि के ऊपर होते हैं क्योंकि शुभ संस्थानों का अधोभाग के साथ विरोध है। तिर्यंचों एवं मनुष्यों के विभंगावधि ज्ञान होता है, उसके साधन नाभि से नीचे गिरगिट आदि अशुभ संस्थान होते हैं। जब वही अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन होने से सुअवधिज्ञान रूप परिणत होता है तब वे करण (चिह्न) नाभि के ऊपर शुभ रूप प्रगट हो जाते हैं।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान तो देशावधि ही होता है, परन्तु गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद हैं।

देश का अर्थ सम्यक्त्व है, क्योंकि वह संयम का अवयव है। वह जिस ज्ञान की अवधि अर्थात् मर्यादा है वह **'देशावधिज्ञान'** है.... परम अर्थात् असंख्यात लोकमात्र संयमभेद ही जिस ज्ञान की अवधि अर्थात् मर्यादा है वह **'परमावधि ज्ञान'** है, परम शब्द का अर्थ ज्येष्ठ है। परम ऐसा जो अवधि वह परमावधि है। विश्व और कृत्स्न ये 'सर्व' शब्द के समानार्थक शब्द हैं। सर्व है मर्यादा जिस ज्ञान की, वह **सर्वावधि** है। यहाँ सर्व शब्द को समस्त द्रव्य का वाचक नहीं ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जिसके परे अन्य द्रव्य न हो उसके अवधिपना नहीं बनता। किन्तु 'सर्व' शब्द से सर्व के एकदेशरूप रूपी द्रव्य में वर्तमान को ग्रहण करना चाहिए।

अथवा जो आकुंचन और विसर्पणादिकों को प्राप्त हो वह पुद्गल द्रव्य सर्व है, वही जिसकी मर्यादा है वह **'सर्वावधि'** है।....अन्त और अवधि जिसके नहीं है वह 'अनन्तावधि' है।

परमावधिविज्ञानं चरमशरीरस्य संयतस्य भवेत्।
पूर्ववदेतत् त्रिविधं द्रव्यक्षेत्राद्यमाश्रित्य ॥७६॥
उत्कृष्टजघन्यद्वयमेकैकविकल्पमेव जानीयात्।
मध्यमजाताभेदा भवन्त्यसंख्येयसंघाताः ॥७७॥
सर्वावधिविज्ञानं विरामदेहस्य संयतस्यैव।
प्रादुर्भवति स जानात्यणुमुचितक्षेत्रकालाद्यैः ॥७८॥

अन्वयार्थ - परमावधिविज्ञानं - परमावधिज्ञान। **चरमशरीरस्य** - चरमशरीरी। **संयतस्य** - मुनि के। **भवेत्** - होता है। **पूर्ववत्** - देशावधि के समान। **एतत्** - यह अवधिज्ञान। **द्रव्यक्षेत्राद्यं** - द्रव्य, क्षेत्र आदि का। **आश्रित्य** - आश्रय लेकर। **त्रिविधं** - तीन प्रकार का है। **उत्कृष्टजघन्यद्वयं** - उत्कृष्ट,

जघन्य इनके। **एकैकं** - एक-एक। **विकल्पं** - विकल्प। **एव** - ही। **जानीयात्** - जानना चाहिए। **मध्यमजाताभेदाः** - मध्य से उत्पन्न भेद। **असंख्येयसंघाताः** - असंख्येयसंघात। **भवन्ति** - होते हैं॥७६-७७॥

सर्वावधिज्ञानं - सर्वावधिज्ञान। **विरामदेहस्य** - चरमशरीरी। **संयतस्य** - मुनि के। **प्रादुर्भवति** - उत्पन्न होता है। **सः** - वह सर्वावधि। **उचितक्षेत्रकालाद्यैः** - उचितद्रव्य क्षेत्रादि की अपेक्षा। **अणुं** - अणुपर्यन्त को। **जानाति** - जानता है॥७८॥

अर्थ - परमावधि ज्ञान चरम शरीरी मुनि के ही होता है। यह परमावधि ज्ञान भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर उत्पन्न होता है तथा यह जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम के भेद से तीन प्रकार का है। उनमें उत्कृष्ट और जघन्य के एक-एक ही भेद हैं, परन्तु मध्यम के असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं।

सर्वावधिज्ञान भी तद्भवमोक्षगामी मुनिराज के ही होता है तथा वह ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा उचित अणु तक पदार्थों को जानता है।

देशावधि और परमावधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है, परन्तु सर्वावधि एक ही प्रकार का है, उसमें जघन्यादि भेद नहीं हैं।

वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, अप्रतिपाती और प्रतिपाती ये आठ भेद देशावधि के होते हैं। हीयमान और प्रतिपाती को छोड़कर छह भेद परमावधि के होते हैं। अवस्थित, अनुगामी, अननुगामी और अप्रतिपाती ये चार भेद सर्वावधि के होते हैं।

यह अवधिज्ञान द्रव्य की अपेक्षा महास्कन्ध से लेकर परमाणु पर्यन्त सर्व पुद्गल द्रव्यों को, वा जीव के साथ बँधे हुए कर्म-पिण्ड तथा प्रतिसमय में सम्यग्दृष्टि आदि जीवों के होने वाली असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा, गुणसंक्रमण, अनुभागखण्डन, स्थितिखण्डन आदि को जानता है।

क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात लोकप्रमाण क्षेत्र को जानता है। काल की अपेक्षा अवधिज्ञान असंख्यात काल की बात जानता है अथवा वर्तमान में समस्त पर्यायविशिष्ट वस्तु को तथा भूत, भविष्यत्काल की असंख्यात वर्ष विशिष्ट पर्यायों सहित पुद्गल पदार्थ को जानता है।

भाव की अपेक्षा पुद्गल वा संयोगी जीव एवं संयोगी जीव की पर्यायों को जानता है।

रूपी पदार्थों को जानकर भी उनकी सारी पर्यायों को नहीं जानता है, कुछ पर्यायों को ही जानता है। पुद्गल कर्म के संयोग से होने वाले जीव के औदयिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावों को जानता है, परन्तु कर्मों के अभाव से होने वाले क्षायिक भाव और कर्म निरपेक्ष होने वाले पारिणामिक भावों को अवधिज्ञान नहीं जानता है। अर्थात् ये तीनों अवधिज्ञान भाव की अपेक्षा अतीत, अनागत एवं वर्तमान काल की विषय करने वाली असंख्यात लोक मात्र द्रव्यपर्यायों को जानते हैं।[१] उत्कृष्ट अवधिज्ञान भी अनन्त पर्याय और अनन्त संख्या को नहीं जानता है।

---

१. पर्यायों को भाव कहते हैं।

कुमति आदि ज्ञान का स्वरूप

आद्यं विज्ञानत्रयमुदितं मिथ्यात्वकर्मणो ह्युदयात्।
विपरीतरूपमाप्तं मत्यज्ञानादिनाम स्यात्॥७९॥

अन्वयार्थ - **हि** - निश्चय से। **मिथ्यात्वकर्मणः** - मिथ्यात्व कर्म के। **उदयात्** - उदय से। **आद्यं** - आदि में। **उदितं** - कहे गये। **विज्ञानत्रयं** - तीन ज्ञान (मतिश्रुतअवधि)। **विपरीतरूपं** - विपरीतरूप को। **प्राप्तं** - प्राप्त होता हुआ। **मत्यज्ञानादिनाम** - मति अज्ञान आदि नाम को। **स्यात्** - प्राप्त हो जाता है॥७९॥

अर्थ - ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, लक्षण है, परन्तु मिथ्यात्व कर्म के उदय से आदि के तीन ज्ञान (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान) विपरीत हो जाते हैं। जिस प्रकार कड़वी तुम्बी के संयोग से मधुर दूध कटु हो जाता है।

स्वसंवेदनज्ञान, इन्द्रियज्ञान, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, स्वार्थानुमान, बुद्धि, मेधा, प्रतिभा, कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारी, संभिन्नश्रोतृबुद्धि ये सब मतिज्ञान के भेद हैं, जिनका कथन मतिज्ञान के वर्णन में किया है। मतिज्ञान के असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं, परन्तु यह मतिज्ञान मिथ्यात्व कर्म के उदय से विपरीत हो जाता है जिससे वह मतिअज्ञान कहलाता है। कहा भी है - मति-अज्ञान भी क्षायोपशमिक है, क्योंकि यह मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होता है। मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय होने से तथा ज्ञानावरणीय के देशघाती स्पर्धकों का उदय होने से और उसी के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयक्षय होने से मतिअज्ञानित्व की उत्पत्ति होती है, इसलिए वह तदुभय प्रत्ययिक है। श्रुताज्ञानी और विभंगज्ञानी भी इसी प्रकार से तदुभयप्रत्ययिक जीवभाव बन्ध है, क्योंकि तीन प्रकार के सम्यक्त्व से रहित मतिज्ञानावरणीय कर्म के देशघाती स्पर्धकों के उदय से इसकी उत्पत्ति होती है।

इसी प्रकार श्रुतज्ञान भी मिथ्यात्व के साथ सम्बन्ध होने से कुश्रुत वा श्रुताज्ञान कहलाता है।

"**विभंगावधि** - मिथ्यादृष्टि जीव के अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए विशिष्ट अवधिज्ञान में मिथ्यादर्शन के उदय से उत्पन्न भंग, विपरीतता होने से यह ज्ञान विभंगावधि कहलाता है। यह विभंगावधि ज्ञान तिर्यंचों और मनुष्यों के कायक्लेशरूप तीव्र तपश्चरण से उत्पन्न होता है, इसलिए गुणप्रत्यय कहलाता है और देवों तथा नारकियों के यह विभंगावधिज्ञान भवप्रत्यय कहलाता है।"[१] यद्यपि तिर्यंचों और मनुष्यों के सम्यग्दर्शन गुण से उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान, देवों के अपर्याप्त अवस्था में पाया जाता है, परन्तु विभंगावधि अपर्याप्त अवस्था में नहीं है।

इन तीनों ज्ञानों में अज्ञानपने का कथन

अर्थानां याथात्म्याग्रहणात्संज्ञानमेव चाज्ञानम्।
युक्ताचाराभावात् पुत्रस्यापुत्रसंज्ञावत्॥८०॥

१. ध. १३

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अन्वयार्थ - अर्थानां - पदार्थों के । **याथात्म्याग्रहणात्** - वास्तविक स्वरूप के ग्रहण का अभाव होने से। **संज्ञानं** - संज्ञान। **एव** - ही। **अज्ञानं** - अज्ञान हो जाता है। **युक्ताचाराभावात्** - युक्तिपूर्वक आचार का अभाव होने से। **पुत्रस्य** - पुत्र की। **अपुत्रसंज्ञावत्** - अपुत्र संज्ञा हो जाती है॥८०॥

अर्थ - ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, जिसका लक्षण है पदार्थों को जानना। परन्तु जब यह ज्ञान मिथ्यात्व कर्म के उदय से वस्तु के याथात्म्य स्वरूप को ग्रहण न करके विपरीत ग्रहण करता है तो वही ज्ञान अज्ञान रूप हो जाता है।

मिथ्यात्व सहित होने से ज्ञान अपना वास्तविक कार्य करने में असमर्थ हो जाता है। संशय, विमोह, विभ्रम से युक्त होता है, न्यूनता आदि दोषों से युक्त होकर यथावस्थित प्रतिभास से शून्य होता है, अतः अज्ञान कहलाता है। इन तीन ज्ञानों में, जो वास्तव में अज्ञान हैं, अर्थात् ज्ञान में विशेषता होते हुए भी यदि वह सम्यग्दर्शन सहित नहीं तो उसे वास्तव में अज्ञान कहते हैं, वह अज्ञान क्षायोपशमिक भाव है।

ये तीनों कुज्ञान आत्महित में कारण नहीं हैं। जैसे किसी के पुत्र तो है परन्तु कार्य नहीं करता है न तो माता-पिता की सेवा करता है और न गृहस्थ सम्बन्धी कार्य की सम्हाल करता है, व्यसनी है, वह पुत्र नहीं अपुत्र है; उसी प्रकार इन तीन कुज्ञानों को समझना चाहिए। क्योंकि ये तीनों कुज्ञान आत्महितकर नहीं हैं अर्थात् इनसे आत्मकल्याण नहीं होता है।

मनःपर्यय ज्ञान का विवेचन

अन्यमनोगतविषयः स्वचेतसा संविलोक्यते येन।
तद्धीपर्ययबोधनमृजुविपुलविकल्पतो द्विविधम्॥८१॥

अन्वयार्थ - येन - जिस। **स्वचेतसा** - स्वचित (ज्ञान) के द्वारा। **अन्यमनोगतविषयः** - दूसरों का मनोगत विषय। **संविलोक्यते** - देखा जाता है। **तत्** - वह। **धीपर्ययबोधनं** - मनःपर्ययज्ञान। **ऋजुविपुलविकल्पतः** - ऋजु और विपुल के भेद से। **द्विविधं** - दो प्रकार का है।

अर्थ - जो ज्ञान दूसरे के मनोगत विषय को जानता है, उसे मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। वह ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है।

ऋजुधीपर्ययबोधनमुत्तममध्यमजघन्यतस्त्रिविधम्।
मध्यमनेकविकल्पं श्रेष्ठजघन्यद्वयमभेदम्॥८२॥

अन्वयार्थ - ऋजुधीपर्ययबोधनं - ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान। **उत्तममध्यमजघन्यतः** - उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से। **त्रिविधं** - तीन प्रकार का है। उनमें। **श्रेष्ठजघन्यद्वयं** - उत्कृष्ट और जघन्य ये दोनों। **अभेदं** - भेद रहित हैं। **मध्यं** - मध्यम ज्ञान के। **अनेकविकल्पं** - अनेक विकल्प हैं।

अर्थ - ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का है। उसमें जो उत्तम और जघन्य ऋजुमति ज्ञान है उसके कोई भेद नहीं है अर्थात् एक ही प्रकार का है। परन्तु मध्यम

ज्ञान के अनेक विकल्प हैं - वह अनेक प्रकार का है। जिस प्रकार चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य अन्तरात्मा है, बारहवाँ गुणस्थानवर्ती उत्तम अन्तरात्मा है परन्तु मध्यम अन्तरात्मा के अनेक भेद हैं अर्थात् पंचम गुणस्थान से लेकर ११ वें गुणस्थान तक सर्व आत्मा मध्यम अन्तरात्मा हैं।

मन:पर्ययज्ञान दो प्रकार का होता है। ये दोनों (अप्पमत्तस्स) अप्रमत्त मुनि के उपयोग में संयम के द्वारा प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ - यह आत्मा मन:पर्ययज्ञानावरणीयकर्म का क्षयोपशम होने पर दूसरे के मन में प्राप्त मूर्त वस्तु को जिसके द्वारा प्रत्यक्ष जानता है वह मन:पर्यय ज्ञान है। उसके दो भेद हैं - ऋजुमति और विपुलमति। इनमें विपुलमति मन:पर्ययज्ञान दूसरे के मन में प्राप्त पदार्थ को (सीधे व वक्र दोनों को) जानता है जबकि ऋजुमति मात्र सीधे को ही जानता है। इनमें से विपुलमति उन चरमशरीरी मुनियों के ही होता है जो निर्विकार आत्मानुभूति की भावना रखने वाले हैं तथा वे दोनों ही उपेक्षासंयम की दशा में संयमियों के ही होते हैं और केवल उन मुनियों के ही होते हैं जो वीतराग आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र की भावना सहित, पन्द्रह प्रमाद रहित अप्रमत्त गुणस्थान के विशुद्ध परिणामों से युक्त हैं। जब यह उत्पन्न होता है तब अप्रमत्त सातवें गुणस्थान में ही होता है, यह नियम है। फिर प्रमत्त के भी बना रहता है, यह तात्पर्य है।

ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान प्रतिपाती-अप्रतिपाती दोनों प्रकार का होता है, परन्तु विपुलमति मन:पर्ययज्ञान अप्रतिपाती ही होता है।

विपुलमति मन:पर्यय के भेद

विपुलमन:पर्ययमपि जघन्यमध्योत्तमाख्यया त्रिविधम्।
निर्भेदमुत्तमाद्यममनेकभेदात्मकं मध्यम्॥८३॥

अन्वयार्थ - **विपुलमन:पर्ययं** - विपुलमति मन:पर्ययज्ञान। **अपि** - भी। **जघन्यमध्यमोत्तमाख्यया** - उत्तम, मध्यम और जघन्य के नाम से। **त्रिविधं** - तीन प्रकार का है। **उत्तमाधमं** - उत्तम और जघन्य। **निर्भेदं** - भेद रहित हैं, परन्तु, **मध्यं** - मध्य। **अनेकभेदात्मकं** - अनेक भेदरूप है।

अर्थ - विपुलमति मन:पर्ययज्ञान भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है। मन:पर्ययज्ञान ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होता है, परन्तु क्षयोपशम अनेक प्रकार का है। अत: विपुलमति मन:पर्ययज्ञान भी अनेक प्रकार का है। इसे तीन भागों में विभाजित किया गया है उत्तम, मध्यम, और जघन्य।

उत्तम और जघन्य विपुलमति भेदरहित हैं, एक ही प्रकार के हैं। परन्तु मध्यम ज्ञान अनेक प्रकार का है। जैसे सर्व जघन्य श्रुतज्ञान लब्ध्यक्षर प्रमाण है और उत्कृष्ट ११ अंग और १४ पूर्व का परिपूर्ण ज्ञान

है। यहाँ पर्यायज्ञान सर्वजघन्य है और पूर्वज्ञान उत्कृष्ट है तथा पर्यायसमासादि पूर्व तक मध्यम भेद असंख्यात लोकप्रमाण हैं। उसी प्रकार विपुलमति मनः पर्ययज्ञान के भी मध्यम भेद असंख्यात लोकप्रमाण हैं।

विशेषार्थ - मनःपर्यय ज्ञान - अन्य व्यक्तियों के मन की बात को जानना मनःपर्यय ज्ञान है। यह ज्ञान मन के प्रवर्तक या उत्तेजक पुद्गल द्रव्यों को साक्षात् जानने वाला है। चिन्तक जैसा सोचता है उसके अनुरूप पुद्गल द्रव्यों की आकृतियाँ पर्यायें बन जाती हैं। दूसरे के मन में स्थित ये पर्यायें मनःपर्ययज्ञान के द्वारा जानी जाती हैं। वस्तुतः मनःपर्ययज्ञान का अर्थ है :-

मन की पर्यायों का ज्ञान। "परकीयमनसि व्यवस्थितोऽर्थो मनः तत् पर्येति जानाति इति मनःपर्ययः।" इस निरुक्ति अर्थ के अनुसार दूसरे के मन में स्थित पदार्थों को मनः कहते हैं और उस मन में स्थित पदार्थों को जानने वाला ज्ञान मनःपर्ययज्ञान है।

सारांश यह है कि संज्ञी-समनस्क जीवों के मन में जितने विकल्प उत्पन्न होते हैं वे संस्कार रूप से उनमें अवस्थित रहते हैं। मनःपर्ययज्ञान संस्कार रूप से अवस्थित मन के इन्हीं विकल्पों को जानता है। मनःपर्ययज्ञानी प्रथम मतिज्ञान के द्वारा दूसरे के मानस को ग्रहण करता है और तदनन्तर मनःपर्ययज्ञान की प्रवृत्ति अपने विषय में होती है।

गोम्मटसार में लिखा है- ऋजुमति और विपुलमति के भेद से मनःपर्यय ज्ञान दो प्रकार का है।

ऋजुमति वाला दूसरे के मन में सरलता के साथ स्थित पदार्थ को पहले ईहा मतिज्ञान के द्वारा जानता है, तदनन्तर प्रत्यक्षरूप से नियम से ऋजुमति ज्ञान के द्वारा जानता है।

अंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों द्वारा हृदयस्थान में नियम से विकसित आठ पाँखड़ी के कमल के आकार में द्रव्य मन उत्पन्न होता है, इस द्रव्य मन की नोइन्द्रिय संज्ञा भी है क्योंकि दूसरी इन्द्रियों की तरह यह व्यक्त नहीं है। इस द्रव्य मन के होने पर ही भाव मन तथा मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है।

सामान्य की अपेक्षा मनःपर्यय एक प्रकार का है और विशेष भेदों की अपेक्षा दो प्रकार का है: ऋजुमति और विपुलमति।

ऋजुमति के तीन भेद भी हैं - ऋजुमनोगतार्थ विषयक, ऋजुवचनगतार्थ विषयक और ऋजुकायगतार्थ विषयक। परकीय मनोगत होने पर भी जो ज्ञान सरलतया मन, वचन, काय के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों को विषय करता है वह ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान है।

विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के छह भेद हैं। ऋजु (सरल) मन, वचन, काय के द्वारा चिन्तित परकीय मनोगत पदार्थों का विषय करने की अपेक्षा तीन भेद हैं तथा कुटिल मन, वचन, काय के द्वारा परकीय मनोगत पदार्थों को विषय करने की अपेक्षा तीन भेद हैं।

ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान का विषय शब्दगत एवं अर्थगत दोनों ही प्रकार का होता है।

ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान वर्तमान जीवों के द्वारा चिन्त्यमान त्रिकालविषयक रूपी पदार्थों को जानता है, परन्तु विपुलमति मनःपर्ययज्ञान भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालों के पदार्थों को जानता है अर्थात् जिस पदार्थ का भूतकाल में चिन्तन किया था, भविष्य में जिसका चिन्तन करेगा तथा वर्तमान में जिसका चिन्तन कर रहा है, उन सबको विपुलमतिज्ञान जानता है। मानव क्षेत्र में रहने वाले समस्त मानवों, तिर्यंचों और देवों के मानसिक विचारों को जानने में यह ज्ञान समर्थ है। यह मनःपर्ययज्ञान सात ऋद्धियों में से किसी एक ऋद्धि के धारक और विशिष्ट निर्मल तथा उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त चारित्र के धारी मुनिराजों के ही होता है।

विपुलमति ज्ञान होने के बाद छूटता नहीं है अर्थात् विपुलमति ज्ञान के धारी मुनिगण उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाणपद को प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानी के यह नियम नहीं है क्योंकि ऋजुमति ज्ञानी उसी भव में मोक्ष जा भी सकता है और नहीं भी जा सकता है। ऋजुमति ज्ञान होकर छूटने के बाद अर्ध-पुद्गल परावर्तन काल तक संसार में परिभ्रमण भी कर सकता है।

ऋजुमति का जघन्य द्रव्य औदारिक शरीर के निर्जीर्ण समयप्रबद्ध प्रमाण है और उत्कृष्ट द्रव्य चक्षुरिन्द्रिय के निर्जरा द्रव्यप्रमाण है। क्षेत्र की अपेक्षा ऋजुमतिज्ञान कम-से-कम (जघन्य) दो तीन कोस की बात जानता है और उत्कृष्ट ७-८ (सात-आठ) योजन में स्थित मानव के हृदय की बात जानता है। काल की अपेक्षा जघन्य दो-तीन भव की, उत्कृष्ट सात-आठ भव की बात जानता है। भाव की अपेक्षा ऋजुमति ज्ञान जघन्य वा उत्कृष्ट आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण जानता है तथापि जघन्य प्रमाण से उत्कृष्ट प्रमाण असंख्यात गुणा अधिक है।

विपुलमति मनःपर्ययज्ञान क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य (कम-से-कम) सात-आठ योजन में स्थित मनुष्यों के हृदयों के विचारों को जानता है और उत्कृष्ट मानवलोकप्रमाण क्षेत्र में स्थित मानव, तिर्यंच और देवों के मानसिक विचारों को जानता है। काल की अपेक्षा जघन्य आठ-नौ भव की बात जानता है और उत्कृष्ट पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण भवों को जानता है।

भाव की अपेक्षा ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान के उत्कृष्ट विषय से असंख्यातगुणा विषय विपुलमति ज्ञान का है और उत्कृष्ट विषय असंख्यात लोकप्रमाण है। द्रव्य की अपेक्षा विपुलमति जघन्य से मनोवर्गणाओं के विकल्प में अनन्त का भाग देने से जो लब्ध आता है उतना जानता है और उत्कृष्ट मनोवर्गणा में ऋजुमति के उत्कृष्ट द्रव्य का भाग देने से जो लब्ध आता है, उतना जानता है।

एतानि ज्ञानानि स्वावरणानां क्षयोपशमजानि।
केवलमशेषवस्तुस्वरूपसंवेदि तत् क्षयजं ॥८४॥

अन्वयार्थ - **एतानि** - ये। **ज्ञानानि** - ज्ञान। **स्वावरणानां** - अपने-अपने आवरण के।

क्षयोपशमजानि - क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं। **अशेषवस्तुस्वरूपसंवेदि** - सर्ववस्तुओं के स्वरूप का ज्ञाता। **क्षयजं** - सम्पूर्ण आवरण के क्षय से उत्पन्न होने वाला। **तत्** - वह। **केवलं** - केवलज्ञान है।

अर्थ - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान अपने आवरण के क्षयोपशम से होते हैं इसलिए क्षायोपशमिक हैं और समस्त वस्तुओं के स्वरूप को जानने वाला सम्पूर्ण ज्ञानावरणीय के क्षय से उत्पन्न होने वाला केवलज्ञान है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सर्व द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायों को जानते हैं। इस ज्ञान की उत्पत्ति या विकास में इन्द्रिय और मन कारण होता है।

अवधिज्ञान केवल रूपी पदार्थों को जानता है और उनकी भी सारी पर्यायों को नहीं जानता है। कर्मबन्ध से युक्त आत्मा और आत्मा के कुछ भवों को जानता है। अवधिज्ञान में इन्द्रिय और मन कारण नहीं पड़ते हैं, अपितु सीधे आत्मा से ही जानता है।

मन:पर्ययज्ञान दूसरे के मन में स्थित पदार्थों को जानता है। ये चारों ज्ञान सीमित हैं, परन्तु केवलज्ञान असीम है, क्षायिक है एवं स्वाभाविक है।

संक्षेप से प्रमाण का कथन और नय का स्वरूप

सामान्यविशेषात्मकवस्तुग्रहणात्प्रमाणमेतद्धि।
नय एकांशग्रहणाद् दुर्नय इतरांशनिर्लोपात्॥८५॥

अन्वयार्थ - **हि** - निश्चय से। **सामान्यविशेषात्मकवस्तु ग्रहणात्** - सामान्यविशेषात्मक वस्तु को ग्रहण करने वाला। **एतत्** - यह। **प्रमाणं** - प्रमाण है। **एकांशग्रहणात्** - एक अंश ग्रहण करने वाला होने से। **नय:** - नय कहलाता है। **इतरांशनिर्लोपात्** - इतर अंश का लोप करने वाला। **दुर्नय:** - दुर्नय कहलाता है।

अर्थ - सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को ग्रहण करने वाला **प्रमाण** कहलाता है तथा वस्तु के एकदेश को ग्रहण करने वाला **नय** कहलाता है। जो एक अंश का लोप करता है, वह **दुर्नय** कहलाता है।

विशेषार्थ - अर्थीजन जिसके लिए बाह्य और आभ्यन्तर तप के द्वारा मार्ग का केवन अर्थात् सेवन करते हैं वह केवलज्ञान कहलाता है। अथवा केवल शब्द असहायवाची है। जो ज्ञान असहाय है अर्थात् इन्द्रिय, मन और आलोक की अपेक्षा से रहित है। त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायों से समवाय सम्बन्ध को प्राप्त अनन्त वस्तुओं को जानने वाला है, असंकुचित अर्थात् सर्व व्यापक है और असपत्न अर्थात् प्रतिपक्षी रहित है, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है तथा ज्ञेय लोक और अलोक है, इसलिए ज्ञान सर्वगत है।

ज्ञान चित्रपट के समान है। जैसे चित्रपट में अतीत, अनागत और वर्तमान वस्तुओं के आलेख्याकार साक्षात् एक समय में भासित होते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी भित्ति में भी भासित होते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

केवलज्ञानी सब जीवों और सर्वभावों को सम्यक् प्रकार से युगपत् जानते हैं, देखते हैं और विहार करते हैं। जैसे सूर्य अपने प्रकाश में जितने पदार्थ समाविष्ट होते हैं उन सबको युगपत् प्रकाशित करता है।

स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शन से युक्त भगवान् देवलोक और असुरलोक के साथ मनुष्यलोक की अगति, गति, चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरह:कर्म, सब लोकों के सब जीवों और सब भावों को सम्यक् प्रकार से युगपत् जानते हैं, देखते हैं और विहार करते हैं। (ष.खं. १३/५, ५/सू. ८२/३४६)

इस प्रकार केवलज्ञान का स्वरूप जानना चाहिए। इस प्रकार पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञान का कथन पूर्ण हुआ। अब **प्रमाण** का कथन करते हैं।

ज्ञान को ही प्रमाण कहते हैं। 'तत्प्रमाणे' तत्त्वार्थसूत्र में कहा है। हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में जो समर्थ होता है, वह प्रमाण कहलाता है। हित की प्राप्ति और अहित का परिहार ज्ञान से ही होता है, अत:ज्ञान ही प्रमाण है।

''स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं'' (परीक्षामुख)। सामान्य और विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय होता है इसलिए श्लोक में 'सामान्यविशेषात्मकवस्तुग्रहणात्' यह विशेषण दिया गया है। ज्ञान सामान्य है, प्रमाण विशेष है, ज्ञान के द्वारा जाने हुए विषय में व्यभिचार (संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय) हो सकता है, परन्तु प्रमाण में नहीं। प्रमाण की यही प्रमाणता है कि जाने हुए विषय में व्यभिचार नहीं होता। प्र - उत्कृष्ट अर्थात् संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित मान यानी ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, मिथ्याज्ञान (कुमति, कुश्रुत, कुअवधि) प्रमाण नहीं हैं।

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

स्वार्थ और परार्थ के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है। ज्ञानात्मक (मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान) प्रमाण को स्वार्थ प्रमाण कहते हैं और वचनात्मक (श्रुतज्ञान) परार्थ प्रमाण कहलाता है। मतिज्ञानादि चार ज्ञान तो स्वार्थ ही हैं। परन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार का है। इस प्रकार स्वार्थ और परार्थ ज्ञान भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण में गर्भित हो जाते हैं। अत: प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है अथवा मतिज्ञानादि भेद से ज्ञान पाँच प्रकार का है तो प्रमाण भी पाँच प्रकार का है। **इस प्रकार ज्ञान आराधना में सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया।**

अब ज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थों के कथन करने वाले नयों का कथन करते हैं।

विश्व के सभी दर्शनशास्त्र वस्तुतत्त्व की कसौटी रूप में प्रमाण को स्वीकार करते हैं, किन्तु जैनधर्म, दर्शन इस सम्बन्ध में एक नवीन सूझ देता है। जैन दर्शन की मान्यता है कि प्रमाण अकेला वस्तु तत्त्व को परखने में समर्थ नहीं है। वस्तु की यथार्थता का निर्णय प्रमाण और नय के द्वारा ही हो सकता है। जैनेतर

दर्शन नय को स्वीकार नहीं करने के कारण ही एकान्तवाद के पोषक बन गये हैं जबकि जैन दर्शन नयवाद को अंगीकार करने से अनेकान्तवादी है।

प्रमाण वस्तु की समग्रता और उसके अखण्ड एकरूप को विषय करता है अर्थात् जानता है और नय उसी वस्तु के अंशों को, उसके खण्ड-खण्ड रूपों को जानता है।

किसी भी वस्तु का पूरा स्वरूप और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसका विश्लेषण करना अनिवार्य है। विश्लेषण के बिना उसका परिपूर्ण स्वरूप नहीं जाना जा सकता। इसलिए तत्त्व का विश्लेषण करना और उसके विश्लिष्ट अखण्ड वा खण्ड स्वरूप को समझना ही नय की उपयोगिता है। नयवाद के द्वारा परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों के अविरोध का मूल खोजा जाता है तथा इनका समन्वय किया जाता है।

नय विचारों की मीमांसा है। जहाँ एक ओर वे विचारों के परिणाम और कारण का अन्वेषण करते हैं, वहीं दूसरी ओर परस्पर विरोधी विचारों में अविरोध का बीज खोजकर समन्वय स्थापित करते हैं।

जीव, अजीव आदि सभी पदार्थों में परस्पर विरोधी धर्म एवं मन्तव्य उपलब्ध होते हैं, जैसे एक जगह विधान है कि आत्मा नित्य है तो दूसरी जगह कहा गया है कि आत्मा अनित्य है। ऐसे विरुद्ध दिखाई देने वाले धर्म एवं मन्तव्यों के विषय में नयवाद अपेक्षा की नीति अपनाता है। वह विचार करता है कि किस दृष्टिकोण से आत्मा नित्य है और किस दृष्टिकोण से अनित्य ? इस प्रकार के दृष्टिकोणों का अन्वेषण करके उन विचारों के समन्वय की पीठिका तैयार करता है, इस कारण नयवाद अपेक्षावाद भी कहा जाता है। जगत् में विचारों के आदान-प्रदान का साधन नय है।

नय का लक्षण - नय श्रुतज्ञान का भेद है। श्रुतं तु स्वार्थं परार्थं च भवति। ज्ञानात्मकं श्रुतं स्वार्थं, वचनात्मकं परार्थं। वचन-विकल्पस्तु नयः। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं - स्वार्थ और परार्थ। उसमें जो परार्थ है (अर्थात् वचनों के द्वारा दूसरों को समझाया जाता है।) वह वचनात्मक है और जो वचनात्मक है वही नय है। 'श्रुतमूलनयाः' श्रुत का मूल नय हैं। 'श्रुतविषयकदेशज्ञानं नयः' श्रुतज्ञान के विषय का एकदेश नय है।

अनेक गुणों और अनेक पर्यायों सहित एक परिणाम से दूसरे परिणाम में, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में और एक काल से दूसरे काल में अविनाशी स्वभाव रूप से रहने वाले द्रव्य को जो ले जाता है अर्थात् उसका ज्ञान कराता है, उसे नय कहते हैं।

जो श्रुतज्ञान प्रमाण से जाने हुए पदार्थों का एक अंश मुख्यतः ग्रहण करके अन्य अंशों को गौण रूप से स्वीकार करता है, उसे नय कहते हैं। या वक्ता के अभिप्राय को नय कहते हैं।

जो युगपत् सर्व पदार्थों को जानता है वह तत्त्वज्ञान प्रमाण है और जो क्रमशः जानता है वह स्याद्वाद नय से संस्कृत है, वह कर्म भावी ज्ञान नय कहलाता है।

सामान्य - विशेषात्मक वस्तु को ग्रहण करने वाला सकलादेशी प्रमाण कहलाता है और वस्तु के एकदेश को ग्रहण करने वाला नय कहलाता है।

प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश में वस्तु का निश्चय कराने वाले ज्ञान को नय कहते हैं।[१]

साधर्मी का विरोध न करते हुए, साधर्म्य से ही साध्य को सिद्ध करने वाला नय है।

वस्तु को प्रमाण से जानकर अनन्तर किसी एक अवस्था द्वारा पदार्थ का निश्चय करना नय है।

प्रमाण से निश्चित किये हुए पदार्थों के एक अंश का ज्ञान करने को नय कहते हैं अर्थात् प्रमाण द्वारा निश्चय हो जाने पर उसके उत्तरकालभावी परामर्श को नय कहते हैं।

श्रुतज्ञान को मूलकारण मानकर ही नय-ज्ञानों की प्रवृत्ति होना सिद्ध माना गया है।

श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं। उच्चारण किये हुए अर्थ पद और उसमें किये गये निक्षेप को देखकर अर्थात् समझकर पदार्थ के ठीक निर्णय तक पहुँचा देते हैं, इसलिए वे नय कहलाते हैं। अनेक गुणों और अनेक पर्यायों सहित अथवा उनके द्वारा एक परिणाम से दूसरे परिणाम में, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मेंऔर एक काल से दूसरे काल में अविनाशी स्वभाव रूप से रहने वाले द्रव्य को जो ले जाता है, अर्थात् उसका ज्ञान करा देता है, उसे नय कहते हैं।

जीवादि पदार्थों को जो लाते हैं, प्राप्त कराते हैं, बनाते हैं, अवभास कराते हैं, उपलब्ध कराते हैं, प्रगट कराते हैं, वे नय हैं।

नाना स्वभावों से हटाकर वस्तु को एक स्वभाव में जो प्राप्त कराये उसे नय कहते हैं।

प्रतिपक्षी अर्थात् विरोधी धर्मों का निराकरण न करते हुए वस्तु के एक अंश या धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय नय है।

नाना धर्मों से युक्त भी पदार्थ के एक धर्म को नय कहते हैं, क्योंकि उस समय उसी धर्म की विवक्षा है, शेष धर्मों की नहीं।

प्रमाण से गृहीत वस्तु के पर्याय या द्रव्य में अथवा सामान्य वा विशेष में वस्तु के निश्चय को नय कहते हैं।

नय के मूल भेद दो हैं - द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। तीर्थंकरों के वचनों के सामान्य प्रस्तार का मूल व्याख्यान करने वाला द्रव्यार्थिक नय है और उन्हीं वचनों के विशेष प्रस्तार का मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनों नयों के विकल्प अर्थात् भेद हैं।[२] या शाखा प्रतिशाखा हैं। द्रव्य की मुख्यता से कथन करने वाला द्रव्यार्थिक नय है तथा पर्याय की मुख्यता से कथन करने वाला पर्यायार्थिक नय है।

---

१. ध. १/१,१,१/८३। २. ध. १/१,१,१,/गाथा ५।

द्रव्यार्थिक नय के दश भेद हैं -

(१) कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय - जैसे संसारी जीव सिद्ध के समान शुद्धात्मा हैं। कर्मों से बँधे हुए जीव को यह नय सिद्ध के समान शुद्ध बताता है, अतः यह कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

(२) उत्पाद और व्यय को गौण करके मुख्यरूप से जो केवल सत्ता को ग्रहण करता है, वह सत्ताग्राहक **शुद्ध द्रव्यार्थिक नय** कहलाता है। इस नय की अपेक्षा सर्व पदार्थ उत्पाद - व्यय से रहित नित्य हैं।

(३) गुण-गुणी में, पर्याय-पर्यायी में भेद न करके अभिन्न रूप से एक स्वरूप से ग्रहण करता है, वह **भेदकल्पनानिरपेक्ष** शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। इस नय की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश और जीव इन चारों बहुप्रदेशी द्रव्यों की अखण्डता होने के कारण एकप्रदेशपना है।

(४) कर्मजनित रागादि विभाव भावों को तथा औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक इन तीनों भावों को, इन भावों से उत्पन्न नर-नारकादि पर्यायों को जीव की कहना अर्थात् जीव नारकी है, तिर्यंच है, आदि रूप से कथन करने वाला **कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय** है।

(५) द्रव्य एक समय में ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है, ऐसा कथन करना **उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय** का विषय है।

(६) **भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय** की अपेक्षा ज्ञान-दर्शन आदि आत्मा के गुण हैं तथा धर्म, अधर्म, आकाश व जीव ये चारों द्रव्य अनेकप्रदेशस्वभाव वाले हैं।

जो द्रव्य में गुण-गुणी भेद करके उनमें सम्बन्ध स्थापित करता है (जैसे जीव गुण व पर्याय वाला है अथवा जीव ज्ञानवान है) वह **भेदकल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय** है।

(७) **अन्वयसापेक्ष द्रव्यार्थिक नय** की अपेक्षा गुणपर्यायस्वरूप ही द्रव्य है और इसीलिए इस नय की अपेक्षा एक द्रव्य के भी अनेक स्वभावीपना है। (जैसे जीव ज्ञानस्वरूप है, जीव दर्शनस्वरूप है)

निःशेष स्वभावों को जो पूर्ण द्रव्यों के साथ अन्वय या अनुस्यूत रूप से कहता है वह अन्वय सापेक्ष द्रव्यार्थिक नय है।

(८) **स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय** की अपेक्षा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव इस चतुष्टय से ही द्रव्य का अस्तित्व है या इन चारों रूप ही द्रव्य का अस्तित्व स्वभाव है।

(९) **परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय** की अपेक्षा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव इस पर-चतुष्टय से द्रव्य का नास्तित्व है अर्थात् पर-चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य का नास्तित्व स्वभाव है।

(१०) **परमभावग्राहकद्रव्यार्थिकनय** इस नय की अपेक्षा आत्मा ज्ञान स्वभाव में स्थित है।

परमभाव ग्राहक नय से भव्य व अभव्य पारिणामिक स्वभावी हैं, कर्म व नोकर्म मूर्त स्वभावी हैं, पुद्गल के अतिरिक्त शेष द्रव्य अमूर्त स्वभावी हैं; काल व परमाणु एकप्रदेशस्वभावी हैं। जो औदयिकादि अशुद्ध भावों से तथा शुद्ध क्षायिक भाव के उपचार से रहित केवल द्रव्य के त्रिकाली परिणामाभाव रूप स्वभाव को ग्रहण करता है उसे परमभावग्राही नय जानना चाहिए। सर्वविशुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्ध उपादानभूत शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से जीव कर्त्ता, भोक्ता व मोक्ष आदि के कारणरूप परिणामों से शून्य है। शुद्ध निश्चय नय बन्ध मोक्ष से अतीत शुद्ध जीव को विषय करता है।

पर्याय ही जिसका प्रयोजन है वह **पर्यायार्थिक** नय कहलाता है। द्रव्य - पर्यायात्मक वस्तु में से जो केवल पर्याय का ही मुख्य रूप से ज्ञान कराता है, अनुभव कराता है, कथन करता है, उसको पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

पर्याय का अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति (भेद) है। विशेष वा भेद का कथन करने वाला पर्यायार्थिक नय कहलाता है।

इस पर्यायार्थिक नय के अनेक भेद हैं तथापि मुख्य रूप से छह भेद हैं। छह भेदों का कथन इस प्रकार है -

(१) अनादि नित्य पर्यायार्थिक नय, (२) सादिनित्य पर्यायार्थिक नय, (३) स्वभाव नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय, (४) स्वभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय, (५) कर्मोपाधि निरपेक्ष स्वभाव अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय और (६) कर्मोपाधि सापेक्ष स्वभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय।

(१) भरत आदि क्षेत्र, हिमवान आदि पर्वत, पद्म आदि सरोवर, सुदर्शन आदि मेरु, लवण व कालोद आदि समुद्र, इनको मध्य रूप या केन्द्ररूप करके स्थित असंख्यात द्वीप-समुद्र, नरक पटल, भवनवासी व व्यन्तर देवों के विमान, चन्द्र व सूर्य मण्डल आदि ज्योतिषी देवों के विमान, सौधर्मकल्प आदि स्वर्गों के पटल, यथायोग्य स्थानों में परिणत अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालय, मोक्षशिला, वृहद् वातवलय तथा इन सबको आदि लेकर अन्य भी आश्चर्यरूप परिणत जो पुद्गल की पर्याय तथा उनके साथ परिणत लोकरूप महास्कन्ध पर्याय जो त्रिकालस्थित रहते हुए अनादिनिधन है, इनको विषय करने वाला अर्थात् इनकी सत्ता को स्वीकार करने वाला **अनादि नित्य पर्यायार्थिक नय** है।

(२) (परमभाव ग्राहक) शुद्ध निश्चयनय को गौण करके, सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से उत्पन्न तथा चरम शरीर के आकार रूप पर्याय से परिणत जो शुद्ध सिद्ध पर्याय है, उसको विषय करने वाला अर्थात् उसको सत् समझने वाला **सादि नित्य पर्यायार्थिक नय** है।

(३) पदार्थ में विद्यमान गुणों की अपेक्षा को मुख्य न करके उत्पाद व्यय ध्रौव्य के आधीनपने रूप से द्रव्य को विनाश व उत्पत्ति स्वरूप मानने वाला **सत्तानिरपेक्ष या सत्तागौण उत्पाद व्यय ग्राहक स्वभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय** है।

(४) अगुरुलघु आदि गुण स्वभाव से ही षट्गुण हानि वृद्धि रूप क्षणभंगुर अर्थात् एकसमयवर्ती पर्याय से परिणत हो रहे हैं। तो भी सत् द्रव्य के अनन्त गुण और पर्यायें परस्पर संक्रमण न करके अपरिणत अर्थात् अपने-अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं। द्रव्य को इस प्रकार से ग्रहण करने वाला नय **सत्ता सापेक्ष स्वभाव नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय** है।

(५) चराचर पर्याय परिणत संसारी जीवधारियों के समूह में शुद्ध सिद्धपर्याय की विवक्षा से कर्मोपाधि से निरपेक्ष विभाव-नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है। (यहाँ पर संसार रूप विभाव में यह नय नित्य शुद्ध सिद्ध पर्याय को जानने की विवक्षा रखते हुए संसारी जीवों को भी सिद्ध सदृश बताता है। इसी को 'आलाप पद्धति' में **कर्मोपाधि निरपेक्ष स्वभाव अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय** कहा गया है।)

(६) जो शुद्ध पर्याय की विवक्षा न करके कर्मोपाधि से उत्पन्न हुई नारकादि विभाव पर्यायों को जीव स्वरूप बताता है, वह **कर्मोपाधि सापेक्ष विभाव अनित्य अशुद्ध** पर्यायार्थिकनय है। (इसी को आ. प. में कर्मोपाधि सापेक्ष स्वभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय कहा गया है।)

अथवा, शुद्ध पर्यायार्थिक और अशुद्ध पर्यायार्थिक के भेद से पर्यायार्थिक नय दो प्रकार का है।

शुद्ध पर्याय अर्थात् समय मात्र स्थायी, षट्गुण हानि-वृद्धि द्वारा उत्पन्न सूक्ष्म अर्थपर्याय ही जिसका प्रयोजन है वह शुद्ध पर्यायार्थिक नय है और अशुद्ध पर्याय अर्थात् चिरकाल स्थायी वा स्थूल व्यञ्जन पर्याय ही है प्रयोजन जिसका वह अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है।

शुद्ध सूक्ष्म अर्थपर्याय का विषय करने वाला सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय शुद्ध पर्यायार्थिक नय है और स्थूल व्यंजन पर्याय को ग्रहण करने वाला अशुद्ध ऋजुसूत्र अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है।

संक्षेप कथन से इन दोनों पर्यायार्थिक नयों में सारे पर्यायार्थिक नय गर्भित हो जाते हैं।

अथवा

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय की अपेक्षा नय सात प्रकार के होते हैं।

नैगमनय : ''अनिष्पन्नार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः'' (प्र.क. मार्तण्ड, पृष्ठ २०५) अनिष्पन्न - अपरिपूर्ण, पदार्थों के संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला नैगमनय है अथवा ''अर्थसङ्कल्पमात्रग्राही नैगमः'' (त.रा.वा.१/३३) निगम का अर्थ संकल्प है, अर्थ को संकल्प मात्र से ग्रहण करना जिसका विषय है, उसे नैगम नय कहते हैं।

जैसे कोई मनुष्य कुल्हाड़ी लेकर जा रहा था, किसी ने पूछा - आप कहाँ जा रहे हैं ? उसने कहा, प्रस्थ (मापने का पात्र) लेने जा रहा हूँ। ऐसे ही किसी व्यक्ति से जो लकड़ी और पानी आदि एकत्र कर रहा था, पूछा - आप क्या कर रहे हैं ? उसने उत्तर दिया - चावल पका रहा हूँ। परन्तु उस समय वह प्रस्थ पर्याय और ओदन पर्याय निष्पन्न नहीं है, उसकी निष्पत्ति के लिए संकल्प मात्र में प्रस्थादि का व्यवहार है।

अथवा - एक धर्म जिसका विषय नहीं है, उसको नैगम नय कहते हैं। अर्थात् संग्रह और असंग्रह रूप द्रव्यार्थिक नय का विषय करने वाला नैगम नय है।

''अन्योन्यगुणप्रधानभूतेन भेदाभेदप्ररूपणो नैगमः'' धर्म और धर्मी में एक को गौण और दूसरे को प्रधान करके वस्तु का कथन करने वाला नैगम नय कहलाता है। जैसे सुख जीव का गुण है, इस प्रकार के कथन में सुख की विशेषता होने से जीव की अप्रधानता है और सुख की प्रधानता है क्योंकि जीव सुख का विशेष है। सुखी जीव है, इसमें जीव विशेष्य है और सुखी उसका विशेषण है। इसलिए जीव प्रधान है और सुख गौण है। इस प्रकार नैगमनय विशेष्य विशेषण में एक को गौण और एक को मुख्य करके वर्णन करता है, तो भी इस नय में प्रमाणपने का प्रसंग नहीं आता है क्योंकि प्रमाण में धर्म और धर्मी की प्रधानता की ज्ञप्ति की असम्भवता है। अर्थात् प्रमाण एक को प्रधानता और एक को गौणता से ग्रहण नहीं करता है। धर्म और धर्मी की प्रधानता और गौणता का तो अनुभव नैगम नय से ही किया जाता है तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक द्रव्य का प्रधानता से अनुभव करने वाले विज्ञान को प्रमाण जानना चाहिए।

निगम अर्थात् लोकरूढ़ि वा लौकिक संस्कार से उत्पन्न हुई कल्पना को नैगम नय कहते हैं। जैसे चैत्र शुक्ला त्रयोदशी आने पर कहना कि आज भगवान महावीर का जन्मदिन है। वास्तव में, भगवान महावीर का जन्म अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व हुआ था फिर भी लोकरूढ़ि के अनुसार ऐसा कहा जाता है कि आज भगवान का जन्मदिवस है अथवा जैसे रास्ता कहीं नहीं जाता है तथापि लोग कहते हैं कि यह रास्ता पटना जाता है। फूटे घड़े से पानी टपकता है मगर दुनिया कहती है घड़ा टपकता है। जिस दृष्टिकोण से ऐसे कथन सही समझे जाते हैं वह दृष्टिकोण नैगम नय कहलाता है।

संग्रह नय - अपनी जाति के अविरोध से एकत्व को प्राप्त अर्थों के आक्रान्त भेदों को एक साथ ग्रहण करना संग्रह नय है। पर-संग्रह नय और अपर-संग्रह नय के भेद से संग्रह नय दो प्रकार का है।

पर-संग्रह नय ''सकल पदार्थों का सदात्मा से एकत्व'' को विषय करता है ''सर्वमेकं सदविशेषात्'' सर्व एक है। सत्गुण की अपेक्षा इसमें भेद नहीं है क्योंकि 'सत्' इस प्रकार का वाक्य 'इदं सत् इदं सत्' इस प्रकार के विज्ञान से अनुवृत्ति लिङ्ग से अनुमित सत्तात्मक एकत्व से सारे पदार्थों का ग्रहण किया जाता है। अथवा संग्रह नय का अर्थ है सत्ता में अभेद दृष्टि। जड़ और चेतन तत्त्वों की जो धारा समान रूप से प्रवाहित हो रही है, उसी सामान्य तत्त्व को मुख्य करके सत्ता धर्म की प्रधानता को लक्ष्य में रखकर सबको एकरूप मानने वाला अभिप्राय **पर-संग्रह नय** कहलाता है।

सत्ता सामान्य वा महासत्ता की अपेक्षा चेतन और अचेतन दोनों एक हैं क्योंकि दोनों में ही सत्ता समान रूप से व्याप्त है। अपर संग्रहनय की अपेक्षा निगोद आदि सर्व जीवात्मा सामान्य हैं क्योंकि उनकी स्वाभाविक चेतना में कोई विलक्षणता नहीं है तथा मानवत्व की अपेक्षा सर्व मानव एक हैं क्योंकि मानव जाति एक है, इस प्रकार समान धर्म के आधार पर एकत्व की स्थापना करना **संग्रह नय** है।

व्यवहार नय - संग्रह नय से गृहीत पदार्थों का विधिपूर्वक विभाजन करना अथवा भेद करके

प्ररूपण करना व्यवहार नय है। जिस प्रकार पर-संग्रह नय के द्वारा सत् धर्म के आधार पर 'सर्वं एकं सत्त्वत्वात्' सर्व सत्त्व का एकत्व से संग्रह किया है, व्यवहार उसमें भेद करता है कि जो 'सत्' है वह द्रव्य है तथा पर्याय है, उसी प्रकार 'अपर संग्रह' 'सर्व द्रव्याणि द्रव्यं' सारे द्रव्यों को द्रव्य रूप से - सारी पर्यायों को पर्याय रूप से संग्रह करता है, व्यवहार उनमें विभाग करता है। जो द्रव्य है वह जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से छह प्रकार का है।

जो पर्याय है वह सहभावी और क्रमभावी के भेद से दो प्रकार की है। इस प्रकार व्यवहार नय का प्रपंच ऋजुसूत्र के पूर्व और पर-संग्रह के उत्तर मध्य में जानना चाहिए। क्योंकि समस्त वस्तुओं का स्वरूप कथञ्चित् सामान्य-विशेषात्मक ही सम्भव है। इस प्रकार द्रव्य और पर्यायों का भेद करने वाला होने से व्यवहार नय को नैगम नय का भी प्रसंग नहीं आता है क्योंकि संग्रह नय के विषय का विभाजन करना व्यवहार नय का कार्य (विषय) है और गौण व संकल्प मात्र से पर्याय और द्रव्य - इन दोनों को ग्रहण करना नैगम नय का विषय है। अथवा पदार्थों में रहने वाले विशेष अर्थात् भेद करने वाले धर्मों को प्रधान करके उनमें भेद स्वीकार करने का दृष्टिकोण व्यवहार नय है।

अभेद की प्रधानता पर संग्रहनय चलता है परन्तु अभेद से लोकव्यवहार चलना अशक्य है। चेतन-अचेतनात्मक द्रव्य सत्ता की समानता के कारण यद्यपि एक है तथापि अचेतन चेतन नहीं है क्योंकि चेतना तो आत्मा में ही है, इसलिए दोनों में पृथक्ता भी वास्तविक है। मनुष्यत्व सामान्य की अपेक्षा मानव मात्र एक है तथापि मानव-मानव में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाला अन्तर (भेद) भी वास्तविक है। जैसे पुद्गल द्रव्य सामान्य की अपेक्षा दूध और पानी एक हैं तथापि अनुभव एवं कार्यों में आने वाला उन दोनों का भेद वास्तविक है। इस प्रकार पृथक्-पृथक् करने वाला दृष्टिकोण व्यवहार नय है।

अभेद से लोकव्यवहार नहीं चल सकता। लोकव्यवहार के लिए भेद की आवश्यकता होती है जैसे संग्रह नय की अपेक्षा से दूध और घी एक है परन्तु दूध के स्थान पर घृत और घृत के स्थान पर दूध से कार्य नहीं चलता इसलिए दूध और घृत में भेद है तथा कार्य में आने वाले उस भेद को स्वीकार करना ही व्यवहार नय है।

ये तीनों नय साधारणतया प्रधानता से द्रव्य को ही ग्रहण करते हैं अतएव इनको द्रव्यार्थिक नय कहा गया है अथवा जहाँ पर कालकृत भेद होता है उसे पर्यायार्थिक नय और द्रव्यों का गुणपर्याय कृत भेद होता है उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। इन तीनों नयों में द्रव्यों के पर्यायकृत भेद होते हुए भी कालकृत भेद नहीं है - इसलिए ये द्रव्यार्थिक हैं।

ऋजुसूत्र नय - व्यक्त (स्पष्ट) वर्तमान पर्याय मात्र का 'सूत्रयति' ज्ञान कराता है, वह ऋजुसूत्र नय है अर्थात् शुद्ध एक समय की पर्याय को ग्रहण करने वाला ऋजुसूत्र है। जैसे पर्याय क्षणिक है। सुख, दुःख एक समयवर्ती है इत्यादि द्रव्य के सत् की इस नय में विवक्षा नहीं है क्योंकि अतीत क्षण तो नष्ट हो गया है और भावी क्षण अनुत्पन्न है इसलिए भूत और भावी पर्यायों की असम्भवता होने से इस नय में इनकी

विवक्षा नहीं है। इस ऋजुसूत्र नय का पक्ष लेने से लोकव्यवहार का लोप भी नहीं होता है क्योंकि यहाँ तो ऋजुसूत्र नय के विषय का प्ररूपण करने की विवक्षा है। लोकव्यवहार तो सकल नय के समूह से साध्य है, एक नय के आधार पर नहीं।

अथवा कदाचित् मनुष्य की बुद्धि भूत और भविष्यत् के स्वप्नों को ठुकरा कर तात्कालिक लाभालाभ को ही स्वीकार करती है। भूतकालीन वस्तु विनष्ट हो जाने के कारण असत् है और भविष्यत् काल की वस्तु उत्पन्न न होने के कारण असत् रूप है इसलिए वह उपयोग में नहीं आती है। अतः वर्तमानकालीन समृद्धि ही वास्तव में समृद्धि है। जो धन नष्ट हो गया है या जो भविष्य में मिलेगा वह स्वप्न मात्र है। इस समय उसकी कोई सत्ता नहीं है। जो बुद्धि जब वर्तमान को ही सर्वस्व मानकर चलती है तो वह वर्तमान विषयक विचार ऋजुसूत्र कहलाता है।

शब्द नय - काल, लिङ्ग, कारक, संख्या, साधन और उपग्रह (उपसर्ग) के भेद से अर्थ को स्वीकार करने वाला शब्द नय कहलाता है। जैसे - 'विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता'। इस वाक्य में भूतकाल की क्रिया "विश्वं दृष्टवान्" व्याकरणाचार्य इसका सम्बन्ध "भविता" भविष्यकाल के साथ लगायेगा कि विश्व को देख चुका है ऐसा पुत्र होगा। परन्तु शब्द नय उसमें भेद करेगा कि काल भेद है तो अर्थ भेद है। "विश्वं दृष्टवान्" देख लिया है विश्व को जिसने ऐसा अर्थ करेगा क्योंकि भावीकाल के साथ अतीत काल का विरोध है।

कारक दो प्रकार का है कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य। शब्द नय कारकभेद से भी अर्थभेद स्वीकार करता है जैसे कर्तृवाच्य में वह पढ़ता है, वह करता है ऐसा वाक्य बनाया जाता है और कर्मवाच्य में पढ़ा जाता है, किया जाता है। यद्यपि इन दोनों में पठन क्रिया, 'करोति' क्रिया सामान्य है इसलिए इन पुरुष, तत् (वह) अन्य पुरुष भेद से साधन तीन प्रकार का है। उनमें कभी व्याकरण की दृष्टि से युष्मत् के स्थान पर अस्मत् का प्रयोग किया जाता है और अस्मत् के स्थान पर युष्मत् का परन्तु शब्द नय उसमें अर्थभेद करता है कि यह प्रयोग किस समय क्यों किया जाता है।

उपसर्ग - उप, वि, नि, सं आदि उपसर्ग के आने पर धातु में अर्थभेद को स्वीकार करने वाला शब्द नय है। जैसे 'स्था' धातु का अर्थ है ठहरना, उसका वर्तमान में तिष्ठ आदेश होता है, उसके पीछे सम्, प्र उपसर्ग लगा देने पर संतिष्ठते, प्रतिष्ठते क्रियाएँ बनती हैं। यद्यपि इन दोनों में 'स्था' धातु ही है परन्तु उपसर्ग के संयोग से शब्द नय उसमें भेद मानता है कि यद्यपि 'स्था' धातु का अर्थ ठहरना है तथापि सम् उपसर्ग से उसका अर्थ होता है - "संतिष्ठते मरता है, प्र उपसर्ग से प्रतिष्ठते - प्रस्थान करता है।" तिष्ठ के साथ में धातु परस्मैपदी है और उपसर्ग से आत्मनेपदी हो जाती है। शब्द नय इस प्रकार इनमें भेद स्वीकार करता है।

समभिरूढ़ नय - नानार्थान्समेत्याभिमुख्येन रूढः समभिरूढः - **(प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. २०६)** अनेक अर्थों का आश्रय लेकर अभिमुखता से जो रूढ़ि है उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं। शब्द नय

मार्गदर्शक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पर्याय शब्द के भेदों से अर्थभेद को ग्रहण नहीं करता है, वह तो कालादिक के भेद से ही अर्थभेद को ग्रहण करता है, परन्तु यह समभिरूढ़ नय पर्यायभेद से अर्थभेद को स्वीकार करता है - जैसे इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि शब्द विभिन्न अर्थ के गोचर हैं। विभिन्न शब्दवाची होने से हाथी, घोड़ा आदि शब्दों के समान। जैसे "इन्दतीति इन्द्र" अर्थात् क्रीड़ा करने वाला इन्द्र कहलाता है। शक्नोतीति शक्रः, समर्थ होने से शक्र कहलाता है। इन्द्राणी का पति होने से शचीपति कहलाता है। इस प्रकार यह नय पर्यायवाची शब्दों में अर्थभेद स्वीकार करता है।

अथवा

यह नय शब्द से भी एक कदम आगे बढ़कर सूक्ष्म शाब्दिक चिन्तन करता है। कहता है कि यदि काल और लिंग आदि की भिन्नता अर्थभेद उत्पन्न कर सकती है तो व्युत्पत्ति के भेद में भी वस्तुभेद क्यों न माना जाय ? अतः समभिरूढ़ नय विभिन्न पर्यायवाची शब्दों को एकार्थक नहीं मानता। इसके मतानुसार कोश मिथ्या है क्योंकि वे एकार्थबोधक अनेक शब्दों का प्रतिपादन करते हैं। कोश राजा, नृप और भूप को समानार्थक बतलाता है, किन्तु व्युत्पत्ति की अपेक्षा अर्थभेद स्पष्ट है। राजदण्ड को धारण करने वाला 'राजा'। मनुष्यों का पालन करने वाला 'नृप'। पृथ्वी का रक्षण करने वाला 'भूप' कहलाता है। दोनों में भेद नहीं तथापि शब्दनय की अपेक्षा भेद है। क्योंकि स्वाधीन विवक्षा में कर्तृवाच्य बनता है और पराधीन विवक्षा में कर्मवाच्य बनता है। एक में कर्त्ता स्वतन्त्र है, कर्त्ता के अनुसार क्रिया है, कर्मवाच्य में कर्त्ता की मुख्यता नहीं है, उसमें कर्म की मुख्यता है, कर्म के अनुसार क्रिया होती है इसलिए शब्दनय कारक अपेक्षा अर्थभेद मानता है। यद्यपि शब्द नय पर्यायवाची शब्दों को स्वीकार करता है परन्तु वह लिंग, कारक, उपसर्ग आदि की अपेक्षा उनमें भेद स्वीकार करता है, उनका एकार्थ नहीं मानता है। 'पर्वतमधिवसति' यहाँ कर्मकारक अधिकरण के स्थान में हो गया है। यह शब्दनय को इष्ट नहीं है। 'स्था' धातु परस्मैपदी है। सं, अव, प्र, वि उपसर्ग के साथ आत्मनेपदी हो जाती है - संतिष्ठते आदि। व्याकरण से ठीक होने पर भी यह प्रयोग शब्द नय की दृष्टि में ठीक नहीं है। इस प्रकार साधनभेद भी इष्ट नहीं है जैसे कोई कहता है कि मैं कल जाऊँगा। तब दूसरा कहता है - तू नहीं जाएगा, तेरा पिता चला गया है। इन दोनों में 'मैं, तू' शब्दों का उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष रूप साधनों का प्रयोग एक ही व्यक्ति के लिए सरल और वक्र हो गया है। इसका भी शब्द नय विरोध करता है। शब्द नय तो सरल, अव्यभिचारी प्रयोग को पसन्द करता है अर्थात् भिन्न-भिन्न भाषा-प्रयोगों का निषेध कर एक रूप सरल प्रयोग को पुकारता है।

स्त्री, पुरुष और नपुंसक के भेद से लिंग तीन प्रकार का है। कुछ शब्द ऐसे हैं जो व्याकरण की अपेक्षा स्त्री होते हुए भी शब्द की अपेक्षा पुरुषवाचक है। कुछ शब्द पुल्लिंग होते हुए भी स्त्रीवाचक है। कलत्र शब्द नपुंसक लिंग है परन्तु शब्द की अपेक्षा स्त्रीवाचक है। दारा शब्द पुल्लिंग है परन्तु स्त्रीवाचक है। इस प्रकार कलत्र, दारा, वनिता ये तीनों शब्द स्त्रीवाचक हैं, परन्तु शब्द नय इनमें अर्थभेद करके कहता है कि कलत्र शब्द नपुंसकलिंग है, दारा पुल्लिंग है और वनिता स्त्रीलिंग है। शब्द नय की अपेक्षा ये तीनों एक स्त्रीवाचक नहीं हैं।

संख्या की अपेक्षा भेद - जैसे आप बहुवचनान्त है; जल, नीर एक वचनान्त है, व्याकरण इन दोनों का अर्थ जल स्वीकार करता है परन्तु शब्द नय इन दोनों में भेद करता है कि संख्या भिन्न होने से अर्थ भी भिन्न है। क्योंकि एक वचन के साथ एक वचन की क्रिया का प्रयोग होता है तथा बहुवचन के साथ बहुवचन की क्रिया का प्रयोग होता है। यदि इनमें अर्थभेद नहीं मानेंगे तो दोनों एक हो जाएँगे। जैसे 'पट:' एकवचन है, ''तन्तव:'' बहुवचन है, इनमें भी एकत्व का प्रसंग आएगा। इसलिए शब्द नय संख्या की अपेक्षा अर्थ में भेद करता है।

साधन - युष्मत् (तुम) मध्यम पुरुष, अस्मत् (हम) उत्तम, तथा नृप और भूप शब्दों का एक ही अर्थ माना जाय तो मनुष्य और पशु का अर्थ भी एक हो जाना चाहिए।

वैयाकरणों ने 'शब्दभेदात् अर्थभेद:' शब्दभेद से अर्थभेद और अर्थभेद से शब्दभेद माना है। यह प्रचलित सिद्धान्त इसी नय के दृष्टिकोण पर अवलम्बित है।

एवंभूतनय - एवं इत्थं - इस प्रकार विवक्षित क्रिया परिणाम प्रकार से 'भूत' परिणत अर्थ को जो स्वीकार करता है वह एवंभूत नय है क्योंकि समभिरूढ़ नय इन्दन क्रिया करने पर और नहीं करने पर भी उसको इन्द्र कहता है, यह नय जैसे चलती है तो भी गाय कहता है और बैठी हुई को भी गाय कहता है क्योंकि इसमें रूढ़ि का सद्भाव है। समभिरूढ़ नय में शब्द का अर्थ प्रधान है क्रिया प्रधान नहीं है परन्तु एवंभूत नय क्रियाप्रधान है इसलिए क्रियापरिणतिक्षण में ही उस शब्द को स्वीकार करता है, जैसे क्रीड़ा करते समय इन्द्र को इन्द्र कहेगा। पूजा करते समय उसको इन्द्र और शक्र नहीं कहेगा। यदि पूजा करते समय भी इन्द्र को शक्र कहा जायेगा तो अतिप्रसंग दोष आयेगा अर्थात् नमस्कार करने वाले को भी रसोइया कहना पड़ेगा। एवंभूत नय की अपेक्षा तो कोई भी शब्द क्रियारहित नहीं है। जैसे सर्व वस्तु धातु से बनती है उसी प्रकार शब्द भी पठ् आदि धातुओं से बनते हैं इसलिए सर्वशब्द क्रिया वाले हैं। 'गौ' आदि शब्दों से अभिगत शब्द भी क्रिया से व्युत्पन्न हैं जैसे 'गच्छतीति' गौ, चलती है इसलिए गाय है। आशु गच्छति इति अश्व, शीघ्र चलता है इसलिए अश्व है। आ समन्तात् खनतीति आखु - चारों तरफ से जमीन खोदता है इसलिए चूहा 'आखु' कहलाता है। 'कम्पते वायुना शरीरे इति कपि' जो वायु से शरीर में काँपता है उसको कपि-वानर कहते हैं। इसी प्रकार गुणवाची शुक्ल, नील आदि तथा सारे युवादि शब्द भी क्रिया से व्युत्पन्न हैं। जैसे ज्ञायते अनेन इति ज्ञानं, जाना जाता है इसलिए इसको ज्ञान कहते हैं। शुचिभवनात् शुक्लं - पवित्र होने से शुक्ल कहलाता है। इसी प्रकार देवदत्त, यज्ञदत्त आदि इच्छानुसार रखे हुए शब्द भी क्रिया से निष्पन्न हैं। 'देवेन दत्तोऽयं पुत्रो देवदत्त:' देवों के द्वारा दिया हुआ होने से देवदत्त है। 'यज्ञे एनं देयात्' यज्ञ में इसको देना चाहिए इसलिए यज्ञदत्त है। संयोगी, समवाय, द्रव्य शब्द भी क्रिया शब्द है जैसे 'दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी' दण्ड इसका है इसलिए दण्डी है। 'विषाण (सींग) मस्यास्तीति विषाणी' सींग इसके हैं इसलिए विषाणी है।

इस प्रकार जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया, यदृच्छा सम्बन्ध के भेद से शब्द पाँच प्रकार के हैं। यद्यपि शब्दों की प्रवृत्ति व्यवहार मात्र से है निश्चय नय से नहीं है, तथापि इनसे हमारा लोकव्यवहार चलता है।

नैगम, संग्रह और व्यवहार नय ये तीनों नित्यवादी हैं क्योंकि तीनों नय का विषय पर्याय नहीं है अतः इनके विषय में सामान्य और विशेष काल का अभाव है।

ऋजुसूत्र नय, शब्द नय, समभिरूढ़ नय और एवंभूत नय में पूर्व-पूर्व नय सामान्य रूप से और उत्तरोत्तर नय विशेष रूप से वर्तमान कालवर्ती पर्यायों का विषय कहते हैं।

अथवा, अर्थनय और व्यञ्जननय के भेद से भी नय दो प्रकार के हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चारों नय अर्थ नय हैं तथा शब्द, समभिरूढ़ आदि व्यंजन नय हैं।

"जो वस्तु के स्वरूप का स्वधर्म के भेद से भेद करता है, वह अर्थ नय है। अथवा जो वस्तु का अभेदक है, अभेद रूप से वस्तु को ग्रहण करता है वा अभेद रूप से वस्तु को प्राप्त होता है वह अर्थनय है।" **जय. ध. अ. पृ. २७।** अतः अभेद रूप से अर्थ को ग्रहण करने वाले होने से वा उनमें कालकृत भेद नहीं होने से नैगम नय, संग्रह नय और व्यवहार नय ये अर्थनय हैं।

अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय के भेद से पर्याय दो प्रकार की है। उसमें क्षणवर्ती अर्थपर्याय को ग्रहण करने वाला होने से ऋजुसूत्र नय अर्थनय है।

"व्यंजन (शब्द) के भेद से वस्तु में भेद का निश्चय करने वाले नय व्यंजन नय कहलाते हैं।"

इन सातों नयों में ऋजुसूत्र नय पर्यन्त चार नय अर्थप्रधान हैं और शब्द नय, समभिरूढ़ नय और एवंभूतनय शब्द प्रधान हैं।

पूर्व-पूर्व नय का विषय बहुत है और आगे-आगे के नय का विषय अल्प है। जैसे संग्रहनय से नैगमनय का विषय बहुत है। क्योंकि नैगमनय सद् (भाव), असद् (अभाव) दोनों को विषय करता है इसलिए जितने विद्यमान पदार्थों में संकल्प हैं उतने ही अविद्यमान पदार्थों के संकल्प होते हैं।

संग्रहनय का विषय नैगमनय की अपेक्षा अल्प हैं क्योंकि संग्रह सामान्य सत्ता का ग्राहक है और व्यवहार नय उसके विशेष भेदों का अवबोधक है। इसलिए यह अल्प विषय वाला है।

काल, लिंग, संख्या, कारक, साधन और उपसर्ग से भेद को ग्रहण करने वाला होने से ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा शब्द का विषय अल्प है। पर्याय के भेद से अर्थभेद को स्वीकार करने वाला होने से समभिरूढ़ का विषय शब्द नय की अपेक्षा अल्प है क्योंकि शब्द नय से समभिरूढ़ विशेष सूक्ष्म है।

क्रिया के भेद से अर्थभेद को स्वीकारने वाला होने से समभिरूढ़ नय की अपेक्षा एवंभूत नय का विषय अल्प है क्योंकि यह क्रियाप्रधान है।

पूर्व-पूर्व का नय कारण है और आगे-आगे का नय कार्य है क्योंकि पूर्वनयपूर्वक ही आगे के नय की उत्पत्ति होती है। जैसे नैगमनय कारण है और संग्रहनय कार्य है। संग्रह नय से गृहीत अर्थ का भेद करने वाला होने से संग्रह नय कारण है और व्यवहार नय कार्य है। इस प्रकार आगे के नयों को भी समझना चाहिए।

जहाँ पर पूर्व-पूर्व नय प्रवृत्ति करते हैं, उस अंश में उत्तरोत्तर नय भी प्रवृत्ति करते हैं। जैसे हजार, आठ सौ, पाँच सौ आदि संख्या में आगे की संख्या भी रहती है अर्थात् हजार की संख्या में आठ सौ और आठ सौ में पाँच सौ गर्भित है। यद्यपि यहाँ पर सात ही नयों का वर्णन है परन्तु नयों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। जितने वचन हैं उतने ही नय हैं। वचन असंख्यात हैं इसलिए नय भी असंख्यात हैं।

ये सभी नय परस्पर सापेक्ष होकर ही वस्तु के निर्णय में और सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में कारण होते हैं, जैसे परस्पर सापेक्ष तन्तु वस्त्र रूप परिणत होकर लज्जा, शीतादि का निवारण करने में समर्थ होते हैं। जिस प्रकार पृथक्-पृथक् रहकर तन्तु लज्जा, शीत-निवारणादि कार्य नहीं कर सकते हैं, उसी प्रकार परस्पर निरपेक्ष नय भी अर्थक्रिया नहीं कर सकते हैं। जैसे शक्ति की अपेक्षा तन्तुओं में वस्तु की लज्जा शीतनिवारण रूप अर्थक्रिया का सद्भाव माना जाता है वैसे ही निरपेक्ष नयों में भी सम्यग्दर्शन की अंगता (कारणता) शक्तिरूप से है परन्तु अभिव्यक्ति सापेक्ष दशा में होगी।

अध्यात्म भाषा की अपेक्षा नयों के भेद - अध्यात्म भाषा की अपेक्षा नय के मूल भेद दो हैं १. निश्चय और २. व्यवहार "निश्चयमिहभूतार्थव्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थः।" निश्चय नय भूतार्थ है और व्यवहार नय अभूतार्थ है। व्यवहार नय पराश्रित तथा पर्यायाश्रित है और निश्चय नय स्वाश्रित (द्रव्याश्रित) है। अभेद रूप अखण्ड वस्तु को ग्रहण करने वाला निश्चय नय है और अभेद में भेद और भेद में अभेद को ग्रहण करने वाला व्यवहार नय है। निश्चय नय भी शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय के भेद से दो प्रकार है। निरुपाधि शुद्ध गुण-गुणी में अभेद करके कथन करना शुद्ध निश्चय नय है, जैसे-जीव केवल-ज्ञानादिगुण स्वरूप है। सोपाधिक गुण-गुणी में अभेद रूप से कथन करना अशुद्ध निश्चय नय है। जैसे जीव मतिज्ञानादि गुण वा रागद्वेषादि विकार भावरूप है।

व्यवहार नय भी सद्भूत और असद्भूत के भेद से दो प्रकार का है। एकवस्तुविषय सद्भूत व्यवहार नय है, भिन्नवस्तु विषय असद्भूत व्यवहार नय है। सद्भूत व्यवहार नय भी उपचरित और अनुपचरित के भेद से दो प्रकार का है। सोपाधिक गुण-गुणी में भेद करके कथन करना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है जैसे मतिज्ञानादि गुण वा रागद्वेषादि विकार भाव आत्मा के हैं। निरुपाधिक गुण-गुणी में भेद करके कथन करने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है जैसे आत्मा के केवलज्ञानादि गुण हैं।

यद्यपि अशुद्ध निश्चय नय और उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का विषय तथा शुद्ध निश्चय नय और अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय का विषय एक सरीखा प्रतीत होता है, तथापि उनमें भिन्नता है क्योंकि निश्चय नय गुण-गुणी में अभेद ग्रहण करता है। वह कहता है - आत्मा केवलज्ञान स्वरूप वा अशुद्ध निश्चय नय से रागादि विभाव रूप है। अनुपचरित सद्भूत व्यवहार कहता है - आत्मा में केवलज्ञान, दर्शन आदि गुण हैं तथा उपचरित व्यवहार नय से रागादि विभाव भी आत्मा में हैं इसलिए व्यवहार नय गुण-गुणी (अभेद) में भेद ग्रहण करता है इसलिए भेदात्मक है और निश्चय नय अभेदात्मक होने से गुण-गुणी को (अभेद) ग्रहण करता है। यह **सद्भूत व्यवहार नय परमार्थ का वाचक है।** इसके बिना परमार्थ का कथन करना शक्य नहीं है।

असद्भूत व्यवहार नय भी उपचरित और अनुपचरित के भेद से दो प्रकार का है। एकक्षेत्रावगाही (होने वाले) पदार्थों को एकरूप कहना अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय का विषय है जैसे शरीर मेरा है। यद्यपि आत्मा और शरीर में अत्यन्त भिन्नपना है तथापि अनादि काल से एकक्षेत्रावगाही है इसलिए उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा आत्मा का कहा जाता है।

प्रत्यक्ष पृथक् दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थों को अपना कहना उपचरित असद्भूत व्यवहार नय का विषय है जैसे घर, पुत्र-पौत्रादिक मेरे हैं। घर, पुत्रादि के आत्मा से अत्यन्त भिन्नपना है। एकक्षेत्रावगाहीपना भी नहीं है तथापि सम्बन्ध की अपेक्षा आत्मा के कहे जाते हैं। यह नय भेद में अभेद को ग्रहण करता है।

नयों की उपयोगिता - वस्तु अनेक धर्मात्मक है। उसकी सिद्धि नय के द्वारा होती है क्योंकि नयवाद में अनन्त धर्मों के अखण्ड पिण्ड रूप वस्तु के किसी एक धर्म की प्रधानता देकर कथन किया जाता है, उस वस्तु में शेष धर्म विद्यमान तो रहते हैं, परन्तु उस समय वे गौण हो जाते हैं।

दिव्यज्ञानी भगवान महावीर ने तत्त्वविचार की एक मौलिक और अद्भुत दिव्यध्वनि जगत् को प्रदान की है। इतना ही नहीं, उन्होंने वस्तु के सर्वाङ्गीण स्वरूप को समझाने के लिए एक सापेक्ष भाषा पद्धति भी दी है। सर्वज्ञ ने कहा है कि विचार अनेक हैं और बहुत बार वे परस्पर विरोधी भी प्रतीत होते हैं, परन्तु उनमें सामंजस्य करके अविरोध रूप प्रतीति कराने वाला नय है और अविरुद्ध रूप से जानने वाला ही तत्त्वदर्शी है।

वस्तु के परस्पर विरोधी अनेक धर्मों में अविरोध का आधार वस्तु का अनेक धर्मात्मक होना है। हम जिस रूप में वस्तु को देख रहे हैं, उसका स्वरूप उतना ही नहीं है, हमारी दृष्टि सीमित है, परन्तु वस्तु का स्वरूप विराट् है। प्रत्येक वस्तु अनन्तानन्त अंश, धर्म, गुण और शक्तियों की पिण्ड है। जो अनन्त धर्म वस्तु में सत् रूप से विद्यमान हैं, वे वस्तु के सहभावी धर्म कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक पदार्थ द्रव्यशक्ति की अपेक्षा नित्य होने पर भी पर्याय शक्ति की अपेक्षा क्षण-क्षण में परिवर्तनशील है। ये पर्यायें एक-दो नहीं अनन्त हैं और वे भी पदार्थ के अभिन्न अंश हैं। ये अंश क्रमभावी धर्म कहलाते हैं, **सहभाविनो गुणाः, क्रमभाविनःपर्यायाः।**

इस प्रकार अनन्त सहभावी धर्म और अनन्त क्रमभावी पर्यायों का समूह एक वस्तु है। परन्तु वस्तु का वस्तुत्व इतने में समाप्त नहीं होता है, वह वस्तु इससे भी विशाल है। जैसे सिक्के के दो बाजू होते हैं और दोनों बाजू मिलकर ही पूरा सिक्का बनता है, उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ सत्ता और असत्ता इन दोनों अंशों के समुदाय से बना है, पहले जिन धर्मों और पर्यायों का उल्लेख किया है, वह तो केवल सत्ता रूप अंश है, असत्ता रूप अंश तो और भी विशाल है तथा वह असत्ता भी वस्तु का अंश है। उदाहरण - जैसे एक आम हमारे सामने है। हम आम का वर्ण और आकार मात्र ही देख सकते हैं। जब हम आम को हाथ में लेंगे तो हमको आम के कुछ अधिक धर्म प्रतीत होंगे। उसका गुरुत्व, स्निग्धत्व प्रतीत होगा परन्तु इतने मात्र से भी आम का पूरा ज्ञान नहीं हुआ। आम का पूरा स्वरूप समझने के लिए हमको किसी तत्त्वज्ञानी की

शरण लेनी पड़ेगी। वह बतलायेगा कि जैसे आम में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि इन्द्रियों से प्रतीत होने वाले स्थूल गुण हैं उसी प्रकार इन्द्रियों के दृष्टिगोचर नहीं होने वाले अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्वादि अनन्तगुण आम में हैं।

हमने समझ लिया कि आम में अनन्तगुण विद्यमान हैं, फिर भी क्या एक आम का स्वरूप पूरा हो गया। तत्त्वज्ञानी कहेगा कि अभी आम का स्वरूप पूरा नहीं हुआ है क्योंकि अभी तो आपने आम का आधा स्वरूप भी नहीं समझा, आम इससे भी विराट् है। यहाँ तक तो आम में अन्वय रूप से रहने वाले सहभावी गुणों की बात हुई मगर आम में अनन्त धर्म ऐसे भी हैं जो क्रमसे उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं, वे क्रमभावी पर्यायें कहलाती हैं। अनन्त सहभावी गुण और क्रमभावी पर्यायों का पिण्ड आम है, इतना जान लेने पर भी आम के गुण पूर्णत: नहीं जाने जाते हैं क्योंकि यह तो आम की एक बाजू है अर्थात् यह तो आम के सत्त्वरूप गुणों का वर्णन है। असत्ता रूप तो अभी अछूता है। उस असत्ता की बाजू क्या है ? आम अपने द्रव्य, भाव, क्षेत्र, काल की अपेक्षा अस्तिरूप है, यह सत्ता की बाजू है और आम घट नहीं है, मुकुट नहीं है, शकट नहीं है, इस प्रकार आम के सिवाय आम में अनन्त पदार्थों का नास्तित्व भी है अर्थात् आम से इतर पदार्थ अनन्त हैं, इसलिए आम के असत्ता धर्म अनन्त हैं।

सत्त्व और असत्त्व रूप इन दोनों धर्मों की अपेक्षा आम के धर्मों को जान लेना ही, आम को पूरे रूप से जानना है। इन अनन्त धर्मों को जाने बिना पूर्णरूप से आम नहीं जाना जाता है, इसलिए कहा जाता है कि-

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्य ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा॥

जो युगपत् त्रिकालिक त्रिभुवनस्थ पदार्थों को नहीं जानता, वह पर्याय सहित एक पदार्थ को भी नहीं जान सकता है।

"जे एगं जाणइ से सव्वं जाणई।
जे सव्वं जाणई से एगं जाणई॥"

एक को जान लेने वाला सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है। यद्यपि जगत् में मूलभूत तत्त्व चेतनात्मक और अचेतनात्मक के भेद से दो ही हैं परन्तु ये दोनों द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में, गुणों में और पर्यायों में अनन्तता से सम्पन्न हैं। प्रथम अवस्था में इस अनेक धर्मात्मक वस्तु को जानना दुष्कर प्रतीत होता है, फिर भी यदि मनुष्य के द्वारा सर्वज्ञप्रणीत शास्त्र का अध्ययन किया जाय तो सरलतया वस्तु के अनेक धर्मों का ज्ञान हो सकता है।

आत्मतत्त्व को जानने के लिए जिनेन्द्रकथित सूत्र ही शरण हैं अथवा मनुष्य निष्पक्ष दृष्टि सम्पन्न हो तो दैनिक व्यवहार में आने वाली वस्तुओं से भी बहुत कुछ शिक्षा ले सकते हैं तथा अनेकधर्मात्मक वस्तु की सिद्धि कर सकते हैं।

मिट्टी के एक कण को ही लीजिए - एक-एक कण में अनन्तानन्त स्वभावों का सम्मिश्रण है, उस मिट्टी के कण का एक स्वरूप नहीं है, एक स्वाद नहीं है, एक रंग-रूप नहीं है। एक फुट वर्गाकार भूखण्ड में किसान कभी कडुवी, तीखी, चरपरी मिर्च बोता है, कभी मधुर ईख बोता है, कभी सन्तरे एवं नींबू के पेड़ लगाता है। ये सभी पदार्थ मिट्टी के उन कणों में से ही अपना-अपना पोषण स्वाद रूप रस प्राप्त करते हैं। मिट्टी एक है - खाने में चाहे मिट्टी का स्वाद मिट्टी जैसा है तथापि भिन्न-भिन्न बीजों की शक्ति उसी मिट्टी में से अपनी शक्ति के अनुसार अपने स्वभावानुकूल अभीष्ट तत्त्व को खींच लेती है। ऐसी स्थिति में कोई कहे कि मिट्टी कटु ही है तो उसका यह कथन असत्य होगा अथवा कोई कहे कि मिट्टी का स्वाद एकरूप है तो यह भी आग्रह की जड़ता है, यद्यपि यह कथन द्रव्य की अपेक्षा सत्य हो सकता है तथापि गुण-पर्याय की अपेक्षा तो असत्य ही है।

जैसे एक ही पुरुष किसी का पिता, किसी का पुत्र, किसी का भाई, किसी का पति, श्वसुर, देवर, जेठ, मामा, भानजा, दादा और पोता होता है, दुकानदार, ग्राहक, साहूकार, देनदार, गुरु, शिष्य आदि न जाने कितने सम्बन्धों का अम्बार उस पर लदा है। इस प्रकार एक पुरुष के परस्पर विरोधी पिता-पुत्रत्वादि अनेक धर्म हमारे दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु अपेक्षाकृत भेद उन विरोधों का मथन कर देता है। जिस प्रकार पितृत्व और पुत्रत्वादि धर्म विभिन्न अपेक्षाओं से सुसंगत होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में सत्ता, असत्ता, नित्यता, अनित्यता, एकता, अनेकता आदि विरोधी धर्म भी विभिन्न अपेक्षाओं से सुसंगत हैं और उनमें कुछ भी विरोध नहीं है क्योंकि अनेकान्तवाद से सर्व सिद्ध हो जाता है।

यदि तत्त्व की विचारणा और सत्य की गवेषणा में सर्वत्र अनेकान्त दृष्टि स्वीकार की जाय तो सर्व संघर्ष, वाद-विवाद नष्ट हो जाय। अनेकान्त से ही समस्त दर्शनों की परम पूत प्रेरणा को बल मिलता है और मानव की दृष्टि उदार, विशाल और सत्योन्मुखी बनती है। समाज और परिवार सभी अनेकान्त को स्वीकार करते हैं क्योंकि अनेकान्त एक ऐसी अनिवार्य तत्त्व व्यवस्था है जिसको स्वीकार किये बिना एक डग भी नहीं चला जा सकता; फिर भी आश्चर्य की बात है कि जगत् उसे स्वीकार नहीं करता है। ऐसा कौन ज्ञानी है जो मिट्टी आदि पदार्थों के नानात्व को स्वीकार नहीं करे क्योंकि एक ही मिट्टी घट, ईंट, प्याला, सकोरा आदि नाना रूपों में हमारे व्यवहार में आती है।

आम अपने जीवनकाल में अनेक रूप पलटता रहता है, कभी कच्चा, कभी पक्व, कभी हरा तो कभी पीला, कभी कठोर तो कभी मृदु, कभी खट्टा तो कभी मधुर होता है। ये आम की स्थूल अवस्थायें हैं क्योंकि एक अवस्था नष्ट होकर दूसरी अवस्था की उत्पत्ति में दीर्घकाल की अपेक्षा होती है, परन्तु उस बीच के दीर्घकाल में क्या वह आम जैसा-का-तैसा बना रहता है और अकस्मात् हरितवर्ण से पीतवर्ण और आम्ल से मधुर बन जाता है ? नहीं, वह आम प्रतिक्षण अपनी पर्यायें पलटता रहता है, किन्तु वे क्षण-क्षण में पलटने वाली अवस्थायें इतने सूक्ष्म अन्तर को लिये हुए होती हैं कि हमारे ज्ञान में नहीं आतीं। जब वह अन्तर स्थूल हो जाता है, तभी हमारी बुद्धि के द्वारा ग्राह्य होता है।

इस प्रकार असंख्य क्षणों में असंख्य अवस्था-भेदों को धारण करने वाला आम अन्त समय तक आम ही बना रहता है।

सारांश यह है कि पदार्थ की मूल सत्ता एक होते हुए भी वह अनेक रूप धारण करती है। पदार्थ का मूल स्वरूप द्रव्य है और क्षण-क्षण में पलटने वाली उसकी अवस्थायें विशेष (पर्याय) हैं। इतना अवश्य है कि पर्याय को छोड़कर द्रव्य नहीं है और द्रव्य को छोड़कर पर्याय नहीं है। पर्याय और पर्यायी का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव एक है क्योंकि द्रव्य और पर्याय में तादात्म्य सम्बन्ध है तथापि पदार्थ का अंतरंग स्वरूप द्रव्य है और बहिरंग रूप पर्याय है; अन्तरंग द्रव्य स्वरूप एक है, नित्य है, टंकोत्कीर्ण के समान अचल है, अपरिवर्तनशील है तथापि उसका बहिरंग रूप अनेकविध है, अनित्य है और परिवर्तनशील है। द्रव्य शक्तिरूप है और पर्याय व्यक्त रूप।

द्रव्य परस्पर विरुद्ध अनन्त धर्मों का पिण्ड है चाहे वह चेतन हो या अचेतन हो, सूक्ष्म हो या स्थूल हो। सभी द्रव्यों में विरोधी धर्मों का अद्भुत सामंजस्य है। इसी सामंजस्य पर पदार्थों की सत्ता टिकी है। ऐसी स्थिति में वस्तु के किसी एक ही धर्म को अङ्गीकार करके तथा दूसरे धर्म का त्याग करके उसे आँकने का प्रयत्न करना हास्यास्पद है और अपूर्णता में परिपूर्णता मानकर सन्तोष कर लेना प्रवंचना मात्र है। सत् का कभी नाश नहीं होता है और न असत् का उत्पाद ही होता है, पर्याय में पर्यायान्तर होने पर भी द्रव्य के स्वरूप का नाश नहीं होता अतः वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। इस अनेक धर्मात्मक वस्तु के विचार में उठे हुए अनेकविध दृष्टिकोणों को समुचित रूप से समन्वित करने की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता ने नयवाद की सरणी प्रस्तुत की है। वस्तु की सिद्धि करने के लिए नयों की उपयोगिता है।

नयों की सत्यता - जिस प्रकार प्रमाण सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान की अपेक्षा प्रमाण और अप्रमाण के भेद से दो प्रकार का है उसी प्रकार प्रमाणांश नय भी सम्यक् नय और मिथ्या नय के भेद से दो प्रकार का है। द्रव्य के अनन्तअंशों में से सापेक्ष एक अंश को ग्रहण करने वाला सम्यक् नय है। यह सम्यक्नय ही वस्तु की सिद्धि करता है, मिथ्या नय वस्तु की सिद्धि नहीं करता है। किसी भी नय की यथार्थता इस बात पर अवलम्बित है कि वह दूसरे नय का विरोधी न होकर सापेक्ष है; जैसे आत्मा एक नय से नित्य और अबद्ध है और दूसरे नय से अनित्य है और अनादिकाल से कर्मों से बद्ध है क्योंकि आत्मा का आत्मत्व शाश्वत है। उसका कभी विनाश सम्भव नहीं है, इस दृष्टिकोण से आत्मा नित्य है परन्तु नित्य होते हुए भी नर-नारकादि अनेक पर्यायों रूप परिवर्तित होता रहता है, इस दृष्टिकोण से अनित्य भी है। इस प्रकार नित्य और अनित्य धर्मों को अपने-अपने दृष्टिकोण से नय ग्रहण करता है। यदि वह दूसरे नय का विरोध करके एकान्त रूप से नित्य या अनित्य को ग्रहण करता है तो वह मिथ्या एकान्त नय है, उससे वस्तु की सिद्धि नहीं होती है। इसलिए इस ग्रन्थ में आचार्यदेव ने कहा है कि परस्पर विरोध रहित सापेक्ष वस्तु के स्वरूप का कथन करने वाला सुनय है तथा परस्पर विरोध करके वस्तु के एक धर्म का कथन करने वाला दुर्नय है अर्थात् परस्पर सापेक्ष नय सुनय है और परस्पर निरपेक्ष नय दुर्नय है। इस प्रकार ज्ञान के भेद-प्रभेद जानकर आत्मस्वरूप पर दृढ़ विश्वास करना सम्यग्ज्ञानाराधना है।

॥ इति सम्यग्ज्ञान-आराधना-समाप्ता ॥

❖ ❖ ❖

३. सम्यक् चारित्राराधना

जैनधर्म में आचार को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। किसी भी धर्म के अन्तस्तल को जानने के लिए उसके आचारमार्ग को जानना विशेष रूप से वांछनीय है क्योंकि आचारमार्ग के प्रतिपादन में ही धर्म का धर्मत्व सन्निविष्ट होता है। यथार्थ में, "आचार: प्रथमो धर्म:" आचार ही प्रथम धर्म है अत: द्वादशाङ्ग में प्रथम अंग आचाराङ्ग है। आचरण शुद्ध होने से विचार शुद्ध होते हैं और विचारों की शुद्धि से ही मुक्तिमार्ग सिद्ध होता है।

आचार या आचरण ही जैनधर्म की आधारशिला है। सर्वज्ञ, वीतराग जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित आचरण-शुद्धि द्वारा ही संसार के दु:खों का नाश होता है। स्वयं तीर्थङ्कर भी चारित्र की साधना के द्वारा ही संसार के दु:खों से निवृत्त होते हैं और दुखी प्राणियों को दु:ख की निवृत्ति का उपदेश देते हैं। संसार में जिधर भी दृष्टिपात करें, उधर ही दु:खसमुद्र की उत्तुंग तरंगों का भयावह नृत्य दिखाई देता है। दु:खसमुद्र को पार करने के लिए सम्यक् चारित्र यान के समान है। दु:ख, मोह, क्षोभ, शोक आदि से सन्तप्त आत्मा का उद्धार कर परम पद को प्राप्त कराने में कारण चारित्र ही है।

प्रत्येक प्राणी की आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है, वह शक्तिरूप से परमात्मा है, परन्तु अनादिकाल से कर्मशृंखला से वेष्टित होने के कारण इस आत्मा का ज्ञानस्वभाव रूप सूर्य प्रकट नहीं हो रहा है। यह आत्मा किसी का दास या हीन अवस्था वाला नहीं है। यह स्वरूप से स्वतंत्र है, परन्तु अपनी भूल के कारण संसार रूपी भयानक अटवी में भ्रमण कर रहा है। मोहरूपी शत्रु ने इसे पराधीन कर दिया है। अपनी काषायिक वासना से ही यह संसार में कर्मों से बँधा हुआ है। इस दासता या पराधीनता से मुक्त होने का यदि कोई सर्वाङ्गीण उपाय है तो वह जिनेन्द्रकथित सम्यक्चारित्र ही है, यही लौकिक और पारलौकिक अभ्युदय का कारण है।

जिस प्रकार सतत प्रगतिशील, प्रवाहित होने वाली सरिता के प्रवाह को नियन्त्रित रखने के लिए दो तटों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जीवन को नियन्त्रित, मर्यादित और प्रगतिशील बनाये रखने के लिए व्रतों की आवश्यकता है। जैसे किनारों के अभाव में सरिता का प्रवाह छिन्न-भिन्न हो जाता है वैसे ही चारित्रविहीन मानव की जीवनशक्ति भी छिन्न-भिन्न हो जाती है। अतएव जीवनशक्ति को केन्द्रित करने और योग्य दिशा में ही उसका उपयोग करने के लिए सम्यक्चारित्र की आवश्यकता है। वस्तुत: ज्ञान और श्रद्धान का सार शुद्धाचार है। मानव-जीवन में चारित्र का सर्वाधिक महत्त्व है। जीवन की ऊँचाई उसके ज्ञान या श्रद्धान से नहीं आँकी जा सकती, दिव्यता की ओर होने वाली यात्रा का मुख्य मापदण्ड चारित्र ही है। आत्मदर्शन और सहज स्वरूप की उपलब्धि सम्यक्चारित्र का ही फल है।

जिस प्रकार डोरी के बन्धन के साथ पतङ्ग आकाश में विहार करती है और उन्नत बनती है, उसी प्रकार सम्यक्चारित्र की डोरी में बँध करके ही मानव उन्नत बन सकता है। इसलिए स्वात्मोपलब्धि के कारणभूत सम्यक्चारित्र को धारण करने की परम आवश्यकता है।

कषाय और वासनाओं से उत्पन्न हिंसक परिणति का नाश सम्यक्चारित्र के बल पर ही होता है। विषयवासना के पंक से दूषित आत्मा रूपी चादर का प्रक्षालन सम्यक्चारित्र रूपी साबुन और ज्ञानरूपी निर्मल नीर से ही किया जाता है।

बसन्त के पवन का सम्पर्क पाकर वृक्षों में अंकुर निकल आते हैं, उसी प्रकार सम्यक्चारित्र का संयोग पाकर आत्मध्यान रूपी वृक्ष की कलियाँ खिल जाती हैं। सम्यक्चारित्र नीर की निर्मल धारा है। इसी से आत्मा के गहन प्रदेशों में शीतलता मिलती है। सम्यक्चारित्र जाज्वल्यमान अग्नि है। इसी से आत्मा के साथ बँधा हुआ अनादिकालीन कर्मरूपी ईंधन जलकर भस्म हो जाता है। इधर-उधर विषयवासनाओं में भटकते हुए मनरूपी हाथी को बाँधने के लिए सम्यक्चारित्र ही साँकल है।

सम्यक्चारित्रधारी मनुष्य केवल अपना ही कल्याण नहीं करता है, अपितु उसके आचरण से अन्य प्राणियों का जीवन भी सुरक्षित रहता है। सम्यक् चारित्रवान मनुष्य को पाकर वसुन्धरा पावन बन जाती है और उसके चरणों की रज प्राप्त कर नर-नारी धन्य हो जाते हैं। चारित्र मोक्षमार्ग का प्रधान अंग है।

सम्यक्चारित्र के नामान्तर और लक्षण :

आत्मानुभूति के द्वारा भौतिक पदार्थों से भिन्न निज स्वरूप का श्रद्धान करता हुआ तथा तत्त्वों के स्वरूप को यथार्थ जानने वाला साधक अपनी आत्मा को रागद्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कलङ्कों से निर्मल करने के लिए जो प्रयत्न करता है, यथार्थ में यही सम्यक्चारित्र है।

तत्त्वार्थ की प्रतीति के अनुसार क्रिया करना वा मन, वचन, काय से शुभ कर्मों में प्रवृत्ति करना चारित्र है। जिससे हित की प्राप्ति और अहित का परिहार किया जाता है अथवा सज्जन पुरुष जिसका आचरण करते हैं, वह चारित्र सम्यक्चारित्र कहलाता है। संसार की कारणभूत बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओं से निवृत्त होना चारित्र है। सर्व सावद्ययोग से विरक्त होना चारित्र है। वही चारित्र सर्वकषायों से रहित, विषयों से विरक्त रूप होने से निर्मल आत्मा का स्वरूप है। पापास्रव के कारणभूत हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापों से विरक्त होना ही सम्यक्चारित्र है।

वास्तव में, सम्यक्चारित्र का लक्षण है मोह (दर्शनमोह), क्षोभ (राग-द्वेष) रहित परिणाम। जितने अंश में सम्यग्दर्शन सहित राग द्वेष की परिणति हीन होती है उतने अंश में चारित्र प्रकट होता है।

चारित्र के भेद - कषायों के मन्द-मन्दतर अभाव के कारण चारित्र के भी अनेक भेद होते हैं। सामान्य से चारित्र मोहनीय के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से होने वाली आत्मविशुद्धि की दृष्टि से चारित्र एक है। बाह्याभ्यन्तर निवृत्ति वा व्यवहार निश्चय के भेद से एवं प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम की अपेक्षा भी चारित्र दो प्रकार का है।

औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से चारित्र तीन प्रकार का है अथवा उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य विशुद्धि की अपेक्षा भी तीन प्रकार का है। चतुर्याम की अपेक्षा चार प्रकार का है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात के भेद से पाँच प्रकार का है। विविध निर्वृत्तिरूप परिणामों की अपेक्षा सम्यक्चारित्र के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हैं। इस प्रकार कषायों की तरतमता से सम्यक्चारित्र के संख्यात, असंख्यात और अनेक भेद होते हैं, परन्तु संक्षेपत: चारित्र को दो भागों में विभक्त किया जाता रहा है - सकल चारित्र और विकल चारित्र। चारित्र के इन सर्व भेदों का कथन इस चारित्राराधना में किया है।

चारित्र के नाम और उनका लक्षण

प्राणीन्द्रियेषु षड्विधभेदेषु हि संयमश्चरित्रं तु।
सामायिकादिभेदात्पञ्चविधं तद्विजानीयात् ॥८६॥

अन्वयार्थ - षड्विधभेदेषु - छह प्रकार के। **प्राणीन्द्रियेषु** - प्राणी और इन्द्रियों में। **संयमः** - संयमन करना। **हि** - निश्चय से। **चारित्रं** - चारित्र है। **तु** - परन्तु। **तत्** - उस चारित्र को। **सामायिकादिभेदात्** - सामायिक आदि के भेद से। **पंचविधं** - पाँच प्रकार का। **विजानीयात्** - जानना चाहिए।

अर्थ - पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय की अपेक्षा प्राणी छह प्रकार के कहलाते हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण और मन ये छह इन्द्रियाँ कहलाती हैं। इन छह काय के जीवों की विराधना नहीं करना प्राणिसंयम है और पंचेन्द्रियों व मन को वश में करना इन्द्रियसंयम है, यह संयम ही चारित्र है। यह चारित्र सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात के भेद से पाँच प्रकार का है।

सर्वप्रथम, चारित्र का प्रारंभ छह काय के जीवों की रक्षा करना और अपनी पाँच इन्द्रियों एवं मन को वश में करना तथा विषय-वासनाओं से मुख को मोड़ना है। इस परिणति के बिना चारित्र का प्रारंभ नहीं होता है। इसलिए आचार्यदेव ने सर्वप्रथम चारित्र का यही लक्षण किया है।

सामायिक चारित्र का लक्षण

सावद्ययोगविरतिः सर्वव्रतसमितिगुप्तिधर्माद्यैः।
भेदैः रहितापि युता सामायिकसंयमो नाम ॥८७॥

अन्वयार्थ - सर्वव्रतसमितिगुप्तिधर्माद्यैः - सर्व व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म आदि। **भेदैः** - भेदों से। **रहितापि** - रहित होकर भी। **युता** - इन भेदों से युक्त। **सावद्ययोगविरतिः** - सर्वसावद्ययोग से विरक्ति। **सामायिकसंयमः**- सामायिक संयम। **नाम** - नाम है।

अर्थ - पंचमहाव्रत, पंचसमिति, तीन गुप्ति, दश धर्म आदि चारित्र के भेदों की कल्पना जिसमें नहीं है, केवल सावद्य योग निर्वृत्ति जिसका लक्षण है, वह सामायिक चारित्र है।

इसमें 'सावद्ययोगविरति' पद के ग्रहण करने से चारित्र के सर्व भेदों का संग्रह कर लिया गया है।

यदि यहाँ पर संयम के किसी एक भेद की मुख्यता होती तो सावद्ययोग का प्रयोग नहीं होता। क्योंकि सभी चारित्र में मुख्य रूप से सावद्ययोग की निवृत्ति है। सावद्ययोगनिवृत्ति के बिना चारित्र का प्रारंभ भी नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि जिसने सम्पूर्ण व्रत, समिति, गुप्ति आदि भेदों का संग्रह कर लिया है, अपने अन्तर्गत कर लिया है उस यम को सामायिक चारित्र कहते हैं। अर्थात् सम्पूर्ण व्रतों को सामान्य की अपेक्षा एक मानकर एक यम को ग्रहण करने वाला होने से (द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा एक है) सामायिक चारित्र का पालन करने वाला ही समिति और गुप्तियों का पालन कर सकता है अतः सामायिक चारित्र कारण है और समिति, गुप्ति आदि उसका कार्य है।

छेदोपस्थापना चारित्र का लक्षण

व्रतसमितिगुप्तिसंयमशीलगुणादिकविकल्पसंयुक्ताम्।
विरतिं वदन्ति सन्तश्छेदोपस्थापनाचरितम्॥८८॥

अन्वयार्थ - व्रतसमितिगुप्तिसंयमशीलगुणादिकविकल्पसंयुक्तां - व्रत, समिति, गुप्ति, संयम, शील गुणादि विकल्पों से संयुक्त। **विरतिं** - विरति को। **सन्तः** - सन्त लोग। **छेदोपस्थापनाचरितं** - छेदोपस्थापना चारित्र। **वदन्ति** - कहते हैं।

अर्थ - हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों का सर्वथात्याग करना व्रत कहलाता है।

निश्चय नय की अपेक्षा विशुद्ध ज्ञान, दर्शन रूप स्वभाव के धारक निज आत्म तत्त्व की भावना से उत्पन्न सुखरूपी अमृत के आस्वादन के बल से सारे शुभ एवं अशुभ विकल्पों से रहित होना व्रत है। अथवा विभाव भावों से रहित होकर स्वकीय आत्मा में प्रवृत्ति करना व्रत है।

रागादिक का नाम ही हिंसा, अधर्म और अव्रत है और रागादिक का त्याग ही व्रत, धर्म और अहिंसा है।

सकल और विकल के भेद से वह व्रत दो प्रकार का है। सकल चारित्र दिगम्बर मुनिराज के होता है और विकल चारित्र श्रावक के होता है।

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के भेद से विकल चारित्र १२ प्रकार का है।

पाँच अणुव्रत - स्थूल त्रसकाय के वध का, स्थूल असत्य का, स्थूल चोरी का और परस्त्री का त्याग करना तथा परिग्रह और आरम्भ का परिमाण करना पाँच अणुव्रत है।

अहिंसाणुव्रत - स्थूल त्रसकाय के घात का परिहार। संसार में जीव दो प्रकार के हैं - त्रस और स्थावर।

सुख-दुःख का प्रसंग आने पर जो अपनी इच्छा के अनुसार दूसरी जगह जा सकते हैं, चलते-फिरते हैं ऐसे दो इन्द्रिय, त्रि-इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं। पृथिवीकाय, जलकाय,

अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ये पाँच स्थावर कहलाते हैं, जो अपनी इच्छानुसार चल-फिर नहीं सकते।

निरपराध त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा का त्याग करना अहिंसाणुव्रत कहलाता है।

सत्याणुव्रत - स्थूल असत्य बोलने का सर्वथा त्याग करना। यद्यपि स्थूल और सूक्ष्म असत्य की निश्चित परिभाषा देना कठिन है तथापि जिस असत्य भाषण से मानव झूठा कहलाता है, जो लोकनिन्दनीय और राजदण्डनीय है ऐसे स्थूल असत्य बोलने का त्याग करना सत्याणुव्रत कहलाता है।

स्थूल चोरी का परिहार - मालिक की आज्ञा बिना किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं करना - चाहे गिरी हुई भी क्यों न हो, अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

परदारपरिहार - पाप के भय से दूसरे की स्त्री का सेवन नहीं करना और न दूसरों को सेवन करने की आज्ञा देना ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

परिग्रह आरम्भ परिमाण - धन-धान्य, दासी-दास आदि १० प्रकार के बाह्य परिग्रह की सीमा बाँधना और सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि जो धनोपार्जन के साधन रूप आरम्भ हैं उनकी भी मर्यादा करना क्योंकि कृषि आदि बाह्य परिग्रह के कारण हैं, साधन हैं। कारण की सीमा बाँधे बिना कार्य की सीमा नहीं हो सकती। अतः कुन्दकुन्दाचार्य ने परिग्रह और आरम्भ दोनों का परिमाण करने को परिग्रह परिमाणाणुव्रत कहा है। ये एकदेशरूप पालन किये जाते हैं, इसलिए इन्हें अणुव्रत कहते हैं।

जिनसे अणुव्रतों की संपुष्टि, वृद्धि और रक्षा होती है, उन्हें गुणव्रत कहते हैं - दिग्विरति, अनर्थदण्डत्यागव्रत और भोगोपभोगपरिमाण के भेद से तीन प्रकार का है।

• **दिशिविदिशि परिमाणव्रत** (दिग्व्रत) दिशाओं और विदिशाओं में गमनागमन की मर्यादा करना। अर्थलोलुपी मानव तृष्णा के वश होकर विभिन्न देशों में परिभ्रमण करता है। मनुष्य की इस निरंकुश तृष्णा को नियन्त्रित करने के लिए दिग्व्रत का विधान है।

• **अनर्थदण्डत्यागव्रत** - बिना प्रयोजन की मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को रोकना। विवेकशून्य मानव पाँच प्रकार की योग सम्बन्धी प्रवृत्तियों से व्यर्थ ही पाप उपार्जन करता है।

हिंसादान - हिंसा के साधन तलवार आदि का निर्माण करके दूसरे को देना।

पापोपदेश - पापजनक कार्यों का उपदेश देना।

प्रमादचर्या - निष्प्रयोजन गमनागमन करना, पृथ्वी खोदना, पानी गिराना आदि।

अपध्यान - दूसरों का बुरा विचारना।

दुःश्रुति - कामोत्पादक, संक्लेशकारी कथाओं का पढ़ना-सुनना। इन सब निष्प्रयोजन क्रियाओं का त्याग अनर्थदण्ड-त्याग व्रत है।

• **भोगोपभोग परिमाण** - एक बार भोगने योग्य आहारादि भोग कहलाते हैं। जिन्हें पुनःपुनः भोगा जा सके ऐसे वस्त्र, स्त्री आदि उपभोग कहलाते हैं। इच्छाओं पर नियन्त्रण के लिए भोगोपभोग सामग्री की मर्यादा बाँध लेना भोगोपभोग परिमाण व्रत है। ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं।

शिक्षाव्रत - प्रथम सामायिक, द्वितीय प्रोषधोपवास, तृतीय अतिथिपूजा और चतुर्थ अन्त में सल्लेखना-मरण है। तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचारादि ग्रन्थों में देशविरति, सामायिक, प्रोषध और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं। सल्लेखना-मरण को पृथक् कहा है।

पद्मचरित्र, आदिपुराण, हरिवंशपुराण में सल्लेखना व्रत को चतुर्थ व्रत कहा है। भोगोपभोग परिमाण को देशव्रत में और कहीं देशविरत को भोगोपभोग परिमाण में गर्भित किया है। अतःदेशविरत को न कहकर चतुर्थव्रत सल्लेखना को कहा है।

शिक्षाव्रत का लक्षण बहुत कम मिलता है। **आशाधर** जी ने लिखा है कि शिक्षाप्रधान होने से या नियत काल के लिए होने से ये शिक्षाव्रत कहलाते हैं। जैसे दिग्व्रत जीवनपर्यन्त के लिए होने से गुणव्रत और नियतकाल के लिए होने से देशव्रत, शिक्षाव्रत है।

सामायिक व्रत - समय का अर्थ है एकत्व रूप से गमन अर्थात् मन, वचन, काय की क्रियाओं से निवृत्त होकर एक आत्मद्रव्य में लीन होना। अथवा चैत्य भक्ति, पंचगुरु भक्ति और अन्त में समाधि भक्ति, मध्य में दो कायोत्सर्ग, चार आवर्त, तीन शिरोनति तथा दो नमस्कार रूप क्रिया को दिन में एक बार, दो बार और तीन बार करना सामायिक शिक्षाव्रत है। तीसरी प्रतिमाधारी त्रिकाल सामायिक करता है और दूसरी प्रतिमाधारी दो बार या एक बार भी कर सकता है।

प्रोषधव्रत - प्रोषध का अर्थ पर्व या एक बार भोजन करना है। यह अष्टमी और चतुर्दशी के दिन किया जाता है क्योंकि इन दोनों तिथियों को पर्व कहते हैं। यह व्रत उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का है। खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चारों प्रकार के आहार का पर्व के दिन त्याग करना उत्कृष्ट प्रोषध है। पानी के सिवाय सबका त्याग करना मध्यम और एकासन या आचाम्ल (पानी, भात आदि खाना) करना जघन्य प्रोषध है।

अतिथिपूजा - जिनके आने की प्रतिपदा आदि तिथि नियत नहीं है, उन्हें अतिथि कहते हैं, अथवा जो संयमलाभ के लिए भ्रमण करते हैं, उदण्डचर्या (व्रतपरिसंख्यान) करते हैं वे अतिथि कहलाते हैं। उन अतिथियों को पूजा-सत्कार, नवधाभक्ति और सात गुण सहित आहारदान करना अतिथिपूजा है।

मुनियों को आते देखकर उन्हें आदरपूर्वक 'स्वामिन् ! अत्र तिष्ठ-तिष्ठ' कहकर पड़गाहन करना। उनके ठहर जाने के बाद घर में ले जाकर उच्चासन देना। उनके चरणों का प्रासुक जल से प्रक्षालन करना।

चरणों की अष्ट द्रव्य से पूजा करना। पूजा करके नमस्कार करना। मन शुद्ध, वचन शुद्ध, काय शुद्ध और अन्न-जल शुद्ध बोलना नवधा भक्ति है।

श्रद्धा - पात्र के प्रति विश्वास, **तुष्टि** - संतोष - पात्र को देखकर प्रसन्न होना। **भक्ति** - पात्र के गुणों में अनुराग होना। **विज्ञान** - द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का ज्ञान होना, देय वस्तु का ज्ञान होना। **अलुब्धता** - दान देकर सांसारिक भोगों की वांछा नहीं करना वा दान देते समय लोभ नहीं करना। **क्षमा** - क्रोध के कारण मिलने पर भी क्रोध नहीं करना। अपनी **शक्ति को नहीं छिपाना** ये सात, दाता के गुण होते हैं। इस प्रकार सात गुण और नवधाभक्तिपूर्वक आहार देना, उनकी आपत्ति को दूर करना अतिथिपूजा है। समन्तभद्र आदि आचार्यों ने इसे अतिथिसंविभाग व्रत कहा है। कुन्दकुन्द आचार्य ने इसे अतिथिपूजा कहा है।

चतुर्थ शिक्षाव्रत सल्लेखना - जिसका अर्थ है मरण समय में कषाय और शरीर को कृश कर समभाव से शरीर को छोड़ना।

उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और निष्प्रतिकार रोगों के उपस्थित हो जाने पर धर्म के लिए शरीर को छोड़ना आचार्यों ने सल्लेखना कहा है।

जब यह निश्चित हो जाय कि अब मरण अवश्य होगा ही, सर्व आरम्भ परिग्रह का त्याग कर गुरु सान्निध्य में अपने दोषों की आलोचना कर क्रमशः अन्न, दूध, छाछ, पानी का त्याग कर णमोकार मंत्र का जाप करते हुए प्राणों का विसर्जन करना सल्लेखना है।

श्रावक के इन व्रतों का पालन करने वालों की अपेक्षा ११ भेद हैं :-

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्यव्रत, आरम्भविरति, परिग्रहविरति, अनुमतिविरति और उद्दिष्टविरति ये श्रावक की ११ प्रतिमाएँ कहलाती हैं।

दर्शन प्रतिमा - अष्ट मूलगुण धारण - वटफल, पीपलफल, उदुम्बर - गूलर, कंठजर, कठुम्बर, अंजीर, एकार्थवाची हैं। प्लक्ष, जटी, प्रकटी, अर्थात् बड़, पीपल, गूलर, पाकर और अंजीर इन पाँच फलों के खाने का त्याग करना। क्योंकि इन पाँचों फलों में त्रसजीव रहते हैं। मद्य, मांस और मधु का त्याग करना। ये अष्ट मूलगुण कहलाते हैं।

किन्हीं आचार्यों ने मद्य, मांस, मधु के त्याग के साथ पाँच अणुव्रत धारण करने को अष्ट मूलगुण कहा है।

सात व्यसन त्याग - शराब पीना, मांस खाना, जुआ खेलना, शिकार करना, वेश्यासेवन, परस्त्रीरमण और चोरी करना ये सात व्यसन कहलाते हैं। व्यसन का अर्थ होता है ऐसा कार्य जिनमें पड़कर मानव हेयोपादेय को भूल जाय। दर्शनविशुद्धि के लिए दर्शन प्रतिमाधारी को सात व्यसन का त्याग करना आवश्यक है क्योंकि ये सात महापाप हैं।

दर्शन प्रतिमा वाले को अरणी पुष्प, सौभाञ्जनपुष्प, करीर पुष्प और कचनार पुष्प इन फूलों का भक्षण नहीं करना चाहिए तथा आलू, गाजर, मूली, लहसुन, प्याज, सकरकन्द, मिश्रीकन्द तथा गीली हल्दी, अदरक, पालिका, पद्मिनीकन्द, लशुन, तुम्बीफल, कुशुंभशाक, तरबूज, सूरणकन्द, लवण, तेल, घृत आदि में मिश्रित आँवला आदि के बने हुए आचार, नवनीत आदि पदार्थों के भक्षण करने का त्याग करना चाहिए तथा मांसादि सेवन करने वालों के बर्तनों का उपयोग नहीं करना चाहिए। १६ प्रहर के उपरान्त के दही-छाछ, जिसमें सिंवाल आ गये हैं, जो चलितरस है, जिसका रूप-रस विकृत हो गया है ऐसी वस्तु को तथा कच्चे दूध के बने दही, छाछ के साथ द्विदल मूंग, चना आदि अन्न नहीं खाना चाहिए।

दर्शन प्रतिमा वाले के लिए अन्तराय भी पालन करना पड़ता है, जैसे अस्थि (हड्डी), शराब, चमड़ा, मांस, रक्त, पूय, मल, मूत्र और मरे हुए प्राणी के शरीर को देखकर एवं त्याग की हुई वस्तु यदि भूल से सेवन करे या खाने में आ जाय तो भोजन छोड़ देना चाहिए।

चाण्डाल, ऋतुवती स्त्री, सुअर आदि को देखकर तथा उनकी आवाज सुनकर अन्तराय करना चाहिए। रात्रि में रोग दूर करने के लिए भी दुग्ध, पानी, औषधि कुछ भी सेवन नहीं करना चाहिए। पानी को छानकर काम में लेना चाहिए और जिस जलाशय का पानी है बिनछानी को उसी जलाशय में पहुँचाना चाहिए। क्योंकि अष्टमूलगुण धारण नहीं करने, सप्त व्यसन सेवन करने, अभक्ष्य भक्षण करने तथा अन्तराय आदि उपर्युक्त क्रियाओं का पालन नहीं करने से सम्यग्दर्शन मलिन होता है। इस प्रकार जिसका सम्यग्दर्शन शुद्ध है, जो संसार, शरीर और पंचेन्द्रियजन्य विषयवासनाओं से विरक्त है तथा पंचपरमेष्ठी के चरण ही जिसकी शरण हैं, वह दर्शनप्रतिमाधारी अथवा दार्शनिक श्रावक कहलाता है।

(२) व्रत प्रतिमा - जो दर्शन प्रतिमा की क्रिया के साथ पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का निरतिचार पालन करता है, वह व्रतिक श्रावक कहलाता है।

(३) सामायिक प्रतिमा - तीनों संध्याओं के समय मन, वचन और काय को शुद्ध कर जिन-मन्दिर में अथवा अपने घर में जिनबिम्ब के सम्मुख या अन्य पवित्र स्थान में पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशा में मुख करके जिनधर्म, जिनवाणी, जिनबिम्ब, जिनालय और पंच परमेष्ठी की वन्दना करता है; जिसमें चार आवर्त्तन, तीन शिरोनति और दो नमस्कार कर देववन्दना करता है, अपनी आत्मा का ध्यान करता है वह सामायिक प्रतिमा है।

(४) प्रोषध प्रतिमा - प्रोषध का अर्थ एक बार भोजन करना है और चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास कहलाता है। जो एकासन (एक बार भोजन) करके उपवास करता है, उसे प्रोषधोपवास कहते हैं अथवा प्रोषध का अर्थ पर्व है और जिसमें पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से विमुख होकर रहती हैं उसे उपवास कहते हैं। सप्तमी और त्रयोदशी के दिन एकाशन अथवा नीरस भोजन करना प्रोषध प्रतिमा कहलाती है। प्रोषध के दिन पाँचों पापों का, अलंकार, आरम्भ आदि का त्यागकर शास्त्रवाचन, धर्मकथाश्रवण, ध्यान आदि में समय व्यतीत करना चाहिए।

(५) सचित्तत्याग प्रतिमा - सचित्त वनस्पति - जल आदि नहीं खाना।

(६) रात्रिभुक्ति व्रत प्रतिमा - दिवा मैथुन का त्याग तथा सूर्योदय से ४८ मिनट तक और सूर्यास्त के ४८ मिनट पूर्व तक आहार का त्याग करना।

(७) ब्रह्मचर्य व्रत प्रतिमा - मन, वचन और काय से स्त्रीमात्र की अभिलाषा नहीं करना। पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना।

(८) आरम्भत्याग प्रतिमा - कृषि, वाणिज्य आदि आरंभ का त्याग करना।

(९) परिग्रहत्याग प्रतिमा - वस्त्र के सिवाय दस प्रकार के परिग्रह का त्याग करना।

(१०) अनुमतित्याग प्रतिमा - कृषि आदि आरम्भ, परिग्रह, विवाह आदि लौकिक कार्यों में अनुमति देने के त्याग को अनुमतित्याग प्रतिमा कहते हैं। यह अनुमतित्याग प्रतिमाधारी श्रावक जिनमन्दिर या धर्मशाला में रहता है, मध्याह्न काल में बुलाने पर अपने घर या अन्य श्रावकों के घर भोजन करता है।

(११) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा - घर का त्याग कर मुनियों के पास वन में जाकर गुरु के समक्ष व्रत धारण कर एक लंगोटी मात्र रखता है। केशलोच करता है और हाथ में भोजन करता है। इसमें आदि की छह प्रतिमा जघन्य, सातवीं आठवीं और नवमी मध्यम और शेष की दो उत्तम कहलाती हैं।

इस प्रकार श्रावक की ये ११ प्रतिमाएँ देशविरत कहलाती हैं। इनका पालन करने वाला श्रावक देशविरति अथवा सागार कहलाता है। इसका नाम विकल चारित्र है।

सकलव्रत या चारित्र का कथन इस प्रकार है : इसके व्रत, समिति, गुप्ति आदि भेद हैं-

पंचेन्द्रिय संवरण - कछुए के समान अपनी इन्द्रियों को विषयों से रोक लेना है। व्रतों की रक्षा करने के लिए पच्चीस क्रिया अर्थात् पच्चीस भावनाएँ होती हैं। पाँच महाव्रत, पच्चीस क्रियाओं के होने पर ही होते हैं। यह पंचेन्द्रिय रोध, पंच महाव्रत, पंचसमिति, पच्चीस क्रिया और तीन गुप्ति अनगार चारित्राचार है।

अमनोज्ञ (अप्रिय) और मनोज्ञ (प्रिय) सजीव पदार्थ इष्ट स्त्री, पुत्र, वाहन आदि तथा अजीव पदार्थ अशन, वसन, आभूषण, कनक, काय आदि में राग-द्वेष नहीं करना पंचेन्द्रिय संवर (निरोध) है अर्थात् प्रिय चेतन-अचेतन द्रव्यों में राग नहीं करना और अप्रिय में द्वेष नहीं करना पंचेन्द्रिय निरोध है।

हिंसा से प्राणियों के प्राणों का वियोग करने से विरत होना, त्रस-स्थावर जीवों का घात नहीं करना **अहिंसा** महाव्रत है।

असत्य, कठोर, निन्दनीय, वचन बोलने का त्याग करना **सत्य** महाव्रत है। बिना दी हुई किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं करना **अचौर्य** महाव्रत है। मन, वचन, काय से मैथुन का त्याग कर अब्रह्म से विरत होकर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चतुर्थ महाव्रत अर्थात् **ब्रह्मचर्य** महाव्रत है। पूर्ण रूप से परिग्रह का

त्याग करना **परिग्रहत्याग** महाव्रत है। गुरुओं के भी गुरु महान् पुरुष जिनकी साधना करते हैं, जिनका पालन करते हैं, वृषभादि महावीर पर्यन्त तीर्थङ्करों, वृषभसेनादि गौतम जम्बूपर्यन्त गणधरों, महापुरुषों के द्वारा जो आचरित है, प्रतिपालित है, अर्थात् तीर्थङ्करों ने, गणधरों ने और आचार्यों आदि महापुरुषों ने पूर्व में जिनका आचरण किया है और जो स्वयं महान् हैं इसलिए इनको महाव्रत कहते हैं। महान् जो व्रत वे महाव्रत कहलाते हैं।

प्रत्येक प्राणी की पाँच प्रकार की क्रिया होती है। उनको सावधानीपूर्वक करना, आगमानुसार क्रियाओं में प्रवृत्ति करना समिति है अर्थात् सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करने का नाम समिति है।

व्यवहार-निश्चय के भेद से समिति दो प्रकार की है। जिनेन्द्र भगवान ने संयम की शुद्धि करने के लिए व्यवहार नय से ईर्यासमिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और व्युत्सर्ग समिति के भेद से पाँच प्रकार की समिति कही है।

सम्यक् प्रकार से होने वाली प्रवृत्ति का नाम समिति है। एकाग्रता से प्राणी-पीड़ा का परिहार करते हुए गमन, वचन, भोजन, आदान-निक्षेपण और मलमूत्र के त्याग में सावधानी रखना समिति है। सम् - सम्यक्प्रकार से इतः - गमन, प्रवृत्ति करना समिति है।

ईर्यासमिति - दिन में चार हाथ प्रमाण देखकर अपने कार्य के लिए प्राणियों को पीड़ा नहीं देते हुए संयमी का जो गमन है वह ईर्या समिति है। मार्ग, नेत्र, सूर्य का प्रकाश, ज्ञानादि में यत्न, देवता आदि आलम्बन - इनकी शुद्धता से तथा प्रायश्चित्तादि सूत्रों के अनुसार गमन करते मुनि के ईर्यासमिति होती है।

शीत और उष्ण जन्तुओं को बाधा न हो इसलिए शरीर प्रमार्जन करना चाहिए तथा सफेद भूमि या लाल रंग की भूमि में प्रवेश करना हो अथवा एक भूमि से निकल कर दूसरी भूमि में प्रवेश करना हो तो कटिप्रदेश से नीचे तक सर्व अवयव पिच्छिका से प्रमार्जित करना चाहिए। ऐसी क्रिया न करने से विरुद्ध योनि संक्रमण से पृथ्वीकायिक जीव और त्रसकायिक जीवों को बाधा होगी। जल में प्रवेश करने से पूर्व साधु हाथ-पाँव वगैरह अवयवों में लगे हुए सचित्त और अचित्त धूलि को पीछी से दूर करे। अनन्तर जल में प्रवेश करे। जल से बाहर आने पर जब तक पाँव न सूख जावें, तब तक जल के समीप ही खड़ा रहे।पाँव सूखने पर विहार करे। बड़ी नदियों को उलांघने का कभी अवसर आवे तो नदी के प्रथम तट पर सिद्ध वंदना कर, समस्त वस्तुओं आदि का प्रत्याख्यान करे। मन में एकाग्रता धारण कर नौका वगैरह पर आरूढ़ होवे। दूसरे तट पर पहुँचने के अनन्तर अतिचार नाशार्थ कायोत्सर्ग करे। प्रवेश करने पर अथवा वहाँ से बाहर निकलने पर यही आचार करना चाहिए।

जो गीली है, हरे तृण आदि से व्याप्त है, ऐसी पृथ्वी पर गमन नहीं करना चाहिए।

मार्ग में गदहा, ऊँट, बैल, हाथी, घोड़ा, भैंसा, कुत्ता और कलह करने वाले लोगों का दूर से ही त्याग करे। रास्ते में जमीन से समानान्तर फलक पत्थर वगैरह चीज हो अथवा दूसरे मार्ग में प्रवेश करना

पड़े अथवा भिन्न वर्ण की जमीन हो तो जहाँ से भिन्न वर्ण प्रारंभ हुआ है, वहाँ खड़े होकर प्रथम अपने सर्व अंग पर पिच्छी फिरानी चाहिए।

भाषा समिति - झूठा दोष लगाने रूप पैशुन्य, व्यर्थ हँसना, कठोर वचन, परनिन्दा, अपनी प्रशंसा और विकथा इत्यादि वचनों को छोड़कर स्व-पर हितकारक वचन बोलना भाषा समिति है।

स्व और पर को मोक्ष की ओर ले जाने वाले स्व-पर हितकारक, निरर्थक बकवाद रहित, मित, स्फुटार्थ, व्यक्ताक्षर और असन्दिग्ध वचन बोलना भाषासमिति है। मिथ्याभिधान, असूयाप्रियभेदक, अल्पसार, शंकित, संभ्रान्त, कषाययुक्त, परिहासयुक्त, अयुक्त, असभ्य, निष्ठुर, अधर्म-विधायक, देशकालविरोधी और चापलूसी आदि वचनदोषों से रहित भाषण करना चाहिए।

यह वचन बोलने योग्य है अथवा नहीं, इसका विचार न कर बोलना, वस्तु का स्वरूप ज्ञात न होने पर भी बोलना, ग्रन्थान्तर में भी कहा है 'अपुट्ठोदुण भासेज्ज त्रासमाणस्स अंतरे' कोई पुरुष बोल रहा है और अपने को प्रकरण, विषय मालूम नहीं है तो बीच में बोलना अयोग्य है। भाषासमिति का क्रम जो जानता नहीं वह मौन धारण करे, ऐसा अभिप्राय है।

एषणा समिति - धर्मसाधन आदि से युक्त, कृत-कारित आदि नौ विकल्पों से ठंडे गरम आदि भोजन में राग-द्वेष रहित, समभाव कर भोजन करना एषणा समिति है।

गुणरत्नों को ढोने वाली शरीर रूपी गाड़ी को समाधिनगर की ओर ले जाने की इच्छा रखने वाले साधु की जठराग्नि के दाह को शमन करने के लिए औषधि की तरह अन्नादि आहार को बिना स्वाद के ग्रहण करना एषणा समिति है। देश, काल और प्रत्यय इन नव कोटियों से रहित आहार ग्रहण किया जाता है। उद्गमादि दोषों से युक्त आहार लेना, मन से, वचन से, ऐसे आहार की सम्मति देना, उसकी प्रशंसा करना, ऐसे आहार की प्रशंसा करने वाले के साथ रहना, प्रशंसादि कार्य में दूसरों को प्रवृत्त करना, एषणा समिति के अतिचार हैं।

आदाननिक्षेपण समिति - ज्ञान के उपकरण, संयम के उपकरण तथा शौच के उपकरण व अन्य संथारा आदि के निमित्त उपकरण, इनको यत्नपूर्वक उठाना - रखना, यह आदाननिक्षेपण समिति है। ग्रहण और रखने में पीछी, कमण्डलु आदि वस्तु को तथा वस्तु के स्थान को अच्छी तरह देखकर पीछी से जो शोधन करता है वह भिक्षु कहलाता है; यही आदाननिक्षेपण समिति है। शीघ्रता से बिना देखे, अनादर से बहुत काल से रखे उपकरणों के उठाने-रखने स्वरूप दोषों का जो त्याग करता है उसके आदाननिक्षेपण समिति होती है।

जो वस्तु लेनी है, अथवा रखनी है वह लेते समय अथवा रखते समय, इसमें जीव है या नहीं, इसका ध्यान नहीं करना तथा अच्छी तरह जमीन या वस्तु स्वच्छ न करना आदाननिक्षेपणसमिति के अतिचार हैं।

प्रतिष्ठापन समिति - एकान्त स्थान, अचित्त स्थान, दूर, छिपा हुआ, बिल तथा छेदरहित, चौड़ा और जिसकी निन्दा व विरोध न हो, ऐसे स्थान में मूत्र, विष्ठा आदि देह के मल का क्षेपण करना प्रतिष्ठापना समिति कही गयी है।

दावाग्नि से दग्ध प्रदेश, हल से जुता हुआ प्रदेश, मसान भूमि का प्रदेश, खारसहित भूमि, लोग जहाँ रोकें नहीं ऐसा स्थान, विशाल स्थान, त्रस जीवों से रहित स्थान, जलरहित स्थान ऐसी जगह मूत्रादि का त्याग करे। विष्ठा, मूत्र, कफ, नाक का मैल आदि को हरे तृण आदि से रहित प्रासुक भूमि में अच्छी तरह देखकर निक्षेपण करे। रात्रि में आचार्य के द्वारा देखे हुए स्थान को आप भी देखकर मूत्रादि का क्षेपण करे। यदि वहाँ सूक्ष्म जीवों की शंका हो तो आशंका की विशुद्धि के लिए कोमल पीछी को लेकर हथेली से उस जगह को देखे। यदि पहला स्थान अशुद्ध हो तो दूसरा, तीसरा आदि स्थान देखे। किसी समय रोगपीड़ित होने पर अथवा शीघ्रता से अशुद्ध प्रदेश में मल छूट जाये तो उस धर्मात्मा साधु को प्रायश्चित्त न दें। कहे हुए क्रम से प्रतिष्ठापना समिति का वर्णन किया गया है उसी क्रम से त्यागने योग्य मल-मूत्रादि को उक्त स्थण्डिल स्थान में निक्षेपण करे। उसी के प्रतिष्ठापना समिति शुद्ध है।

जहाँ स्थावर या जंगम जीवों की विराधना न हो, ऐसे निर्जन्तुस्थान में मल-मूत्र आदि का विसर्जन करना और शरीर का रखना प्रतिष्ठापन समिति है।

प्रतिष्ठापन शुद्धि में तत्पर संयत देश और काल को जानकर नख, रोम, नाक, थूक, वीर्य, मल, मूत्र या देह परित्याग में जन्तुबाधा का परिहार करके प्रवृत्ति करता है।

शरीर व जमीन पिच्छिका से न पोंछना, मल-मूत्रादिक जहाँ क्षेपण करना है वह स्थान न देखना इत्यादि प्रतिष्ठापना समिति के अतिचार हैं। यह व्यवहार समिति का कथन किया है।

निश्चयसमिति : निश्चय नय से तो अपने स्वरूप में सम्यग् प्रकार से गमन अर्थात् परिणमन समिति है।

निश्चयनय की अपेक्षा अनन्त ज्ञानादि स्वभावधारक निज आत्मा है, उसमें 'सम्' भले प्रकार अर्थात् समस्त रागादि भावों के त्याग द्वारा आत्मा में लीन होना, आत्मा का चिन्तन करना, तन्मय होना आदि रूप से जो अयन (गमन) अर्थात् परिणमन सो समिति है।

अभेद अनुपचार रत्नत्रयरूपी मार्ग पर परमधर्मी ऐसे (अपने) आत्मा के प्रति सम्यग् इति (गति) अर्थात् परिणति वह समिति है, अथवा निज परम तत्त्व में लीन सहज परम ज्ञानादिक परमधर्मों की संहति (मिलन, संगठन) वह समिति है।

गुप्ति - सम्यक् प्रकार से मन, वचन, काय रूप तीन योगों का निरोध करना, योगों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति है। इसमें विषयसुख की अभिलाषा के लिए की जाने वाली प्रवृत्तियों का निषेध करने के लिए सम्यक् विशेषण दिया गया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गुप्ति निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार की है।

सहज शुद्ध आत्मभावना रूप गुप्त स्थान में संसार के कारणभूत रागादिक के भय से अपनी आत्मा को छिपाना, प्रच्छादन करना, झंपना, प्रवेश करना या आत्मा की रक्षा करना निश्चय गुप्ति है अथवा जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा की रक्षा होती है। मिथ्यात्वादि आत्मीय शत्रुओं से रत्नत्रय स्वरूप आत्मा को सुरक्षित रखने के लिए विषयाभिलाषा का त्याग किया जाता है वह निश्चय गुप्ति है। यह गुप्ति मन, वचन और काय के भेद से तीन प्रकार की है।

मनोगुप्ति - रागद्वेष से अवलम्बित सारे संकल्पों को छोड़कर अपने मन को स्वाधीन करना, रागद्वेष से मन का हटना तथा सकल राग-द्वेष-मोह से रहित होकर अखण्ड, अद्वैत, चिद्रूप परमात्मा स्वरूप स्वकीय आत्मा में लीन होना निश्चय मनोगुप्ति है। अथवा वीतराग, निर्विकल्प, त्रिगुप्ति गुप्त, परम समाधि में लीन होना ही गुप्ति है।

वचनगुप्ति - असत्य भाषणादि से निवृत्त होना, वा वचन की प्रवृत्ति का सर्वथा निरोध करना और संज्ञा, संकेत आदि का त्याग करना, मौन धारण करना वचन गुप्ति है।

कायगुप्ति - औदारिक आदि शारीरिक क्रियाओं से निवृत्त होना, पाँच स्थावर और त्रस जीवों की हिंसा से विरत होना, शरीर को स्थिर अचल करना, घोर उपसर्ग आने पर भी बाहुबली के समान शरीर से स्थिर रहना कायगुप्ति है।

जो निश्चय गुप्ति की साधक है उसको बाह्य गुप्ति कहते हैं। यह मन, वचन और काय के भेद से तीन प्रकार की है।

कलुषता, मोह, राग, द्वेष आदि अशुभ भावों के परिहार को व्यवहार नय से मनोगुप्ति कहा है। पाप के हेतुभूत ऐसे स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भक्तकथा इत्यादि रूप वचनों का परिहार अथवा असत्यादिक की निवृत्ति वाले वचन, वह वचन गुप्ति है। बन्धन, छेदन, मारण, आकुंचन (संकोचना) तथा प्रसारण (फैलाना) इत्यादि क्रियाओं की निवृत्ति को कायगुप्ति कहा है।

मन, वचन व काय की प्रवृत्ति का निरोध करके मात्र ज्ञाता, द्रष्टा भाव से निश्चय समाधि धारण करना पूर्ण गुप्ति है और कुछ शुभराग मिश्रित विकल्पों व प्रवृत्तियों सहित यथाशक्ति स्वरूप में निमग्न रहने का नाम आंशिक गुप्ति है। प्रवृत्ति अंश के साथ वर्तन के कारण यह व्यवहार गुप्ति है।

संयम - सम् सम्यक्प्रकार से 'यम' मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण करना संयम है। भाव संयम और द्रव्य संयम के भेद से संयम दो प्रकार का है। अंतरंग में कषाय भावों से उत्पन्न पंचेन्द्रिय विषयों की अभिलाषाओं का निरोध करना **भाव संयम** है और भाव संयम का आधार बाह्य में पंचेन्द्रिय विषयों का त्याग करना **द्रव्य संयम** है।

निश्चय और व्यवहार के भेद से संयम भी दो प्रकार का है।

निष्क्रिय आत्मा के शुद्ध स्वात्मा की उपलब्धि वा सर्व क्रियान्तरों से निवृत्ति तथा अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति ही निश्चय संयम है।

बाह्य में पंच महाव्रत का धारण, पंच समिति का पालन, पाँच इन्द्रियविषयों की अभिलाषाओं का त्याग करना, चारों कषायों का निग्रह करना और मन, वचन, काय रूप तीन योग की चंचलताओं का निरोध करना व्यवहार संयम है। यह व्यवहार संयम निश्चय संयम का साधन है।

औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से व्यवहार संयम तीन प्रकार का है।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से संयम चार प्रकार का है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय और यथाख्यात के भेद से पाँच प्रकार का है। इनका लक्षण चारित्र के प्रकरण में किया है।

श्रावक का संयम और मुनिराज का संयम, इस तरह संयम दो प्रकार का है, जिनका कथन व्रतों के प्रकरण में किया है।

प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम के भेद से संयम दो प्रकार का है। पाँच प्रकार का रस, आठ स्पर्श, दो गंध, पाँच वर्ण और षड्ज आदि सात स्वर इन २८ प्रकार के पंचेन्द्रिय विषयों से मन को रोकना इन्द्रियसंयम है और १४ प्रकार के जीवों की रक्षा करना प्राणिसंयम है।

अनादि काल से इस जीव ने रसना और स्पर्श इन्द्रिय के वशीभूत होकर अनेक दुःख भोगे हैं, अतः चार अंगुल प्रमाण स्पर्शनेन्द्रिय और चार अंगुल प्रमाण जिह्वेन्द्रिय का निरोध कर के संयम धारण करना चाहिए। जिह्वा इन्द्रिय के वश होने पर सारी इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं।

मुनियों का चारित्र आचारांग आदि चारित्र विषयक ग्रन्थों में कथित मार्ग से, प्रमत्त व अप्रमत्त इन दो गुणस्थानों के योग्य पंच महाव्रत, पंच समिति, त्रिगुप्ति, छह आवश्यक आदि रूप होता है और गृहस्थों का चारित्र 'उपासकाध्ययन' आदि ग्रन्थों में कथित मार्ग से, पंचम गुणस्थान के योग्य दान, शील, पूजा, उपवास आदि रूप होता है। मुनिसंयम के दो भेद हैं - एक उपेक्षा संयम और दूसरा अपहृत संयम। देश और काल के विधान को समझने वाले, स्वाभाविक रूप से शरीर से विरक्त और तीन गुप्तियों के धारक व्यक्ति के राग और द्वेष रूप चित्तवृत्ति का न होना उपेक्षा संयम है। अपहृत संयम उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीनप्रकार का है। प्रासुक वसति और आहार मात्र है बाह्य साधन जिनके तथा स्वाधीन है ज्ञान और चारित्र रूप करण जिनके ऐसे साधु का बाह्य जन्तुओं के आने पर उनसे अपने को बचाकर संयम पालना उत्कृष्ट अपहृत संयम है। मृदु उपकरण से जन्तुओं को बुहार देने वाले के मध्यम और अन्य उपकरणों की इच्छा रखने वाले के जघन्य अपहृत संयम होता है।

यह अपहृतसंयमियों के संयम-ज्ञानादिक के उपकरण लेते, रखते समय उत्पन्न होने वाली समिति का प्रकार कहा है। उपेक्षा संयमियों के पुस्तक, कमण्डलु आदि नहीं होते, वे परम जिनमुनि एकान्त में निस्पृह होते हैं, इसलिए वे बाह्य उपकरण रहित होते हैं।

उपेक्षा संयम और अपहृत संयम, इनको वीतराग व सराग संयम भी कहते हैं, ये दोनों शुद्धोपयोगियों के ही होते हैं।

अपवाद, व्यवहारनय, एकदेशपरित्याग, अपहृत संयम, सराग चारित्र, शुभोपयोग ये सब शब्द एकार्थवाची हैं तथा उपसर्ग, निश्चय, सर्वपरित्याग, परमोपेक्षा संयम, वीतराग चारित्र, शुद्धोपयोग ये सब शब्द एकार्थवाची हैं।

अपहृत संयम दो प्रकार का है - इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम। इस अपहृत संयम में भाव, वचन, काय, विनय आदि के भेद से आठ शुद्धियों का उपदेश है।

पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, षड्ज आदि सात स्वर और मन ये २८ इन्द्रियविषय हैं। इनका निरोध सो इन्द्रियसंयम है और चौदह प्रकार के जीवों की रक्षा करना सो प्राणिसंयम है।

इन्द्रियों द्वारा जो अर्थविषयक ज्ञान होता है वह असंयम नहीं है, बल्कि उन विषयों में रागवृद्धि न होना इन्द्रियसंयम है और इसी प्रकार त्रस व स्थावर जीवों में से किसी के भी वध के लिए मन, वचन व काय का उद्यत न होना सो प्राणिसंयम है।

पृथ्वी, अप्, तेज, वायु व वनस्पति ये पाँच स्थावरकाय और दो, तीन, चार व पाँच इन्द्रिय वाले चार त्रस जीव इनकी रक्षा रूप प्राणिसंयम ९ प्रकार है, सूखे तृण आदि का छेदन न करना ऐसा १ भेद अजीव काय की रक्षा रूप है। अप्रतिलेखन, दुष्प्रतिलेखन, उपेक्षा संयम, अपहृत संयम, मन, वचन व काय संयम, इस प्रकार कुल मिलाकर १७ संयम होते हैं। (यहाँ पीछी से द्रव्य का शोधन सो प्रतिलेखन संयम है और प्रमाद सहित यत्नपूर्वक शोधन दुष्प्रतिलेखन संयम है।)

प्रकृति, शील, स्वभाव ये सर्व शब्द एकार्थवाची हैं। शील आत्मा का स्वभाव है।

निश्चय नय से आत्मस्वरूप में लीन रहना, पर-पदार्थों से निवृत्त होना ही शील है।

व्यवहार नय से पंचेन्द्रिय के विषयों से विरक्त होना शील कहलाता है। जिसके द्वारा व्रतों की रक्षा की जाय उसको शील कहते हैं। शील की दो प्रकार से प्ररूपणा है। एक तो स्वद्रव्य-परद्रव्य के विभाग अपेक्षा है और दूसरी स्त्री के संसर्ग की अपेक्षा है। तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रिय, दस पृथ्वी आदिक काय, दस मुनिधर्म इनको आपस में गुणा करने से अठारह हजार शील होते हैं। मन, वचन, काय का शुभकर्म के ग्रहण करने के लिए व्यापार (वह) योग है और अशुभ के लिए प्रवृत्ति वह करण है। आहारादि चार संज्ञा हैं, स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियाँ हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चोइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ये पृथ्वी आदि दस हैं। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य ये १० मुनिधर्म हैं। इनको परस्पर गुणा करने से स्वद्रव्य और परद्रव्य के विभाग की अपेक्षा शील के १८००० भेद होते हैं।

स्त्रीसंसर्ग की अपेक्षा - काष्ठ, पाषाण, चित्राम (३ प्रकार अचेतन स्त्री) × मन और काय =

(३×२ = ६) (यहाँ वचन नहीं)। कृत-कारित-अनुमोदना = (६×३=१८)। पाँच इन्द्रिय (१८×५=९०)। द्रव्य-भाव (९०×२=१८०)। क्रोध, मान, माया, लोभ (१८०×४=७२०)। ये अचेतन स्त्री के आश्रित रहे। देवी, मनुष्यनी, तिर्यन्वी (३ प्रकार चेतन, स्त्री) × मन, वचन, काय (३×३=९) कृत-कारित-अनुमोदना (९×३=२७)। पंचेन्द्रिय (२७×५=१३५)। द्रव्य-भाव (१३५×२=२७०)। चार संज्ञा (२७०×४=१०८०)। सोलह कषाय (१०८०×१६=१७२८०)। इस प्रकार चेतन स्त्री के आश्रित १७२८० भेद कहे। कुल मिलाकर (७२०+१७२८०=) शील के १८००० भेद होते हैं।

गुणों का कथन करते हैं -

जो द्रव्य को द्रव्यान्तर से पृथक् करता है, भेद करता है, सम्पूर्ण पर्याय में व्याप्त होकर रहता है उसको गुण कहते हैं। यहाँ पर जो मुनि और श्रावक में भेद करते हैं, उनको पृथक् करते हैं, वे गुण कहलाते हैं।

जैसे श्रावक के आठ मूल गुण और १२ उत्तर गुण होते हैं, उसी प्रकार मुनिराज के छेदोपस्थापना चारित्र में २८ मूल गुण और चौरासी लाख उत्तर गुण होते हैं। वे इस प्रकार हैं। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, केशलोंच, षट् आवश्यक, अचेलकत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधोवन, खड़े-खड़े भोजन, एक बार आहार ये वास्तव में श्रमणों के २८ मूलगुण जिनवर ने कहे हैं।

भावार्थ - पाँच पाप, चार कषाय, जुगुप्सा, भय, रति, अरति ये १३ दोष हैं + मन वचन काय की दुष्टतायें ३ + मिथ्यात्व, प्रमाद, पिशुनत्व, अज्ञान, पाँच इन्द्रियों का निग्रह ये पाँच - इन २१ दोषों का त्याग २१ गुण हैं। ये उपर्युक्त गुण × अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार ये चार × पृथ्वी आदि १० जीव समास × १० शील विराधना × १० आलोचना के दोष × १० धर्म, दश प्रकार की शुद्धि × १० संयम इनको परस्पर गुणा करने पर = ८४,००,००० उत्तर गुण होते हैं।

यद्यपि अतिक्रम और अतिचार एक ही है क्योंकि समन्तभद्राचार्य ने अतिचार के बदले में व्यतिक्रम, व्यतिलंघन अतिगम, व्यतिनयादि शब्द का प्रयोग किया है।

राजवार्त्तिक में भी अतिचार के स्थान पर अतिक्रम शब्द का प्रयोग किया है। तथापि कथंचित् अतिक्रम और अतिचार में भेद भी है। मन की शुद्धि की हानि अतिक्रम है। विषयों की अभिलाषा व्यतिक्रम है। किसी कारणवश व्रतों में शिथिलता आना अतिचार है और व्रतों का सर्वथा भंग हो जाना या विषयों में अति आसक्ति होना अनाचार है।

"दर्शनमोह के उदय से तत्त्वार्थ श्रद्धान से विचलित होना अतिचार है। इसका दूसरा नाम अतिक्रम भी है"। (राजवार्तिक) व्रतों का एक अंश भंग होने को भी अतिचार कहते हैं। इस प्रकार अतिचार, अनाचार, अतिक्रम और व्यतिक्रम के द्वारा पाँच पाप आदि २१ भेदों को गुणा करने पर ८४ भेद होते हैं।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति के साधारण और प्रत्येक दो भेद, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय इन दश जीवसमास से गुणा करने पर ८४० भेद होते हैं।

स्त्रीसंसर्ग, प्रणीत रस-सेवन या सरस आहार, सुगन्ध संस्कार या गन्धमाला - संस्पर्श, कोमलशयनासन, भूषण या शरीर मण्डन, गीतवादित्र श्रवण, अर्थसंप्रयोग या अर्थग्रहण, कुशील-संसर्ग, राजसेवा, रात्रिसंचरण ये शील-विराधना के दश भेद हैं। इन दश से गुणा करने पर ८४०० भेद होते हैं।

आलोचना के दश दोष :

(१) आकंपित दोष - उपकरण देने से मुझे स्वल्प प्रायश्चित्त देंगे, ऐसा विचार करके प्रायश्चित्त के समय उपकरणादि देना अथवा शरीर में भय उत्पन्न करके दोषों को कहना आकंपित दोष है।

(२) अनुमानित दोष - मैं दुर्बल हूँ, रोगी हूँ, उपवास आदि नहीं कर सकता। यदि लघु प्रायश्चित्त दें तो अपना अपराध कहूँ, ऐसा कहकर अपने दोष कहना, या अनुमान से दोष कहना, यथाकृत नहीं कहना अनुमानित दोष है।

(३) दृष्ट दोष - दूसरों के द्वारा जाने हुए दोषों को कहना तथा अज्ञात दोषों को छिपा लेना दृष्ट दोष है।

(४) बादर दोष - आलस्य या प्रमाद से सूक्ष्म अपराधों की परवाह न करके केवल स्थूल दोषों को कहना बादर दोष है।

(५) सूक्ष्मदोष - कठोर प्रायश्चित्त के भय से बड़े दोषों को छिपाकर छोटे-छोटे दोषों को कहना सूक्ष्म दोष है।

(६) छिन्नदोष - ऐसा दोष होने पर क्या प्रायश्चित्त होगा, किसी युक्ति से प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में जानकर चापलूसी पूर्वक दोष कहना छिन्नदोष है।

(७) शब्दाकुलित दोष - पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के समय साधुओं की भीड़ व कोलाहल में अपने दोष कहना शब्दाकुलित दोष है।

(८) बहुजन दोष - गुरु के द्वारा दिया गया प्रायश्चित्त आगमाश्रित व उचित है या नहीं, अन्य साधुओं से ऐसा पूछना अथवा बहुत से श्रावकों की उपस्थिति में अपने अपराधों को प्रकाशित करना बहुजन दोष है।

(९) अव्यक्त दोष - जिस किसी उद्देश्य से अपने रागशील साधुओं के समक्ष दोष निवेदन करना, अथवा स्पष्ट रूप से अपने दोषों को न कहकर अस्पष्ट रूप से दोषों के विषय में निवेदन करना अव्यक्त दोष है।

(१०) तत्सेवी दोष - इसमें दिया हुआ कठोर प्रायश्चित्त भी विफल होता है, इसके समान ही मेरा अपराध है, उसको यह जानता है, जो प्रायश्चित्त इसे दिया गया है वही प्रायश्चित्त मैं शीघ्र ही लूंगा - ऐसा सोचकर अपने दोषों का संवरण करना अथवा निदोष आचार्य के सामने दोष न कहना,गुरु के समक्ष

अपने दोषों को प्रकट करके पुन: उन्हीं दोषों को करना तत्सेवी दोष है। आलोचना के इन १० दोषों से निरन्तर बचना चाहिए। इन दश से गुणा करने पर ८४००० भेद हैं।

शुद्धि के १० भेद - **(१) आलोचना** - एकान्त में विराजमान गुरु के समक्ष देश व काल को जानने वाले शिष्य के द्वारा निन्दा एवं गर्हापूर्वक आत्मदोषों को सविनय निवेदन करना आलोचना है।

(२) प्रतिक्रमण - अज्ञान या प्रमाद से लगे हुए दोषों को 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' मेरे दोष गुरु के प्रसाद से मिथ्या होवें - ऐसा कहना प्रतिक्रमण है।

(३) उभय - अपने पापों का प्रक्षालन करने के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना उभय है।

(४) विवेक - प्राप्त अन्न-पान और उपकरणादि का त्याग करना विवेक है।

(५) व्युत्सर्ग - काल का नियम करके कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग है।

(६) तप - अनशनादि तप हैं।

(७) छेद - चिरप्रव्रजित साधु की दिन, पक्ष, मास आदि दीक्षा का छेद करना छेद है।

(८) परिहार - पक्ष, मासादि तक संघ से बाहर रहना परिहार है।

(९) उपस्थापना - महाव्रतों का मूलोच्छेद करके पुन: दीक्षा देना उपस्थापना है।

(१०) श्रद्धान - जीवादि तत्त्वों में श्रद्धान करना श्रद्धान या सम्यग्दर्शन है।

संयम के १० भेद - एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों की रक्षा करना ५ प्रकार का प्राणि-संयम है तथा पाँचों इन्द्रियों को वश में करना ५ प्रकार का इन्द्रिय संयम है। कुल मिला कर संयम के ये १० भेद हैं। इन सबको परस्पर गुणा करने पर चौरासी लाख उत्तर गुण होते हैं।

तीन गुप्ति - गुप्ति के तीन भेद हैं - (१) मनोगुप्ति, (२) वचन गुप्ति और (३) कायगुप्ति।

(१) मनोगुप्ति - रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अशुभ भावों से मन को मुक्त रखना मनोगुप्ति है।

(२) वचन गुप्ति - स्त्री सम्बन्धी, चोरी या भोजन सम्बन्धी कथन से एवं असत्य भाषण से विरत रहना वचनगुप्ति है।

(३) काय गुप्ति - छेदन, भेदन, ताड़न, मारण आदि कार्यों से विरत रहना कायगुप्ति है।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य रूप दशधर्म आदि विकल्पों से युक्त चारित्र को सन्त लोग छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं।

त्रिविधविकल्पसमन्वितसूक्ष्मासंख्येयलोकपरिणामै:।
सदृशे ते चारित्रे व्यतिरेकाभावतो नित्यम्॥८९॥

अन्वयार्थ - त्रिविधसंकल्पसमन्वितसूक्ष्मासंख्येयलोकपरिणामै: - मन, वचन, काय के त्रिविध विकल्पों से युक्त सूक्ष्म असंख्यातलोक परिणामों के द्वारा। **ते** - उन दोनों। **चारित्रे** - सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र। **नित्यं** - नित्य। **व्यतिरेकाभावत:** - व्यतिरेक का अभाव होने से। **सदृशे** - समान हैं।

अर्थ - यद्यपि सामायिक और छेदोपस्थापना रूप दो प्रकार के चारित्र का कथन किया है, परन्तु दोनों प्रकार के चारित्र मन, वचन, काय कृत सूक्ष्म असंख्यात लोक परिणामों के साथ होने से दोनों में व्यतिरेक (पृथक्पने) का अभाव है।

"सम्पूर्ण भेद रूप व्रतों को सामान्य की अपेक्षा एक मानकर एक यम को ग्रहण करने वाला होने से सामायिक चारित्र द्रव्यार्थिक नय का कथन है और उस सर्वसावद्ययोगनिवृत्ति एक व्रत को पाँच या अनेक प्रकार के भेद करके ग्रहण करने वाला होने से छेदोपस्थापना चारित्र पर्यायार्थिक नय का विषय है। यहाँ पर तीक्ष्ण बुद्धि वाले मनुष्यों का अनुग्रह करने के लिए द्रव्यार्थिक नय का उपदेश दिया गया है और मन्दबुद्धि प्राणियों का अनुग्रह करने के लिए पर्यायार्थिक नय का उपदेश दिया गया है। इसलिए इन दोनों प्रकार के चारित्र में अनुष्ठान कृत कोई विशेष भेद नहीं है क्योंकि जो सामायिक चारित्र वाले जीव हैं, वे ही छेदोपस्थापना वाले जीव हैं तथा जो छेदोपस्थापना वाले जीव हैं, वे ही सामायिक शुद्धि संयत हैं।[१] जैसे पर्याय को छोड़कर द्रव्य नहीं है और द्रव्य को छोड़कर पर्याय नहीं है - दोनों एक साथ हैं तन्मय रूप हैं, उसी प्रकार सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापना चारित्र पृथक्-पृथक् नहीं हैं। छेदोपस्थापना चारित्र अंग है और सामायिक चारित्र अंगी है।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति ये चारित्र के १३ अंग हैं। इन अंगों का भेदरूप कथन करते हैं तो छेदोपस्थापना चारित्र कहलाता है और अंगों का भेद रूप कथन न करके अंगी का कथन किया जाता है तो सामायिक चारित्र कहलाता है। अत: अंग को छोड़कर अंगी और अंगी को छोड़कर अंग नहीं रहता है।

यद्यपि दीक्षा ग्रहण करते समय साधु पूर्णतया साम्यभाव रूप रहने की प्रतिज्ञा करता है, परन्तु पूर्ण निर्विकल्पता में अधिक समय तक टिकने का सामर्थ्य न होने से व्रत, समिति, गुप्ति आदि रूप व्यवहार चारित्र तथा क्रियानुष्ठानों में अपने आप को स्थापित करता है। पुन: कुछ समय पश्चात् अवकाश पाकर समता में पहुँच जाता है और पुन: परिणामों के गिरने पर विकल्पों में उलझ जाता है। जब तक चारित्रमोह का उपशम वा क्षय नहीं करता तब तक इसी प्रकार झूले में झूलता रहता है। यहाँ पर निर्विकल्प अभेदात्मक वा साम्यभाव चारित्र का नाम सामायिक है या निश्चय चारित्र है और सविकल्प भेदात्मक चारित्र का नाम छेदोपस्थापना या व्यवहार चारित्र है।

---

१. धवला १/१.१.१२३

इस प्रकार इन दोनों प्रकार के संयमों में असंख्यात लोक प्रमाण सूक्ष्म परिणामों के साथ समानता है अत: इन दोनों में वास्तविक भेद नहीं है। इसलिए षट्खण्डागम की प्रथम पुस्तक में लिखा है कि सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापना चारित्र में विवक्षा भेद से ही भेद है; गुणस्थान, काल, स्वामी की अपेक्षा कोई भेद नहीं है क्योंकि दोनों का प्रादुर्भाव एक साथ छठे गुणस्थान से होता है और नवम गुणस्थान तक दोनों का अस्तित्व रहता है। अत: इन दोनों में उपचार मात्र से भेद है, वास्तव में भेद नहीं होने से दोनों एक हैं। अत: ये दोनों मिलकर एक हैं। सूक्ष्मसांपराय, परिहारविशुद्धि और यथाख्यात रूप चार प्रकार का संयम माना है।

अजितनाथ से लेकर भगवान पार्श्वनाथ पर्यंत बावीस तीर्थंकरों ने सामायिक चारित्र का उपदेश दिया था और आदिनाथ तथा महावीर भगवान ने छेदोपस्थापना चारित्र का उपदेश दिया। क्योंकि आदिनाथ तीर्थंकर के समय के जीव सरल स्वभावी थे इसलिए संक्षेप में कथित सामायिक चारित्र को समझने में असमर्थ थे तथा महावीर भगवान के समय के मानव कुटिल स्वभावी होने से दु:खकर समझ सकते थे अथवा आदिनाथ के काल के शिष्य और महावीर भगवान के शिष्य प्रगट रीति से योग्य-अयोग्य को नहीं जानते, संक्षेप कथन से नहीं समझते, अत: इन दोनों तीर्थंकरों ने विस्तारपूर्वक छेदोपस्थापना चारित्र का कथन किया।

सामायिक चारित्र का कथन संक्षेप में है और छेदोपस्थापना चारित्र का कथन विस्तारपूर्वक है।

परिहार विशुद्धि संयम का लक्षण

त्रिंशद्वर्षाद् योगी वर्षपृथक्त्वं च तीर्थकरमूले।
प्रत्याख्यानमधीत्य च गव्यूति द्वितयगो दिवसे॥९०॥

संयमविनाशभीरुर्लभते परिहारसंयमं शुद्धम्।
त्रिविधास्तत्परिणामा भवन्त्यसंख्यातसंख्याना:॥९१॥

परिहारार्द्धिसमेत: षड्जीवनिकायसंकुले विचरन्।
पयसेव पद्मपत्रं न लिप्यते पापनिवहेन॥९२॥

अन्वयार्थ - **त्रिंशद्वर्षात्** - तीस वर्ष के बाद। **योगी** - योग धारण करके। **तीर्थकरमूले** - तीर्थंकर के चरणमूल में। **च** - और। **वर्षपृथक्त्वं** - वर्ष पृथक् (आठ वर्ष तक)। **प्रत्याख्यानं** - प्रत्याख्यान नामक पूर्व को। **अधीत्य** - पढ़कर। **दिवसे** - दिन में। **गव्यूति द्वितयग:** - दो गव्यूति। गमन करता है।

संयमविनाशभीरु: - संयम के विनाश से भयभीत मुनि। **शुद्धं** - शुद्ध। **परिहार संयमं** - परिहारसंयम को। **लभते** - प्राप्त करता है। **तत्परिणामा** - उस परिहार विशुद्धि के परिणाम। **त्रिविधा:** - तीन प्रकार के हैं। **असंख्यातसंख्याना:** - असंख्यात संख्यात भेद। **भवन्ति** - होते हैं।

परिहारर्द्धि समेतः - परिहारविशुद्धि संयम वाला मुनि। **षड्जीवनिकायसंकुले** - छह काय के जीवों से व्याप्त स्थान पर विचरन् - विहार करता हुआ भी। **पापनिवहेन** - पापसमूह से। **न** - नहीं। **लिप्यते** - लिप्त होता है। **इव** - जैसे। **पद्मपत्रं** - कमल का पत्ता। **पयसा** - पानी के द्वारा लिप्त नहीं होता है॥९०-९१-९२॥

अर्थ - जिसने गृहस्थावस्था में तीस वर्ष सुखपूर्वक व्यतीत कर दैगम्बरी मुद्रा धारण की है तत्पश्चात् वर्ष पृथक्त्व काल प्रमाण तीर्थंकर के चरणमूल में प्रत्याख्यान नामक पूर्व का अध्ययन किया है, उन्हीं के परिहारविशुद्धि संयम होता है। (किसी अन्य आचार्य ने यह अवधि १६ वर्ष या बावीस वर्ष भी कही है।)

एक कोटि पूर्व से अधिक आयु वाले मानवों को तो परिहारविशुद्धि संयम होता नहीं है। षट्खण्डागम में परिहारविशुद्धि संयम के काल का कथन करते समय कहा है कि अड़तीस वर्ष कम एक कोटि पूर्वकाल है। किसी आचार्य के मतानुसार १६ वर्ष या २२ वर्ष कम एक कोटि पूर्व है। जिनके मत में १६ वर्ष कम एक कोटि पूर्व है, उनके मतानुसार आठ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण करनी होगी और बावीस वर्ष कम वाले के १४ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण करना होगा। वर्ष पृथक्त्व से यहाँ आठ वर्ष ग्रहण किये हैं अन्यथा अड़तीस वर्ष घटित नहीं होते। परिहारविशुद्धि संयम वाले को तीनों संध्याकाल को छोड़कर दो गव्यूति प्रमाण विहार करना ही पड़ता है। इनको चातुर्मास में एक ग्राम या एक स्थान पर रहने का नियम नहीं है, परन्तु ये रात्रि में गमन नहीं करते हैं।

श्लोक में "दिवसे गव्यूति द्वितयगः" लिखा है, इससे सूचित होता है कि वे दिन में दो गव्यूति प्रमाण गमन करते हैं, रात्रि में नहीं।

परिहरण - प्राणिवध से निवृत्ति को परिहार कहते हैं। इस युक्त शुद्धि (प्राणिवध से निवृत्तियुक्त शुद्धि) जिसके होती है वह परिहारविशुद्धि कहलाती है। अर्थात् परिहारविशुद्धि संयम वाले के शरीर से किसी जीव की विराधना नहीं होती है। जिस प्रकार पानी में रहते हुए भी कमलपत्र पानी से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार पृथ्वी आदि छह काय के जीवों पर विहार करते हुए भी वे पाप से लिप्त नहीं होते।

जो मुनिराज संयम के विनाश से अत्यन्त भयभीत हैं, अत्यंत विशुद्ध परिणाम वाले हैं, स्वप्न में भी संयम की विराधना नहीं करते हैं, उनको ही परिहारविशुद्धि संयम प्राप्त होता है।

उस परिहारविशुद्धि संयम के परिणाम उत्तम, मध्यम, जघन्य के भेद से तीन प्रकार के हैं। जघन्य परिहारविशुद्धि सामायिक, छेदोपस्थापना संयम के सम्मुख हुए जीव के होता है तथा सामायिक एवं छेदोपस्थापना वाले के उत्कृष्ट परिहार-विशुद्धि संयम होता है क्योंकि सामायिक और छेदोपस्थापना संयम के साथ परिहारविशुद्धि संयम का अविनाभाव सम्बन्ध है। सामायिक, छेदोपस्थापना संयम की विशुद्धि से ही परिहारविशुद्धि संयम उत्पन्न होता है।

पाँच समिति, तीन गुप्तियों से युक्त होकर सदा ही सर्व सावद्य योग का परिहार करना तथा पाँच यमरूप भेद संयम (छेदोपस्थापना) को तथा एक यमरूप अभेद संयम (सामायिक) को धारण करना परिहारविशुद्धि संयम है और उसका धारक साधु परिहारविशुद्धिसंयत कहलाता है।

सामायिक और छेदोपस्थापना संयम की विशुद्धि से ही परिहार विशुद्धिसंयम नाम की ऋद्धि उत्पन्न होती है।

सामायिक छेदोपस्थापना के जघन्य, मध्यम और उत्तम तीन भेद होने से इस संयम के भी तीन भेद हैं तथा भिन्न-भिन्न साधुओं के परिणामों के भेद से संख्यात और असंख्यात भेद हैं। परिहारविशुद्धि संयम प्रतिपाती भी है अर्थात् संक्लेश परिणाम तथा सम्यग्दर्शन से च्युत हो जाने पर यह छूट भी जाता है।

जो मुनिराज निर्विकल्प समाधि में लीन रहने के लिए समर्थ नहीं हैं, परन्तु प्राणिवधभय से भयभीत हैं, संक्लेश परिणामों से रहित हैं, ऐसे मुनिराज परिहारविशुद्धि संयम वाले होते हैं।

इन परिहारविशुद्धि संयम वालों की सारी समाचार विधि सामायिक छेदोपस्थापना चारित्र के समान है, परन्तु ये किसी को निर्देश नहीं देते हैं।

स्वकीय साधर्मियों के अतिरिक्त किसी के साथ आदान-प्रदान, वन्दन, अनुभाषण आदि सारे व्यवहारों का त्याग करते हैं, परन्तु परिहारविशुद्धि संयम वाला जो आचार्यपद में प्रतिष्ठित है, वह इन व्यवहारों का त्याग नहीं करता है।

जो आचार्यपद में प्रतिष्ठित नहीं है ऐसे परिहारविशुद्धि संयम वाले मुनि धर्मकार्यों में आचार्य से अनुज्ञा लेना, विहार में मार्ग पूछना, वसतिका के स्वामी से आज्ञा लेना, योग्य - अयोग्य उपकरणों के लिए निर्णय करना तथा किसी का सन्देह दूर करने के लिए उत्तर देना, इन कार्यों के अतिरिक्त मौन से रहते हैं। शरीर के अंगों को पीछी से पोंछने की क्रिया नहीं करते क्योंकि इनके शरीर से किसी जीव की विराधना नहीं होती है।

वेदना आने पर उसका प्रतिकार नहीं करते हैं। उपसर्ग आने पर स्वयं दूर करने का प्रयत्न नहीं करते हैं, परन्तु कोई दूसरा दूर करता है तो मौन रखते हैं।

एक साथ चार-पाँच साधुओं को परिहारविशुद्धि संयम हो सकता है। उनमें से जिसको पहले परिहारविशुद्धि होती है वे आचार्य कहलाते हैं और शेष पीछे से इस संयम को प्राप्त करने वाले अनुपहारक कहलाते हैं।

मनःपर्ययज्ञान, परिहारविशुद्धिसंयम, प्रथमोपशम सम्यक्त्व और आहारक, आहारक अंगोपांग, इन चारों में से किसी एक के होने पर शेष तीन मार्गणाएँ नहीं होतीं।

परिहारविशुद्धि संयत के तैजस समुद्घात और आहारक समुद्घात ये दो पद नहीं होते।

परिहारविशुद्धि संयम को नहीं छोड़ने वाले जीव के उपशम श्रेणी पर चढ़ने के लिए दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम होना भी संभव नहीं है अर्थात् परिहारविशुद्धि संयत के उपशम सम्यक्त्व व उपशम श्रेणी होना सम्भव नहीं।

परिहारविशुद्धि संयत जीव के विक्रिया ऋद्धि और आहारक ऋद्धि होने का विरोध है।

जिनकी आत्माएँ ध्यान रूपी सागर में निमग्न हैं, जो वचनयम का (मौन का) पालन करते हैं और जिन्होंने आने-जाने रूप सम्पूर्ण शरीर सम्बन्धी व्यापार संकुचित कर लिया है, ऐसे जीवों के शुभाशुभ क्रियाओं का परिहार बन ही नहीं सकता है। क्योंकि गमनागमन रूप क्रियाओं में प्रवृत्ति करने वाला ही परिहार कर सकता है, प्रवृत्ति नहीं करने वाला नहीं। इसलिए ऊपर के आठवें आदि गुणस्थानों में परिहारशुद्धि संयम नहीं बन सकता है।

सूक्ष्म सांपराय संयम का कथन

सूक्ष्मीकृते तु लोभकषाये श्रेणिद्वये निवृत्तिमयैः।
परिणामैर्भवति यतेः सूक्ष्मचरित्रं गुणपवित्रम्॥९३॥

अन्वयार्थ - **निवृत्तिमयैः** - अनिवृत्तिकरण। **परिणामैः** - परिणामों के द्वारा। **यतेः** - मुनिराज के। **श्रेणिद्वये** - उपशमक और क्षपक दोनों श्रेणी में, **लोभकषाये** - लोभकषाय के। **सूक्ष्मीकृते** - सूक्ष्म कर देने पर। **गुणपवित्रं** - पवित्र गुण वाला। **सूक्ष्मचारित्रं** - सूक्ष्म साम्पराय चारित्र। **भवति** - होता है। **तु** - यह शब्द पादपूर्ति हेतु है। यह चारित्र सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में ही होता है।

अर्थ - जिन्होंने उपशम और क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर अनिवृत्तिकरण परिणामों के द्वारा लोभकषाय को सूक्ष्म कर दिया है अर्थात् अत्यन्त निर्मल अखण्डित चारित्र के बल से कषाय के विषांकुरों को खोंट दिया है, मोहनीय कर्म के बीज रूप लोभ को अत्यन्त सूक्ष्म कर विनाश के मुख में धकेल दिया है उस परम सूक्ष्म लोभ वाले मुनिराज के सूक्ष्मसाम्पराय नामक चारित्र होता है।

मोहनीय कर्म का उपशमन या क्षपण करते समय सूक्ष्म लोभ का वेदन करना सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र है। यह सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में ही होता है।

सूक्ष्म अतीन्द्रिय निज शुद्धात्मा के अनुभव से कषायों का उपशमन वा क्षपण करते समय दसवें गुणस्थान में जो सूक्ष्म सांपराय (कषाय) का सद्भाव रहता है, उसको सूक्ष्म साम्पराय कहते हैं।

सूक्ष्म कषाय को सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं, सूक्ष्मसाम्पराय में जिन संयतों ने प्रवेश किया है, उन्हें सूक्ष्मसाम्परायप्रविष्ट शुद्धिसंयत कहते हैं। इसके अन्तर्गत समय में जो सूक्ष्म कृष्टिगत लोभ का अनुभव करता है और जिसने अनिवृत्तिकरण इस संज्ञा को नष्ट कर दिया है, ऐसा मुनि सूक्ष्मसाम्पराय संयम वाला है।

यथाख्यात चारित्र का कथन

मोहानुदयादेकाकारमनोगुणचतुष्टये नित्यम्।
उपशान्तकषायाद्ये भवति चरित्रं यथाख्यातम्॥९४॥

अन्वयार्थ - **मोहानुदयात्** - मोहनीय कर्म के उदय का अभाव होने से। **एकाकारमनः** - मन के एकाग्र होने पर। **उपशांतकषायाद्ये** - उपशांत कषाय है आदि में जिनके ऐसे। **गुणचतुष्टये** - चार गुणस्थान में। **नित्यं** - नित्य। **यथाख्यातं** - यथाख्यात नामक। **चारित्रं** - चारित्र। **भवति** - होता है।

अर्थ - जिस समय मोहनीय कर्म का उदय नष्ट हो जाता है, मोहनीय कर्म की सारी प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति हो जाती है, चारित्रमोहनीय की सत्ता उपशांत हो जाती है या सत्ताव्युच्छित्ति होकर क्षय हो जाता है तब यथाख्यात चारित्र होता है। मन का चार गुणों में स्थिर हो जाने पर अर्थात् निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति होने पर मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय हो जाता है तब यथाख्यात चारित्र है। इस संयम का प्रारंभ उपशांतकषाय की आदि में होता है। यह चार गुणस्थानों में होता है।

समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय हो जाने पर आत्मा का शुद्धात्मा में आचरण होता है, उसको यथाख्यात चारित्र कहते हैं।

जैसा निष्कंप, सहज, शुद्ध, स्वभाव से कषाय रहित आत्मा का स्वरूप है वैसा ही आख्यात (कथन करने वाला) यथाख्यात चारित्र कहा जाता है। यह संयम कषायों के अभाव में होता है, इसलिए इसको वीतराग चारित्र भी कहते हैं। इसको अथाख्यात भी कहते हैं, क्योंकि कषायों के अभाव में होता है, अतः अथाख्यात है।

मोहनीय कर्म के उपशम से होने वाला यथाख्यात चारित्र ११वें गुणस्थान में ही होता है और मोहनीय कर्म के क्षय से होने वाले १२-१३-१४वें गुणस्थान में होता है, अतः इसका चार गुणस्थानों में सद्भाव पाया जाता है।

पाँच प्रकार के चारित्र के स्वामी, गुणस्थान और भावों का कथन

आद्ये चरिते स्यातां प्रमत्तमुख्येषु वै गुणेषु चतुर्षु।
परिहारार्द्धिर्गुणयोर्द्वयोः प्रमत्ताद्ययोरेव॥९५॥

आद्यचरित्रद्वितयं ह्युपशममिश्रक्षयैर्भवेन्मध्यम्।
क्षायोपशमिकमन्त्यं चोपशमक्षयभवं द्वितयम्॥९६॥

क्षायोपशमिकमन्यद् देशचरित्रं तु पञ्चमे तु गुणे।
नाना परिणामे गुणचतुष्टयेऽविरतिकौदयिकी॥९७॥

अन्वयार्थ - **वै** - निश्चय से। **आद्ये** - आदि के। **चरिते** - दो चारित्र, सामायिक और

छेदोपस्थापन। **प्रमत्तमुख्येषु** - प्रमत्त गुणस्थान जिनमें मुख्य है ऐसे। **चतुर्षु** - चार (प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण)। **गुणस्थानेषु** - गुणस्थानों में। **स्यातां** - होता है। **परिहारार्द्धिः** - परिहार-विशुद्धि संयम। **प्रमत्ताद्ययोः** - प्रमत्तगुणस्थान को आदि लेकर। **द्वयोः** - प्रमत्त, अप्रमत्त दो गुणस्थानों में। **एव** - ही, होता है।

आद्यचरित्रद्वितयं - आदि के दो चारित्र। **हि** - निश्चय से। **उपशममिश्रक्षयैः** - औपशमिक - क्षायोपशमिक और क्षायिक भावों से। **भवेत्** - होता है। **मध्यं** - परिहारविशुद्धिचारित्र। **क्षायोपशमिकं** - क्षायोपशमिक है। **च** - और। **अन्त्यं** - अन्त के। **द्वितीयं** - दो सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात। **उपशमक्षयभवं** - उपशमभाव और क्षायिक भाव से उत्पन्न होता है। **तु** - परन्तु। **अन्यत्** - इन पाँचों चारित्रों से भिन्न। **देशचरित्रं** - देशचारित्र। **क्षायोपशमिकं** - क्षायोपशमिक है वह। **पंचमे** - पंचम। **गुणे** - गुणस्थान में ही होता है। **अविरतिका** - अविरति (असंयम भाव)। **औदयिकी** - औदयिक भाव से होती है, यह। **नानापरिणामे** - नाना परिणाम वाले। **गुणचतुष्टये** - चार गुणस्थानों में होती है॥९५-९७॥

अर्थ - आदि के सामायिक और छेदोपस्थापनाचारित्र, प्रमत्त छठागुणस्थान जिनमें मुख्य है, ऐसे चार गुणस्थानों में होते हैं अर्थात् सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापना चारित्र छठे, सातवें, आठवें और नवें गुणस्थान तक होते हैं। ये दोनों एक साथ रहते हैं, कभी ये दोनों पृथक्-पृथक् नहीं रहते हैं। क्योंकि इन दोनों में अंग-अंगीभावपना है।

अभेद रूप कथन सामायिक चारित्र है और उस महाव्रत आदि का भेदरूप कथन करना छेदोपस्थापना चारित्र है। पंच महाव्रत आदि को धारण किये बिना सामायिक चारित्र नहीं होता और अभेद रत्नत्रय रूप सामायिक चारित्र के बिना छेदोपस्थापना चारित्र नहीं होता। इनमें सामायिक चारित्र निश्चयनय का विषय है और छेदोपस्थापना व्यवहार नय का विषय है। ये दोनों नय परस्पर सापेक्ष हैं। अतः ये दोनों चारित्र परस्पर सापेक्ष हैं - इनमें स्वामी, काल, गुण, स्थान और भाव-कृत भेद नहीं है।

परिहारविशुद्धि संयम, प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुणस्थानों में ही होता है। इस संयम में प्रतिदिन संध्याकाल को छोड़कर दो गव्यूति प्रमाण विहार करना परमावश्यक है, परन्तु ऊपर के गुणस्थानों में गमनागमन है ही नहीं अतः इन दो गुणस्थानों में ही होता है। यह चारित्र भी सामायिक, छेदोपस्थापना चारित्र के साथ रहता है अकेला नहीं। यह चारित्र इन दोनों चारित्रों के फल-स्वरूप ऋद्धि है।

आदि के दो चारित्र सामायिक और छेदोपस्थापना औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीनों भावों के साथ होने से तीन प्रकार भाव वाले हैं।

चारित्र का उत्पादन चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से होता है।

छठे-सातवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय का क्षयोपशम होता है इसलिए ये दोनों चारित्र क्षायोपशमिक हैं। जब मुनिराज उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होते हैं, तब ये दोनों चारित्र औपशमिक भाव से

युक्त हो जाने से औपशमिक कहलाते हैं और जब क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होते हैं तब चारित्रमोहनीय का क्षय करते हैं। इसलिए ये दोनों चारित्र क्षायिक भाव से युक्त होकर क्षायिक भाव कहलाते हैं। अत: ये दोनों चारित्र तीनों भावों से युक्त हैं।

परिहारविशुद्धिसंयम क्षायोपशमिक भाव रूप ही है क्योंकि यह चारित्र छठे, सातवें गुणस्थान में ही होता है और इन दोनों गुणस्थानों में क्षायोपशमिक चारित्र होता है इसलिए परिहारविशुद्धिसंयम क्षायोपशमिक भाव है।

अन्त के सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात चारित्र औपशमिक और क्षायिक भाव रूप हैं। क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होने वाले के क्षायिक भाव हैं और उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होने वाले के औपशमिक भाव हैं। सूक्ष्म साम्परायिक संयम दोनों श्रेणी वालों के होता है, अत: इसमें दोनों भाव हैं औपशमिक और क्षायिक। इसी प्रकार यथाख्यात चारित्र भी ११वें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय के उपशम के साथ होता है अत: औपशमिक भाव से युक्त है तथा १२-१३-१४वें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय के क्षय से होता है अत: इन तीन गुणस्थानों में रहने वाला होने से यह चारित्र क्षायिक भाव वाला भी है।

देशचारित्र संयम पंचम गुणस्थान में होता है और पंचम गुणस्थान चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से होता है अत: देशसंयम में भी क्षायोपशमिक भाव है। यद्यपि पाँच चारित्र भिन्न हैं तथापि चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से यह सम्यग्दृष्टि जीव के होता है अत: इसको एकदेश या विकल चारित्र कहते हैं। इसका कथन पूर्व में विस्तार पूर्वक किया गया है।

अविरति या असंयम औदयिक भाव है क्योंकि यह चारित्रमोहनीय के उदय से होता है। यह नाना परिणाम वाले मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र और अव्रत इन चार गुणस्थानों में होता है।

मिथ्यात्व गुणस्थान में दर्शनमोहनीय की प्रकृति मिथ्यात्व कर्म का उदय है अत: मिथ्यात्व गुणस्थान में अविरति औदयिक है। सासादन गुणस्थान अनन्तानुबन्धी के उदय से सम्यग्दर्शन की विराधना करके मिथ्यात्व में नहीं गया है, मिथ्यात्व के सम्मुख वाले जीव के होता है, चारित्रमोहनीय के अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से इस गुणस्थान में आता है अत: इस गुणस्थान में होने वाली अविरति औदयिकी है।

तीसरा गुणस्थान सम्यक्त्वमिथ्यात्व कर्मप्रकृति के उदय से हुआ है, अत: उसमें रहने वाली अविरति औदयिकी है।

यद्यपि चतुर्थ गुणस्थान में दर्शनमोह का उपशम, क्षय और क्षयोपशम तीनों हैं, परन्तु चारित्रमोह का उदय है। अत: अविरति औदयिकी है।

आचार्यों ने पाँच भावों में चारित्र को औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का कहा है और देशसंयम को क्षायोपशमिक भाव कहा है, परन्तु अविरति को औदयिक भाव कहा है अत: अविरति औदयिकी है।

असंयम भाव सम्यग्दर्शन सहित भी होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि के भी होता है; मिथ्यादर्शन सहित मिथ्यादृष्टि के भी होता है, सम्यग्दर्शन से च्युत होकर मिथ्यात्व के सम्मुख होने वाले के भी होता है और मिथ्यात्व सम्यक्त्व प्रकृति सहित वाले के भी होता है अतः वह नाना परिणाम वाला होता है।

आदि के तीन चारित्रों के उत्कृष्ट एवं जघन्य काल का कथन

आद्येषु त्रिषु चरितेष्वपरः समयः परो भवेत्कालः।
देशोनपूर्वकोटी प्रतीत्य भृशमेकजीवं तु॥९८॥

अन्वयार्थ - **आद्येषु** - आदि के। **त्रिषु** - तीन। **चरितेषु** - चारित्रों में। **एकं** - एक। **जीवं** - जीव की। **प्रतीत्य** - प्रतीति से। **अपरः** - जघन्य। **कालः** - काल। **समयः** - एक समय। **भवेत्** - होता है। **तु** - और। **भृशं** - अत्यन्त। **परः** - उत्कृष्ट। **कालः** - काल। **देशोनपूर्वकोटी** - कुछ कम एक कोटि पूर्व प्रमाण। **भवेत्** - होता है।

अर्थ - सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धिसंयम का जघन्य काल एक जीव की अपेक्षा एक समय मात्र है।

यह जघन्य समय गुणस्थान-परिवर्तन की अपेक्षा है, जैसे कोई जीव उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होकर गिरते समय नवम गुणस्थान में आया और सामायिक, छेदोपस्थापना संयम वाला हुआ तथा एक समय तक सामायिक छेदोपस्थापना संयम में रहा और मर गया, अतः एक समय जघन्य काल है। इन संयमों का उत्कृष्टकाल एक जीव की अपेक्षा आठ वर्ष कम एक कोटी पूर्व है। मध्यम अनेक विकल्प हैं।

परिहारविशुद्धिसंयम का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल अड़तीस वर्ष घाट एक कोटी पूर्व है। परिहार-विशुद्धि संयम की प्राप्ति अड़तीस वर्ष पूर्व नहीं होती है क्योंकि तीस वर्ष तक जिसने गृहस्थावस्था में सुखपूर्वक इन्द्रियजन्य विषयों का अनुभव किया है तत्पश्चात् दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण करके आठ वर्ष पर्यन्त तीर्थंकरों के चरण-सान्निध्य में प्रत्याख्यान पूर्व का अध्ययन किया है ऐसे महापुरुषों के परिहारविशुद्धिसंयम होता है। कर्मभूमि के मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटी पूर्व की होती है, अतः परिहारविशुद्धि का उत्कृष्ट काल अड़तीस वर्ष हीन एक कोटी पूर्व का होता है। मध्यम काल के अनेक भेद हैं अर्थात् अड़तीस वर्ष अन्तर्मुहूर्त से लेकर एक कोटी पूर्व के विकल्प तक मध्यम भेद होते हैं।

इस ग्रन्थ में परिहारविशुद्धिसंयम का जघन्य काल एक समय कहा है, वह मरण की अपेक्षा है क्योंकि छठे, सातवें गुणस्थान का जघन्य काल एक समय मरण की अपेक्षा है।

सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात चारित्र के जघन्य, उत्कृष्ट काल का कथन

अन्तर्मुहूर्तसमयौ परावरौ सूक्ष्मसांपरायाख्ये।
देशोनपूर्वकोटिः समयश्च विरागचारित्रे॥९९॥

अन्वयार्थ - **सूक्ष्मसाम्परायाख्ये** - सूक्ष्म साम्पराय नामक संयम का। **परावरौ** - उत्कृष्ट और

जघन्य काल। **अन्तर्मुहूर्तसमयौ** - अन्तर्मुहूर्त और एक समय है। **विरागचारित्रे** - यथाख्यात चारित्र का उत्कृष्ट काल। **देशोनपूर्वकोटी** - कुछ कम एक कोटी पूर्व है। **च** - और जघन्य काल। **समयः** - एकसमय प्रमाण है।

अर्थ - सूक्ष्मसाम्परायनामक चारित्र का एक जीव की अपेक्षा उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और जघन्यकाल एक समय है। कोई मुनिराज उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होकर ११ वें गुणस्थान में गये तथा ११ वें गुणस्थान का काल समाप्त हो जाने पर वहाँ से च्युत होकर सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान को प्राप्त हुए। वहाँ पर एक समय पर्यन्त सूक्ष्म संयम में स्थित रहकर मरण को प्राप्त हो गये, अतः इस संयम का जघन्यकाल एक समय घटित होता है।

यथाख्यात चारित्र का उत्कृष्ट काल आठ वर्ष घाट एक कोटी पूर्व है। यह तेरहवें गुणस्थान की अपेक्षा है, जिनकी एक कोटी पूर्व की आयु होती है और आठ वर्ष की अवस्था में जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर अन्तर्मुहूर्त में जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है। आठ वर्ष घाट एक कोटी पूर्व काल तक तेरहवें गुणस्थान में रहकर मोक्ष प्राप्त किया, इस तेरहवें गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र होता है। अतः एक जीव के प्रति यथाख्यातचारित्र का उत्कृष्ट काल एक कोटी पूर्व घटित होता है।

एक मुनिराज उपशमश्रेणी पर आरूढ़ होकर ११वें गुणस्थान को प्राप्त हुए और वहाँ पर एक समय तक यथाख्यात चारित्र में रहकर मरण को प्राप्त हो गये वा पुनः वहाँ से च्युत होकर दसवें गुणस्थान में सूक्ष्मसाम्पराय संयम को प्राप्त हो गये। इस प्रकार यथाख्यात चारित्र का जघन्य काल एक समय घटित हो जाता है। मध्यम काल के अनेक भेद हैं। उपशम श्रेणी वाले चार गुणस्थानों का काल जघन्य एक समय है अतः यथाख्यात आदि संयम का जघन्य समय घटित होता है।

देशसंयम का जघन्य उत्कृष्ट काल

अन्तर्मुहूर्त्तमपरं देशचरित्रे वदन्ति कालं हि।
देशोनपूर्वकोटीमुत्कृष्टं विश्वतत्त्वज्ञाः ॥१००॥

अन्वयार्थ - **विश्वतत्त्वज्ञाः** - विश्व के तत्त्व को जानने वाले केवली भगवान। **देशचरित्रे** - देशचारित्र में। **अपरं** - जघन्य। **कालं** - काल। **हि** - निश्चय से। **अन्तर्मुहूर्त्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त। **वदन्ति** - कहते हैं। **उत्कृष्टं** - उत्कृष्ट काल। **देशोनपूर्वकोटिः** - कुछ कम एक कोटी पूर्व कहा है।

अर्थ - विश्वतत्त्व को जानने वाले सर्वज्ञ भगवान ने देशचारित्र का एक जीव के प्रति जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट काल आठ वर्ष कम एक कोटिपूर्व कहा है। यह आठ वर्ष घाट एक कोटिपूर्व काल कर्मभूमिया मनुष्यों की अपेक्षा है क्योंकि कर्मभूमिया मानव आठ वर्ष के पहले देशसंयम को धारण नहीं कर सकता, परन्तु तिर्यंचों की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त कम एक कोटिपूर्व है क्योंकि स्वयंभूरमण द्वीप में उत्पन्न होने वाले सम्मूर्च्छन मेंढ़क आदि तिर्यंच अन्तर्मुहूर्त्त के बाद देशसंयम प्राप्त कर सकते हैं इसलिए अन्तर्मुहूर्त्त कम एक कोटिपूर्व काल घटित होता है।

पूर्व कोटि की आयु वाला सम्मूर्छिम तिर्यंच सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्त उत्पन्न होने के अन्तर्मुहूर्त्त बाद वेदक सम्यक्त्व के साथ संयतासंयत संयम को प्राप्त कर सकता है इसलिए संयमासंयम का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कम एक कोटि पूर्व होता है।[१]

अविरति के जघन्य और उत्कृष्ट काल का कथन, नाना जीवों की अपेक्षा सर्वसंयमी के काल का वर्णन

अन्तर्मुहूर्तभङ्गत्रितयौ हीनोत्तमावविरतौ तु।
नानाजीवापेक्षा सर्वाद्धा सूक्ष्मरहितेषु ॥१०१॥

अन्वयार्थ - अविरतौ - अविरति का। **हीनोत्तमौ** - जघन्य और उत्कृष्ट काल। **अन्तर्मुहूर्त-भंगत्रितयौ** - अन्तर्मुहूर्त और तीन भंग वाला है। **तु** - परन्तु। **नानाजीवापेक्षा** - नाना जीवों की अपेक्षा। **सूक्ष्मरहितेषु** - सूक्ष्मसाम्पराय संयम को छोड़कर शेष संयमों का। **अद्धा** - काल। **सर्वा** - सदा है।

अर्थ - अविरत सम्यग्दृष्टि चार गुणस्थानों में होते हैं प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थान।

प्रथम गुणस्थान में अविरति का काल तीन प्रकार का सादि सान्त. अनादि अनन्त और अनादि सान्त।

अनादि अनन्त और अनादि सान्त का जघन्य और उत्कृष्ट भेद नहीं है।

सादि सान्त मिथ्यात्व गुणस्थान सम्बन्धी अविरति का एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन है।

सासादन सम्यग्दृष्टि में एक जीव की अपेक्षा अविरति का जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल छह आवली प्रमाण है।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि सम्बन्धी अविरति का एक जीव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है। एक जीव के प्रति चतुर्थ गुणस्थान सम्बन्धी अविरति का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त्त है और उत्कृष्ट काल साधिक तैंतीस सागर प्रमाण है। जैसे उपशम श्रेणी वाला जीव मरकर एक समय कम तैंतीस सागर की आयु लेकर अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुआ, पुनः वहाँ से च्युत होकर पूर्वकोटि की आयु वाले मनुष्यों में पैदा होकर जीवन भर असंयम के साथ रहा। केवल जीवन का अन्तर्मुहूर्त्त काल शेष रहने पर संयम धारण कर सिद्धपर्याय को प्राप्त होता है।

इस प्रकार असंयत सम्यग्दृष्टि के एक जीव की अपेक्षा अविरति का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अधिक एक समय कम तैंतीस सागर प्रमाण है।

नाना जीवों की अपेक्षा सूक्ष्म साम्पराय चारित्र को छोड़कर शेष छह प्रकार का संयम निरंतर रहता है। उसका सर्वकाल है अर्थात् कोई भी काल ऐसा नहीं है जो इन छह प्रकार के संयम से रहित हो। अतः

---

१. सर्वार्थसिद्धि की टिप्पणी

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल है। सूक्ष्मसाम्परायसंयम अन्तर सहित है। अतः इसका नाना जीवों की अपेक्षा वा एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त्त है।

इस प्रकार चारित्राराधना का कथन किया है। क्योंकि सम्यक् चारित्र से ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को परिपूर्णता एवं निर्मलता प्राप्त होती है।

समता, माध्यस्थभाव, शुद्धोपयोग, वीतरागता, चारित्र, धर्म, आत्मस्वभाव की आराधना ये सब एकार्थवाची हैं। अतः चारित्र आराधना आत्मस्वभाव की आराधना है। क्योंकि आत्मस्वभाव में निरंतर आचरण करना ही चारित्र आराधना है।

चारित्र ही वास्तव में धर्म है, वही साम्यभाव है और साम्य भाव मोह-क्षोभ रहित आत्मा का स्वभाव है।

यह आराधना निश्चय और व्यवहार से दो प्रकार की है, निश्चय कार्य है और व्यवहार कारण है - व्यवहार बीज है और निश्चय फल है, इन दोनों प्रकार की आराधना का कथन इसमें किया है।

इस प्रकार चारित्राराधना का वर्णन पूर्ण हुआ॥

❖ ❖ ❖

४. सम्यक् तप आराधना

तप की परिभाषा और प्रकार

इन्द्रियमनसोर्दर्पप्रणाशकं वर्तनं तपो नाम।
बाह्याभ्यन्तरभेदाद् द्विविधं तत्प्राहुरार्षज्ञाः॥१०२॥

अन्वयार्थ - इन्द्रियमनसोः - इन्द्रिय और मन के। **दर्पप्रणाशकं** - दर्प का नाशक। **वर्तनं** - प्रवृत्ति। **तपः** - तप। **नाम** - नाम से कहलाती है। **तत्** - उस तप को। **आर्षज्ञः** - आर्षग्रन्थों को जानने वाले ऋषियों ने। **बाह्याभ्यन्तरभेदात्** - बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से। **द्विविधं** - दो प्रकार का। **प्राहुः** - कहा है।

अर्थ - जिस क्रिया से इन्द्रिय और मन का दर्प या विकार नष्ट होता है, पाँचों इन्द्रियों के विषयों, चार कषायों तथा मन की अशुभ प्रवृत्तियों को रोककर शुभ वा शुद्ध भावों में मन को स्थिर किया जाता है, सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रों के धारक साधु के द्वारा जो कर्म रूपी मैल को दूर करने के लिए परम भाव स्वरूप परमात्मा में स्थिर रहने का प्रयत्न वा प्रवृत्ति की जाती है, उसको आर्ष के ज्ञाता ऋषियों ने तप कहा है।

नियम और तप ये पृथक्-पृथक् नहीं हैं, अतः ज्ञानी मानव का यह कर्त्तव्य है कि वह नियम से युक्त होकर स्वकीय शक्ति अनुसार तप करे।

श्रावकों का अष्टमी-चतुर्दशी के दिन उपवास करना, रात्रि में भोजन नहीं करना, अष्ट मूलगुण धारण करना भी तप कहलाता है क्योंकि सम्यग्दृष्टि की यह क्रिया भी संवर और निर्जरा की कारण है।

ऋषियों ने बाह्याभ्यन्तर के भेद से तप दो प्रकार का कहा है -

जो बाह्य द्रव्य के अवलम्बन से होता है, दूसरों के दृष्टिगोचर होता है, बाह्य जन, अन्य मत वाले और गृहस्थ भी जिन तपों को करते हैं, उनको **बाह्य तप** कहते हैं।

जिनमें बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं है, जो अन्त:करण के व्यापार से होते हैं, अन्य मतावलम्बियों से अनभ्यस्त और अप्राप्तपार हैं वे अभ्यन्तर तप कहलाते हैं अथवा रत्नत्रय के धारक मुनिजन ही जिनका आचरण करते हैं, वे प्रायश्चित्त आदि अभ्यन्तर तप कहलाते हैं। प्रायश्चित्तादि तपों में बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रहती है। अन्तरंग परिणामों की मुख्यता रहती है तथा इनका स्वयं ही संवेदन होता है। ये देखने में नहीं आते तथा इनको अनार्हत लोग धारण नहीं कर सकते, इसलिए प्रायश्चित्तादि को **अन्तरंग तप** माना है।

बाह्य तपों का कथन

बाह्यं षडात्मकं स्यादनशनकादीनि तदभिधानानि।
साकांक्षमनाकांक्षं चेत्यनशनमभिमतं द्वेधा ॥१०३॥

द्रव्यक्षेत्रादिवशात् साकांक्षमनेकभेदसंयुक्तम्।
त्रिविधमनाकांक्षमपि प्रायोपगमादिभेदेन ॥१०४॥

अन्वयार्थ - **तत्** - वह। **बाह्यं** - बाह्य तप। **अनशनकादीनि** - अनशनादि। **अभिधानानि** - नाम से। **षडात्मकं** - छह प्रकार का। **स्यात्** - होता है। **च** - और। **अनशनं** - अनशन नामक तप। **साकांक्षं** - साकांक्ष और। **अनाकांक्षं** - अनाकांक्ष के भेद से। **द्वेधा** - दो प्रकार का। **अभिमतं** - माना है।

द्रव्यक्षेत्रादिवशात् - द्रव्य, क्षेत्र आदि के वश से। **साकांक्षं** - साकांक्ष अनशन। **अनेकभेदसंयुक्तं** - अनेक भेदों से युक्त है। **अपि** - और। **अनाकांक्षं** - अनाकांक्ष अनशन। **प्रायोपगमादिभेदेन** - प्रायोपगमादि के भेद से। **त्रिविधं** - तीन प्रकार का है।

अर्थ - बाह्य तप अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश के भेद से छह प्रकार का है।

खाद्य - रोटी, दाल, भात आदि अन्नसंयुक्त पदार्थों को **खाद्य** कहते हैं।

जिनके द्वारा मुख का स्वाद किया जाता है, ऐसे पान, सुपारी, इलायची आदि **स्वाद्य** कहे जाते हैं।

जो चाटे जाते हैं, अंगुलियों से मुँह में रखे जाते हैं, वे चासनी, दूध की रबड़ी आदि **लेह्य** कहलाते हैं।

जो पिये जाते हैं, ऐसे दूध, पानी, शरबत, फलों का रस, आदि पेय पदार्थ **पेय** कहलाते हैं।

इन चार प्रकार के आहार (भोजन) का त्याग करना **अनशन** कहलाता है।

यह अनशन तप साकांक्ष और अनाकांक्ष के भेद से दो प्रकार का है। द्रव्य, क्षेत्र, कालादि के भेद से **साकांक्षतप** अनेक भेदों से युक्त है।

भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनी मरण और प्रायोपगमन आदि के भेद से **अनाकांक्ष** अनशन तप तीन प्रकार का है।

कर्मों का क्षय करने के लिए भोजन के त्याग करने को **अनशन** तप कहते हैं।

यद्यपि भूखा रहना तप नहीं है, परन्तु शरीर की उपेक्षा हो जाने के कारण अथव अपनी चेतन वृत्तियों को भोजन आदि के बंधनों से मुक्त करने के लिए अथवा क्षुधादि में भी स्वकीय साम्यरस से च्युत न होने के लिए और आत्मबल की वृद्धि के लिए अशन (भोजन) का त्याग करना **अनशन तप** है।

जिसकी इन्द्रियाँ और मन वश में हैं, जिसके हृदय में इस भव और परभव सम्बन्धी विषयसुख की अभिलाषा नहीं है, जो आत्मीय सुख का अभिलाषी है, जिसके हृदय में भूख-प्यास के कारण किंचित् भी खिन्नता नहीं है, जो निरंतर स्वाध्याय में लीन रहता है, "मेरी आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक आहार से शून्य है। इन पौद्गलिक पदार्थों को अनन्त बार ग्रहण किया है, ये सर्व पदार्थ मेरे द्वारा भोग कर छोड़े हुए हैं, अत: उच्छिष्ट हैं, आत्मस्वभाव के घातक हैं" ऐसा विचार करके जो बाह्य पौद्गलिक पदार्थों के सेवन से विरक्त होता है उसके **अनशन तप** होता है।

वह अनशन तप वाला मन से भोजन करने का संकल्प नहीं करता, किसी को भोजन कराने का संकेत नहीं करता, वचन से किसी को भोजन कराने में प्रवृत्ति नहीं करता तथा मंत्रसाधन आदि किसी भी दृष्टफल की जिसमें वाञ्छा नहीं है, अपितु जिसमें कर्मों के क्षय का ही उद्देश्य है वही उत्तम अनशन तप है।

साकांक्ष तप का दूसरा नाम अवधृत काल वा अर्धानशन है अर्थात् जिसमें कुछ काल की मर्यादा करके आहार का त्याग किया जाता है इसलिए यह अवधृत काल है। इसमें कुछ काल के बाद भोजन की इच्छा है, इसलिए यह साकांक्ष है।

अर्द्धानशन या साकांक्ष तप के भी दो भेद हैं - ग्रहण काल और प्रतिसेवना काल।

दीक्षा ग्रहण करके जब तक संन्यास ग्रहण नहीं करे उसको ग्रहणकाल कहते हैं और व्रतों में अतिचार लगने पर प्रतिसेवना काल कहते हैं। इन काल में जो उपवास किया जाता है उसको अवधृतकाल, अर्द्धानशन या साकांक्ष व्रत कहते हैं अर्थात् व्रतादिक में अतिचार लगने पर जो प्रायश्चित्त से शुद्धि करने के लिए कुछ दिन अर्थात् षष्टम, अष्टम आदि अनशन करते हैं उसको प्रतिसेवना काल कहते हैं। वह अनशन दो प्रकार का होता है - सकृद्भुक्ति अर्थात् प्रोषध तथा दूसरा उपवास। दिन में एक बार भोजन करने को प्रोषध और भोजन के सर्वथा परिहार को उपवास कहते हैं। उसमें अवधृतकाल उपवास के चतुर्थ से लेकर षाण्मासिक

तक अनेक भेद होते हैं। अर्थात् एक दिन में दो भोजन बेला कही है। चार भोजन बेला का त्याग उसे चतुर्थ उपवास कहते हैं। छह भोजन बेला का त्याग दो उपवास कहे जाते हैं। इसी को षष्टम तप कहते हैं। षष्टम, अष्टम, दशम, द्वादश, पन्द्रह दिन, एक मास त्याग, कनकावली, एकावली, मुरजबंध, विमानपंक्ति, सिंहनिष्क्रीड़ित इत्यादि जो भेद जहाँ हैं वे सब **साकांक्ष अनशन तप** हैं।

अनवधृत काल या सर्वानशन का लक्षण - भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण, प्रायोपगमनमरण अथवा अन्य भी अनेक प्रकार के मरणों में जो मरण पर्यन्त आहार का त्याग करना है वह निराकांक्ष तप कहलाता है। इसका दूसरा नाम अनवधृत काल या सर्वानशन भी है।

शरीर छूटने तक उपवास धारण करना अनियमित काल अनशन कहलाता है।

मरण समय में अर्थात् संन्यास काल में मुनि सर्वानशन तप करते हैं।

अनशन के कारण व प्रयोजन - दृष्टफल मन्त्रसाधना आदि की अपेक्षा किये बिना संयम की सिद्धि, राग का उच्छेद, कर्मों का विनाश, ध्यान और आगम की प्राप्ति के लिए अनशन तप किया जाता है। यह प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम की सिद्धि के लिए किया जाता है, क्योंकि भोजन के साथ दोनों प्रकार के असंयम का अविनाभाव देखा जाता है।

अनशन में लौकिक फल की इच्छा नहीं होनी चाहिए। मंत्रसाधनादि कुछ भी दृष्टफल की अपेक्षा के बिना किया गया उपवास अनशन कहलाता है। ''सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः'' इस सूत्र में से सम्यक् शब्द की अनुवृत्ति होती है। इसी 'सम्यक्' पद की अनुवृत्ति आने से सर्वत्र (अनशन तप में भी) दृष्टफल निरपेक्षता का होना तपों में अनिवार्य है। इसलिए सभी तपों में लौकिक फल की कामना नहीं होनी चाहिए (रा.वा. ९/१९.१६/६१९/२४)

निराकांक्ष अनशन तीन प्रकार का है प्रायोपगमनमरण, इंगिनीमरण और भक्तप्रत्याख्यानमरण।

भोजन का क्रमिक त्याग करके शरीर को कृश करने की अपेक्षा तीनों समान हैं। अन्तर है शरीर के प्रति उपेक्षा भाव में, जिसमें अपनी और पर की शुश्रूषा की अपेक्षा रहित समाधिमरण हो वहाँ **प्रायोपगमन** विधान है। इंगिनीमरण में जो सविस्तार विधि कही जायेगी वही प्रायोपगमन में भी समझनी चाहिए। इतनी विशेषता है कि यहाँ तृण के संस्तर का निषेध है, क्योंकि यहाँ स्व व पर दोनों के प्रयोग का अर्थात् शुश्रूषा आदि का निषेध है। ये मुनि अपने मूत्र व विष्ठा तक का भी निराकरण न स्वयं करते हैं और न अन्य से कराते हैं। सचित्त पृथिवी, अग्नि, जल, वनस्पति व त्रस जीवनिकायों में यदि किसी ने उनको फेंक दिया तो वे शरीर से ममत्व छोड़कर अपनी आयुसमाप्ति तक वहाँ ही निश्चल रहते हैं। इसी प्रकार यदि कोई उनका अभिषेक करे या गंध पुष्पादि से उनकी पूजा करे तो भी वे न उनके ऊपर क्रोध करते हैं, न प्रसन्न होते हैं और न ही उनका निराकरण करते हैं। जिसके ऊपर इन मुनि ने अपना अंग रख दिया है, उस पर से भी यावज्जीवन वे उस अंग को बिल्कुल हिलाते नहीं हैं। इस प्रकार स्व व पर दोनों के प्रतिकार से रहित इस मरण को प्रायोपगमन मरण कहते हैं। निश्चय से यद्यपि यह मरण अनीहार अर्थात् अचल है,

परन्तु उपसर्ग की अपेक्षा इसको चल भी माना जाता है। उपसर्ग के वश होने पर अर्थात् किसी देव आदि के द्वारा उठाकर अन्यत्र ले जाये जाने पर स्वस्थान के अतिरिक्त यदि अन्य स्थान में मरण होता है तो उसको नीहार प्रायोपगमन मरण कहते हैं। कायोत्सर्ग को धारण कर कोई मुनि प्रायोपगमन मरण करते हैं और कोई दीर्घकाल तक उपवास कर इस मरण से शरीर का त्याग करते हैं।

इंगिनीमरण - भक्तप्रतिज्ञा में जो प्रयोगविधि कही जायेगी वही यथासम्भव इस इंगिनीमरण में भी समझनी चाहिए। अपने गण को साधु आचरण के योग्य बनाकर इंगिनीमरण साधने के लिए परिणत होता हुआ पूर्व दोषों की आलोचना करता है तथा संघ का त्याग करने के पहले अपने स्थान में दूसरे आचार्य की स्थापना करता है। तत्पश्चात् बाल, वृद्ध आदि सभी गण से क्षमा के लिए प्रार्थना करता है। स्वगण से निकलकर अन्दर-बाहर से समान ऊँचे व ठोस स्थंडिल का आश्रय लेता है। वह स्थंडिल निर्जन्तुक पृथ्वी या शिलामयी होना चाहिए। ग्राम आदि से याचना करके लाये हुए तृण उस पूर्वोक्त स्थंडिल पर यत्नपूर्वक बिछाकर संस्तर तैयार करे जिसका सिराहना पूर्व और उत्तर दिशा की ओर रखे। तदनन्तर अर्हन्त आदिकों के समीप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में लगे दोषों की आलोचना करके रत्नत्रय को शुद्ध करे। सम्पूर्ण आहारों के विकल्पों का तथा बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का यावज्जीवन त्याग करे। कायोत्सर्ग से खड़े होकर, अथवा बैठकर अथवा लेटकर एक करवट पर पड़े हुए वे मुनिराज स्वयं ही अपने शरीर की क्रिया करते हैं। जगत् के सम्पूर्ण पुद्गल दुःख रूप या सुख रूप परिणमित होकर उनको दुःखी-सुखी करने को उद्यत होवें तो भी उनका मन ध्यान से च्युत नहीं होता। वे मुनि वाचना, पृच्छना, परिवर्तन और धर्मोपदेश इन सभी स्वाध्याय का त्याग करके सूत्रार्थ का अनुप्रेक्षात्मक स्वाध्याय करते हैं। इस प्रकार आठों पहरों में निद्रा का परित्याग करके वे एकाग्र मन से तत्त्वों का विचार करते हैं। यदि बलात् निद्रा आ गई तो निद्रा लेते हैं। स्वाध्याय काल और शुद्धि वगैरह क्रियाएँ उनको नहीं हैं। श्मशान में भी उनको ध्यान करना निषिद्ध नहीं है। यथाकाल षड़ावश्यक कर्म नियमित रूप से करते हैं। सूर्योदय व सूर्यास्त में प्रयत्नपूर्वक उपकरणों की प्रतिलेखना करते हैं। पैरों में काँटा चुभने और नेत्र में रज कण पड़ जाने पर मौन धारण करते हैं। तप के प्रभाव से प्रगटी वैक्रियिक आदि ऋद्धियों का उपयोग नहीं करते। मौन पूर्वक रहते हैं। रोगादि का प्रतिकार नहीं करते। किन्हीं आचार्यों के अनुसार वे कदाचित् उपदेश भी देते हैं। उपवास आदि की विधि भक्तप्रत्याख्यान के समान है जो आगे वर्णित है। भक्त प्रत्याख्यान वाला दूसरों से वैयावृत्ति कराता है, अपनी वैयावृत्ति स्वयं नहीं करता है, परन्तु इंगिनीमरण वाला अपनी वैयावृत्ति स्वयं ही करता है, दूसरे से नहीं कराता है।

भक्त प्रत्याख्यान की विधि :

भक्त प्रत्याख्यान मुनि और श्रावक के भेद से दो प्रकार का है। **मुनिराज की भक्तप्रत्याख्यान की विधि इस प्रकार है -**

भक्त प्रत्याख्यान दो प्रकार है : सविचार और अविचार। सविचार भक्तप्रत्याख्यान की विधि इस प्रकार है -

उसके सर्वप्रथम ४० अधिकार हैं, जो निम्नांकित हैं -

(१) अर्ह - अगले अधिकारों को धारण करने के योग्य व्यक्ति।

(२) लिंग - शिक्षा, विनय आदि रूप साधनसामग्री के चिह्न।

(३) शिक्षा - ज्ञानोपार्जन।

(४) विनय - ज्ञानादि के प्रति विनय होना।

(५) समाधि- मन की एकाग्रता।

(६) अनियत विहार - अनियत स्थानों में रहना।

(७) परिणाम - कर्त्तव्यपरायणता।

(८) उपधित्याग - बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग।

(९) श्रिति - शुभ परिणामों की उत्तरोत्तर वृद्धि करना।

(१०) भावना - उत्तरोत्तर उत्तम भावनाओं का अभ्यास।

(११) सल्लेखना - तत्त्वचिन्तनपूर्वक कषाय व शरीर का कृश करना।

(१२) दिशा - अपने स्थान पर योग्य आचार्य की विधिपूर्वक स्थापना।

(१३) क्षमणा - संघ से क्षमा की याचना करना।

(१४) अनुशिष्टि - आगमानुसार उपदेश करना।

(१५) परगणचर्या - अपना संघ छोड़कर अन्य संघ में जाना।

(१६) मार्गणा - समाधिमरण कराने में समर्थ आचार्य की खोज।

(१७) सुस्थिति - परोपकारी तथा आचार्य पद योग्य कार्य करने में प्रवीण गुरु का आश्रय लेना।

(१८) उपसंपदा - आचार्य के चरणमूल में गमन करना।

(१९) परीक्षा - उत्साह, अभिलाषा, परिचारक गण आदि की परीक्षा करना।

(२०) प्रतिलेखन या निरूपण - राज्य देश आदि का शुभाशुभ अवलोकन।

(२१) पृच्छा - संघ से अनुग्रह की अनुज्ञा प्राप्त करना।

(२२) एकसंग्रह - परिचारक मुनियों की स्वीकृतिपूर्वक एक आराधक का ग्रहण।

(२३) आलोचना - गुरु के आगे अपने अपराध कहना।

(२४) गुण-दोष - आलोचना के गुण-दोषों का वर्णन।

(२५) शय्या - आराधक योग्य वसतिका।

(२६) संस्तर - आराधक योग्य शय्या।

(२७) निर्यापक - सहायक आचार्य आदि।

(२८) प्रकाशन - अन्तिम आहार दिखाना।

(२९) हानि - क्रम से आहार का त्याग कराना।

(३०) प्रत्याख्यान - जल के अतिरिक्त तीन प्रकार के आहार का त्याग।

(३१) क्षमण - आचार्य आदि से क्षमा की याचना। सर्व जीवों के साथ मैत्रीभाव, समता।

(३२) क्षपणा - प्रतिक्रमण आदि द्वारा कर्मों का क्षय करने का प्रयत्न।

(३३) अनुशिष्टि - आचार्य द्वारा क्षपक मुनि को उपदेश।

(३४) सारणा - दुःखपीड़ित मोहग्रस्त साधु को सचेत करना।

(३५) कवच - क्षपक को वैराग्योत्पादक उपदेश देना।

(३६) समता - जीवन-मरण, लाभ-अलाभ के प्रति उपेक्षा करना।

(३७) ध्यान - एकाग्रचिन्ता निरोध रूप ध्यान में लीन होना।

(३८) लेश्या - कषायानुरञ्जित योग प्रवृत्ति लेश्या में अशुभ लेश्या का त्याग कराना।

(३९) फल - आराधना से प्राप्त फल का कथन करना।

(४०) शरीरत्याग - आराधक का शरीरत्याग।

उपर्युक्त ४० अधिकारों में सल्लेखना धारने की विधि का क्रम से व्याख्यान किया गया है।

सल्लेखना करने के लिए उद्यत हुआ क्षपक यदि आचार्य पदवी का धारक होगा तो उसको क्षपक की अवस्था में भी अर्थात् जब तक आयु का अन्त निकट न आ जावे तब तक अपने गण के हित की चिन्ता करनी चाहिए। आपकी आयु अभी कितनी रही है इसका विचार कर तदनन्तर अपने शिष्य समुदाय को और अपने स्थान में जिसकी स्थापना की है, ऐसे बालाचार्य को बुलाकर सौम्य तिथि, करण, नक्षत्र और लग्न के समय, शुभ प्रदेश में अपने गुण के समान जिसके गुण हैं, ऐसा वह बालाचार्य गच्छ का पालन करने के लिए योग्य है, ऐसा विचार कर उस पर अपने गण को विसर्जित करते हैं और उस समय उसे थोड़ा सा उपदेश भी देते हैं।

उस नवीन आचार्य को बुलाकर उसको गण के बीच में स्थापित कर और स्वयं अलग होकर बाल व वृद्ध आदि मुनियों से पूर्ण ऐसे गण से मन, वचन, काय से वे आचार्य क्षमा माँगते हैं। "हे मुनिगण !

तुम्हारे साथ मेरा दीर्घकाल तक सहवास हुआ है। मैंने ममत्व से, स्नेह से, द्वेष से, आपको कटु और कठोर वाक्य कहे होंगे। इसलिए आप सब मुझे क्षमा करेंगे, ऐसी आशा है।

इस प्रकार अपने गण से पूछकर अपने रत्नत्रय में अतिशय प्रयत्न से प्रवृत्ति करने वाले वे आचार्य आराधना के निमित्त परगण में गमन करने की इच्छा मन में धारण करते हैं। स्वसंघ में रहने से आज्ञाकोप, कठोर वचन, कलह, दुःख, विषाद, खेद, निर्भयता, स्नेह, कारुण्य, ध्यानविघ्न और असमाधि ये दोष उत्पन्न होते हैं। जब आचार्य परगण में जाकर रहते हैं तब उस गणस्थ मुनियों को वे उपदेश आज्ञा करते नहीं, जिससे उनके द्वारा आज्ञाभंग का प्रसंग आता नहीं और यदि कदाचित् आज्ञाभंग हो भी जाय तो भी "इन पर तो मैंने कोई उपकार किया नहीं है जो ये मेरी आज्ञा मानें" ऐसा विचार कर उनको वहाँ असमाधि दोष उत्पन्न नहीं होता है अथवा अपने संघ में क्षुल्लकादि-मुनि-कलह, शोक, सन्तापादि परस्पर में करते हुए देखकर आचार्य की अपने गण पर ममता होने से चित्त की एकाग्रता नष्ट हो जायेगी। समाधिमरणोद्यत आचार्य को भूख-प्यास वगैरह का दुःख सहन करना चाहिए। परन्तु वे अपने संघ में रहकर निर्भय होकर आहार जल वगैरह पदार्थों की याचना करेंगे अथवा स्वयं आहारादि का सेवन करेंगे और भय व लज्जा रहित होकर छोड़ी हुई अयोग्य वस्तुओं को भी ग्रहण करेंगे। स्वगण में रहने वाले आचार्यों को ये दोष होंगे तथा जो आचार्य के समान उपाध्याय तथा प्रवर्तक मुनि हैं उन्हें भी स्वगण में रहने से ये दोष होंगे। परगण - निवासी को ये दोष नहीं होते हैं। इसलिए स्वगण को छोड़कर परगण में जाते हैं। संसारभीरु, पापभीरु और आगम के ज्ञाता आचार्य के चरण-कमलों में ही वह यति समाधिमरणोद्यमी होकर आराधना की सिद्धि करता है।

यह क्षपक रत्नत्रयाराधना की क्रिया करने में उत्साही है या नहीं, इसकी परीक्षा करके अथवा मिष्ट आहार में यह अभिलषित है या विरक्त, इसकी परीक्षा करके ही आचार्य उसे अनुज्ञा देने का निर्णय करते हैं। इस क्षपक ने समाधि के लिए हमारे संघ का आश्रय लिया है। इसकी समाधि निर्विघ्न समाप्त होगी या नहीं, इस विषय का भी आचार्य शुभाशुभ निमित्तों से निर्णय कर लेते हैं। यह भी एक परीक्षा है।

क्षपक विशेष आलोचना करके अथवा सामान्यालोचना करके मायाशल्य को हृदय से निकालकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चरणों में शुद्धि की अभिलाषा रखता हुआ गुरु के द्वारा कहा हुआ प्रायश्चित्त रोष, दीनता और अश्रद्धान का त्याग कर ग्रहण करता है।

सम्पूर्ण आलोचना सुनकर गुरु क्षपक को तीन बार उपाय सहित पूछते हैं। तब यदि यह क्षपक सरल परिणाम का है, ऐसा गुरु के अनुभव में आ जाय तो उसको प्रायश्चित्त देते हैं, अन्यथा नहीं। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से हुए सम्पूर्ण दोष क्षपक अनुक्रम से कहेगा तो प्रायश्चित्तदान-कुशल आचार्य उसको प्रायश्चित्त देते हैं। जिसका आचार निर्दोष है ऐसा वह क्षपक प्रायश्चित्त लेकर शास्त्रकथित विधि के अनुसार गुरु के समीप रहकर अपने को निर्मल चारित्रयुक्त बनाता हुआ रत्नत्रय में प्रवृत्ति करता है तथा समाधिमरण के लिए जिस विशिष्ट आचरण को स्वीकार किया है उसमें उन्नति की इच्छा करता है।

इस प्रकार समस्त परिषहों को निराकुलता से सहन करने वाला यह क्षपक शरीर, वसतिका, गण और परिचारक मुनि इन सर्व वस्तुओं में ममत्व रहित होता है। रागद्वेष को छोड़कर समता भाव में तत्पर होता है। मित्र, बंधु, माता, पिता, गुरु, दीक्षा, शिक्षा और साधर्मिक इनके ऊपर दीक्षाग्रहण के पूर्व में अथवा समाधि से अनुगृहीत होने के पूर्व जो रागद्वेष उत्पन्न हुए थे, उनका त्याग करता है। इष्ट और अनिष्ट ऐसे शब्द, रस, गन्ध, स्पर्श, रूप विषयों में, इह लोक और परलोक में, जीवित और मरण में, मान और अपमान में यह क्षपक समान भाव धारण करता है। क्योंकि ये राग-द्वेष रत्नत्रय, उत्तम ध्यान और समाधिमरण का नाश करते हैं, इसलिए क्षपक अपने हृदय से इनको दूर करता है। सम्पूर्ण रत्नत्रय पर आरूढ़ होकर यह क्षपक वसतिका, तृणादि का संस्तर, पानाहार अर्थात् जलपान, शरीर और वैयावृत्य करने वाले परिचारक मुनि, इनका निर्मोह होकर त्याग करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण वस्तुओं में समता भाव धारण कर यह क्षपक अन्तःकरण को निर्मल बनाता है। उसमें मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओं को स्थान देता है। कषायों के साथ युद्ध करते समय ध्यान मुनि को शस्त्र के समान उपयोगी होता है। जैसे शस्त्र रहित वीर पुरुष युद्ध में शत्रु का नाश नहीं कर सकता है वैसे ही ध्यान के बिना कर्म शत्रु को मुनि नहीं जीत सकता है।

जितना कुछ भी परिग्रह है वह सब राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाला है। निःसंग होकर अर्थात् परिग्रह को छोड़ने से क्षपक रागद्वेष को भी जीत लेता है। कन्दर्पी आदि पाँच कुत्सित भावनाओं का त्याग कर जो धीर मुनि पाँच समिति और तीन गुप्तियों का पालन कर सम्पूर्ण परिग्रहों से निस्पृह रहते हैं वे ही भावना के आश्रय से रत्नत्रय में प्रवृत्त होते हैं। तप, श्रुताभ्यास, भय रहित होना, एकत्व, धृतिबल, ये पाँच प्रकार की असंक्लिष्ट भावनाएँ हैं, जिन्हें क्षपक को भाना चाहिए।

ऊर्ध्व, अधो व तिर्यक् लोक में मैंने बालमरण बहुत किये हैं, अब दर्शनज्ञानमयी होकर संन्यासपूर्वक पण्डितमरण करूंगा। यदि संन्यास के समय क्षुधादि की वेदना उपजे तो नरक के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए तथा जन्म, जरा, मरण रूप संसार में मैंने कौन से दुःख नहीं उठाये ऐसा चिन्तन करना चाहिए। चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करते हुए मैंने सभी पुद्गल बहुत बार भक्षण किये हैं और खल-रस रूप से परिणमित किये हैं परन्तु आज तक मेरी इनसे तृप्ति नहीं हुई है। आहार के कारण ही तन्दुल मत्स्य सातवें नरक जाता है। इसलिए जीवघात से उत्पन्न सचित्त आहार मन से भी याचना करने योग्य नहीं है। ऐसा चिंतन करके आहारादिक की अभिलाषाओं का शमन करना चाहिए।

जो क्षपक आहारादि से विरक्त होकर अपने धैर्य को प्रगट करता है वही समाधिमरण से मरकर उत्तम सुख को प्राप्त कर सकता है।

भक्त प्रत्याख्यान का उत्कृष्ट काल १२ वर्ष का है और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त्त का है। उत्कृष्ट १२ वर्ष के काल को व्यतीत करने का क्रम इस प्रकार है। प्रथम चार वर्ष अनेक प्रकार के कायक्लेशों द्वारा बिताये, आगे के चार वर्षों में दूध, दही, घी, गुड़ आदि रसों का त्याग करके शरीर को कृश करे। इस तरह

आठ वर्ष व्यतीत होते हैं। दो वर्ष तक आचाम्ल व निर्विकृति भोजन ग्रहण करके रहे। एक वर्ष केवल आचाम्ल भोजन ग्रहण करे। छह महीने तक मध्यम तपों द्वारा शरीर को क्षीण करे और अन्त के छह महीनों में उत्कृष्ट तपों द्वारा शरीर को क्षीण करे।

तदनन्तर संघ के समुदाय में निर्यापकाचार्य क्षपक को सविकल्पक प्रत्याख्यान अर्थात् चार प्रकार के आहारों का त्याग कराते हैं और इतर प्रत्याख्यान भी गुरु की आज्ञा से वह क्षपक करता है अथवा क्षपक के चित्त की एकाग्रता के लिए पानक के अतिरिक्त असन खाद्य और स्वाद्य ऐसे तीन प्रकार के आहारों का त्याग कराना चाहिए। जब क्षपक की शक्ति बहुत क्षीण हो जाये तब पानक का भी त्याग कराना चाहिए। अर्थात् जो परिषह सहन करने में खूब समर्थ है उसको चार प्रकार के आहार का और असमर्थ साधु को तीन प्रकार के आहार का त्याग कराना चाहिए।

निर्यापकाचार्य के द्वारा आहाराभिलाषा के दोष बताने पर भी क्षपक उस आहार में यदि रागयुक्त हो रहा हो तो समाधिमरण की इच्छा रखने वाले उस क्षपक के सम्पूर्ण आहारों में से एक-एक आहार को घटाते हैं, अर्थात् क्षपक से एक-एक आहार का क्रम से त्याग कराते हैं। आचार्य उपर्युक्त क्रम से मिष्टाहार का त्याग कराकर क्षपक को सादे भोजन में स्थिर करते हैं। तब वह क्षपक भात वगैरह अशन और अपूप वगैरह खाद्य पदार्थों को क्रम से कम करता हुआ पानक आहार करने में अपने को उद्यत करता है।

पानक के अनेक भेद हैं। संस्तर पर सोया हुआ क्षपक जब क्षीण होगा तब पानक के विकल्प का भी उपर्युक्त सूत्रों के अनुसार त्याग कराना चाहिए।

शरीर-सल्लेखना के लिए जो तपों के अनेक विकल्प पूर्व में कहे हैं, उनमें आचाम्ल भोजन करना उत्कृष्ट विकल्प है, ऐसा महर्षिगण कहते हैं। दो दिन का उपवास, तीन दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास ऐसे उत्कृष्ट उपवास होने के अनन्तर मित और हल्का ऐसा कांजी भोजन ही क्षपक बहुधा करता है। आचाम्ल से कफ का क्षय होता है, पित्त का उपशम होता है और वात का रक्षण होता है अर्थात् वात का प्रकोप नहीं होता। इसलिए आचाम्ल में प्रयत्न करना चाहिए। जो आहार कटुक, तिक्त, आम्ल, कसायला, नमकीन, मधुर, विरस, दुर्गन्धित, अस्वच्छ, उष्ण और शीत नहीं है, ऐसा आहार क्षपक को देना चाहिए अर्थात् मध्यम रसों का आहार देना चाहिए। जो पेय पदार्थ क्षीण क्षपक को दिया जाता है, वह कफ को उत्पन्न करने वाला नहीं होना चाहिए। क्षपक को जो पथ्य हितकर हो, ऐसा पानक देने योग्य है, शरीर की प्रकृति तथा क्षेत्र काल के अनुसार देना चाहिए।

क्षपक को सल्लेखना धारण कराने वाला आचार्य आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, कर्त्ता, आयापायदर्शनोद्योतक और उत्पीलक होता है। इनके अतिरिक्त वह अपरिस्रावी, निर्वापक, प्रसिद्ध कीर्तिमान और निर्यापक के गुणों से पूर्ण होना चाहिए - जो आचार्य स्वयं पंचाचार में तत्पर रहते हैं, अपनी सब चेष्टाएँ जो समितियों के अनुसार ही करते हैं वे ही क्षपक को निर्दोष पंचाचार में प्रवृत्ति करा सकते हैं। ऐसे आचार्य के समीप सल्लेखना धारण कर अंत में सर्व प्रकार के आहार का त्याग कर यम सल्लेखना धारण कर णमोकार मंत्र का जप करते हुए प्राणों का विसर्जन करना सविचार भक्त प्रत्याख्यान है।

यह सविचार भक्त प्रत्याख्यान अति साहसी पुरुष ही कर सकते हैं।

अविचार भक्त प्रत्याख्यान का स्वरूप

पराक्रमरहित मुनि को सहसा मरण उपस्थित होने पर अविचार भक्त प्रत्याख्यान करना योग्य है। वह तीन प्रकार का है - निरुद्ध, निरुद्धतर व परमनिरुद्ध। रोगों से पीड़ित होने के कारण जिसका जंघाबल क्षीण हो गया है और जो परगण में जाने को समर्थ नहीं है, वह मुनि निरुद्ध अविचार भक्तप्रत्याख्यान करता है। यह मुनि परगण में न जाकर स्वगण में ही रहता हुआ यथायोग्य पूर्वोक्त अर्थात् सविचार भक्तप्रत्याख्यान वाली विधि का पालन करता है। इसके दो भेद हैं, प्रकाश और अप्रकाश। जो अन्य जनों के द्वारा जाना जाय वह प्रकाश रूप भक्त प्रत्याख्यान है। क्षपक के मनोबल अर्थात् धैर्य, क्षेत्र, काल, उसके बान्धव आदि कारणों का विचार करके क्षपक के उस निरुद्धाविचार भक्तप्रत्याख्यान को प्रकट करते हैं अथवा अप्रगट रखते हैं अर्थात् अनुकूल कारणों के होने पर तो वह मरण प्रगट कर दिया जाता है और प्रतिकूल कारणों के होने पर प्रगट नहीं किया जाता। सर्प, अग्नि, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूर्च्छा, तीव्र शूलरोग इत्यादि से तत्काल मरण का प्रसंग प्राप्त होने पर जब तक वचन व कायबल शेष रहता है और जब तक तीव्र वेदना से चित्त आकुलित नहीं होता; तब तक आयुष्य को प्रतिक्षण क्षीण होता जानकर शीघ्र ही अपने गण के आचार्य आदि के पास अपने पूर्व दोषों की आलोचना करनी चाहिए। इस प्रकार निरुद्धतर नाम के दूसरे अविचार भक्त प्रत्याख्यान का स्वरूप है। इसमें भी यथायोग्य पूर्वोक्त अर्थात् सविचार भक्त प्रत्याख्यान वाली सर्वविधि होती है। व्याघ्रादि उपर्युक्त कारणों से पीड़ित साधु के शरीर का बल और वचन बल यदि क्षीण हो जाये तो परम निरुद्ध नाम का मरण प्राप्त होता है। अपने आयुष्य को शीघ्र ही क्षीण होता जान वह मुनि शीघ्र ही मन में अर्हन्त व सिद्ध परमेष्ठी को धारण करके उनसे अपने दोषों की आलोचना करे। आराधना विधि का पूर्व में सविस्तार वर्णन किया है।

इस प्रकार तीन प्रकार (प्रायोपगमन, इंगिनीमरण, भक्तप्रत्याख्यान) की सल्लेखना के समय यावज्जीवन आहार-पानी का त्याग करना सर्वानशन या अनाकांक्ष अनशन तप कहलाता है।

इस तप में तीन प्रकार का मरण है। उसमें भक्त प्रत्याख्यान मरण श्रावक भी कर सकता है क्योंकि श्रावकों के व्रतों में सल्लेखना बारहवाँ व्रत है अर्थात् **उपासकाध्ययन** सूत्र में सल्लेखना नामक चौथा शिक्षाव्रत कहा गया है।

वसुनन्दी श्रावकाचार में लिखा है कि - रागद्वेष का त्याग, समताधारण, परिजनादि से क्षमायाचना कर तथा वस्त्र मात्र परिग्रह के सिवाय सारे परिग्रह का त्याग करके अपने ही घर में अथवा जिनालय में जाकर गुरु के समीप मन, वचन, काय से अपने दोषों की आलोचना करके पेय पदार्थ के सिवाय शेष सर्व खाद्य, स्वाद्य, लेह्य इन तीनों आहार का त्याग करता है, उसके **उपासकाध्ययन** में सल्लेखना नामक चतुर्थ शिक्षाव्रत कहा है।

मृत्यु निकट है, ऐसा ज्ञात होने पर श्रावक भी स्नेह, वैर, परिग्रह को छोड़कर शुद्ध होता हुआ,

प्रिय वचनों से अपने कुटुम्बियों को और नौकर-चाकरों को क्षमा करावे और स्वयं भी सबको क्षमा करे। गुरु के समीप जाकर छलकपटरहित सरल भावों से जन्म भर अज्ञात वा ज्ञात भावों से कृतकारित अनुमोदना से किये हुए समस्त पापों की आलोचना करके महाव्रतों को धारण करे। तदनन्तर शोक, भय, विषाद, राग, कलुषता, अरति का त्याग करके तथा अपने बल और उत्साह को प्रगट करके संसार के दुःखरूपी संताप को दूर करने वाले अमृत स्वरूप शास्त्रों के श्रवण से मन को प्रसन्न करे।

क्रम, क्रम से आहार को छोड़कर दुग्ध वा छाछ को बढ़ावे। तत्पश्चात् दूध का भी त्यागकर कांजी तथा गर्म पानी ग्रहण करे। तत्पश्चात् उष्ण जलपान का भी त्याग कर यावज्जीवन उपवास ग्रहण कर पंच नमस्कार मंत्र का जप करते हुए प्राणों का विसर्जन करे, यह श्रावक की भक्तप्रत्याख्यान विधि है। इस समय जो जीवन पर्यन्त आहार का त्याग किया जाता है, वह अनाकांक्ष अनशन तप है। इस प्रकार अनाकांक्ष तप प्रायोपगमनादि के भेद से तीन प्रकार का है।

तीनों प्रकार के मरण का लक्षण

स्वपरव्यापृतिरहितं मरणं प्रथमं द्वितीयमात्मभवम्।
व्यापारयुतं चान्त्यं स्वपरव्यापारसंयुक्तम् ॥१०५॥

अन्वयार्थ - **प्रथमं** - पहला प्रायोपगमनमरण। **स्वपरव्यापृतिरहितं** - स्व और पर की वैयावृत्ति से रहित है। **द्वितीयं** - दूसरा इंगिनीमरण। **आत्मभवं** = अपनी। **व्यापारयुतं** = वैयावृत्ति से युक्त। **च** = और। **अन्त्यं** - भक्त प्रत्याख्यान। **स्वपरव्यापारसंयुतं** - स्वपर के व्यापार से युक्त है।

अर्थ - प्रायोपगमन मरण में न तो क्षपक अपनी वैयावृत्ति स्वयं करता है और न दूसरों से कराता है, न ही उसके मल-मूत्र होता है। वह समाधि ग्रहण करने के बाद गमनागमन नहीं करता तथा आहार भी ग्रहण नहीं करता।

दूसरा इंगिनीमरण है, उसमें क्षपक स्वयं अपनी वैयावृत्ति करता है, आहार का भी क्रमशः त्याग करता है, मल-मूत्र भी करता है और उपदेश-आदेश भी देता है।

भक्तप्रत्याख्यान मरण में क्षपक की वैयावृत्ति अन्य मुनि भी करते हैं और वह स्वयं भी करता है। इसमें भी आहार, नीहार, विहार आदि सारी क्रियायें होती हैं।

इस काल में प्रायोपगमनमरण और इंगिनीमरण नहीं होते परन्तु भक्तप्रत्याख्यान मरण हो सकता है।

अवमौदर्य और रसपरित्याग तप का स्वरूप

यत्साम्यशनं तत्स्यादवमौदर्यं तपः सुबहुभेदम्।
रसरहितौदनभुक्तिर्नानाभेदो रसत्यागः ॥१०६॥

अन्वयार्थ - **यत्** - जो। **सामि** - अर्द्धोदर। **अशनं** - भोजन करना। **तत्** - वह। **सुबहुभेदं** - बहुत भेद वाला। **अवमौदर्यं** - अवमौदर्य। **तपः** - तप। **स्यात्** - होता है। **रसरहितौदनभुक्तिः** - घृत

आदि रस रहित चावल आदि खाना। **नानाभेदः** - नाना भेद वाला। **रसत्यागः** - रसत्याग नामक तप है॥५॥

अर्थ - आधे आहार का नियम करना अथवा जो जिसका प्राकृतिक आहार है उससे न्यून आहार विषयक प्रतिज्ञा करना **अवमौदर्य तप** है अथवा जैसे पुरुष का स्वाभाविक आहार बत्तीस ग्रास है, उसमें एक ग्रास आदि कम करके लेना अवमौदर्य तप है। तृप्ति करने वाला, दर्प उत्पन्न करने वाला, जो आहार हो उसका मन, वचन, काय से त्याग कर देना चाहिए क्योंकि इनसे स्वाध्याय, ध्यान आदि में बाधा उत्पन्न होती है।

जो पित्त प्रकृति के कारण उपवास करने में समर्थ नहीं हैं उनको अवमौदर्य तप अवश्य करना चाहिए, क्योंकि इस तप के माहात्म्य से आहार के प्रति गृद्धि नष्ट हो जाती है, उदरजनित रोग शांत हो जाते हैं, उदरस्थ कृमि का अभाव होता है अतः यह तप अवश्य करना चाहिए। रसना इन्द्रिय से जिसका आस्वादन किया जाता है उसको रस कहते हैं। यद्यपि रसनाविषयक रस पाँच हैं खट्टा, मीठा, चर्परा, कड़वा और कषायला; तथापि यहाँ दूध, दही, घृत, नमक, तेल और चीनी गुड़ादि छह रस हैं जिनका सेवन करने से रसनादि पाँचों इन्द्रियाँ चंचल होती हैं, मन रूपी घोड़ा अवश होता है ऐसे रसों का या स्वादिष्ट भोजन का अपनी शक्ति के अनुसार त्याग करना **रसपरित्याग बाह्य तप** है। इस तप से इन्द्रियविषयों की अभिलाषा शांत हो जाती है। स्वाध्याय, ज्ञान, ध्यान की वृद्धि होती है और इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम का पालन होता है।

अवमौदर्य तप के अनेक भेद होते हैं जैसे एक ग्रास, दो ग्रास, तीन ग्रास आदि ग्रहण करके कवलचान्द्रायण व्रत किया जाता है। अनन्त चौबीसी, अष्टाह्निक आदि अनेक प्रकार के अवमौदर्य तप होते हैं।

एक रस, दो रस, तीन रस, चार, पाँच या छहों रसों का त्याग वा निर्विकृति भोजन करना अथवा पानी भात खाना आदि के भेद से रसपरित्याग तप अनेक प्रकार का है।

वृत्ति परिसंख्यान और कायक्लेश तप का लक्षण

भिक्षासमुत्थकांक्षारोधो, नानाथ वृत्तिपरिसंख्या।
योगैरनेकभेदैः कायक्लेशोऽङ्गसंतपनम्॥१०७॥

अन्वयार्थ - **भिक्षासमुत्थकांक्षारोधः** - भिक्षा के लिए समुत्पन्न अभिलाषा का निरोध। **नाना** - अनेक प्रकार का। **वृत्तिपरिसंख्या** - वृत्तिपरिसंख्या नामक तप है। **अथ** - और। **अनेकभेदैः** - अनेक भेद वाले। **योगैः** - योग के द्वारा। **अंगसंतपनं** - शरीर को संतप्त करना। **कायक्लेशः** - कायक्लेश नामक तप है।

अर्थ - आहार को जाते समय घर, गली, बाजार, दाता, बर्तन, अन्न आदि का नियम लेने रूप

नाना प्रकार का वृत्तिपरिसंख्यान तप कहलाता है। आहार की (भोजन करने की) अभिलाषाओं का निरोध करने के लिए यह तप किया जाता है। साधुजन आहार की इच्छाओं का निरोध करने के लिए भिक्षा को जाते समय अपने मन में अनेक प्रकार की अवधारणा करते हैं कि इस गली में, इस घर में, अमुक दाता इस प्रकार के फल आदि लेकर पड़गाहन करेगा, ऐसा योग मिलेगा, तो आहार ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं, ऐसा नियम लेना वृत्तिपरिसंख्यान है।

खड़े रहना, एक पार्श्व से मृतक की तरह सोना, वीरासनादि से बैठना इत्यादि अनेक प्रकार के कारणों से शास्त्र के अनुसार आतापनादि योगों के द्वारा शरीर को क्लेश देना कायक्लेश तप है। योग रूप आत्मा की प्रवृत्ति से संचय को प्राप्त औदारिक आदि रूप पुद्गल पिण्ड को काय वा शरीर कहते हैं। कर्मों की निर्जरा के लिए जो आतापनादि योग के द्वारा शरीर को कष्ट दिया जाता है, वह कायक्लेश कहलाता है। यह शरीर के कदर्थनरूप तप अनेक उपायों द्वारा सिद्ध होता है। यहाँ छह उपायों का निर्देश किया है, अयन, शयन, आसन, स्थान, अवग्रह और योग। इनके भी अनेक उत्तर भेद होते हैं।

अयन - कड़ी धूप वाले दिन पूर्व से पश्चिम की ओर चलना **अनुसूर्य** है। पश्चिम से पूर्व की ओर चलना **प्रतिसूर्य** है। सूर्य जब मस्तक पर चढ़ता है ऐसे समय में गमन करना **ऊर्ध्वसूर्य** है, सूर्य को तिर्यक् करके गमन करना **तिर्यक्सूर्य** है, स्वयं ठहरे हुए ग्राम से दूसरे गाँव को विश्रान्ति न लेकर गमन करना और स्वस्थान को लौट आना या तीर्थादि स्थान को जाकर लगे हाथ लौट आना **गमनागमन** है। इस तरह अयन के अनेक भेद होते हैं। कायोत्सर्ग करना **स्थान** कहलाता है। जिसमें स्तम्भादि का आश्रय लेना पड़े उसे **साधार**, जिसमें संक्रमण पाया जाय उसको **सविचार**, जो निश्चल रूप से धारण किया जाय उसको **सन्निरोध**, जिसमें सम्पूर्ण शरीर ढीला छोड़ दिया जाय उसको **विसृष्टांग**, जिसमें दोनों पैर समान रखे जाँय उसको **समपाद**, एक पैर से खड़े होना **एकपाद**, दोनों बाहु ऊपर करके खड़े होना **प्रसारित बाहु** आदि इस तरह स्थान के भी अनेक भेद हैं।

आसन - जिसमें पिण्डलियाँ और स्फिक बराबर मिल जाँय वह **समपर्यंकासन** है। उससे उल्टा **असमपर्यंकासन** है। गौ को दुहने की भाँति बैठना **गौदोहन** है, ऊपर को संकुचित होकर बैठना **उत्करिका आसन** है, मकर मुखवत् दोनों पैरों को करके बैठना मकरमुखासन है। हाथी की सूंड की तरह हाथ या पाँव को फैलाकर बैठना **हस्तिसूंडासन** है, गौ के बैठने की भाँति बैठना **गोशय्यासन** है। **अर्धपर्यंकासन** दोनों जंघाओं को दूरवर्ती रखकर बैठना है। दक्षिण जंघा के ऊपर वाम पैर और वाम जंघा के ऊपर दक्षिण पैर रखने से **वीरासन** होता है। दण्डे के समान सीधा बैठना **दण्डासन** है। इस प्रकार आसन के अनेक प्रकार हैं।

शयन - शरीर को संकुचित करके सोना **लगड़शय्या** है, ऊपर को मुख करके सोना **उत्तानशय्या** है, नीचे को मुख करके सोना **अवाक्शय्या** है। शव की तरह निश्चेष्ट सोना **शवशय्या** है। किसी एक करवट से सोना **एकपार्श्वशय्या** है, बाहर खुले आकाश में सोना **अभ्रावकाश शय्या** है। इस प्रकार शयन के भी अनेक भेद हैं।

अवग्रह - अनेक प्रकार की बाधाओं को जीतना अवग्रह है। थूकने, खाँसने की बाधा, छींक व जंभाई को रोकना, खाज होने पर न खुजाना, काँटा आदि लग जाने पर या ऊँची नीची धरती आ जाने पर खेद न मानना, यथासमय केशलोंच करना, रात्रि को भी न सोना, कभी स्नान न करना, कभी दाँतों को न मांजना इत्यादि अवग्रह के अनेक भेद हैं।

योग - ग्रीष्म ऋतु में पर्वत के शिखर पर सूर्य के सम्मुख खड़े होना **आतापन** है। वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे बैठना **वृक्षमूल योग** है। शीतकाल में चौराहे पर या नदी किनारे ध्यान लगाना **शीतयोग** है, इत्यादि अनेक प्रकार योग के होते हैं। इस प्रकार से संक्लेशित न होते हुए कायक्लेश नामक तप करना चाहिए।

विविक्त शय्यासन तप का स्वरूप

स्त्रीपश्वादिविवर्जितदेशे शुद्धे निवसनमध्ययन-।
ध्यानादिविवृद्ध्यर्थं विविक्तशयनासनं षष्ठम्॥१०८॥

अन्वयार्थ - **अध्ययनध्यानादि - विवृद्ध्यर्थं** - अध्ययन और ध्यानादि की वृद्धि के लिए। **शुद्धे** - शुद्ध। **स्त्री - पश्वादि - विवर्जित - देशे** - स्त्री, पशु आदि से रहित क्षेत्र में। **निवसनं** - रहना। **षष्ठं विविक्तशय्यासनं** - विविक्तशय्यासन नामक छठा तप है।

अर्थ - अध्ययन, पठन-पाठन, स्वाध्याय और ध्यान की वृद्धि के लिए स्त्री, पशु आदि से रहित शुद्ध पवित्र एकान्तस्थान में शयन-आसन करना विविक्तशय्यासन नामक छठा तप है। असभ्य जनों के साथ सहवास वा वार्त्तालाप करने से मानसिक विकार उत्पन्न होता है, मन चंचल होता है अत: दोषों को दूर करने के लिए एकान्त स्थान में रहना चाहिए।

बाह्य तप कहने का हेतु

बाह्यजनज्ञातत्वाद् बाह्येन्द्रियदर्पनाशकरणाच्च।
मार्गप्रभावनाकरमेतद् बाह्यं तपो नाम॥१०९॥

अन्वयार्थ - **बाह्यजनज्ञातत्वात्** - बाह्य जनों के द्वारा ज्ञात होने से। **च** - और। **बाह्येन्द्रियदर्पनाशकरणात्** - बाह्य इन्द्रियों के दर्प का नाश करने वाला होने से। **मार्गप्रभावनाकरं** - मार्गप्रभावना करने वाला। **एतत्** - यह। **बाह्यं** - बाह्य। **तप:** - तप। **नाम** - नाम (कहलाता) है।

अर्थ - ये छहों प्रकार के तप मिथ्यादृष्टियों के द्वारा ज्ञात हैं अर्थात् अन्य मतावलम्बी मिथ्यादृष्टि भी उपवास आदि बाह्य तप करते हैं। इन बाह्य तपों से स्पर्शन आदि बाह्य इन्द्रियों का दमन होता है। इन्द्रियाँ स्वकीय काम करने में शिथिल हो जाती हैं तथा ये तप मार्गप्रभावना के कारण हैं, इनसे धर्म की प्रभावना होती है, अत: ये छहों बाह्य तप कहलाते हैं।

अंतरंग तप

अभ्यन्तरं च षोढा प्रायश्चित्तादि भेदतो भवति।
दश पञ्चदश च पञ्च च चत्वारो द्वौ च तद्भेदाः ॥११०॥

अन्वयार्थ - प्रायश्चित्तादिभेदतः - प्रायश्चित्तादि के भेद से। **अभ्यन्तरं** - अभ्यन्तर तप। **षोढा** - छह प्रकार का। **भवति** - होता है। **च** - और क्रमशः । **दश** - दस। **पंच** - पाँच। **दश** - दस। **च** - और पंच। **च** - और। **चत्वारः** - चार। **द्वौ** - दो। **तद्भेदाः** - उनके भेद हैं।

अर्थ - अभ्यन्तर तप प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग के भेद से छह प्रकार का है। इनमें भी प्रायश्चित्त के दस, विनय के पाँच, वैयावृत्य के दस, स्वाध्याय के पाँच, ध्यान के चार और व्युत्सर्ग के दो भेद हैं।

प्रायश्चित्त नामक तप का लक्षण और भेद

कृतदोषस्य निवृत्तिं प्रायश्चित्तं वदन्ति सकलविदः।
आलोचनादयस्तद्भेदा दशसम्यगवगम्याः ॥१११॥

अन्वयार्थ - कृतदोषस्य - किये हुए दोषों की। **निवृत्तिं** - निवृत्ति को। **सकलविदः** - केवली भगवान। **प्रायश्चित्तं** - प्रायश्चित्त। **वदन्ति** - कहते हैं। **आलोचनादयः** - आलोचनादि। **तद्भेदा :** - उस प्रायश्चित्त के भेद। **दशः** - दस। **सम्यक्** - भली प्रकार। **अवगम्याः** - जानने चाहिए।

अर्थ - मन, वचन, काय, कृत, कारित और अनुमोदना से किये हुए पापों का निराकरण करने के लिए जो दण्ड लिया जाता है उसको सर्वज्ञदेव ने प्रायश्चित्त कहा है। अथवा प्रायः शब्द साधु वा लोकवाची है और चित्त का नाम मन है। जिस क्रिया से साधुओं का चित्त निर्विकार हो जाता है अथवा व्रत में लगे हुए दोषों को प्राप्त हुआ यति निर्दोष हो जाता है वह प्रायश्चित्त कहलाता है वा दोषों का निराकरण करने के लिए जो अनुष्ठान किया जाता है उसको प्रायश्चित्त तप कहते हैं।

इस तप के आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना ये नौ भेद हैं। मूलाचार की अपेक्षा इनमें 'श्रद्धागुण' मिलाकर दस भेद भी कहे हैं।

गुरु के समक्ष दस दोषों को टालकर अपने प्रमाद का निवेदन करना आलोचना है। दस दोषों के नाम और लक्षण -

आकंपित, अनुमानित, दृष्ट, स्थूल, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त, तत्सेवी।

आकंपित - स्वतः भिक्षालब्धि से युक्त होने से, आचार्य की प्रासुक और उद्गमादि दोषों से रहित, आहार आदि देकर वैयावृत्ति करना तथा पीछी-कमण्डलु आदि उपकरण देना, वंदना करना ऐसी क्रिया से गुरु के मन में दया उत्पन्न करके दोष कहता है, सो आकंपित दोष है।

अनुमानित - हे प्रभो ! आप मेरे सामर्थ्य को जानते हैं, मेरी उदराग्नि दुर्बल है, मेरे अवयव कृश हैं, मैं उत्कृष्ट तप करने में समर्थ नहीं हूँ, मेरा शरीर रोगी है। यदि आप मेरे ऊपर इतना अनुग्रह करेंगे तो मैं अपने सम्पूर्ण अतिचारों का कथन करूंगा और आपकी कृपा से शुद्धियुक्त होकर मैं अपराधों से मुक्त होऊँगा, ऐसा अनुमान करके माया भाव से जो मुनि पश्चात् आलोचना करता है, वह अनुमानित नामक दोष है।

दृष्ट - अपने अपराध दूसरों के द्वारा देखे जाने पर गुरु से कहना तथा जो नहीं देखे गये उन्हें न कहना यह माया है। दूसरों के द्वारा देखे गये और नहीं देखे गये सभी दोषों को गुरु के पास जाकर कह देना चाहिए। परन्तु जो ऐसा नहीं करता वह तीसरा दृष्ट नाम का दोष है।

स्थूल - जिन-जिन व्रतों में अतिचार लगे हैं उन-उन व्रतों में स्थूल अतिचारों की तो आलोचना करने वाला परन्तु सूक्ष्म अतिचारों को छिपाने वाला मुनि जिनेन्द्र भगवान के पराङ्मुख हुआ है, वह स्थूल नाम का दोष है।

सूक्ष्म - जो छोटे-छोटे दोष कहकर बड़े दोष छिपाता है वह मुनि भय, मद, कपट से भरा होता है। बड़े दोषों से आचार्य मुझे बड़ा प्रायश्चित्त देंगे, ऐसे भय से बड़े दोष नहीं कहता। कोई मुनि स्वभाव से कपटी होता है अत: वह बड़े दोष नहीं कहता ऐसा जिनवचन से पराङ्मुख सूक्ष्म नामक दोष है।

छन्न - यदि किसी मुनि को मूलगुणों में अतिचार लगता है तो उसे कौनसा तप दिया जाता है ? अथवा किस उपाय से उसकी शुद्धि होती है ? ऐसा पूछना अर्थात् मैंने ऐसा अपराध किया है, उसका क्या प्रायश्चित्त है ? ऐसे न पूछकर प्रच्छन्न पूछता है। 'प्रच्छन्न पूछकर तदनंतर मैं उस प्रायश्चित्त का आचरण करूंगा।' ऐसा हेतु उसके मन में रहता है, ऐसा गुप्त रीति से पूछकर जो साधु अपनी शुद्धि कर लेता है वह छन्न दोष है।

शब्दाकुलित - पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक दोषों की आलोचना सब यतिसमुदाय मिलकर जब करते हैं उस समय अपने दोष स्वेच्छा से कहना शब्दाकुलित नाम का दोष है।

बहुजन - आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त में अश्रद्धान करके यह सोचना कि दिया हुआ प्रायश्चित्त योग्य है या अयोग्य, ऐसा बहुत जनों से पूछकर आलोचना करना बहुजन नाम का दोष है।

अव्यक्त - मैंने इनके पास मन, वचन, काय से और कृत, कारित, अनुमोदना से अपने सम्पूर्ण अपराधों की आलोचना की है ऐसा जो समझता है वह अव्यक्त नाम के दोष से युक्त है।

तत्सेवी - पार्श्वस्थ मुनि, पार्श्वस्थ मुनि के पास जाकर उसको अपने दोष कहता है, 'यह मुनि भी सर्वव्रतों में मेरे समान है, यह मेरे स्वभाव को जानता है, इसका और मेरा आचरण समान है। अत: यह मुझे बड़ा प्रायश्चित्त न देगा', ऐसा विचार कर वह पार्श्वस्थ मुनि को अपने दोष बताता है। 'यह पार्श्वस्थ मुनि कहे हुए सम्पूर्ण अतिचारों के स्वरूप को जानता है', ऐसा समझकर व्रतभ्रष्टों से प्रायश्चित्त लेना यह आगमनिषिद्ध तत्सेवी नाम का दोष है।

इन दश दोषों से रहित होकर अपने दोषों को गुरु के चरणों में निवेदित करना आलोचना नामक प्रायश्चित्त है।

प्रतिक्रमण - व्यक्ति को अपनी जीवनयात्रा में कषायवश पद-पद पर अंतरंग और बाह्य दोष लगा करते हैं, जिनका शोधन एक श्रेयोमार्गी के लिए आवश्यक है। भूतकाल में जो दोष लगे हैं उनके शोधनार्थ प्रायश्चित्त, पश्चाताप व गुरु के समक्ष अपनी निंदा गर्हा करना प्रतिक्रमण कहलाता है। 'मेरा दोष मिथ्या हो' गुरु से ऐसा निवेदन करके प्रतिक्रिया व्यक्त करना प्रतिक्रमण है।

गुरु के सामने आलोचना किये बिना संवेग और निर्वेद से युक्त साधु का फिर कभी ऐसा नहीं करूँगा, यह कहकर अपने अपराध से निवृत्त होना प्रतिक्रमण नाम का प्रायश्चित्त है। स्वयं के द्वारा किये हुए अशुभ योग से परावर्त होना अर्थात् 'मेरे अपराध मिथ्या होवें', ऐसा कहकर पश्चाताप करना प्रतिक्रमण है।

वचन-रचना को छोड़कर रागादि भावों का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है उसके प्रतिक्रमण होता है। जो विराधना को विशेषत: छोड़कर आराधना में वर्तता है, वह प्रतिक्रमण कहलाता है, कारण कि वह प्रतिक्रमणमय है। इसी प्रकार अनाचार को छोड़कर आचार को, उन्मार्ग का त्याग करके जिनमार्ग को, शल्यभाव को छोड़कर नि:शल्य भाव को, अगुप्ति भाव को छोड़कर त्रिगुप्ति भाव को, आर्तरौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म अथवा शुक्ल ध्यान को, मिथ्यादर्शन आदि को छोड़कर सम्यग्दर्शन को भाता है वह जीव प्रतिक्रमणमय है।

तदुभय प्रायश्चित्त - दु:स्वप्न देखने आदि के अवसरों पर तदुभय प्रायश्चित्त होता है। केशलोंच, नख का छेद, स्वप्नदोष, इन्द्रियों का अतिचार तथा पक्ष मास संवत्सरादि के दोषों में तदुभय प्रायश्चित्त होता है अर्थात् इनमें आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों होते हैं।

विवेक प्रायश्चित्त - शक्ति को न छिपाकर प्रयत्न से अप्रासुक का परिहार करते हुए भी किसी कारणवश अप्रासुक के स्वयं ग्रहण करने, ग्रहण कराने में छोड़े हुए प्रासुक का विस्मरण हो जाये और ग्रहण करने पर उसका स्मरण आ जाये तो उसका पुन: उत्सर्ग करना विवेक प्रायश्चित्त है अर्थात् स्मरण आते ही उस वस्तु का त्याग करना विवेक है।

व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त - कायोत्सर्ग को व्युत्सर्ग कहते हैं। दु:स्वप्न, दुश्चिन्ता, मलोत्सर्ग, मूत्र का अतिचार, महानदी, महाअटवी के पार करने आदि में व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। मौनादि धारण किये बिना ही लौंच करने पर, उदर में से कृमि निकलने पर, हिम, दंशमशक, महावातादि के संघर्ष से अतिचार लगने पर, स्निग्धभूमि हरित तृण, कर्दम आदि के ऊपर चलने पर, घुटनों तक जल में प्रवेश कर जाने पर, अन्य निमित्तक वस्तु को उपयोग में ले लेने पर, नाव के द्वारा नदी पार होने पर, पुस्तक या प्रतिमा आदि के गिरा देने पर, पंच स्थावरों का विघात करने पर, बिना देखे स्थान पर शारीरिक मल छोड़ने पर, पक्षादि प्रतिक्रमण

पर्यन्त व्याख्यान, प्रवचन आदि में केवल कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त होता है और थूकने और पेशाब आदि के करने पर कायोत्सर्ग करना प्रसिद्ध ही है।

तप - कर्मों का क्षय करने के लिए जो तपा जाता है, जो कर्म-ईंधन को भस्म करने में समर्थ है और पाँचों इन्द्रिय रूपी हाथियों को वश में करने के लिए अंकुश के समान है उसे तप कहते हैं। वह अनशनादि के भेद से अनेक प्रकार का है।

व्रतों में अतिचार लगने पर उनकी शुद्धि करने के लिए उपवास, रसपरित्याग, एकासन, आचाम्ल आदि प्रायश्चित्त दिया जाता है वह तप नामक प्रायश्चित्त है।

छेद - छेद का अर्थ है विदारणा, टुकड़े करना, नाश करना इत्यादि। यहाँ पर प्रायश्चित्त का प्रकरण है अतः व्रतों में अनाचार आदि दोष लग जाने पर मुनिराज को एक दिन, एक पक्ष, एक मास, एक ऋतु, एक अयन और एक वर्ष आदि तक की दीक्षा पर्याय का छेद करके इच्छित पर्याय से नीचे की भूमिका में स्थापित करना छेद नामक प्रायश्चित्त है। जो साधु बार-बार व्रतों की विराधना करता है, उसको यह प्रायश्चित्त दिया जाता है।

परिहार - पक्ष, मास, वर्ष आदि की अवधि के लिए अपराधी साधु को संघ से पृथक् कर देना परिहार नामक प्रायश्चित्त है। यह परिहार प्रायश्चित्त दो प्रकार का है- अनवस्थाप्य और पारंचिक।

अनवस्थाप्य परिहार प्रायश्चित्त दो प्रकार का है - स्वगण अनुपस्थापन और परगण अनुपस्थापन।

जिसको स्वगणानुपस्थापन प्रायश्चित्त दिया जाता है वह साधु संघस्थ साधुओं से बत्तीस धनुष दूर बैठता है। अपने से छोटे-बड़े मुनियों को नमस्कार करता है, परन्तु कोई भी साधु उसको प्रतिवंदना नहीं करते हैं। वह अपराधी साधु अपने गुरु के साथ वार्तालाप करता है, आलोचना करता है, अन्य किसी मुनि-श्रावक आदि के साथ वार्तालाप नहीं करता, न ही आलोचना करता है और मौन रखता है। अपनी पीछी को उलटी रखता है। कम-से-कम पाँच-पाँच उपवास और अधिक से अधिक छह-छह महीने के उपवास करता रहता है। इस प्रकार १२ वर्ष तक एक उपवास और १ पारणा करना उत्तम, मध्यम में एक महीने में पाँच उपवास से अधिक और १५ उपवास से एक न्यून करना और जघन्य में एक महीने में पाँच उपवास करना होता है। इसका काल १२ वर्ष का है। यह स्वगण (निजगण) अनुपस्थापन नामक प्रायश्चित्त है।

महा अपराधी साधु को आचार्य दूसरे आचार्य के संघ में भेजते हैं। वे दूसरे संघ के आचार्य भी उसकी आलोचना सुनकर बिना प्रायश्चित्त दिये तीसरे संघ में भेज देते हैं। इस प्रकार सात संघों के आचार्यों के पास भेजते हैं, परन्तु कोई भी आचार्य उसको प्रायश्चित्त नहीं देते। सातवें आचार्य पुनः उस अपराधी मुनि को उसके संघ के आचार्य के समीप भेज देते हैं। वे आचार्य उसको स्वगणानुपस्थापन विधि में लिखित प्रायश्चित्त देते हैं। यह परगणानुपस्थापन प्रायश्चित्त है।

पारंचिक - सर्वप्रथम आचार्य संघस्थ सर्व मुनिराजों को बुलाकर घोषणा करते हैं कि - "यह

मुनि महापापी है, अपने मत से बाह्य है, वंदना करने के अयोग्य है इसलिए इसको पारंचिक प्रायश्चित्त देकर संघ से निकालते हैं।'' ऐसा कहकर अनुपस्थापन नामक प्रायश्चित्त देकर ऐसे क्षेत्र में भेज देते हैं जहाँ पर साधर्मी जनों का निवास नहीं है, इस प्रायश्चित्त की विधि अनुपस्थापन प्रायश्चित्त की विधि के समान है - उत्कृष्ट रूप से इसके भी उपवास की अवधि छह मास है। पारंचिक प्रायश्चित्त वाला साधु १२ वर्ष विधर्मियों के स्थान में पूर्ण करता है।

इस काल में यह परिहार नामक प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है। ये दोनों प्रकार के प्रायश्चित्त पंच महाव्रत के विराधक, राज्यविरुद्ध कार्यकारक मुनिराज को दिये जाते हैं जिनका उत्तम संहनन हो, जो ११ अंग और नौ पूर्व के पाठी हों ; साधारण अपराधी या साधारण संहनन वाले को नहीं दिये जाते।

श्रद्धा वा उपस्थापन - जो साधु सम्यग्दर्शन को छोड़कर मिथ्यामार्ग में प्रवेश कर जाता है उसको पुनः सन्मार्ग में स्थापित करना श्रद्धा नामक प्रायश्चित्त है अथवा महाव्रतादि से च्युत हो जाने पर पुनः दीक्षा देना उपस्थापन नामक प्रायश्चित्त है।

इस प्रकार इस तप के नौ वा दस भेद कहे हैं। इस ग्रन्थ में प्रायश्चित्त के दस भेद कहे हैं।

इस प्रायश्चित्त नामक तप से आत्मपरिणामों की विशुद्धि होती है, कर्मकालिमा का विध्वंस होता है, जिस प्रकार अग्नि के ताप से सुवर्ण शुद्ध होता है।

विनय नामक तप का लक्षण वा भेद

त्रिकरणशुद्ध्या नीचैर्वृत्तिर्विनयं सदाभिपूज्येषु।
सम्यक्त्वाद्याश्रयणात् पञ्चविधः सोऽपि विज्ञेयः ॥११२॥

अन्वयार्थ - सदा - निरंतर। **अभिपूज्येषु** - पूज्य पुरुष के प्रति। **त्रिकरणशुद्ध्या** - मन, वचन और काय की शुद्धि पूर्वक। **नीचैर्वृत्तिः** - नम्रता होना। **विनयं** - विनय नामक तप है। **सः** - वह विनयतप। **अपि** - भी। **सम्यक्त्वाद्याश्रयणात्** - सम्यग्दर्शन आदि के आश्रय से। **पंचविधः** - पाँचप्रकार का। **विज्ञेयः** - जानना चाहिए॥३॥

अर्थ - जिस क्रिया से कर्म मल नष्ट होते हैं उसको विनय कहते हैं अथवा मोक्ष के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के धारण करने वाले पुरुषों के प्रति नम्रता, रत्नत्रय एवं १२ प्रकार के तपों के अतिचारों का निराकरण, तपादि के विषय में परिणामों की विशुद्धि और इन्द्रियों का दमन करना आदि को विनय कहते हैं।

ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय के भेद से विनय पाँच प्रकार का है। **तत्त्वार्थ सूत्र** में दर्शन, ज्ञान, चारित्र और उपचार विनय के भेद से विनय चार प्रकार का कहा है। तप विनय, चारित्र विनय में समाविष्ट हो जाता है, क्योंकि तप चारित्र का ही अंग है। जब तप और चारित्र में भेद करते हैं तो विनय पाँच प्रकार का होता है। इस ग्रन्थ में विनय पाँच प्रकार का कहा है।

१. ज्ञान विनय - काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, व्यंजन, अर्थ और उभय के भेद से ज्ञान विनय के आठ भेद हैं।

शास्त्रों का अध्ययन संध्याकाल (सूर्योदय के दो घड़ी पूर्व, दो घड़ी पश्चात्, सूर्यास्त के दो घड़ी पूर्व -दो घड़ी पश्चात् तथा मध्याह्न काल की रात्रि और दिन के दो-दो घड़ी पूर्व पश्चात्), अष्टाह्निका, अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व काल, दिशादाह, उल्कापात आदि वर्जनीय काल का परिहार कर शेष काल में स्वाध्याय, पठन-पाठन, व्याख्यान आदि करना **काल विनय** है। क्योंकि अकाल में स्वाध्याय करने से जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का तिरस्कार होता है अत: ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है और काल शुद्धिपूर्वक पठन-पाठन करने से अशुभ कर्म नष्ट होते हैं।

विनय शुद्धि - श्रुतज्ञान और श्रुतधर के गुणों की प्रशंसा करना, उनका संस्तवन करना, श्रुत भक्ति एवं आचार्य भक्ति पढ़कर स्वाध्याय प्रारम्भ करना विनय शुद्धि है। विनयपूर्वक शास्त्राभ्यास करने से विद्यायें सिद्ध होती हैं। शीघ्र ही ज्ञान की प्राप्ति होती है।

उपधान - विशेष नियम धारण करना, जब तक यह शास्त्र या यह अनुयोग, प्रकरण समाप्त नहीं होगा तब तक मैं एक उपवास-एक पारणा करूँगा, दो उपवास-एक पारणा करूँगा, नीरस भोजन करूँगा या अमुक वस्तु का त्याग करूँगा, इत्यादि रूप से संकल्प करना उपधान विनय है। यह उपधान ज्ञानावरणीय कर्म का नाशक तथा श्रुतज्ञान का उत्पादक है।

बहुमान विनय - पवित्रता से हाथ जोड़कर चौकी आदि पर शास्त्र को स्थापित कर मन की एकाग्रता से अर्थ की अवधारणा करते हुए शास्त्राभ्यास करना बहुमान है। आत्मपरिणामों की विशुद्धि व कषायों के मन्द होने से ही देव, शास्त्र एवं गुरुजनों के प्रति बहुमान आता है और परिणामविशुद्धि, कर्मक्षय में निमित्त कारण है तथा शास्त्रों (जिनवचनों) का बहुमान करना, जिन भगवान का बहुमान करना है, क्योंकि जिनदेव और जिनवाणी में कोई अन्तर नहीं है। जिनदेव, जिनवचन एवं निर्ग्रन्थ गुरु के प्रति बहुमान होने से कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा होती है और कर्मों की निर्जरा से ज्ञान की प्राप्ति होती है। बहुमान विनय ज्ञान प्राप्त होने का कारण है अर्थात् शास्त्र का बहुमान करने वाले को शीघ्र ही ज्ञान की प्राप्ति होती है।

अनिह्नव - अपलाप करना, अन्यथा प्रवृत्ति करना, असलियत को छिपाना निह्नव है। अत: जिस गुरु के समीप अध्ययन किया है उसके नाम को छिपाकर दूसरे किसी विख्यात गुरु से मैंने अध्ययन किया है, ऐसा कहना निह्नव है। निह्नव का त्याग करना अनिह्नव है। निह्नव दोष से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है और अनिह्नव से होती है सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति।

व्यञ्जन शुद्धि - क् आदि अक्षरों को व्यंजन कहते हैं। गणधरादि आचार्यों ने जो निर्दोष सूत्रों की रचना की है, उनको दोष रहित पढ़ना व्यञ्जन शुद्धि है।

शंका - शब्द तो पौद्गलिक हैं, उनका शुद्ध उच्चारण ज्ञानविनय कैसे हो सकता है ?

उत्तर - यद्यपि शब्द पौद्गलिक हैं, ज्ञानस्वरूप नहीं हैं तथापि पदार्थ जो श्रुतज्ञान है वह शब्द की भित्ति पर खड़ा है। शब्द के द्वारा ही हम वस्तु को जान सकते हैं, शब्द ज्ञानोत्पत्ति का साधन हैं, अत: शब्दों को ज्ञान कह देते हैं और व्यञ्जनों को शुद्ध पढ़ना ज्ञानविनय कहलाता है। अक्षरहीन वा अशुद्ध पढ़ने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

अर्थ शुद्धि - शब्द के वाच्य को अर्थ कहते हैं जैसे - 'मानव' यह शब्द है। इसका अर्थ वाच्य है आदमी। अत: शब्दों के उच्चारण के अनन्तर मन में जो अभिप्राय उत्पन्न होता है उसे अर्थ कहते हैं। गणधरादि रचित सूत्रों के अर्थ का यथार्थ रूप से विवेचन करना, उनकी आगमानुकूल व्याख्या करना अर्थशुद्धि है। केवल सूत्रों का विवेचन मात्र नहीं क्योंकि केवल विवेचन से विपरीत अर्थ भी हो सकता है, जैसे 'सैन्धवमानय' इस शब्द का विवेचन है : सैन्धव लाओ, घोड़ा लाओ यह भी अर्थ हो सकता है और नमक लाओ, सैन्धव देश की कोई वस्तु लाओ, यह भी अर्थ हो सकता है अत: शब्दों का प्रकरणवश निर्दोष अर्थ करना ही अर्थशुद्धि है, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो जाता है, जैसे - क्षीरकदम्ब के पुत्र पर्वत ने अर्थ शुद्ध न पढ़कर विपरीत अर्थ करके हिंसा का प्रचार किया तथा संसार में हिंसामय धर्म की प्रवृत्ति की और मरकर नरक में गया। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, उनका युक्ति और आगमानुसार शुद्ध अर्थ करना अर्थशुद्धि है।

उभयशुद्धि - व्यंजन की शुद्धि और उसके वाच्य अभिप्राय की शुद्धि को उभयशुद्धि कहते हैं। जैसे कोई पुरुष सूत्र का अर्थ तो नेक कहता है, परन्तु सूत्र उच्चारण ठीक नहीं करता। दीर्घ के स्थान में ह्रस्व का और ह्रस्व के स्थान में दीर्घ का तथा संयुक्त अक्षरों का असंयुक्त और असंयुक्त अक्षरों का संयुक्त उच्चारण करता है। इसलिए व्यंजन शुद्धि कही गई है। कोई पुरुष शब्दों का शुद्ध उच्चारण तो करता है परन्तु अर्थ की प्ररूपणा विपरीत करता है इसलिए अर्थशुद्धि का उल्लेख किया है। तीसरा मानव सूत्र का उच्चारण भी अशुद्ध करता है और उसका अर्थ भी अंटसंट बकता है। इन दोनों दोषों को दूर करने के लिए उभय शुद्धि का निरूपण किया है।

इस प्रकार आठ प्रकार की शुद्धिपूर्वक शास्त्रों का पठन-पाठन करना ज्ञान विनय है।

२. दर्शन विनय : सम्यग्दर्शन के नि:शंकित आदि आठ अंग हैं और शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिस्तुति एवं प्रशंसा ये पाँच अतिचार (दोष) हैं। आठ गुणों एवं पाँच दोषों से रहित सम्यग्दर्शन को धारण करना तथा अर्हद्भक्ति, पूजा आदि के परिणाम दर्शन विनय है।

३. चारित्र विनय - पाँच महाव्रतों को धारण करना, पाँच समिति का पालन, पंचेन्द्रिय का रोध और मन, वचन, काय को वश में करना यह चारित्र है। स्पर्शन आदि इन्द्रियों के मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ विषय हैं इनमें राग-द्वेष नहीं करना, इन्द्रियों को अपने विषयों में प्रवृत्ति नहीं करने देना इन्द्रियरोध है।

जो आत्मा को कसते हैं, दु:ख देते हैं, उनको कषाय कहते हैं। जैसे वृक्षों की छाल से जो रस निकलता है उसको कषाय कहते हैं। चिक्कण होने से वस्त्र पर लगने के बाद वह वस्त्र से निकलता नहीं तथा

वस्त्र की स्वच्छता को नष्ट कर देता है। उसी प्रकार जिनका सम्बन्ध होने से आत्मा की स्वच्छता नष्ट होती है, जिनका सम्बन्ध छुड़ाना दुष्कर है, जो आत्मा को ज्ञानावरणादि कर्मों में स्थिर करती है, उनके स्थिति और अनुभाग की वृद्धि करती है - मन की एकाग्रता को नष्ट करती है वे कषायें कहलाती हैं। उन कषायों को उत्पन्न नहीं होने देना कषाय प्रणिधान है।

सम्यक् प्रकार प्रवृत्ति करना, वा पाप से बचने के लिए मन की प्रशस्त एकाग्रता समिति कहलाती है। वह पाँच प्रकार की है। **ईर्या समिति** - जीवों की रक्षा करने के लिए सावधानी के साथ चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलना। **भाषा समिति** - हित, मित, मधुर और सत्य वचन बोलना। **एषणा समिति** - निर्दोष अर्थात् उद्गमादि ४६ दोष टालकर आहार करना। **आदाननिक्षेपण समिति** - किसी भी वस्तु को सावधानी के साथ उठाना या रखना, जिससे किसी जीवजन्तु का घात न हो जाय। **प्रतिष्ठापन समिति** - मलमूत्र आदि को ऐसे स्थान पर विसर्जित करना जिससे जीवोत्पत्ति न हो और न किसी जीव की विराधना हो। सम्यक् प्रकार से मन, वचन, काय का निग्रह करना, इनका गोपन करना वा बाह्य प्रवृत्तियों से मन को हटाकर आत्माभिमुखी करना गुप्ति है। इसके तीन भेद हैं - **मनोगुप्ति** - अप्रशस्त, अशुभ वा कुत्सित संकल्पों से मन को हटाना। **वचन गुप्ति** - असत्य, कर्कश, कठोर, कष्टजनक अथवा अहितकर वचनों का प्रयोग नहीं करना वा वचन बोलने में प्रवृत्ति नहीं करना। **काय गुप्ति** - शारीरिक क्रियाओं को रोकना अथवा असत् व्यापार सम्बन्धी शारीरिक क्रियाओं से निवृत्त होकर शुभ व्यापार में लगाना।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों का मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करना पंच महाव्रत है। इस प्रकार पंच महाव्रत, पञ्च समिति, तीन गुप्ति का धारण, कषायों और इन्द्रियों का निरोध रूप जो सम्यक्चारित्र है, उसका निर्दोष पालन करना, चारित्र में अतिचार नहीं लगाना तथा चारित्र के प्रति हार्दिक अनुराग होना चारित्र विनय है।

४. तप विनय - इच्छाओं का निरोध करना तप है। जैसे आकाश अनन्त है, उसी प्रकार इच्छाएँ भी अनन्त हैं, एक इच्छा की पूर्ति होने से पहले ही अनेक नवीन इच्छाओं का प्रादुर्भाव हो जाता है। मन और इन्द्रियों को संयत किए बिना न व्यक्ति के जीवन में तुष्टि आ सकती है और न जीवन निराकुल बन सकता है। अतएव इच्छानिरोध तप की आवश्यकता है। वह तप अंतरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार का है। बहिरंग तप के अनशन आदि छह और अंतरंग तप के प्रायश्चित्त आदि छह भेद हैं।

अनशन - लेह्य, पेय, खाद्य और स्वाद्य इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना। **अवमौदर्य** - भूख से कम (खाना) भोजन करना। **रस परित्याग** - घृत, तैल, दूध, दही, मधुर और लवण इन रसों में से एक, दो या सर्व रसों का त्याग करना वा निर्विकृति भोजन करना। **विविक्तशयनासन** - स्वाध्याय की वृद्धि, मन की एकाग्रता तथा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के लिए एकान्त स्थान में उठना, बैठना, शयन करना। **वृत्ति परिसंख्यान** - घर, मोहल्ला, दाता, भोजन, पात्र आदि का नियम करना अर्थात् 'इस घर में आहार होगा तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं' आदि का संकल्प करना। **कायक्लेश** - शीत, उष्ण,

भूख, प्यास आदि के द्वारा शरीर को कष्ट देना। ये छह बहिरंग तप हैं क्योंकि ये बाह्य में दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रायश्चित्त - अपने दोषों की शुद्धि करना। **विनय** - गुरुजनों के प्रति आदर भाव होना। **वैयावृत्ति** - आचार्य, उपाध्याय, ग्लानादि की सेवा-शुश्रूषा करना। **स्वाध्याय** - वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश रूप पाँच प्रकार के स्वाध्याय में अपने चित्त को स्थिर करना। **व्युत्सर्ग** - त्याग का नाम व्युत्सर्ग है। काम-क्रोध आदि अन्तरंग विकारों का त्याग करना अन्तरंग व्युत्सर्ग है और धन-धान्यादि बाह्य उपाधियों का त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग है। **ध्यान** - आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल के भेद से ध्यान चार प्रकार का है। इसमें तप का प्रकरण होने से आर्त और रौद्र ध्यान में तो मोक्ष नहीं है। धर्म और शुक्ल ध्यान ही निर्जरा का कारण होने से तप रूप हैं। इस तप के प्रति आदर भाव तप विनय है अथवा तप ही संसार का नाशक है, ऐसा विचार कर तप की प्रशंसा करना ही तपोविनय है।

५. **उपचार विनय** - चारित्रधारी तपस्वियों के प्रति आदर भाव उपचार विनय है। वह परोक्ष और प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है। कायिक, वाचनिक और मानसिक के भेद से परोक्ष और प्रत्यक्ष विनय के तीन भेद हैं। क्योंकि मन, वचन, काय इन तीनों से विनय किया जाता है।

परोक्ष विनय - गुरु के परोक्ष में किया जाने वाला विनय। **परोक्ष कायिक विनय** - गुरु के समक्ष नहीं रहने पर भी उनको परोक्ष में नमस्कार करना, उनकी आज्ञा का पालन करना। **परोक्ष वाचनिक विनय** - गुरु के समक्ष नहीं रहने पर भी वचनों के द्वारा उनकी स्तुति करना। **परोक्ष मानसिक विनय** - मन के द्वारा परोक्ष में गुरु के हित का चिंतन करना। उनके प्रति आदर भाव युक्त मानसिक प्रवृत्ति करना। उनके गुणों की प्रशंसा आदि मानसिक प्रवृत्तियाँ।

प्रत्यक्ष विनय - प्रत्यक्ष में गुरुओं का सत्कार करना। इसके प्रत्यक्ष कायिक विनय, प्रत्यक्ष वाचनिक विनय और प्रत्यक्ष मानसिक विनय ये तीन भेद हैं। **प्रत्यक्ष कायिक विनय** - गुरुजन, तपोऽधिक महर्षि आदि पूज्य पुरुषों के आने पर स्वयं बड़े आदर से उठकर खड़े होना, उनको मस्तिष्क झुकाकर, शरीर को नम्र कर, हाथ जोड़कर आदरपूर्वक नमस्कार करना, उनके समीप जाकर उनका स्वागत करना, उनके साथ चलते समय पीछे थोड़े अन्तर से हाथ-पैरों का चलते हुए शब्द न करते हुए उनके पीछे-पीछे चलना, चलते समय गुरु के शरीर का स्पर्श नहीं करते हुए गमन करना, अपने हाथ-पाँव, श्वासोच्छ्वास आदि के द्वारा उनकी विराधना न हो इस रीति से उनके पीछे बैठना, यदि गुरुजनों के सम्मुख बैठना हो तो उनके वाम पार्श्व भाग में उद्दण्डता रहित मस्तक झुकाकर बैठना, गुरु के सम्मुख आसन पर नहीं बैठना, शयन करते समय गुरु के बराबर नहीं सोना, गुरु के नाभि तक के भाग के प्रमाण जमीन छोड़कर शयन करना अर्थात् दो हाथ जमीन छोड़कर गुरु के चरणों की तरफ मस्तक करके गुरु को हाथ-पाँव का धक्का न लगे इस रीति से शयन करना। जब गुरुदेव के बैठने की इच्छा हो तो पृथ्वी का प्रमार्जन करके आसन बिछा देना। उनके उपकरणों (कमण्डलु आदि) को स्वच्छ करके देना, गुरु के शरीरानुकूल मर्दन करना आदि प्रत्यक्ष कायिक विनय है।

प्रत्यक्ष वाचनिक विनय - गुरु के समीप आदरपूर्वक हित मित प्रिय वचन बोलना, कर्कश अप्रिय और गुरु के प्रतिकूल वचन न बोलना। स्वप्न में भी गुरु की निन्दा, अवज्ञा, तिरस्कारकारी वचन नहीं बोलना प्रत्यक्ष वाचनिक विनय है।

प्रत्यक्ष मानसिक विनय - पापास्रव के कारणभूत परिणामों को हृदय में प्रवेश नहीं होने देना, गुरु की निंदा वा तिरस्कार के भाव मन में नहीं होने देना, गुरु के वचन सुनकर क्रोध नहीं करना, अपने हृदय को गुरुओं के गुणों में अनुरक्त रखना प्रत्यक्ष मानसिक विनय है।

देव शास्त्र गुरु का तथा यथायोग्य सहधर्मी का सत्कार करना भी उपचार विनय में गर्भित हो जाता है तथा अकृत्रिम एवं कृत्रिम जिनबिम्ब, जिनमन्दिर की पूजा-स्तुति आदि सर्व उपचार विनय के भेद हैं। इस प्रकार पाँच प्रकार के विनय से युक्त होना विनय नामक अंतरंग तप हैं।

विनय गुण से आत्मशुद्धि, कर्ममल का नाश, वैमनस्य का अभाव, गुरुओं का अनुग्रह, सरलता, मृदुता आदि अनेक गुणों की प्राप्ति होती है।

वैयावृत्ति नामक तप का लक्षण और उसके भेदों का कथन

व्यापदि यत् क्रियते तत् वैयावृत्यं स्वशक्तिसारेण।
ह्याचार्यादिसमाश्रयवशतो दशधा विकल्प्यं तत्॥११३॥

अन्वयार्थ - **यत्** - जो। **स्वशक्तिसारेण** - स्वकीय शक्ति के अनुसार। **व्यापदि** - आपत्ति का निराकरण। **क्रियते** - किया जाता है। **तत्** - वह। **वैयावृत्त्यं** - वैयावृत्ति है। **तत्** - वह वैयावृत्ति। **हि** - निश्चय से। **आचार्यादि समाश्रयवशतः** - आचार्यादि के आश्रय के वश से। **दशधा** - दस प्रकार के। **विकल्प्यं** - विकल्प वाली है।

अर्थ - गुणी पुरुषों के दुःख में आ पड़ने पर स्वशक्ति अनुसार निर्दोष विधि से उनका दुःख दूर करना, पाँव दबाना, अपने हाथ से खँकार, नाक आदि का भीतरी मल साफ करना, उनके अनुकूल वातावरण रखना, प्रासुक औषधि, आहारपान, आश्रय, चौकी, तख्ता, सांथरा आदि धर्मोपकरणों से प्रतिकार करना तथा सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र से च्युत होते हुए साधुओं को पुनः सम्यग्दर्शन-चारित्र में दृढ़ करना वैयावृत्ति कहलाती है। अर्थात् रोगादि से व्याकुल साधु के विषय में उनकी आपत्ति आदि दूर करने के लिए ख्याति, लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा की भावना के बिना जो कुछ किया जाता है, वह वैयावृत्ति कहलाती है।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ ये दश वैयावृत्ति करने के योग्य होते हैं। इसलिए पात्र की अपेक्षा वैयावृत्ति के १० भेद कहे हैं।

ज्ञानाचार, तपाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार और वीर्याचार रूप पाँच प्रकार के आचार का जो स्वयं पालन करते हैं और अन्य शिष्यों से पालन कराते हैं तथा पंचाचार का उपदेश देते हैं, वे **आचार्य** कहलाते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जो ११ अंग एवं १४ पूर्व के पाठी होते हैं, रत्नत्रय से सुशोभित हैं, जिनके समीप जाकर भव्यजन विनयपूर्वक श्रुत का अध्ययन करते हैं वे **उपाध्याय** कहलाते हैं।

जो चिरकाल से दीक्षित हैं, रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग की साधना करते हैं, वे **साधु** कहलाते हैं।

मासोपवास आदि घोर तपश्चरण करने वाले **तपस्वी** कहलाते हैं।

जो अध्ययन करने में रत हैं वे **शैक्ष्य** कहलाते हैं।

रोग से पीड़ित साधु **ग्लान** कहलाते हैं।

स्थविरों की सन्तति को **गण** कहते हैं। वा तीन पुरुषों के समुदाय को **गण** कहते हैं।

दीक्षाचार्य के शिष्य समुदाय को **कुल** कहते हैं अर्थात् एक गुरु के शिष्य समुदाय को **कुल** कहते हैं।

रत्नत्रय के धारी साधुओं के समूह को **संघ** कहते हैं। लोकसम्मत साधु को **मनोज्ञ** कहते हैं अथवा अभिरूप गौरव की (जिनधर्म की) उत्पत्ति में हेतुभूत विद्वान् वाग्मी वा कुलीन आदि रूप से लोकप्रसिद्ध को, वा सुसंस्कृत अविरत सम्यग्दृष्टि को **मनोज्ञ** कहते हैं अर्थात् जो अव्रती होकर भी वाग्मी है जिसके द्वारा धर्म की प्रभावना हो सकती है उस अविरत सम्यग्दृष्टि को **मनोज्ञ** कहते हैं।

इन दश प्रकार के पात्रों के भेद से वैयावृत्ति नामक तप के भी दश भेद होते हैं।

इन दश प्रकार के पात्रों की आपत्ति को दूर करना, अपनी पूजा-प्रतिष्ठा की अपेक्षा न करके उन महापुरुषों का उपकार करना, उनके दुःख को दूर करना वैयावृत्ति नामक अंतरंग तप है। समाधि की प्राप्ति, विचिकित्सा का अभाव और प्रवचन वात्सल्य की अभिव्यक्ति के लिए वैयावृत्ति तप किया जाता है।

वैयावृत्ति नामक तप के प्रभाव से गुणग्रहण के परिणाम, श्रद्धा, भक्ति, वात्सल्य, पात्र की प्राप्ति, विच्छिन्न सम्यक्त्व आदि का पुनः संधान, तप, पूजा, तीर्थ अव्युच्छित्ति, समाधि, जिनाज्ञा का पालन, संयम की सहायता, दान, निर्विचिकित्सा अंग का पालन, प्रभावना (धर्मप्रभावना) कार्य निर्वहण और बँधे हुए कर्मों की निर्जरा, आगत कर्मों का संवर आदि गुणों की प्राप्ति होती है। जो समर्थ होकर भी वैयावृत्ति नहीं करता है वह धर्मभ्रष्ट है तथा जिनाज्ञा का भंग करने वाला है। स्वाध्याय करने वाला केवल स्वयं की उन्नति कर सकता है परन्तु वैयावृत्ति करने वाला स्व एवं पर दोनों को उन्नत बनाता है। अतः अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्ति नामक तप अवश्य करना चाहिए।

स्वाध्याय नामक तप का लक्षण और उसके भेद

स्वध्ययनमागमस्य स्वाध्यायाख्यं तपस्ततो मुख्यम्।
परिवर्तनादिभेदात्पञ्चविधं तद्वदन्त्यार्याः ॥११४॥

अन्वयार्थ - **आगमस्य** - आगम का। **स्वध्ययनं** - सुष्ठु भली प्रकार अध्ययन करना। **स्वाध्यायाख्यं** - स्वाध्याय नामक। **मुख्यं** - मुख्य। **तपः** - तप है। **आर्याः** - आर्यपुरुषों ने। **ततः** -

इसलिए। **तत्** - इस तप को। **परिवर्त्तनादिभेदात्** - परिवर्त्तन आदि के भेद से। **पंचविधं** - पाँच प्रकार का कहा है।

अर्थ - भली प्रकार स्याद्वाद से युक्त जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित आगम का अभ्यास करना, पठन-पाठन करना स्वाध्याय नामक तप है। यह तप १२ प्रकार के तपों के पालन का मूल कारण है इसलिए यह मुख्य तप है क्योंकि स्वाध्याय के बिना स्व - पर का ज्ञान नहीं होता और स्व-पर के भेद के अभाव में १२ प्रकार के तपों का अनुष्ठान करना शक्य नहीं है।

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश के भेद से आचार्यों ने स्वाध्याय के पाँच भेद कहे हैं।

अंग प्रविष्ट, अंग बाह्य वा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग रूप आगम को पढ़ना वा दूसरों के लिए व्याख्यान करना **वाचना** नामक स्वाध्याय है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जाने हुए सूत्र में उत्पन्न शंका को दूर करने के लिए वा ज्ञात अर्थ को दृढ़ करने के लिए दूसरे ज्ञानी से पूछना **पृच्छना** नामक स्वाध्याय है।

ज्ञात अर्थ का बारंबार चिंतन करना **अनुप्रेक्षा** नामक स्वाध्याय है।

पठित शास्त्र का पुनःपुनः परिवर्तन, बार-बार पढ़ना **आम्नाय** नामक स्वाध्याय है।

त्रेशठशलाका पुरुषों के चरित्र पढ़ना वा अन्य जनों के लिए वस्तु के स्वरूप का कथन करना **धर्मोपदेश** नामक स्वाध्याय है।

पाँचों प्रकार की स्वाध्याय श्रुत-भक्ति पढ़कर वा देववंदना रूप मंगलाचरण करके ही करनी चाहिए। जो साधु निरन्तर अर्हन्त भगवान् के ध्यान में लीन रहता है उसके "अर्हन् शं वो दिश्यात्" अर्हन्त भगवान तुम्हारा कल्याण करें तथा "सदास्तु वः शांतिः" तुम्हारे सदा शांति बनी रहे। इत्यादि वचनों के उच्चारण को भी स्वाध्याय कहते हैं। क्योंकि पूर्वाचार्यों ने इन शब्दों के पढ़ने से भी कल्याण और परम्परा से मोक्ष की सिद्धि मानी है।

स्तुति, स्तोत्र, पूजा आदि भी आम्नाय नाम की स्वाध्याय है। १२ प्रकार के तपों में स्वाध्याय के समान कोई दूसरा तप नहीं है। जिनेन्द्र देव के द्वारा कथित शास्त्रों का अध्ययन करने से सूर्य की किरणों के समान स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान विशुद्ध होता है। चन्द्रमा के समान चारित्र निर्मल होता है और सम्यग्दर्शन भी २५ दोष रहित हो जाता है। स्वाध्याय तप व्याख्याता और श्रोता के असंख्यात गुणश्रेणी रूप से होने वाली कर्मनिर्जरा का कारण है।

अंतरंग तप रूप ध्यान का प्रकरण

उत्तमसंहननस्यैकाग्रजचिन्तानिरोधनं ध्यानम्।
अन्तर्मुहूर्तकालं चार्त्तादिचतुः प्रकारयुतम्॥११५॥

अन्वयार्थ - उत्तमसंहननस्य - उत्तम संहनन वाले के। **एकाग्रज चिन्तानिरोधनं** - एकाग्र से उत्पन्न चिंतानिरोध। **ध्यानं** - ध्यान होता है। **अन्तर्मुहूर्तकालं** - अन्तर्मुहूर्त काल है। **च** - और वह ध्यान। **आर्त्तादिचतुःप्रकारयुतं** - आर्त्तादि के भेद से चार प्रकार से युक्त है।

अर्थ - इस श्लोक में 'उत्तमसहनन' यह ध्याता का लक्षण है क्योंकि उत्तम संहनन के बिना ध्यान में स्थिरता नहीं आ सकती। एकाग्रचिंता - निरोध, यह ध्यान का लक्षण है, अर्थात् एक वस्तु में चिन्ता का अवस्थान होना छद्मस्थों का ध्यान है और केवली भगवान के योगनिरोध ही है।

'अन्तर्मुहूर्त्तात्' इस शब्द से काल की अवधि की गयी है, अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक काल तक एकाग्रचिन्ता का स्थिर रहना दुर्धर है। एक दिन, वर्ष आदि तक जो ध्यान की बात सुनी जाती है, वह युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि इतने काल तक एकाग्र होने से इन्द्रियों का उपघात हो जाता है। आदिनाथ, बाहुबली आदि के एक वर्ष तक का जो ध्यान कहा जाता है, वह ध्यान नहीं ध्यान की चिन्ता या भावना है।

एकाग्रता को प्राप्त जो मन है, उसका नाम ध्यान है। इसके विपरीत जो चंचल (अस्थिर) चित्त है उसे सामान्य से भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है। इस तरह वह तीन प्रकार का है।

यद्यपि सामान्य से भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता में भेद नहीं है, पर विशेष रूप में वे तीनों भिन्न भी हैं - भावना से ध्यानाभ्यास की क्रिया अभिप्रेत है। अनु अर्थात् पश्चाद्भाव में जो प्रेक्षण है उसका नाम अनुप्रेक्षा है, अभिप्राय उसका यह है कि स्मृतिरूप ध्यान से भ्रष्ट होने पर जीव के चित्त की जो चेष्टा होती है, उसे अनुप्रेक्षा समझना चाहिए। उक्त भावना और अनुप्रेक्षा इन दोनों से रहित जो मन की प्रवृत्ति होती है, उसे चिन्ता कहते हैं।

अन्तर्मुहूर्त काल तक जो एक वस्तु में चित्त का अवस्थान है, वह छद्मस्थों का ध्यान है तथा योगों का जो निरोध है - उनका जो विनाश है, वह जिनों (केवलियों) का ध्यान है।

एक वस्तु में जो स्थिरता पूर्वक चित्त का अवस्थान होता है, इसका नाम ध्यान है। इस प्रकार का ध्यान छद्मस्थों के होता है और वह अन्तर्मुहूर्त काल तक ही सम्भव है, इससे अधिक काल तक उसका रहना सम्भव नहीं है। **''वसन्ति अस्मिन् गुण-पर्यायाः इति वस्तु''** इस निरुक्ति के अनुसार जिसमें गुण और पर्यायें रहती हैं, वह वस्तु (जीव आदि) कहलाती है। **''छादयतीति छद्मः''** अर्थात् जो आत्मा के ज्ञानादि गुणों को आच्छादित करता है, उसे छद्म कहा जाता है, जो ज्ञानावरणादि घातिकर्म स्वरूप है। इस प्रकार के छद्म में जो स्थित है, अर्थात् जिनके ज्ञानावरणादि चार घातिकर्म उदय में हैं, वे छद्मस्थ, केवली से भिन्न अल्पज्ञानी कहलाते हैं। एक वस्तु में चित्त की एकाग्रतारूप पूर्वोक्त ध्यान इन छद्मस्थ जीवों के ही होता है, केवलियों के वह सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके चित्त का अभाव हो चुका है। केवली के जो क्रम से योगों का निरोध होता है - उनका अभाव होता है, यही उनका ध्यान है। इस प्रकार का वह ध्यान केवली के ही सम्भव है, छद्मस्थ के नहीं। औदारिक आदि शरीरों के सम्बन्ध से जो जीव का व्यापार होता है, उसका नाम योग है। वह मन, वचन और काय के भेद से तीन प्रकार का है।

अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् उनके चिन्ता अथवा ध्यानान्तर होता है। आत्म-परगत बहुत वस्तुओं में संक्रमण (संचार) के होने पर उस ध्यान की परम्परा दीर्घ काल तक चल सकती है।

यहाँ अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् छद्मस्थ जीवों के जो ध्यानान्तर का निर्देश किया गया है, इससे ध्यान से भिन्न अन्य ध्यान को नहीं ग्रहण करना चाहिए, किन्तु भावना व अनुप्रेक्षा स्वरूप चित्त को ग्रहण करना चाहिए। वह ध्यानान्तर भी तभी होता है जबकि उसके पश्चात् ध्यान होने वाला हो। यही क्रम आगे भी समझना चाहिए। इस प्रकार से ध्यान का प्रवाह आत्मा, परमात्मा, बहुत वस्तुओं में संचरित होने से दीर्घ काल तक चल सकता है। यहाँ आत्मगत से अन्तरंग मन आदि की तथा परगत से बहिरंग द्रव्यादिक की विवक्षा रहती है।

अपने विषय रूप प्रवृत्ति होने के कारण वह सत् कहा जाता है। क्योंकि अभाव भावान्तर स्वभाव होता है (तुच्छाभाव नहीं) अभाव वस्तु का धर्म है। यह बात सपक्ष सत्त्व और विपक्ष व्यावृति इत्यादि हेतु के अंग आदि के द्वारा सिद्ध होती है अथवा यह निरोध शब्द निरोधनं निरोधः इस प्रकार भावसाधन नहीं है, तो क्या है ? निरुध्यते निरोधः जो रोका जाता है, इस प्रकार कर्म-साधन है। चिन्ता का जो निरोध वह चिन्तानिरोध है। आशय यह है कि निश्चल अग्निशिखा के समान **निश्चल रूप से अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है।**

अन्य ध्येयों से शून्य होता हुआ भी स्वसंवेदन की अपेक्षा शून्य नहीं है।

एक विषय में चित्त की वृत्ति को रोकना या चिन्ता के विक्षेप का त्याग करना वा चित्तनिरोध करना, ध्यान है। इस ध्यान के लक्षण में जो एकाग्रता का ग्रहण है, वह व्यग्रता की निवृत्ति के लिए है। क्योंकि ज्ञान व्यग्र होता है और ध्यान एकाग्र होता है।

किसी एक विषय में निरन्तर रूप से ज्ञान का रहना ही ध्यान है।

ध्यान के विषय में चार अधिकार हैं - ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यान का फल।

इसमें जो उत्तम संहनन शब्द का प्रयोग किया है, वह ध्याता का प्रतीक है। धवला की १३वीं पुस्तक में लिखा है, "उत्तम संहनन वाला, निसर्गबलशाली, शूर तथा चौदह या दश या नौ पूर्व का धारण करने वाला उत्कृष्ट ध्याता होता है"। इसमें उत्तम संहनन, चौदह पूर्व का ज्ञाता आदि ध्याता के विशेषण दिये हैं - वह उत्सर्ग मार्ग है। अपवाद व्याख्यान से तो पाँच समिति और तीन गुप्ति के पालन का प्रतिपादन करने वाले सारभूत श्रुतज्ञान से भी ध्यान होता है।

यदि ध्यान करने वाला मुनि चौदह पूर्व का, या दश पूर्व का, या नौ पूर्व का जानने वाला हो तो वह ध्याता सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त कहलाता है। इसके सिवाय अल्पश्रुत ज्ञानी, अतिशय बुद्धिमान् और श्रेणी के पहले-पहले धर्मध्यान धारण करने वाला उत्कृष्ट मुनि भी उत्तम ध्याता कहलाता है।

आर्त-रौद्र ध्यानों से दूर, अशुभ लेश्याओं से रहित, लेश्याओं की विशुद्धता से अवलम्बित,

अप्रमत्त अवस्था की भावना भाने वाला, बुद्धि के पार को प्राप्त योगी, बुद्धिबलयुक्त, सूत्रार्थ अवलम्बी, धीर-वीर, समस्त परिषहों को सहने वाला, संसार से भयभीत, वैराग्य भावनाएँ भाने वाला, वैराग्य के कारण भोगोपभोग की सामग्री को अतृप्तिकर देखता हुआ सम्यग्ज्ञान की भावना से मिथ्याज्ञान रूपी गाढ़ अन्धकार को नष्ट करने वाला तथा विशुद्ध सम्यग्दर्शन द्वारा मिथ्या शल्य को दूर भगाने वाला मुनि ध्याता होता है। क्योंकि तप, व्रत और श्रुतज्ञान का धारक आत्मा ध्यान रूपी रथ की धुरी को धारण करने वाला होता है। मुमुक्षु हो, संसार से विरक्त हो, शान्तचित्त हो, मन को वश में करने वाला हो, शरीर व आसन जिसका स्थिर हो, जितेन्द्रिय हो, चित्त संवर युक्त हो (विषयों में विकल न हो), धीर हो अर्थात् उपसर्ग आने पर न डिगे, ऐसे ध्याता की ही शास्त्रों में प्रशसा की गयी है।

जिन-आज्ञा पर श्रद्धान करने वाला, साधु का गुणकीर्तन करने वाला, दान, श्रुत, शील, संयम में तत्पर, प्रसन्नचित्त, प्रेमी, शुभ योगी, शास्त्राभ्यासी, स्थिर चित्त, वैराग्य भावना को भाने वाला ये सब धर्मध्यानी के बाह्य व अन्तरंग चिह्न हैं। शरीर की नीरोगता, विषयलम्पटता व निष्ठुरता का अभाव, शुभगन्ध, मलमूत्र अल्प होना, इत्यादि भी उसके बाह्य चिह्न हैं।

यद्यपि यहाँ सामान्य ध्याता का लक्षण कहा है तथापि ये सर्व लक्षण धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के ध्याता के कहे गये हैं। क्योंकि आर्त्त-रौद्र ध्यान के ध्याता इससे विपरीत होते हैं।

उत्तम संहनन, यह विशेषण मुख्यतया शुक्ल ध्यान के ध्याता का है क्योंकि शुक्ल ध्यान उसी के होता है और गौणतया धर्म ध्यान के ध्याता का भी विशेषण है।

जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से धर्म ध्यान एवं शुक्ल ध्यान के तीन प्रकार के ध्याता होते हैं। उनमें उत्तम या वास्तविक धर्म या शुक्ल ध्यान के ध्याता मुनिराज ही होते हैं। जघन्य ध्याता चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती श्रावक होते हैं और मध्यम ध्याता पंचम गुणस्थान से लेकर अनेक प्रकार के होते हैं।

संक्षेप में ध्याता दो प्रकार के हैं - प्रारब्ध योगी और निष्पन्न योगी।

शुद्धात्म भावना को प्रारंभ करने वाले पुरुष सूक्ष्म विकल्प अवस्था में प्रारब्ध योगी कहलाते हैं और निर्विकल्प शुद्धात्मावस्था में निष्पन्न योगी कहे जाते हैं।

ध्यान का संक्षिप्त लक्षण ऊपर लिखा है, उसके भेद-प्रभेद आगे लिखेंगे। ध्यान दो प्रकार का है - प्रशस्त और अप्रशस्त। आर्त्त-ध्यान, रौद्र-ध्यान, धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान प्रशस्त-अप्रशस्त में गर्भित हो जाते हैं अर्थात् आर्त्त और रौद्र ध्यान अप्रशस्त हैं और धर्म एवं शुक्लध्यान प्रशस्त हैं।[१]

कितने ही संक्षेप रुचि वाले महर्षियों ने शुभ, अशुभ और शुद्ध के भेद से तीन प्रकार का ध्यान माना है क्योंकि जीव का आशय या परिणति शुभ, अशुभ और शुद्ध के भेद से तीन प्रकार की होती है।

---

१. अट्टं च रूद्दसहियं दोण्णिवि झाणाणि अप्प सत्थाणि।
धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थ झाणाणि णेयाणि॥ - मूलाराधना

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जीवों के पाप रूप आशय के वश से तथा मोह, मिथ्यात्व, कषाय और तत्त्वों के अयथार्थ रूप विभ्रम से उत्पन्न हुआ ध्यान अप्रशस्त कहलाता है। राग-द्वेष के वशीभूत होकर दूसरों के वध, बंधन, छेद, मारण, ताड़न आदि का चिन्तन करना अप्रशस्त ध्यान है। वा पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्त होना, उनमें आनन्द का अनुभव करना ये सब अशुभ ध्यान वा अशुभोपयोग हैं।

जीव के पुण्य रूप आशय से तथा शुभ लेश्या के कारण जो आत्मगवेषणा की ओर प्रवृत्ति होती है, वह शुभ ध्यान है। शुद्धात्मा को प्राप्त करने के लिए जो निर्विकल्प समाधि में लीन होना है - जहाँ ध्यान, ध्याता, ध्येय का विकल्प नहीं रहता है - वह शुद्ध ध्यान है। इसी को संक्षेप में शुद्धोपयोग कहते हैं।

आगम भाषा में आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल रूप चार प्रकार का ध्यान कहा है, अध्यात्म भाषा में तीन प्रकार का उपयोग कहा है - अशुभ, शुभ और शुद्ध।

आर्त्त, रौद्र ध्यान अशुभ उपयोग हैं और धर्म ध्यान शुभोपयोग है तथा शुक्ल ध्यान शुद्धोपयोग रूप है।

आत्मज्ञानी आत्मा को जिन भावों से, जिस रूप से ध्याता है, उसके साथ वह उसी प्रकार से तन्मय हो जाता है, जैसे उपाधि के साथ स्फटिक मणि अर्थात् आत्मा शुभ, अशुभ वा शुद्ध रूप ध्यान करता है, वह उस समय उसी रूप से परिणमन करता है।

"इस प्रकार वीतराग चारित्र धर्म से परिणत आत्मा स्वयं धर्म होता है। जब वह जीव शुभ तथा अशुभ परिणाम रूप से परिणमन करता है तब स्वयं शुभ एवं अशुभ रूप होता है और जब शुद्ध रूप से परिणमन करता है तब स्वयं शुद्ध रूप हो जाता है।"[१]

जिस समय ध्येय और ध्याता का एकीकरण हो जाता है, वही समरसी भाव है। यही एकीकरण समाधि रूप ध्यान है।

जो शुद्ध, शुभ एवं अशुभ परिणामों का कारण होता है, उसको ध्येय कहते हैं।

शब्द, अर्थ और ज्ञान इस तरह तीन प्रकार का ध्येय कहलाता है।

आज्ञा, अपाय, विपाक और लोक-संस्थान का आगम के अनुसार चित्त की एकाग्रता के साथ चिन्तन करना चाहिए। अध्यात्मवेत्ताओं के द्वारा नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप चार प्रकार का ध्येय समस्त तथा व्यस्त दोनों रूप से ध्यान योग्य माना गया है अथवा द्रव्य और भाव के भेद से वह दो प्रकार का ही अवस्थित है।

वाच्य का जो वाचक शब्द वह नाम रूप ध्येय है और प्रतिमा स्थापना मानी गयी है।

---

१. प्रवचनसार मूल गाथा ८-९।

पदस्थ ध्यान (नामरूप ध्येय अर्थात् अनेक प्रकार के मन्त्रों व स्वर व्यंजन आदि का ध्यान)।

द्रव्यरूप ध्येय गुणपर्यायवान् होता है। जिस प्रकार एक द्रव्य एक समय में उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होता है, उसी प्रकार सर्वद्रव्य सदाकाल उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप होते रहते हैं। द्रव्य जो कि अनादि-निधन हैं, उनमें प्रतिक्षण स्व पर्यायें जल में कल्लोलों की तरह उपजती तथा विनसती रहती हैं। जो पूर्वक्रमानुसार विवर्तित हुआ है, होगा और हो रहा है वही सब यह (द्रव्य) है और यही सब उन स्वरूप है। द्रव्य में गुण सहवर्ती और पर्यायें क्रमवर्ती हैं। द्रव्य गुण पर्यायात्मक है और गुण पर्याय द्रव्यात्मक है। इस प्रकार यह द्रव्य नाम की वस्तु जो प्रतिक्षण स्थिति, उत्पत्ति और व्ययरूप है तथा अनादिनिधन है वह सब यथावस्थित रूप में ध्येय है।

जो जीवादिक षट् द्रव्य चेतन अचेतन लक्षण से लक्षित है, अविरोध रूप से उस यथार्थ स्वरूप ही बुद्धिमान जनों द्वारा धर्मध्यान में ध्येय होते हैं।

जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थ ध्येय हैं। मैं अर्थात् जीव और मेरे अजीव अर्थात् आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा कर्मों का क्षय होने रूप मोक्ष इस प्रकार ये सात तत्त्व तथा पुण्य-पाप मिला देने से नौ पदार्थ ध्यान करने योग्य हैं।

यह लोक ध्यान के आलम्बनों से भरा हुआ है। ध्यान में मन लगाने वाला क्षपक मन से जिस-जिस वस्तु को देखता है, वह वह वस्तु ध्यान का आलम्बन होती है।

ध्यान के भेद-प्रभेदों का कथन

इतरत्रिकसंहननस्यास्थिरपरिणामसंयुतस्यापि।
स्यादार्तादिकचिन्ता हेतुद्वितये च परिणामः ॥११६॥

अन्वयार्थ - अस्थिरपरिणामसंयुतस्य - जो अस्थिर परिणामों से युक्त। **इतरत्रिकसंहननस्य** - तीन हीन संहनन वाले जीव के। **अपि** - भी। **आर्त्तादिकचिन्ता** - आर्त्त आदि ध्यान। **स्यात्** - होता है। **च** - और। **हेतुद्वितये** - हेतु दो के होने पर। **परिणामः** - आर्त्त रौद्र ध्यान के परिणाम होते हैं।

अर्थ - आर्त्तादि ध्यान की चिन्ता हीन संहनन वालों के भी होती है, परन्तु उन दोनों ध्यानों में चित्त की स्थिरता नहीं रहती है। 'किसी एक वस्तु में' चित्त का स्थिर होना ध्यान है। परन्तु आर्त्त, रौद्र और सविकल्प धर्म ध्यान में मति चंचल रहती है उसको वास्तव में अशुभ व शुभ भावना कहना चाहिए।[१]

परिणामों की स्थिरता, एकाग्रता को ध्यान कहते हैं।

चित्त का एक पदार्थ से दूसरे पदार्थों में चलायमान होना या तो भावना है, या अनुप्रेक्षा है, या चिन्ता है। इसलिए श्लोक में आर्त्त ध्यान वाले को अस्थिरचित्त कहा है अतः आर्त्त, रौद्र और सविकल्प धर्म ध्यान

१. भा.पा.टी. ॥३८॥

को उपचार से ध्यान कहा है, वास्तव में वह ध्यान नहीं, ध्यान की चिन्ता या ध्यान की भावना है। आर्त्तध्यान के लक्षण में "स्मृतिसमन्वाहारः" का प्रयोग है जिसका अर्थ है बार-बार चिंतन करना। आर्त्त ध्यान दो कारणों से होता है - अंतरंग में कृष्ण, नील और कापोत लेश्या है तथा बाह्य में इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग, शारीरिक पीड़ा और सांसारिक भोग हैं। इन दोनों कारणों से आर्त्त, रौद्र ध्यान के परिणाम होते हैं।

यद्यपि आर्त्त, रौद्र ध्यान देवगति में वा पंचमगुणस्थान वाले देशव्रती के शुभ लेश्या में भी हो सकता है - परन्तु यह गौण है - मुख्यता से अशुभ लेश्या में ही ये दोनों ध्यान होते हैं।

आर्त्त ध्यान का लक्षण और उसके भेद

अर्तिर्दुःखं तस्यां ध्यानमार्तनाम भवेत्।
स्वेष्टवियोगाद्युद्भवभेदेन चतुर्विकल्पं तत्॥११७॥

स्वेष्टवियोगादौ सति हेतौ बाह्योऽपनीतये तस्य।
बुद्धिसमन्वाहारे ह्यार्तध्यानानि चत्वारि॥११८॥

अन्वयार्थ - **अर्त्तिः** - पीड़ा। **दुःखं** - दुःख। **तस्यां** - पीड़ा वा दुःख के होने पर। **आर्त्त नाम** - आर्त्त नाम का। **ध्यानं** - ध्यान। **भवेत्** - होता है। **तत्** - वह। **स्वेष्टवियोगाद्युद्भवभेदेन** - स्वइष्ट वियोगादि के उद्भव से। **चतुर्विकल्पं** - चार प्रकार का है। **स्वेष्टवियोगादौ** - अपने इष्ट का वियोगादि। **बाह्ये** - बाह्य। **हेतौ** - हेतु। **सति** - होने पर। **तस्य** - उसके। **अपनीतये** - दूर करने के लिए। **बुद्धिसमन्वाहारे** - पुनःपुनः चिंतन होने पर। **चत्वारि** - चार प्रकार का। **हि** - निश्चय से। **आर्त्तध्यानानि** - आर्त्त ध्यान होते हैं॥ १६-१७॥

अर्थ - आर्त्त शब्द ऋत् या अर्त्ति इनमें से किसी एक से बना है। इनमें से ऋत् का अर्थ दुःख है, अर्त्ति का अर्थ अर्दन है, ऐसी निरुक्ति होकर उसका अर्थ पीड़ा पहुँचाना है। अर्त्ति में जो ध्यान होता है उसको आर्त्त ध्यान कहते हैं।

इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, पीड़ाचिंतन और निदानबंध से उत्पन्न होने के कारण यह ध्यान चार प्रकार का है।

इष्ट-प्रिय वस्तु के वियोग होने पर उसको प्राप्त करने के लिए सतत चिंतन करना अर्थात् राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री, कुटुम्ब पुत्रादि का वियोग होने पर संत्रास होना, पीड़ा होना, शोक होना, निरंतर चित्त का खेद खिन्न होना, इष्टवियोगज नामक आर्त्तध्यान है।

अनिष्ट, अप्रिय, अमनोज्ञ शारीरिक एवं मानसिक खेद के कारणभूत विष, कंटक, शत्रु, सर्पादि का संयोग होने पर उनके विनाश के लिए निरंतर चिंता करना, खेद खिन्न रहना, अनिष्ट संयोगज नामक आर्त्त ध्यान है।

वात, पित्त और कफ के विकृत होने से उत्पन्न, शरीर का नाश करने वाले श्वास, कास, जलोदर, भगंदर, कैंसर आदि रोग से पीड़ित होकर जो मानसिक खेद होता है और निरंतर उन रोगों से छुटकारा पाने का चिंतन किया जाता है, वह **पीड़ा चिंतन** नामक आर्त्त ध्यान है।

भोगों की कांक्षा से जिसमें वा जिसके कारण चित्त नियम से दिया जाता है, उसको निदान कहते हैं।[१] अर्थात् विषयभोग की कांक्षा (वाँछा) ही निदान है। भविष्य काल में होने वाले भोगों का निरंतर चिन्तन करना, निदान नामक ध्यान है।

भगवती आराधना में निदान तीन प्रकार का कहा है - प्रशस्त, अप्रशस्त और भोगकृत।

संयमसाधक सामग्री मुझे प्राप्त हो, मेरे दु:खों का नाश हो, मेरा समाधिमरण हो, मुझे रत्नत्रय बोधि की प्राप्ति हो, इत्यादि विचार प्रशस्त निदान है, परन्तु निदान नामक ध्यान नहीं है क्योंकि ये रत्नत्रय के कारण हैं अत: सविकल्प अवस्था में यह चिंतन हेय नहीं है। अन्य सांसारिक भोगों की कांक्षा भोग कृत निदान तथा किसी को मारने, ताड़ने के लिए शारीरिक शक्ति की वाँछा अप्रशस्त निदान है और संयमसाधन के लिए उत्तम कुल आदि की प्राप्ति का चिंतन प्रशस्त निदान आदि हेय हैं, संसार के कारण हैं।[२]

जैसे कोई कुष्ठ रोगी कुष्ठ रोग की नाशक रसायन प्राप्त कर उसको अग्नि में क्षेपण करके जला देता है और दु:खी होता है उसी प्रकार भोगों की वाँछा करने वाला मानव भोग-रोग की नाशक संयम रूपी औषधि को भोगकृत निदान से नष्ट कर देता है। अत: रत्नत्रय की,समाधिमरण की प्राप्ति, बोधि का लाभ आदि की भावना को छोड़कर अन्य का चिंतन नहीं करना चाहिए।

प्रथम आर्त्त (इष्टवियोगज) ध्यान इष्ट पदार्थों के वियोग से होता है। दूसरा (अनिष्टसंयोगज) ध्यान अनिष्ट पदार्थों के संयोग से होता है। तीसरा (पीड़ाचिंतन) आर्त्त ध्यान रोग के प्रकोप की पीड़ा से होता है और चतुर्थ (निदानबंध) ध्यान आगामी काल में भोगों की वाँछा से होता है।

इष्ट के संयोग के लिए, अनिष्ट के वियोग के लिए, रोगों को दूर करने के लिए और भोगों की प्राप्ति के लिए ये चार ध्यान होते हैं।

आर्त्त ध्यान के उत्तर भेद या ध्याता की अपेक्षा इसके भेद असंख्यात लोक प्रमाण हैं क्योंकि इस ध्यान का ध्याता सम्यग्दृष्टि भी है और मिथ्यादृष्टि भी है। शुभ लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि (देव-देवी) और अशुभ लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि भी हैं। शुभ लेश्या वाला सम्यग्दृष्टि और नरक की अपेक्षा अशुभ लेश्या वाला सम्यग्दृष्टि होता है। देशसंयमी व्रती के भी होता है।

---

१. भोगाकांक्षया नियतं दीयते चित्तं तस्मिंस्तेनेति वा निदानं। सर्वार्थसिद्धि।

२. पुरिसत्तादि णिदाणं पि मोक्खकामा मुणि ण इच्छंति।
जं पुरिसताइमओ भावो भवमओ य संसारो।
दुक्खखय कम्मखय समाधिमरणं च बोहिलाहो य।
एयं पत्थेयव्वं ण पच्छणीयं तओ अण्णं। भगवती आरा. मू.। १२३-१२६।

निदान नामक ध्यान को छोड़कर शेष तीन ध्यान संयमी, भावलिंगी प्रमत्तगुणस्थानवर्त्ती मुनिराज के भी होते हैं। इन सब ध्याताओं के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं, अतः इसके असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं।

संक्षेप से, आर्त्त ध्यान बाह्य और अध्यात्म के भेद से दो प्रकार का है। अन्य लोग जिसका अनुमान कर सकें, बाह्य चिह्नों से जिसको जान सकें वह बाह्य आर्त्त ध्यान है। जैसे आर्त्तध्यानी के सर्व प्रथम शंका, सर्व बातों में सन्देह (संशय) होता है, फिर शोक, भय, प्रमाद, कार्यों में असावधानी होती है, वह कलह करता है, निरंतर कलह करने के उसके परिणाम रहते हैं, चित्तभ्रम हो जाता है, उद्भ्रान्ति होती है, चित्त एक जगह स्थिर नहीं रहता है। विषयसेवन में उत्कण्ठा होती है। निरंतर निद्रा का आगमन होता है। व्यर्थ में गमनागमन करना, खेदखिन्न होना, मूर्च्छा आदि आर्त्त ध्यान के बाह्य चिह्न हैं। इनसे आर्त्त ध्यानी के अंतरंग की क्रिया का भान अन्य लोगों को होता है।

आध्यात्मिक आर्त्त ध्यान स्वसंवेद्य है। वह चार प्रकार का है। शारीरिक और मानसिक दुःखों के कारणभूत अनिष्ट पदार्थों का संयोग होने पर उनके विनाश की मानसिक चिन्ता करना, इष्ट पदार्थ का वियोग होने पर उनके संयोग का मानसिक संकल्प, शारीरिक रोग से पीड़ित होने पर उसके विनाश का चिन्तन तथा निरंतर भावी काल में होने वाली भोगों की वाँछा में झुलसना ये आध्यात्मिक आर्त्त ध्यान हैं।

बाह्य में इष्ट और अनिष्ट चेतन पौत्र-पुत्रादि और अचेतन धन-वस्त्र आदि दो प्रकार के होते हैं। उनके निमित्त से आर्त्त ध्यान भी दो प्रकार का होता है।

रौद्रध्यान और उसके भेदों का कथन

रुद्रः क्रूरस्तस्मिन्समुद्भवं रौद्रनामकं ध्यानम्।
भवति चतुर्विधमेतत् हिंसानन्दादिभेदेन॥११९॥

हिंसादीनां बाह्ये हेतौ सति तत्प्रसिद्धये स्थिरके।
बुद्धिसमन्वाहारे रौद्रध्यानानि चत्वारि॥१२०॥

अन्वयार्थ - रुद्रः - रौद्र। **क्रूरः** - क्रूरता। **तस्मिन्** - उन क्रूर परिणामों में। **समुद्भवं** - उत्पन्न। **रौद्रनामकं** - रौद्रनामक। **ध्यानं** - ध्यान है। **एतत्** - वह रौद्र ध्यान। **हिंसानन्दादिभेदेन** - हिंसानन्दादि के भेद से। **चतुर्विधं** - चार प्रकार का। **भवति** - होता है। **हिंसादीनां** - हिंसा आदि के। **बाह्ये** - बाह्य। **हेतौ** - हेतु के। **सति** - होने पर। **तत्प्रसिद्धये** - उस हिंसादि की प्रसिद्धि के लिए। **स्थिरके** - स्थिर। **बुद्धिसमन्वाहारे** - चित्त से बार-बार चिन्तन करना। **चत्वारि** - चार। **रौद्रध्यानानि** - रौद्रध्यान होते हैं।

अर्थ - यह रौद्र ध्यान क्रूर परिणामों से होता है। रुद्र का अर्थ क्रूर आशय है। उस रुद्र आशय का जो भाव है, वह रौद्र कहलाता है। जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है, रौद्र क्रूर कार्य करता है तथा प्राणियों पर निर्दयता का भाव रखता है, चोर-जार, शत्रु जनों के वध-बन्धन सम्बन्धी चिंतन करता है उसकी ये सब क्रियाएँ वा भाव रौद्र ध्यान हैं।

हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द और संरक्षणानंद के भेद से रौद्र ध्यान चार प्रकार का है।

जीवों के समूह को अपने से तथा अन्य के द्वारा मारे जाने पर, पीड़ित किये जाने पर, उनका ध्वंस करने पर, घात करने के सम्बन्ध मिलने पर हर्ष मानना, युद्ध में हार-जीत सम्बन्धी भावना करना, शत्रुओं से बदला लेने की भावना रखना, पर-लोक में बदला लेने की भावना करना तथा जीवों को दुःखी वा आपत्तियों से घिरा हुआ देखकर हर्षित होना **हिंसानन्द** नामक रौद्र ध्यान है।

हिंसा के उपकरण शस्त्रादि का संग्रह करना, हिंसा की कथा करना, हिंसा के साधनभूत आरंभ में प्रीति होना, क्रूर हिंसक जीवों का अनुग्रह करना और निर्दयता का भाव रखना हिंसानन्दरौद्रध्यानी के बाह्य चिह्न हैं।

जो मनुष्य असत्य कल्पना के कारण पाप रूपी मैल से मलिनचित्त होकर जो कुछ चेष्टा या चिंतन करता है, अपने असत्य वचनों के द्वारा दूसरों को ठगने के भाव करता है, स्वकीय वाक्चातुर्य से दूसरों को आपत्ति में डालने का प्रयत्न करता है तथा जिस किसी प्रकार के वचनों का प्रयोग करके दूसरों के घर-धन आदि को ग्रहण कर आनन्द मानता है, वह सब **मृषानंद रौद्र** ध्यान है।

कठोर, मर्मभेदी, आक्रोश, तिरस्कार आदि से युक्त वचन बोलना, किसी को ताड़ना, तर्जना करना, किसी का तिरस्कार करना, ये मृषानन्दी रौद्र ध्यानी के बाह्य चिह्न हैं।

तीव्र कषाय के उदय से, स्वकीय बुद्धि से कल्पित युक्तियों के द्वारा दूसरों को ठगने के लिए असत्य भाषण के संकल्प का बार-बार चिन्तन करना तथा असत्य भाषण से यशलाभ वा विजय प्राप्त होने पर हर्षित होना **मृषानन्द रौद्र** ध्यान है।

जबरन अथवा प्रमाद की प्रतीक्षापूर्वक दूसरों के धन को हरण करने के संकल्प का बार-बार चिन्तन करना, दूसरों के धन की चोरी हो जाने पर हर्षित होना तथा चोरी करके मन में आनन्द मनाना **चौर्यानन्द** रौद्रध्यान है।

दूसरों की धन-सम्पदा को देखकर निरंतर दुःखी होता रहता है, जिस किसी प्रकार से दूसरों के धन को चुराने का प्रयत्न करता है और दूसरों को ठगने के लिए कृत्रिम वस्तुओं का उत्पादन करता है, चोरी वा ठगाई के कार्य के सफल हो जाने पर आनन्दित होता है, ये चौर्यानन्द रौद्र ध्यान के बाह्य चिह्न हैं।

पंचेन्द्रिय विषयभोग सम्बन्धी वस्तुओं का संग्रह करके उनकी रक्षा करने का निरंतर चिंतन करना, क्रूरचित्त होकर बहुत आरंभ और परिग्रह के रक्षणार्थ उद्यम करना विषय **संरक्षणानन्द** रौद्र ध्यान है।

निरंतर चेतन, अचेतन पदार्थों की रक्षा करने में आकुलित रहना, विषयभोगों की वस्तुओं की हानि होने पर मुख विकृत हो जाना, शरीर काँपने लग जाना, उन वस्तुओं के प्राप्त हो जाने पर आनन्दित होना ये विषयसंरक्षण रौद्र ध्यान के बाह्य चिह्न हैं।

आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान की जननी कृष्ण, नील और कापोत लेश्या है। यद्यपि ये दोनों ध्यान किसी पर्याय अपेक्षा शुभ लेश्या में भी होते हैं - जैसे स्वर्गादि के देवों में अशुभ लेश्या नहीं है फिर भी मिथ्यादृष्टि के आर्त्त, रौद्र ध्यान होते हैं।

यह रौद्र ध्यान पंचमगुणस्थान तक होता है, परन्तु इसमें तरतमता रहती है। जैसा मिथ्यादृष्टि का रौद्र ध्यान नरक गति का कारण है, वैसा नहीं है।

प्रश्न - अविरत सम्यग्दृष्टि के तो रौद्र ध्यान हो सकता है, परन्तु पंचम गुणस्थानवर्ती के कैसे हो सकता है, वह तो पाँच पापों का एकदेशत्यागी होता है ?

उत्तर - यद्यपि पंचमगुणस्थानवर्त्ती पाँच अणुव्रत का धारी है, संकल्पी हिंसा का त्यागी है, परन्तु आरंभी, विरोधी और व्यापार सम्बन्धी हिंसा का त्यागी नहीं है, अत: आरंभ में रसोई आदि बनाकर, घर को स्वच्छादि करके आनंद मानना, वस्त्रों को स्वच्छ कर आनन्द मानना इत्यादि हिंसाजन्य कार्यों में आनन्द मानना हिंसानन्द रौद्र ध्यान है। इसी प्रकार किसी विरोधी शत्रु को दु:खी देखकर आनन्द मानना, उसको दु:खों में डालने का प्रयत्न करना, व्यापार में होने वाली हिंसा को देखकर भी पश्चाताप का अनुभव न कर आनन्द का अनुभव करना हिंसानन्द रौद्र ध्यान है।

अहिंसाणुव्रत में जो वध-बन्ध-च्छेद-अतिभारारोपण-अन्नपान-निरोधादि अतिचार लगते हैं, वे हिंसानन्द रौद्र ध्यान के कारण ही लगते हैं।

कषाय के आवेश में अथवा क्रोध, लोभ, भय और हास्य के कारण कभी असत्य बोलकर आनन्द का अनुभव करता है। मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद ये सत्याणुव्रत के अतिचार भी रौद्र ध्यान के कारण लगते हैं। इन सब कार्यों में हर्षित होना मृषानन्द रौद्र ध्यान है।

देशव्रती होकर भी क्वचित् कदाचित् किसी को चोरी का प्रयोग बता देना, लोभ में आकर चोरी की वस्तुओं को खरीद लेना, राजकीय टैक्स की चोरी करना, करने वाले को अनुमति देना, उसको टैक्स बचाने का उपाय बताना, तराजू-तौलने के बाट आदि हीनाधिक रखना और अकृत्रिम में कृत्रिम वस्तु मिलाना आदि क्रिया करके, करा के तथा अनुमति देकर हर्षित होना चौर्यानन्द रौद्र ध्यान है।

पंचेन्द्रियों की विषयभोगसामग्री को प्राप्त कर हर्षित होना, पंचेन्द्रियों की मनोज्ञ वस्तुओं के लिए निरंतर लालायित रहना, आवश्यकता से अधिक सामग्री का अर्जन करना, इत्यादि भाव विषयसंरक्षणानंदरौद्रध्यान के लक्षण हैं तथा इस प्रकार के भाव देशविरति के हो सकते हैं। इसलिए देशविरति के भी रौद्रध्यान हो सकता है परन्तु व्रती एवं सम्यग्दृष्टि का रौद्र ध्यान दुर्गति का कारण नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन एवं व्रत के माहात्म्य से ऐसा ध्यान मिथ्यादृष्टि के समान चिरकाल तक नहीं रहता है, कुछ क्षण के बाद ही इन निन्दनीय भावों के लिए वह पश्चाताप करता है, निन्दा-गर्हा एवं आलोचना करता है, प्रतिक्रमण करता है।

आर्त्त ध्यान भी पाँचवें गुणस्थान तक होता है, परन्तु निदान नामक आर्त्त ध्यान को छोड़कर तीन प्रकार के आर्त्त ध्यान छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज के भी होते हैं क्योंकि इष्ट शिष्यादि का वियोग, अनिष्ट शिष्यादि का संयोग और शारीरिक पीड़ा सम्बन्धी चिंता छठे गुणस्थान में हो सकती है।

रौद्रध्यान अत्यन्त अशुभ है। कृष्ण, नील और कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं के बल से उत्पन्न होता है, अन्तर्मुहूर्त्त काल तक रहता है और आर्त्तध्यान के समान यह भी क्षायोपशमिक भाव है। **ज्ञानार्णव** ग्रन्थ में इसमें भाव लेश्या और कषाय की मुख्यता होने से इसको औदयिक भाव भी कहा है। यह रौद्र ध्यान आरंभ-परिग्रह के त्यागी भावलिंगी मुनिराज के कभी नहीं हो सकता।

प्रश्न - यहाँ पर तपाराधना का प्रकरण है और तप से निर्जरा एवं संवर होते हैं, इन दोनों ध्यानों से संवर-निर्जरा नहीं होते, अपितु आस्रव और बंध ही होते हैं, इसलिए इनका कथन यहाँ पर नहीं होना चाहिए ?

उत्तर - यह शंका उचित है। **चारित्रसार** में ध्यान के प्रकरण में इन दोनों ध्यानों का कथन नहीं किया गया है, परन्तु ध्यान सामान्य का कथन होने से यहाँ पर आर्त्त-रौद्र ध्यान का कथन किया है। इन ध्यानों में भी चित्त की एकाग्रता होती है, वह चित्त की एकाग्रता दुर्गति का कारण है, इस बात को समझाने के लिए इन ध्यानों का वर्णन करना आवश्यक है, अत: इन निषेधात्मक ध्यानों का यहाँ लक्षण लिखा है।

धर्म ध्यान का चिह्न और लक्षण

धर्मसहचारिपुरुषो धर्मस्तत्कर्मधर्म्यनाम स्यात्।
ध्यानं चतुर्विधं तद्ध्याज्ञाविचयादिभेदेन ॥१२१॥

अन्वयार्थ - **धर्मसहचारिपुरुष:** - धर्म का सहचारी पुरुष। **धर्म:** - धर्म कहलाता है। **तत्कर्मधर्म्यनाम** - धर्म से परिणत पुरुष की जो कर्म - क्रिया है वह धर्म्यनाम से। **स्यात्** - कही जाती है। **हि** - निश्चय से । **तत्** - वह। **ध्यानं** - ध्यान। **आज्ञाविचयादिभेदेन** - आज्ञाविचयादि के भेद से। **चतुर्विधं** - चार प्रकार का है।

अर्थ - धर्म से युक्त पुरुष भी धर्म कहलाता है अर्थात् धर्म आत्मा का गुण है, गुण-गुणी में कथंचित् भेद होते हुए भी प्रदेश की अपेक्षा भेद नहीं है इसलिए धर्मपरिणत आत्मा को भी धर्म कहा है।

निज शुद्ध स्वभाव का नाम ही धर्म है। वह निज शुद्धात्मा का स्वभाव ही संसार में पड़े हुए जीवों की चतुर्गति के दु:खों से रक्षा करता है।[१] "वत्थु सहावो धम्मो" वस्तुस्वभाव धर्म है, वस्तु पुरुष (आत्मा) है और आत्मा का स्वभाव धर्म है। शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना इसका अर्थ है इसलिए धर्म से परिणत आत्मा ही धर्म है।

---

१. परमात्मप्रकाश।

रागादि सारे दोषों से रहित होकर आत्मा का आत्मा में रत होना, लीन होना, धर्म कहलाता है।

समता, मध्यस्थता, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म और स्वभाव की आराधना ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। इस प्रकार पुरुष का स्वभाव धर्म होने से स्वभावी आत्मा को धर्म कहा जाता है।

आत्मा की परिणति या क्रिया को धर्म कहते हैं। वह धार्मिक क्रिया, वह परिणति यद्यपि निश्चय रूप से आत्मरमण ही है वा शुद्धोपयोग रूप ही है, परन्तु व्यवहार नय से अनेक प्रकार की है। इसलिए धर्म का लक्षण भी अनेक प्रकार का हो जाता है, जैसे गृहस्थ की अपेक्षा आहारदान, पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि, गृहत्यागी साधुओं की अपेक्षा षड़ावश्यक आदि, शुभोपयोग रूप व्यवहार धर्म है क्योंकि सम्यग्दर्शन पूर्वक की गई इन धार्मिक क्रियाओं से, परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा ये साक्षात् कर्मनिर्जरा की कारण हैं।[१]

धर्मक्रिया से परिणत आत्मा गृहस्थ और मुनिराज के भेद से दो प्रकार का है। अतः गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म के भेद से धर्म दो प्रकार का है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के भेद से धर्म तीन प्रकार का भी कहा है। पापकार्य की निवृत्ति और पुण्यकार्यों में प्रवृत्ति का मूल कारण सम्यग्ज्ञान है इसलिए जिनागम का अभ्यास धर्म है।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य रूप दश धर्म के भेद से धर्म दश प्रकार का है।

इन धर्मों से युक्त परिणति को धर्म्य और उस धर्म्य में एकाग्रता को धर्म्य ध्यान कहते हैं। वह धर्म्यध्यान आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय के भेद से चार प्रकार का है।

आज्ञाविचय ध्यान का लक्षण

आज्ञेत्यागमसंज्ञा तद्प्रदिताशेषवस्तुसंदोह-।
गुणपर्यायविचिन्तनमाज्ञाविचयाह्वयं ध्यानम् ॥१२२॥

अन्वयार्थ - आज्ञा - आज्ञा। **इति** - इस प्रकार। **आगमसंज्ञा** - आगम का नाम है। **तद्प्रदिताशेषवस्तुसंदोहगुणपर्याय-विचिन्तनं** - उस आगम में कथित सम्पूर्ण वस्तु का समूह, उनके गुणपर्याय का चिन्तन। **आज्ञाविचयाह्वयं** - आज्ञाविचय नामक। **ध्यानं** - धर्मध्यान है।

अर्थ - आज्ञा का अर्थ आगम है। उस आगम में कथित सम्पूर्ण वस्तु (छहों द्रव्यों) का समूह, उनके गुण और पर्यायों का चिंतन करना, उनका श्रद्धान करना आज्ञाविचय धर्म ध्यान है।

उपदेष्टा आचार्यों का अभाव होने से, स्वयं बुद्धिहीन होने से, ज्ञानावरण कर्म का तीव्र उदय होने से, पदार्थों के सूक्ष्म होने से तथा तत्त्व के समर्थन में हेतु तथा दृष्टान्त का अभाव होने से सर्वज्ञप्रणीत आगम

---

१. समयसार की तात्पर्यवृत्ति, प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति।

को प्रमाण मानकर यह इसी प्रकार है क्योंकि जिनदेव अन्यथावादी नहीं होते हैं, इस प्रकार गहन पदार्थ के श्रद्धान द्वारा अर्थ का अवधारण करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

अथवा, स्वयं पदार्थों के रहस्य को जानता है और दूसरों के प्रति उसका प्रतिपादन करना चाहता है, इसलिए स्वसिद्धान्त के अविरोध द्वारा तत्त्व का, समर्थन करने के लिए उसके जो तर्क, नय और प्रमाण की योजना रूप निरंतर चिंतन होता है, वह सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रकाशित करने वाला होने से आज्ञाविचय कहा जाता है।

छह द्रव्य हैं, पंचास्तिकाय हैं, इनके गुणों के परिवर्तन से होने वाली पर्यायों का चिंतन करना भी आज्ञाविचय है। क्योंकि इन्द्रियगोचर पदार्थों का, उनके गुणों और पर्यायों का विश्वास आगम के आधार पर ही होता है और उनके चिंतन का आधार भी आगम है इसलिए आज्ञाविचय धर्म ध्यान कहलाता है।

अपायविचय धर्म ध्यान का लक्षण

ज्ञानावरणादीनामपायसंचिन्तनं स्थिरत्वेन।
विद्यादपायविचयं ध्यानं नानाप्रभेदं तत्॥१२३॥

बन्धादिभिर्विकल्पैश्चतुर्विधो दुरितसंकुलापायः।
प्रकृतिस्थित्याद्यैरपि तत्रैकैकं चतुर्भेदम्॥१२४॥

षोडशकपञ्चविंशतिदशकचतुष्षट्कस्यैकषट्त्रिंशत्।
पञ्चकषोडशकैकं बन्धापाया गुणेषूह्याः॥१२५॥

सैकद्विषोडशत्रिंशद् द्वादश चात्रोदयापायाः।
दशचतुरेकं सप्तदशाष्टपञ्चकचतुष्कषट्षट्कम्॥१२६॥

दशचतुरेकं सप्तदशाष्टकाष्टकचतुष्कषट्षट्कम्।
सैकद्विषोडशैकोना चत्वारिंशद् विपाकाः॥१२७॥

सप्ताष्टषोडशैकैकं षट्कैकैकमेकमेकैकम्।
षोडशपञ्चाशीतिः सत्त्वापायास्तु दुरितानाम्॥१२८॥

अन्वयार्थ - स्थिरत्वेन - स्थिरचित्त होकर। **ज्ञानावरणादीनां** - ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के। **अपायसंचिंतनं** - नाश का चिंतन करना। **तत्** - वह। **नानाप्रभेदं** - नाना भेद वाला। **अपायविचयं** - अपायविचय नामक। **ध्यानं** - धर्म ध्यान। **विद्यात्** - जानना चाहिए।

बन्धादिभिः - बन्ध आदि। **विकल्पैः** - विकल्प के द्वारा। **दुरितसंकुलापायः** - पाप के समूह का अपाय। **चतुर्विधः** - चार प्रकार का है। **तत्र** - वहाँ पर (इनमें)। **अपि** - भी। **एकैकं** - एक एक। **प्रकृतिस्थित्याद्यैः** - प्रकृति, स्थिति आदि के द्वारा। **चतुर्भेदं** - चार भेद हैं।

गुणेषु - गुणस्थानों में। **षोडशकपंचविंशतिदशकचतुष्षट्कस्य** - सोलह, पच्चीस, दश, चार और छह की। **एकषट्त्रिंशत्** - एक और छत्तीस की। **पंचकषोडशकैकं** - पाँच, सोलह और एक की। **बन्धापाया** - बंध व्युच्छित्ति। **उह्याः** - जाननी चाहिए।

अत्र - गुणस्थानों में क्रमशः। **दशचतुरेकं** - दश, चार और एक। **सप्तदशाष्टपँचकचतुष्कषट्-षट्कं** - सत्तरह, आठ, पाँच, चार, छह-छह। **एकद्विषोडशत्रिंशत्** - एक, दो, सोलह और तीस। **च** - और। **द्वादश** - बारह। **सा** - वह। **उदयापायाः** - उदय व्युच्छित्ति जाननी चाहिए।

उन १४ गुणस्थानों में क्रमशः। **सा** - वह। **विपाकाः** - उदीरणा। **दशचतुरेकं** - दश, चार, एक। **सप्तदशाष्टकाष्टकचतुष्कषट्षट्कं** - सत्तरह, आठ, आठ, चार, छह, दह। **एकद्विषोडशैकोना चत्वारिंशत्** - एक, दो, सोलह, एक कम चालीस अर्थात् ३९ प्रकृति की जाननी चाहिए।

तु - और इन्हीं गुणस्थानों में क्रमशः । **सप्ताष्टषोडशैकैकं** - सात, आठ, सोलह, एक, एक। **षट्का** - छह। **एकैकं** - एक, एक। **एकं** - एक। **षोडशपंचाशीतिः** - सोलह और पिच्यासी। **दुरितानां** - पापों का, कर्मप्रकृतियों का। **सत्त्वापायाः** - सत्ताव्युच्छित्ति होती है। इन बंध व्युच्छित्ति, उदय व्युच्छित्ति, उदीरणा व्युच्छित्ति और सत्ता व्युच्छित्ति का चिंतन अपायविचय धर्मध्यान है।

अर्थ - स्थिरचित्त होकर ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के नाश करने का चिंतन करना नाना भेद वाला अपायविचय नामक धर्मध्यान है।

कर्म बंध, उदय, उदीरणा और सत्त्व के भेद से चार प्रकार का है तथा प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध के भेद से चार प्रकार का है।

कषाय सहित होने पर जीव जिन कर्म-योग्य पुद्गल-वर्गणाओं को ग्रहण करता है, उसे बन्ध कहते हैं। आत्मा के साथ कर्मों का यह बन्ध दूध-पानी के मिश्रण के समान एकमेक, अभिन्न वा एकक्षेत्रावगाही होता है।

प्रश्न - आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध कैसे होता है, जबकि आत्मा अमूर्त्त, अरूपी है और कर्म पुद्गल रूपी द्रव्य है ? अरूपी के साथ रूपी का बन्ध किस प्रकार सम्भव है ?

उत्तर - यद्यपि आत्मा अपने स्वरूप से अरूपी है तथापि अनादि काल से कर्मबद्ध होने के कारण मूर्त्त व रूपी भी है। आत्मा के अमूर्तत्व के विषय में अनेकान्त है। जैन सिद्धान्त ऐसा नहीं कहता कि आत्मा सभी अवस्थाओं में अमूर्तिक ही है। कर्मबन्ध रूप पर्याय की अपेक्षा, उससे युक्त होने के कारण कथंचित् मूर्त है और शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा कथंचित् अमूर्त है। क्योंकि संसारी जीव मूर्त आठ कर्मों के द्वारा अनादिकालीन बन्धन से बद्ध है इसलिए वह अमूर्त नहीं हो सकता अथवा शरीर का दाह होने पर जीव में दाह की वेदना, शरीर के भेदे जाने और छेदे जाने पर तीव्र दुःखवेदना, इन्द्रियों के विषयों में आकर्षण-विकर्षण और शरीर के गमनागमन में जीव का गमनागमन देखा जाता है। प्रत्याकार (म्यान) और खण्डक

(तलवार) के समान दोनों में भेद नहीं पाया जाता है तथा एकरूप हुए दूध और पानी के समान दोनों अभिन्न रूप में पाये जाते हैं। इस कारण शरीर से शरीरधारी अभिन्न है, वैसे ही कथंचित् मूर्त भी है।

मोहग्रस्त संसारी प्राणी जब तक अपने शुद्ध ज्ञान-दर्शन-सुख-स्वरूप अमूर्त स्वभाव को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक बारम्बार कर्मों को भोगता हुआ नया-नया कर्म-बन्ध और नये-नये जन्म धारण करता रहता है। किन्तु वही आत्मा जब किसी भी सन्निमित्त को प्राप्त कर अपने शुद्ध परमात्म-स्वरूप का साक्षात् अनुभव कर लेता है, तो पुनः कर्मबन्ध के चक्र में नहीं पड़ता।

जिस प्रकार खनिज-सुवर्ण का मिट्टी के साथ कब संयोग हुआ, यह नहीं कहा जा सकता; इसी प्रकार आत्मा के साथ पहले-पहले कब कर्मों का बन्ध हुआ, यह भी नहीं कहा जा सकता। इस कारण आत्मा के साथ कर्मबन्ध को अनादि कहा गया है।

जैसे चिकने पदार्थ पर रजकण आदि आकर चिपक जाते हैं, उसी प्रकार रागद्वेष रूपी चिकनाहट के कारण कर्म, आत्मा से बद्ध हो जाते हैं। जब आत्मा में रागादि विभावों का आविर्भाव होता है तब आत्म-प्रदेशों के विस्तार में सर्वत्र विद्यमान सूक्ष्म पुद्गल-परमाणु आत्म-प्रदेशों से बद्ध हो जाते हैं। यही बन्ध का स्वरूप है। बन्ध के समय, उन कर्मों में चार बातें नियत होती हैं, जिनके कारण बन्ध के भी चार प्रकार कहे जाते हैं - (१) प्रकृति-बन्ध (२) स्थिति-बन्ध (३) अनुभाग-बन्ध और (४) प्रदेश-बन्ध।

जैसे गाय घास खाती है और अपने देहाभ्यन्तर स्नायु-तन्त्र के द्वारा उसे दूध के रूप में परिणत कर देती है। उस दूध में चार गुण होते हैं।

(१) दूध में मधुर-रस या माधुर्य-स्वभाव।

(२) काल-मर्यादा (दूध के विकृत न होने की एक अवधि)

(३) दूध के माधुर्य गुण में तरतम-भाव, जैसे भैंस के दूध की अपेक्षा गाय के दूध में माधुर्य का कम होना आदि तथा।

(४) दूध का परिमाण, लीटर, दो लीटर आदि।

इसी प्रकार आत्म-प्रदेशों के साथ एकमेक रूप से बद्ध होने वाले परमाणुओं में एक विशेष प्रकार का स्वभाव उत्पन्न हो जाना **प्रकृतिबन्ध** है। स्वभाव निर्माण के साथ ही आत्मा के साथ उसके बद्ध रहने की अवधि भी निश्चित हो जाती है, उसे **स्थिति-बन्ध** कहते हैं। फल (रस) देने की तीव्रता अथवा मन्दता **अनुभाग-बन्ध** होती है और बँधने वाले कर्म परमाणुओं (वर्गणाओं) का विविध कर्म प्रकृतियों में विभाजन **प्रदेश-बन्ध** कहलाता है।

इसी प्रकार उदय भी प्रकृति उदय, स्थिति उदय, अनुभाग उदय और प्रदेश उदय के भेद से चार प्रकार का है।

ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियों का स्थिति पूर्ण करके उदय में आना **प्रकृतिउदय** है।

जब प्रकृति उदय में आती है तो समय-समय में स्थिति भी उदय में आकर नष्ट होती है वह **स्थिति उदय** है।

समय पाकर कर्म जो तीव्र-मन्द होता है, कर्मों का जीव को रस वा फल मिलता है वह रसोदय या **अनुभागोदय** है।

प्रतिक्षण, आत्मा के बँधे हुए कर्म परमाणु उदय में आकर झड़ते हैं, जीर्ण होकर नष्ट होते हैं वह **प्रदेशोदय** है।

अब **उदीरणा** का वर्णन करते हैं। स्थिति पूरी करके कर्म उदय में आते हैं, वह उदय कहलाता है और किसी कारणवश स्थिति का ह्रास कर कर्म उदय में आते हैं, वह उदीरणा कहलाती है। उदीरणा भी उदय के समान प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार की है। उनका लक्षण उदय समान है।

कर्मों के अस्तित्व को सत्त्व या सत्ता कहते हैं, वह सत्ता भी चार प्रकार की है। प्रकृतिसत्त्व, स्थितिसत्त्व, अनुभागसत्त्व और प्रदेशसत्त्व।

प्रकृति का अस्तित्व आत्मा के साथ रहता है वह प्रकृति सत्त्व है, स्थिति का रहना स्थिति सत्त्व है, कर्मों की फलदानशक्ति का रहना अनुभाग सत्त्व और कर्मप्रदेशों का रहना प्रदेश सत्त्व है। इन सब का अपाय नाश कैसे हो, इसका चिन्तन अपायविचय है।

इन प्रकृतियों का नाश गुणस्थान का आश्रय लेकर होता है। उन गुणस्थानों के अनुसार कर्मप्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति, उदय व्युच्छित्ति, उदीरणा व्युच्छित्ति और सत्ता व्युच्छित्ति होती है।

आत्मविकास के क्रम (गुणस्थान) के अध्ययन के सन्दर्भ में यह जानना भी सर्वथा प्रासंगिक है कि आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में अनादि काल से बाधक और जन्म-जन्मान्तर में संसरण, भ्रमण के कारण रूप जो कर्मबन्ध हैं, उनके हेतु क्या हैं ? बन्ध के ये हेतु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग कहे गये हैं। इसका स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है -

मिथ्यात्व - जीवाजीवादि सप्त तत्त्वों में अरुचि होने या श्रद्धान न होने को मिथ्यात्व कहते हैं।

अविरति - अंतरंग में परमात्म स्वरूप भावना से उत्पन्न परमसुखामृत रूप जो प्रीति, उसके आस्वाद से विलग रहते हुए इन्द्रिय-विषयों के ग्रहण, भोग-उपभोग में संयम धारण न करना ही अविरति है। हिंसा, मृषा, स्तेय, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह इनसे गृहस्थों के लिए अणुव्रतों के रूप में अंशत: व मुनियों के लिए महाव्रतों के रूप में पूर्णत: विरत न होना अविरति कहलाती है।

प्रमाद - "स च प्रमाद: कुशलेष्वनादर:" अच्छे धार्मिक, स्वपरोपकारी कार्यों को करने में आदर

भाव का न होना प्रमाद है। चार विकथाएँ, चार कषाय, पंचेन्द्रियविषयों में आसक्ति, निद्रा एवं प्रणय प्रमाद के भेद पन्द्रह प्रकार के बताये गये हैं। इनके भेद-प्रभेद करने पर प्रमाद के कुल अस्सी या साढ़े तैंतीस हजार भेद होते हैं।

कषाय - जो क्रोधादिक कषायें जीव के सुख-दुःख रूप अनेक प्रकार के धान्य उत्पन्न करने वाली कर्म रूपी खेत का कर्षण करती हैं और जो जीव को तिर्यंच, नरक, देव, मनुष्य इन चार गतियों में बाँधकर रखती हैं, उनकी मर्यादा के बाहर मोक्ष रूप पंचम गति को प्राप्त करने नहीं देतीं, उन्हें **कषाय** कहते हैं। कषाय के कुल २५ भेद हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों में से प्रत्येक की अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये चार अवस्थाएँ होती हैं। (४×४ = १६) और नौ नोकषाय - हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

योग - 'युज्यत इति योगः' जो सम्बन्ध अर्थात् संयोग को प्राप्त हो, उसको योग कहते हैं अथवा जीवप्रदेशों का जो संकोच-विकोच (विस्तार)रूप परिस्पन्दन होता है, वह योग कहलाता है। काय, वाक् और मन की क्रियाओं के कारण आत्मा में आने वाली कर्म-वर्गणाओं के निमित्त से होने वाला आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन भी 'योग' है।

जैसे-जैसे कर्मबन्ध के कारणों का अभाव होता है, वैसे-वैसे आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है, नये कर्मों का आस्रव अर्थात् आत्मप्रदेशों में नवीन कार्माण-वर्गणाओं का प्रवेश अवरुद्ध हो जाता है (संवर) और पुरातन कर्मों की निर्जरा होती चली जाती है। संवर का दूसरा नाम है- बन्ध-व्युच्छित्ति और निर्जरा का दूसरा नाम है– सत्त्व-व्युच्छित्ति। कर्मबन्ध के प्रथम कारण 'मिथ्यात्व' के नाश होते ही १६ प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है।

मिथ्यात्व, हुण्डकसंस्थान, नपुंसकवेद, असम्प्राप्तसृपाटिकासंहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, विकलत्रय, (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरकायु नामक १६ प्रकृतियाँ केवल मिथ्यात्व के उदय के कारण ही बँधती हैं, अतः मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्तिम समय में इनकी व्युच्छित्ति हो जाती है। अनन्तानुबंधी कषायों का अभाव सासादन गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। उससे निम्नलिखित २५ कर्मप्रकृतियों का संवर हो जाता है –

अनंतानुबन्धी कषाय-चतुष्क, स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक और वामन संस्थान, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच और कीलितसंहनन, अप्रशस्तविहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चायु और उद्योत ये २५ प्रकृतियाँ व्युच्छिन्न होती हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान के अन्तिम समय में निम्नलिखित १० प्रकृतियों की बंध-व्युच्छित्ति होती है–

चार अप्रत्याख्यान कषाय, वज्रवृषभनाराचसंहनन, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और मनुष्यायु। देशसंयतगुणस्थान के अंतिम समय में चारों प्रत्याख्यानावरण

कषाय बन्ध से व्युच्छिन्न होती हैं। बन्ध के कारणभूत प्रमाद का अभाव हो जाने से अस्थिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयशःकीर्ति, अरति एवं शोक इन छह प्रकृतियों की बन्ध-व्युच्छित्ति प्रमत्तसंयतनामक छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में होती है।

अप्रमत्तसंयतनामक सातवें गुणस्थान के अन्तिम समय में देवायुबंध की व्युच्छित्ति होती है।

जब संज्वलन कषायों का मंदतम उदय होता है, तब अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में निम्नलिखित ३६ प्रकृतियों का बन्धविच्छेद हो जाता है-

अपूर्वकरणगुणस्थान के प्रथम भाग में श्रेणी चढ़ते समय मृत्यु नहीं होती तथा निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होती है। छठे भाग में तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति, पंचेन्द्रियजाति, तैजस-कार्मण-आहारक शरीर, आहारकअंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक-अंगोपांग, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण, अगुरुलघु, अपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, इन तीस प्रकृतियों की तथा सप्तमभाग में हास्य, रति, भय एवं जुगुप्सा इन चार नोकषायों की बन्धव्युच्छित्ति होती है। अर्थात् कुल ३६ प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति आठवें अपूर्वकरण नामक गुणस्थान में होती है। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ और पुरुषवेद इन पाँच प्रकृतियों की व्युच्छित्ति नौवें गुणस्थान में होती है।

सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय में ज्ञानावरण की पाँच, अन्तराय की पाँच, दर्शनावरण की चार यशःकीर्ति एवं उच्चगोत्र इन १६ प्रकृतियों की बन्ध-व्युच्छित्ति होती है।

११ वाँ उपशान्तमोह, १२ वाँ क्षीणमोह और १३ वाँ सयोगकेवली, इन तीनों गुणस्थानों में कषायों का अभाव रहता है और किसी भी कर्मप्रकृति की बंधव्युच्छित्ति नहीं होती। सातावेदनीय का बन्ध योग के कारण होता है और इस गुणस्थान के अन्तिम समय में साता कर्म की भी बन्ध-व्युच्छित्ति हो जाती है। इस प्रकार प्रकृतियों की बन्धव्युच्छित्ति दिखलाई गयी है और बाकी बची २८ प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति नहीं होती। वर्णादि २० प्रकृतियाँ मुख्यतया रूप, रस, स्पर्श और गन्ध इन चार प्रकृतियों में ही अन्तर्हित हो जाती हैं। इसलिए १६ प्रकृतियाँ कम हुईं। पाँच बन्धन, पाँच संघात इन दस प्रकृतियों का ५ शरीर के साथ बन्ध होने से १० प्रकृतियाँ इस प्रकार कम हो जाती हैं। सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति ये मिथ्यात्व के भेद होने से इनका स्वतंत्र रूप से बन्ध नहीं होता है। इसलिए इन २८ प्रकृतियों की बन्ध-व्युच्छित्ति नहीं होती है।

अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान में योग भी नहीं रहता। अतः किसी भी कर्मप्रकृति का बंध नहीं होता और अ, इ, उ, ऋ, ऌ इन पाँच लघ्वाक्षरों के उच्चारण मात्र काल में जीव को मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार जीव के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग जो कर्मबन्ध के पाँचों हेतु हैं उनका अभाव तथा पूर्व कर्मों की पूर्ण निर्जरा के द्वारा सभी कर्मों से पूर्ण छुटकारा (मुक्ति) होने को ही मोक्ष कहते हैं।

गुणस्थानों में उदयव्युच्छित्ति क्रम

कर्मों के फलदान की अवस्था में आने को उदय कहते हैं। कर्मों का उदय आत्म-विशुद्धि में बाधक होता है। इसलिए जैसे-जैसे आत्मविशुद्धि की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे कर्मों की फलदान शक्ति नष्ट हो जाती है। उसका नाम उदयव्युच्छित्ति है। गुणस्थानों में उदय-व्युच्छित्ति का क्रम इस प्रकार है-

मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, इन पाँच प्रकृतियों की उदय-व्युच्छित्ति होती है। सासादन गुणस्थान में अनन्तानुबंधी कषाय चार, एकेन्द्रिय, स्थावर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इन ९ प्रकृतियों की उदय-व्युच्छित्ति एवं मिश्रगुणस्थान में एक सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति की ही उदय-व्युच्छित्ति होती है।

असंयत गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय चार, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिकअंगोपांग, नरकगति, देवगति, नरकगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, नरकायु, देवायु, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय और अयशकीर्ति ये १७ प्रकृतियाँ उदय से व्युच्छिन्न होती हैं।

देशसंयत गुणस्थान में प्रत्याख्यान की चार कषाय, तिर्यञ्चायु, उद्योत, नीचगोत्र व तिर्यञ्चगति इन आठ प्रकृतियों की उदय-व्युच्छित्ति होती है।

अप्रमत्तगुणस्थान में सम्यक्त्वमोहनीय, अर्धनाराच, कीलित व असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन, इन चार तथा अपूर्वकरणगुणस्थान में हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इन छह कषाय रूप कर्मप्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति होती है।

अनिवृत्तिकरणगुणस्थान के सवेद और अवेद ये दो भाग कहे गये हैं। सवेद भाग में तीनों वेदों की उदय-व्युच्छित्ति होती है और अवेद भाग में क्रम से संज्वलन क्रोध, मान और माया इन दोनों को मिलाकर छह प्रकृतियों की उदय-व्युच्छित्ति होती है तथा इसी में बादर लोभ की भी व्युच्छित्ति हो जाती है। दसवें गुणस्थान में एक सूक्ष्म लोभ की व्युच्छित्ति होती है।

उपशान्तकषाय नामक ११वें गुणस्थान में वज्रनाराच और नाराचसंहनन इन दो प्रकृतियों की उदय व्युच्छित्ति होती है।

जो साधक क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर कर्मों का क्षय करता हुआ क्षीणकषाय नामक १२वें गुणस्थान में पहुँचता है, तब उस गुणस्थान के अन्तिम समय से पूर्व वाले एक समय में निद्रा एवं प्रचला इन दो प्रकृतियों की और अन्तिम समय में मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनः पर्ययज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण, चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय इन १६ प्रकृतियों की उदय-व्युच्छित्ति करके अरिहंत अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

सयोगकेवली नामक १३वें गुणस्थान में वेदनीय की साता व असाता इन दो प्रकृतियों में से कोई

एक, वज्रनाराचसंहनन, निर्माण, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुस्वर-दुःस्वर, प्रशस्तविहायोगति-अप्रशस्तविहायोगति, औदारिकशरीर, औदारिकअंगोपांग, तैजसकार्मणशरीर, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास और प्रत्येक शरीर इन ३० प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति होती है।

अयोगकेवली नामक १४वें गुणस्थान के अन्त में साता-असाता वेदनीय में से कोई एक, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकरप्रकृति, मनुष्यायु और उच्चगोत्र इन १२ प्रकृतियों की उदय-व्युच्छित्ति होती है।

गुणस्थानों में सत्त्व-व्युच्छित्ति-क्रम

जब कर्मों का संवर होता है, तब उनकी निर्जरा और क्षय भी होता है। निर्जरा का दूसरा अर्थ है सत्त्व-व्युच्छित्ति अर्थात् उनका सत्ता में न रहना, आत्मप्रदेशों में से उनका अस्तित्व समाप्त हो जाना। ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि मूल-प्रकृतियों और मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण आदि एक सौ अड़तालीस उत्तरप्रकृतियों तथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध के भेद से सत्त्व-व्युच्छित्ति के भी अनेक भेद हैं। कार्मण वर्गणाओं अथवा कर्मस्कन्धों के संयम व तपादि द्वारा आत्मप्रदेशों में से पृथक् होने, झड़ जाने को सत्त्व-व्युच्छित्ति कहते हैं। जैसे-जैसे जीव के परिणाम विशुद्ध होते हैं और वह गुणस्थानक्रम से ऊपर उठता है, उसी क्रम से कर्मपिण्ड आत्मप्रदेशों को छोड़कर अलग होते जाते हैं। कर्मपिण्ड की आत्यन्तिकी निवृत्ति को क्षय कहते हैं।

जैसे पानी में नीचे कीचड़ जमा हुआ हो, उसके ऊपर के शुद्ध जल को किसी दूसरे स्वच्छ पात्र में उँडेल देने से, उस पानी में कीचड़ का अत्यन्त अभाव हो जाता है, उसी प्रकार अत्यंताभाव हो जाने से परिणाम अत्यंत निर्मल हो जाते हैं। जिस-जिस गुणस्थान में जिस-जिस प्रकृति का क्षय (सत्त्व-व्युच्छित्ति) हो जाता है, वह प्रकृति पुन कभी बंध को प्राप्त होकर सत्त्वरूप नहीं हो सकती। सबसे पहले चतुर्थ, पंचम, षष्ठ एवं सप्तम गुणस्थान वर्ती जीव अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण के द्वारा चार अनन्तानुबन्धी कषायों का क्षय (नाश) करता है। ये ही तीन करण पुनः मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व-प्रकृति का क्षय करते हैं।

इस प्रकार यह आत्मा इन सात प्रकृतियों की सत्ता-व्युच्छित्ति करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। अब यह अधिक से अधिक चार भव तक संसार में रह सकता है। काल की अपेक्षा अधिक से अधिक ३३ सागर से कुछ अधिक काल तक संसार में रह सकता है। इसके बाद नियम से मुक्त होता है।

जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होने के सम्मुख होता है, तब अन्तर्मुहूर्त्त काल में अधःकरण परिणामों (सप्तम गुणस्थान) से अपूर्वकरण परिणामों (आठवें गुणस्थान) को प्राप्त कर लेता है और प्रत्येक क्षण में कर्मप्रदेशों की असंख्यात गुणी निर्जरा करता है। प्रत्येक समय में स्थिति काण्डघात भी होता है। असंख्यात स्थिति-बंधापसरण होते हैं। अप्रशस्त प्रकृतियों का असंख्यात अनुभाग काण्ड-घात भी होता है। परन्तु एक भी कर्मप्रकृति समूल क्षय नहीं होती।

इस प्रकार अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में कर्मों की असंख्यात-गुणी निर्जरा करता हुआ अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। वहाँ पर भी अपूर्वकरण के समान स्थिति-कांड-घातपूर्वक असंख्यात-गुणी कर्मनिर्जरा करता हुआ असंख्यात समय व्यतीत करके जब इस गुणस्थान का संख्यातवाँ भाग शेष रहता है, तब स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, उंद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इन १६ प्रकृतियों का क्षय (सत्ता-व्युच्छित्ति) करता है। तदनन्तर एक अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण रूप क्रोध, मान, माया और लोभ रूप, आठ प्रकृतियों की सत्ता-व्युच्छित्ति होती है। इसके अनन्तर एक अन्तर्मुहूर्त बीत जाने पर नपुंसकवेद का क्षय करता है। एक और अन्तर्मुहूर्त के बाद स्त्रीवेद का क्षय करता है। इसके बाद हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा रूप छह नोकषायों का क्षय करता है। तदनन्तर पुरुषवेद का क्षय करता है। पुनः अन्तर्मुहूर्त्त के बाद संज्वलन क्रोध का और इसी क्रम से संज्वलन मान एवं संज्वलन माया का क्षय करता है। इस प्रकार इन ३६ प्रकृतियों का क्षय नवम गुणस्थान में होता है।

तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त्त में सूक्ष्म साम्पराय नामक दसवें गुणस्थान को प्राप्त होकर, संज्वलन लोभ का क्षय करके क्षीणकषाय नामक १२वें गुणस्थान को प्राप्त होकर, सर्वप्रथम निद्रा और प्रचला, इन दोनों का एक साथ क्षय करके, अन्तर्मुहूर्त में पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय और चार दर्शनावरण इन १४ कर्म-प्रकृतियों का युगपत् (एक साथ) क्षय करता है अर्थात् कुल १६ प्रकृतियों का नाश करता है।

देव, नरक, तिर्यञ्च आयु का जिसने बंध कर लिया है, वह क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ नहीं हो सकता। इसलिए इन तीनों प्रकार के आयुबंध का क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने के पूर्व स्वयमेव क्षय हो जाता है। इस प्रकार इन ६३ प्रकृतियों की सत्ता व्युच्छित्ति करके यह आत्मा अरहंत अवस्था (१३वें गुणस्थान) को प्राप्त होता है वा सकल परमात्मा बन जाता है। इस गुणस्थान में इस भव की आयु के अनुरूप रहता है। आयु पूर्ण होने पर अन्त में सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती शुक्लध्यान के द्वारा योगनिरोध करके, १४वें गुणस्थान को प्राप्त होकर द्विचरम समय में (अन्त समय के पहले का समय) साता या असाता वेदनीय, देवगति, पाँच शरीर, पाँच संघात, पाँच बन्धन, छह संस्थान, तीन अंगोपांग, छह संहनन, पाँच वर्ण, दो गंध, पाँच रस, आठ स्पर्श, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्त-विहायोगति, अपर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ-अशुभ, दुर्भग, सुस्वर-दुःस्वर, अनादेय अयशस्कीर्ति, निर्माण और नीचगोत्र, इन बहत्तर (७२) प्रकृतियों का क्षय करता है। इसके पीछे अपने जीवनकाल के अन्तिम समय में दोनों वेदनीय में से उदयागत कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशकीर्ति, तीर्थंकर और उच्च गोत्र, इन तेरह (१३) प्रकृतियों का क्षय करता है अथवा मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी के साथ अयोगकेवली तीर्थंकर के द्विचरम-समय में तेहत्तर (७३) प्रकृतियों का और चरम समय में बारह (१२) प्रकृतियों का इस प्रकार ८५ प्रकृतियों का क्षय करता है। इस प्रकार संसार-भ्रमण

के सभी कारणों का विच्छेद हो जाने से, इसके आगे के समय में कर्मरज से रहित निर्मल दशा को प्राप्त होकर सिद्ध हो जाता है अर्थात् निकल परमात्मा बन जाता है।

इस प्रकार गुणस्थान अथवा आत्म-विकास के विभिन्न सोपानों में भाव, लेश्या, योग, कर्मोदय, बंध-व्युच्छित्ति, सत्त्व-व्युच्छित्ति आदि सभी कारणभूत होते हैं। गुणस्थानों के विकास में कर्मों के क्षयादि को जो कारण रूप से कहा गया है, वह कर्म क्या वस्तु है ? किस द्रव्य की पर्याय है ? यह जानना आवश्यक है।

इस प्रकार गुणस्थान क्रम से कर्मप्रकृतियों, बन्ध-व्युच्छित्ति, उदय-व्युच्छित्ति, सत्ता-व्युच्छित्ति आदि के द्वारा कर्मों के नाश का (अभाव) चिंतन करना **अपाय विचय** है।

अथवा - मिथ्यादृष्टि जीव जन्मान्ध पुरुष के समान सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विमुख होते हैं, उन्हें सन्मार्ग का परिज्ञान न होने से वे मोक्षार्थी पुरुषों को दूर से त्याग देते हैं, इस प्रकार सन्मार्ग के अपाय का चिन्तन करना। 'ये प्राणी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से कैसे दूर होंगे', इस प्रकार निरंतर चिन्तन करना अपायविचय धर्मध्यान है। मन, वचन और काय इन तीनों योगों की प्रवृत्ति ही प्रायः संसार का कारण है, सो इन प्रवृत्तियों का मेरे अपाय अर्थात् त्याग किस प्रकार हो सकता है, इस प्रकार शुभ-लेश्या से अनुरंजित जो चिन्ता का प्रबन्ध है, वह अपायविचय नाम का धर्म्यध्यान माना गया है।

विपाकविचय धर्म ध्यान का लक्षण

दुरितानां तु शुभाशुभभेदानां पाकजातसुखदुःख-
भेदप्रभेद-चिन्ताविपाक विचयाख्य धर्म्यं तु॥१२९॥

तीर्थकृदिन्द्ररथाङ्गभृदादिसुखं पुण्यकर्मसंपाकः।
नारकतिर्यक्नृणां दुःखं दुष्कर्मपाकस्तु॥१३०॥

अन्वयार्थ - **शुभाशुभभेदानां** - शुभ और अशुभ भेद वाले। **दुरितानां** - कर्मों के। **पाकजातसुखदुःख-भेदप्रभेदचिन्ता** - पाक (उदय) से उत्पन्न सुख-दुःख के भेद-प्रभेदों की चिन्ता। **विपाकविचयाख्यधर्म्यं** - विपाक विचय नामक धर्म ध्यान है।

पुण्यकर्मसंपाकः - पुण्य कर्म का विपाक। **तीर्थकृदिन्द्ररथांगभृदादिसुखं** - तीर्थंकर, इन्द्रपद, चक्रवर्ती आदि सुख। **तु** - और। **दुष्कर्मपाकः** - दुष्कर्मों का विपाक। **नारकतिर्यक्नृणां** - नारक, तिर्यंच और मनुष्यों के। **दुःखं** - दुःख प्राप्त होते हैं।

अर्थ - शुभ और अशुभ के भेद से कर्म दो प्रकार के होते हैं।

शुभ परिणामों से जिनका अनुभाग अधिक पड़ता है वे पुण्य प्रकृति हैं और अशुभ परिणामों से जिनका अनुभाग अधिक पड़ता है वे पाप प्रकृति हैं। पुण्य प्रकृति बयालीस हैं। उनके नाम हैं - तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु। शुभ नाम के सैंतीस भेद हैं। यथा-मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, पाँच शरीर,

तीनों अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराचसंहनन, प्रशस्त वर्ण, प्रशस्त रस, प्रशस्त गन्ध और प्रशस्त स्पर्श, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी ये दो, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश: कीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर। एक उच्चगोत्र शुभ है और सातावेदनीय, ये बयालीस प्रकृतियाँ पुण्यसंज्ञक हैं। यहाँ वर्णादिक के अवान्तर भेद बीस न गिना कर कुल चार भेद गिनाये हैं।

इस पुण्यसंज्ञा वाले कर्मप्रकृति समूह से जो भिन्न कर्मसमूह है वह पापरूप कहा जाता है। वह बयासी प्रकार का है। यथा - ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियाँ, दर्शनावरण की नौ प्रकृतियाँ, मोहनीय की छब्बीस प्रकृतियाँ, अन्तराय की पाँच प्रकृतियाँ, नरकगति, तिर्यंचगति, चार जाति, पाँच संस्थान, पाँच संहनन, अप्रशस्त वर्ण, अप्रशस्त रस, अप्रशस्त गन्ध और अप्रशस्त स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी और तिर्यग्गत्यानुपूर्वी ये दो, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण-शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और अयश:कीर्ति ये नामकर्म की चौंतीस प्रकृतियाँ तथा असाता वेदनीय, नरकायु और नीच गोत्र।

इन पुण्य एवं पाप प्रकृतियों वाले शुभाशुभ कर्मों के विपाक (फल) का चिंतन करना तथा उनके भेद-प्रभेदों का चिन्तन करना विपाकविचयनामकधर्मध्यान है। जैसे पुण्य प्रकृति कहने से अभेदरूप से शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये पुण्य प्रकृति हैं - इनसे भिन्न पाप प्रकृति हैं, भेद रूप से कथन ऊपर किया है।

पुण्य कर्मप्रकृति के उदय से तीर्थंकर पद, इन्द्रपद, चक्रवर्त्तीपद तथा यश, सुस्वर आदि शुभ फल प्राप्त होता है और पाप कर्मप्रकृति के उदय से नरक, तिर्यंच और मानवजन्य दु:खों को भोगता है। संसार में परिभ्रमण का कारण शुभाशुभ कर्म ही है। ऐसा चिंतन करना विपाकविचयनामक धर्म ध्यान है। अथवा, जीवों को अनेक भवों में भ्रमण, सुख, दु:ख की प्राप्ति कर्मों के उदय से होती है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग बंध इनका उदय, उदीरणा, संक्रमण, बंध एवं मोक्ष-कर्मों के फल आदि का चिंतन विपाकविचय धर्म ध्यान है।

संस्थान धर्म ध्यान का लक्षण

द्वादशधा गदितानुप्रेक्षा संचिन्तनं वदन्त्यार्या:।
संस्थानविचयनामध्यानमनेकप्रभेदसंयुक्तम् ॥१३१॥

अन्वयार्थ - द्वादशधा - बारह प्रकार की। **अनुप्रेक्षा** - अनुप्रेक्षा। **गदिता** - कही है। उन १२ भावनाओं का। **अनेकप्रभेद-संयुक्तं** - अनेक भेदों से युक्त। **संचिंतनं** - चिंतन करने को। **आर्या:** - आर्य पुरुष। **संस्थानविचयनामध्यानं** - संस्थान विचय नाम का ध्यान। **वदन्ति** - कहते हैं।

अर्थ - जिनेन्द्र भगवान ने अशरण आदि १२ भावनाओं का कथन किया है। उनके अनेक भेद हैं। उन सर्व भेदों से युक्त १२ भावनाओं का चिंतन करने को आचार्य संस्थानविचय-धर्म ध्यान कहते हैं।

अर्थात् बारह प्रकार के कहे गये तत्त्व का पुनः- पुनः चिंतन करना या शरीर आदि के स्वभाव का बार-बार चिंतन करना अनुप्रेक्षा है।

बारह भावनाओं का नाम-निर्देश

अध्रौव्याशरणैकत्वान्यत्वकमाजवंजवीलोकोऽ-
शुचितास्रवसंवरणं निर्जरणं धर्मबोधिं च ध्येयम्॥१३२॥

अन्वयार्थ - अध्रौव्याशरणैकत्वान्यत्वकं - अध्रुव (अनित्य), अशरण, एकत्व, अन्यत्व। **आजवंजवी** - संसार। **लोकः** - लोक। **अशुचितास्रवसंवरणं** - अशुचि, आस्रव, संवर। **निर्जरणं** - निर्जरा। **च** - और। **धर्मबोधिं** - धर्म और बोधि, इन १२ भावनाओं का। **ध्येयं** - चिंतन करना चाहिए।

अर्थ - अध्रुव (अनित्य), अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधिदुर्लभ ये १२ भावनाएं वा अनुप्रेक्षा हैं। संस्थानविचय धर्म ध्यान में इनका बार-बार चिंतन करना चाहिए।

किसी बात का पुनः-पुनः चिंतन करते रहना अनुप्रेक्षा है। जैनागम में १२ भावनाएँ प्रसिद्ध हैं, इनको बारह वैराग्य भावना भी कहते हैं। इनका चिंतन करने से संसारी प्राणी शरीर और भोगों से निवृत्त होकर साम्य भाव में स्थित होता है।

अध्रुव भावना का लक्षण

ध्रौव्याध्रौव्याद्यात्मन्यर्थेऽनेकान्तवादसंश्रयणात्।
नर्ते घटते नष्टं रूपं वक्तुर्विवक्षायाम्॥१३३॥

भुवनत्रितये पुण्योदर्कजवस्तूनि यानि दृश्यन्ते।
तान्यनिलाहतदीपशिखावत्सर्वाण्यनित्यानि॥१३४॥

इन्द्रादिनिलिम्पानामष्टगुणैश्वर्यसंयुता संपत्।
शारदशुभ्रादभ्राभ्रोत्करविभ्रमनिभाशेषाः॥१३५॥

चक्रधरादिनराणां सम्पत्तिरनेकभोगबलकलिता।
रत्ननिधिनिवहपूर्णा करीन्द्रकर्णाग्रवच्चपला॥१३६॥

रूपं कान्तिस्तेजो यौवनसौभाग्यभाग्यमारोग्यम्।
विभ्रमविलासलावण्यादिकमचिरांशुलसनिभम्॥१३७॥

आत्मन्येकीभूतः कायोऽप्यमरेन्द्रचापवत्सहसा।
प्रविलीयते किमन्यत् कर्मकृतं दृश्यते नित्यम्॥१३८॥

जलबुद्बुदेन्द्रचापक्षणरुच्यादीनि नित्यतां नेतुम्।
शक्यन्ते देवाद्यैर्न कर्मजनितानि वस्तूनि ॥१३९॥

अन्वयार्थ - **ध्रौव्याध्रौव्याद्यात्मनि** - ध्रौव्य और अध्रौव्यात्मक। **अर्थे** - पदार्थ में। **अनेकान्तवादसंश्रयणात्** - अनेकान्तवाद के आश्रय से। **ऋते** - बिना। **वक्तुः** - वक्ता की। **विवक्षायां** - विवक्षा में। **नष्टं** - नष्ट (अध्रुव)। **रूपं** - रूप। **न** - नहीं। **घटते** - घटित होता है। **भुवनत्रितये** - तीन लोक में। **यानि** - जितनी। **पुण्योदर्कजवस्तूनि** - पुण्योदय से उत्पन्न वस्तुएँ हैं। **तानि** - वे। **सर्वाणि** - सारी वस्तुएँ। **अनिलाहतदीपशिखावत्** - वायु से आहत दीपशिखा के समान। **अनित्यानि** - अनित्य हैं। **इन्द्रादिनिलिम्पानां** - इन्द्रादिदेवों की। **अष्टगुणैश्वर्यसंयुता** - अष्टगुण और ऐश्वर्य से संयुत। **अशेषाः** - सारी। **सम्पत्** - सम्पदा। **शारदशुभ्रादभ्राभ्रोत्करविभ्रमनिभा** - शरदृतु के श्वेत बादल के समूह के विभ्रम के समान हैं।

अनेकभोगबलकलिता - अनेक प्रकार के भोगों से व्याप्त। **रत्ननिधिनिवहपूर्णा** - चौदह रत्न और नवनिधि के समूह से परिपूर्ण। **चक्रधरादिनराणां** - चक्रवर्ती आदि मनुष्यों की। **सम्पत्तिः** - सम्पदा। **करीन्द्रकर्णाग्रवत्** - हाथी के कर्ण के अग्रभाग के समान। **चपला** - चंचल है।

रूपं - सौन्दर्य। **कान्तिः** - कान्ति। **तेजः** - तेज। **यौवनसौभाग्यभाग्यं** - युवावस्था, सौभाग्य, भाग्य। **आरोग्यं** - नीरोगता। **विभ्रमविलासलावण्यादिकं** - विभ्रम, विलास, लावण्यादिक। **अचिरांशुलसनिभम्** - बिजली के समान क्षणिक हैं।

आत्मनि - आत्मा में। **एकीभूतः** - एकक्षेत्रावगाही होकर रहने वाला। **कायः** - शरीर। **अपि** - भी। **अमरेन्द्रचापवत्** - इन्द्रधनुष के समान। **सहसा** - अकस्मात्। **प्रविलीयते** - नष्ट हो जाता है। **कर्मकृतं** - कर्मों के उदय से प्राप्त। **अन्यत्** - शरीर से भिन्न अन्य पुत्र-पौत्र-धन-धान्यादि। **किं** - क्या। **नित्यं** - नित्य, स्थिर। **दृश्यते** - देखे जाते हैं - क्या स्थिर रह सकते हैं, अपितु नहीं रह सकते।

जलबुद्बुदेन्द्रचापक्षणरुच्यादीनि - जल का बुद्बुदा, इन्द्रधनुष बिजली आदि। तथा **कर्मजनितानि** - कर्मों के उदय से प्राप्त होने वाली। **वस्तूनि** - वस्तुएँ। **देवाद्यैः** - देवादि के द्वारा भी। **नित्यतां** - नित्यता को। **नेतुं** - प्राप्त कराने के लिए। **न शक्यते** - शक्य नहीं।

अर्थ - तीन लोक में जीवादि छह द्रव्य हैं। वे सर्व नित्य और अनित्यात्मक हैं अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक हैं। न तो कूटस्थ नित्य हैं और न सर्वथा क्षणिक हैं, अपितु कथंचित् नित्य हैं, कथंचित् अनित्य हैं अर्थात् वस्तु नित्यानित्यात्मक है। अतः अनेकान्त के आश्रय बिना वक्ता की विवक्षा में वस्तु अध्रुव सिद्ध नहीं हो सकती। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु नित्य है, परन्तु जब वक्ता पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा कथन करता है तो सर्व पदार्थ अनित्य हैं। अनित्य भावना में पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा विचार किया जाता है, क्योंकि दृष्टिगोचर होने वाली क्षणिक पर्यायों में व्यामोह करने वाला प्राणी उनको नित्य मानकर मदोन्मत्त हो रहा है, संसार, शरीर व भोगों में मग्न होकर स्वरूप को भूल रहा है। उनको

समझाने के लिए, उनके व्यामोह को दूर करने के लिए स्याद्वादी महर्षियों ने अध्रुव भावना का कथन किया है। वे कहते हैं, हे आत्मन् ! तीन लोक में पुण्योदयजनित जितनी वस्तुएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं वे सर्व वायु के झकोरों से आहत दीपक की शिखा के समान चंचल हैं, अनित्य हैं।

इन्द्रादि देवों की अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान और कामरूप इस प्रकार के अनेक भेदों से युक्त विक्रिया ऋद्धि आदि अष्ट गुणों और ऐश्वर्यों से युक्त सारी सम्पदा शरद् ऋतु के श्वेत बादल के समूह के समान क्षणभंगुर है।

चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र आदि मानवों की चौदहरत्न और नवनिधि से परिपूर्ण अनेक प्रकार की भोग-सम्पदा श्रेष्ठ हाथी के कर्ण के अग्रभाग के समान चंचल है, अस्थिर है।

अणु के बराबर शरीर बना लेना अणिमा ऋद्धि है। मेरु के बराबर शरीर बनाना महिमा, वायु से भी हलका लघु शरीर करने को लघिमा और वज्र से भी अधिक गुरुतायुक्त (भारी) शरीर करने को गरिमा ऋद्धि कहते हैं। भूमि पर स्थित रहकर अंगुली के अग्रभाग से सूर्य-चन्द्रादिक को, मेरु शिखरों को तथा अन्य वस्तुओं के प्राप्त करने को प्राप्तिऋद्धि कहते हैं।

जिस ऋद्धि के प्रभाव से जल के समान पृथ्वी पर उन्मज्जन-निमज्जन क्रिया होती है और पृथ्वी के समान जल पर भी गमन होता है, वह प्राकाम्यऋद्धि है।

अथवा - अनेक प्रकार की क्रिया-गुण एवं द्रव्य के आधीन होने वाली, सेना आदि पदार्थों की अपने शरीर से भिन्न अथवा अभिन्न रूप बनाने की शक्ति प्राप्त होने को भी प्राकाम्य कहते हैं। भिन्न-भिन्न रचना करना पृथक् विक्रिया है और एक शरीर के ही अनेक रूप बनाना अपृथक् विक्रिया है। यह दोनों प्रकार की विक्रिया देवों के होती हैं। ये देवों के आठ गुण कहे जाते हैं। इन आठ गुणों से युक्त, जिनके बिना परिश्रम से प्राप्त सम्पदा है, वह भी शरद् ऋतु के श्वेतवर्ण वाले बादल के समान अस्थिर है, नाशवंत है।

चक्रवर्ती के नवनिधि और १४ रत्न होते हैं। १४ रत्नों में सात रत्न अजीव और सात सजीव होते हैं। **अजीव सात रत्नों** के नाम इस प्रकार हैं –

१. चक्र - आयुधशाला में चक्र की उत्पत्ति हो जाने पर चक्रवर्ती जिनेन्द्रदेव की पूजन करके दिग्विजय के लिए प्रयाण करता है, इसी के बल पर शत्रुओं का संहार करके षट्खण्ड पर विजय प्राप्त करता है।

२. छत्र - यह १२ योजन लम्बा एवं इतना ही चौड़ा होता है। यह वर्षा से कटक (सेना) की रक्षा करता है।

३. खड्ग - इससे शत्रुओं का विनाश किया जाता है।

४. दण्ड - दण्डरत्न से सेनापति वैताढ्य पर्वत की खण्डप्रपात और तिमिस्रा नामक गुफा के पश्चिम द्वार एवं पूर्व द्वार को खोलता है तथा वृषभगिरि पर्वत पर दण्डरत्न द्वारा चक्रवर्ती अन्य चक्रवर्ती का

नाम मिटाकर उस स्थान पर अपना नाम लिखता है। गुफा के काँटों आदि का शोधन भी दण्डरत्न से होता है।

४. **काकिणी** - इससे विजयार्ध पर्वत की खण्डप्रपात और तिमिस्रा गुफा का अन्धकार दूर किया जाता है तथा वृषभाचल पर नाम भी लिखा जाता है।

६. **मणि** - विजयार्ध पर्वत की दोनों गुफाओं को प्रकाशित करती है।

७. **चर्म** - म्लेच्छ राजा कृत जल के ऊपर तैरकर अपने ऊपर सारे कटक (सेना) को आश्रय देता है अर्थात् म्लेच्छ राजा और देवों के द्वारा अति घोरवृष्टि की जाने पर बारह योजन लम्बा और १२ योजन चौड़ा चर्म रत्न पानी पर बिछाकर और उतने ही बड़े रत्न को ऊपर तानकर चक्रवर्ती सेना की रक्षा करता है। इस प्रकार सात अजीव रत्न हैं।

सात सचेतन रत्न

१. **सेनापति** - यह सारी सेना का अधिपति होता है। यह सेनापति ही तिमिस्रा और खण्डप्रपात नामक गुफा का द्वार दण्ड-रत्न के द्वारा खोलता है।

२. **गृहपति** - चक्रवर्ती का खर्च, हिसाब-किताब आदि देखता है।

३. **गज** (हाथी) चक्रवर्ती के सवारी हेतु काम आता है। यद्यपि चक्रवर्ती के ८४,००,००० हाथी होते हैं तथापि यह मुख्य होता है।

४. **अश्व** - घोड़ा रत्न है - यद्यपि चक्रवर्ती के अठारह करोड़ घोड़े होते हैं, परन्तु यह घोड़ा सब में मुख्य है।

५. **पुरोहित** - दैवी उपद्रवों की शांति के लिए अनुष्ठान करता है।

६. **स्थपति** - यह स्थपतिरत्न नदी पर पुल बनाने, घर आदि बनाने का कार्य करता है।

७. **स्त्रीरत्न** - ९६ हजार रानियों में मुख्य होता है, चक्रवर्ती का मूल शरीर उसके पास जाता है। इसका नाम सुभद्रा है।

नवनिधियों के नाम

१. **कालनिधि** - ऋतु के अनुसार पुष्प-फलादि अर्पण करती है। निमित्त, न्याय, व्याकरण आदि विषय के अनेक प्रकार के शास्त्र तथा बाँसुरी, नगाड़े आदि पंचेन्द्रियों के मनोज्ञ विषय देती है।

२. **महाकालनिधि** - सुवर्ण, चांदी आदि धातुओं से निर्मित अनेक प्रकार के भाजन तथा असि, मसि आदि के साधनभूत द्रव्य प्रदान करती है।

३. **पाण्डुनिधि** - गेहूँ, चावल, मूंग, उड़द आदि धान्य तथा घृत, तेल, दूध, दही आदि षट्रस देती है।

४. **मानवनिधि** - अनेक प्रकार के आयुध तथा राजनीति व अन्य शास्त्र प्रदान करती है।

५. **शंखनिधि** - अनेक प्रकार के वादित्र देती है।

६. **पद्मनिधि** - अनेक प्रकार के उत्तम-उत्तम वस्त्र अर्पण करती है।

७. **नैसर्पनिधि** - अति सौन्दर्य से युक्त भवन, शय्या, आसन, भाजन आदि उपभोग्य वस्तुएँ प्रदान करती है।

८. **पिंगल निधि** - अनेक प्रकार के हार, मुकुट, कुण्डल, कड़ा, बाजूबंद आदि आभूषण अर्पित करती है।

९. **नानारत्न निधि** - अनेक प्रकार के रत्न प्रदान करती है।

ये सभी निधियाँ अविनाशी होती हैं। निधिपाल नामक देवों के द्वारा सुरक्षित रहती हैं और निरंतर लोगों के उपकार में आती हैं। ये नवनिधियाँ नौ योजन चौड़ी, बारह योजन लम्बी, आठ योजन गहरी वक्षार गिरि के समान विशाल कुक्षि से युक्त तथा आठ पहिये वाली गाड़ी की आकृति वाली होती हैं। ये नौ की नौ निधियाँ कामवृष्टि नामक गृहपति (नौवाँ सचेतन रत्न) के आधीन रहती हैं और सदा चक्रवर्ती के समस्त मनोरथों को पूर्ण करती हैं। १४ रत्नों और नवनिधियों में प्रत्येक की एक-एक हजार देव रक्षा-सेवा करते हैं। अर्थात् चौदह रत्नों में प्रत्येक रत्न की और नवनिधियों में एक-एक निधि की एक-एक हजार देव रक्षा करते हैं।

दिव्य पुर (नगर), रत्न, निधि, सैन्य, भाजन, भोजन, शय्या, आसन, वाहन और नाट्य ये चक्रवर्ती के दशांग भोग होते हैं।

क्षितिसार नामक घर का कोट, सर्वतोभद्र, गौशाला, नन्द्यावर्त्त छावनी, सर्व ऋतुओं में रहने योग्य वैजयन्त महल, सभाभूमि, गिरिकूटक दिशा प्रेक्षण भवन, वर्धमानक नृत्यशाला, शीतगृह, वर्षाऋतुनिवास, गृहकूटक, पुष्करावती निवास भवन, सिंहवाहिनी शय्या, अनुपमान चमर, सूर्यप्रभ छत्र, विद्युत्प्रभ कुण्डल, विषमोचिका खड़ाऊ, अभेद्य कवच, अजितंजय रथ, वज्रकाण्ड धनुष, अमोघ बाण, वज्रतुण्डा शक्ति, सुदर्शन चक्र, अयोध्य सेनापति, बुद्धिसागर पुरोहित, कामवृष्टि गृहपति, भद्रमुख स्थपति, (सिलावट), बारह योजन तक को शब्द से व्याप्त करने वाली आनन्द भेरी, धवल वर्ण का विजयगिरि नामक हाथी, पवनंजय घोड़ा, सुभद्रा नामक पटरानी आदि अनेक प्रकार की सम्पदा चक्रवर्ती के होती है, जो देवों को भी दुर्लभ है।

३२,००० मुकुटबद्ध राजा निरंतर चक्रवर्ती के चरणों की सेवा करते हैं, छ्यानवे हजार रानियाँ, अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख रथ, एक करोड़ हल, तीन करोड़ गायें, बत्तीस हजार गणबद्ध देव, तीन सौ साठ तनुरक्षक देव, तीन सौ साठ रसोइया आदि अनेक भोगोपभोग सामग्री से युक्त चक्रवर्ती की सम्पदा, हाथी के कर्ण के अग्रभाग के समान चंचल है, एक क्षण में नष्ट हो जाती है।

रूप (शारीरिक सौन्दर्य), कान्ति, तेज, यौवन, सौभाग्य, आरोग्यावस्था, विभ्रम,[१] विलास, लावण्य (स्त्री के रूप के अवलोकन की अभिलाषा से उत्पन्न हुआ मुखविकार हाव कहलाता है, चित्त का विकार 'भाव' कहलाता है। मुख का अथवा दोनों भौंहों का टेढ़ा करना विभ्रम है और नेत्रों के कटाक्ष को 'विलास' कहते हैं।) सभी बिजली के समान चंचल हैं, विनाशीक हैं।

आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाही होकर रहने वाला यह शरीर भी इन्द्रधनुष के समान सहसा (अकस्मात्) नष्ट हो जाता है। अधिक क्या कहें, जितनी भी कर्मजन्य वस्तु दृष्टिगोचर हो रही हैं वे सर्व अनित्य हैं। अर्थात् जब क्षीर-नीर के समान जीव के साथ निबद्ध यह शरीर शीघ्र नष्ट हो जाता है, तो भोगोपभोग के कारणभूत दूसरे पदार्थ नित्य कैसे हो सकते हैं?

जिस प्रकार जल के बुद्बुद को, इन्द्रधनुष को, बिजली आदि वस्तुओं को देवादि भी स्थिर करने में समर्थ नहीं हैं, उसी प्रकार कर्मजनित जितनी वस्तुयें हैं, वे सब क्षणिक हैं, इत्यादि विचार करना अध्रुव या अनित्य भावना है।

पुद्गल पिण्ड से रचित शरीर, इन्द्रिय विषय, उपभोग और परिभोग द्रव्य, ये सब शुद्ध निश्चयनय से आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। यह आत्मा देव, असुर, मनुष्य और राजा आदि के विकल्पों से रहित है अर्थात् इसमें देवादिक भेद नहीं हैं, यह ज्ञानस्वरूप मात्र है और सदा स्थिर रहने वाला है।

ऐसा विचार करने वाले पुरुष के स्त्री आदि का वियोग होने पर भी जूठे भोजन के समान उसमें ममत्व नहीं होने से चित्त विक्षिप्त नहीं होता। वह अविनाशी निज परमात्मा का ही भेद, अभेद रत्नत्रय की भावना द्वारा चिंतन करता है। जैसी अविनश्वर आत्मा को भाता है, वैसी ही अक्षय, अनन्त सुख स्वभाव वाली मुक्त आत्मा को प्राप्त कर लेता है।

मोहवश अज्ञ प्राणी सांसारिक वस्तुओं में नित्यता का अनुभव करता है, पर वस्तुत: आत्मा के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के सिवा इस संसार में कोई भी पदार्थ ध्रुव नहीं है, इस प्रकार चिन्तन करना अनित्यानुप्रेक्षा है।

अशरण भावना का स्वरूप

दुष्कर्मपाकसंभवजन्मजरामरणरोगशोकादि-।
संपाते शरणं नो जगत्त्रये विद्यते किञ्चित्॥१४०॥

स्वर्गो दुर्गं वज्रं प्रहरणमैरावणो गजो भृत्या:।
गीर्वाणा देवेश: शरणं नो किं परेषु वच:॥१४१॥

---

१. हावो मुखविकार: स्याद्भावश्चित्तोत्थ उच्यते।
विलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूयुगान्तयो:॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

बहुजात्यश्व-मदद्विपरथनायकबलरथाङ्गशस्त्रादि-।
चक्रेशः शरणं मर्त्येषु परेषु का वार्ता ॥१४२॥

किंजल्कपुञ्जपिञ्जरगुञ्जज्जलविकरराजिताब्जवनम्।
मदकुञ्जरवदवार्यो मृत्युर्मृद्नाति भुवनमिदम् ॥१४३॥

यद्वन्न शरणमुग्रद्विपविद्विड् वदनवर्ति-हरिणशिशोः।
तद्वन्न शरणमन्तकदन्तान्तरवर्तिजनतायाः ॥१४४॥

(इत्यशरणानुप्रेक्षा)

अन्वयार्थ - दुष्कर्म पाक संभव जन्म जरा मरण रोग शोकादि संपाते - दुष्कर्मों के उदय से उत्पन्न जन्म, बुढ़ापा, मरण, रोग, शोकादिक होने पर। **जगत्त्रये** - तीन जगत् में। **किंचित्** - कोई। **शरणं** - शरण। **न** - नहीं। **विद्यते** - है॥३९॥

स्वर्गः - स्वर्ग जिसका। **दुर्गं** - दुर्ग (किला) है। **वज्रं** - वज्र जिसका। **प्रहरणं** - शस्त्र है। **ऐरावणः** - ऐरावत जिसका। **गजः** - हाथी है। **गीर्वाणाः** - देव जिसके। **भृत्याः** - नौकर हैं ऐसे। **देवेशः** - देवेन्द्र भी। **शरणं** - शरण। **नो** - नहीं हैं। **परेषु** - दूसरों के। **वचः** - कहना ही। **किं** - क्या ॥४०॥

बहुजात्यश्वमदद्विपरथनायक बलरथांग शस्त्रादि चक्रेशः - अनेक जाति के घोड़े, मदोन्मत्त हाथी, रथ, सेनापति, सेना, चक्र-शस्त्रादि से युक्त चक्रवर्ती भी। **मर्त्येषु** - मनुष्यों के। **शरणं** - शरण नहीं है। **परेषु** - दूसरों की। **वार्त्ता** - बात ही। **का** - क्या है ॥४१॥

किंजल्क पुंज पिञ्जर गुञ्जज्जलविकर राजिताब्जवनं - पराग के पुंज से पिञ्जरित गूँजते हुए भँवरों से शोभित कमल वन को। **मदकुंजरवत्** - मदोन्मत्त हाथी के समान। **अवार्यः** - नहीं निवारण करने योग्य। **मृत्युः** - मृत्यु। **इदं** - इस। **भुवनं** - संसार को। **मृद्नाति** - मर्दन करती है॥४२॥

यद्वत् - जिस प्रकार। **उग्रद्विपविद्विड्वदनवर्तिहरिणशिशोः** - उग्र सिंह के मुखवर्ती हरिण के बच्चे की। **शरणं** - शरण। **न** - नहीं है। **तद्वत्** - उसी प्रकार। **अन्तकदंतान्तरवर्त्तिजनतायाः** - मृत्यु के दाँत के मध्यवर्ती जीवों की भी। **शरणं** - शरण नहीं है ॥४३॥

अर्थ - जीव के द्वारा विभाव भावों से उपार्जित दुष्कर्म के उदय से उत्पन्न जन्म, बुढ़ापा, मरण, रोग, शोक आदि विपत्तियों के बीच में भ्रमण करते हुए इस जीव का जगत् में कोई शरण वा रक्षक नहीं है।

स्वर्ग जिसका अभेद्य किला है, वज्र जिसका शस्त्र है, ऐरावत जिसका हाथी है, देव जिसके चाकर हैं, ऐसा बलशाली इन्द्र भी इस जीव की मृत्यु के मुख से वा दुःख-संकट से रक्षा नहीं कर सकता, शरण देकर बचा नहीं सकता तो अन्य का तो कहना ही क्या ? अर्थात् जिस मृत्यु के मुख से प्राणियों को इन्द्र भी बचा नहीं सकता तो दूसरे निर्बल प्राणी कैसे बचा सकते हैं अर्थात् कोई भी नहीं बचा सकता।

श्रेष्ठ घोड़े, हाथी, रथ, सेनापति, सेना, चक्र, शस्त्र आदि सम्पत्ति का स्वामी चक्रवर्ती भी प्राणियों को मृत्यु एवं आपत्ति में शरण नहीं है, आपत्ति में रक्षक नहीं हो सकता, अन्य की तो बात ही क्या है !

निश्चय रत्नत्रय से परिणत जो शुद्धात्म द्रव्य और उसके बहिरंग सहकारी कारणभूत पंच परमेष्ठियों की आराधना इन दोनों को छोड़कर देवेन्द्र, चक्रवर्ती, सुभट, कोटिभट और पुत्रादि चेतन पदार्थ तथा पर्वत, किला, तलघर, मणि, मंत्र, तंत्र, महलादि अचेतन पदार्थ तथा चेतन-अचेतन मिश्र पदार्थ आपत्ति एवं मरण के समय रक्षक नहीं हो सकते, इस जीव को आपत्ति और मृत्यु से बचा नहीं सकते।

जिसकी पराग तथा सौरभ से आकृष्ट होकर भँवरे जिस पर गूँज रहे हैं ऐसे कमल वन को मदोन्मत्त हाथी एक क्षण में उखाड़ कर फेंक देता है, उसी प्रकार यह मृत्युरूपी हाथी बलवन्त योद्धा, चक्रवर्ती, नारायण आदि सभी संसारी प्राणियों का निरंतर मर्दन करता है।

जिस प्रकार महावन में व्याघ्र द्वारा पकड़े हुए हिरण के बच्चे का अथवा सागर में जहाज से छूटे पक्षी का कोई रक्षक नहीं है, कोई शरण नहीं है; उसी प्रकार मृत्यु के मुख में आये हुए जीव को बचाने में कोई समर्थ नहीं है।

तीन लोक में स्थित मणि, मंत्र, औषधि, हाथी, घोड़ा, मित्र आदि कोई भी पदार्थ इस जीव को मृत्यु से बचाने में समर्थ नहीं है। परिश्रम से उपार्जित किया हुआ धन, निरंतर साथ में रहने वाले मित्रगण, एकत्र हुए कुटुम्बीजन और खान-पान देकर पुष्ट किया हुआ शरीर आदि भी विपत्ति में सहायक नहीं हो सकते एवं मृत्यु के मुख से जीव को बचा नहीं सकते, ऐसा चिंतन करना अशरणानुप्रेक्षा है।

अथवा - इस भव में भ्रमण करते हुए अनेक दुःखों से दुःखी प्राणी के लिए धर्म को छोड़कर अन्य कोई शरण नहीं है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप धर्म वा वस्तु स्वभाव रूप धर्म ही हमारा रक्षक है, वही मित्र है, विपत्तिरूपी समुद्र से पार करने के लिए नौका है, अविनाशी है, अतः धर्म की शरण में रहना चाहिए।

एकत्व भावना का स्वरूप

एको गर्भार्भकनवयौवनमध्यत्ववृद्धतावस्थाः।
व्याधिभयमरणशोकव्यायासाननुभवत्यात्मा ॥१४५॥

विविधसुखदुःखकारणशुभाशुभाख्यानकर्मसंघातम्।
स्वनिमित्तवशादेको बध्नाति विचित्रपरिणामैः ॥१४६॥

दृग्बोधनादिगुणरूपात्मा कर्माष्टकं निमित्ताभ्याम्।
उन्मूल्य समूलं स्वयमुपैति निर्वाणसुखमेकः ॥१४७॥

(इत्येकत्वानुप्रेक्षा)

अन्वयार्थ - आत्मा - आत्मा (जीव)। **एकः** - अकेला ही। **गर्भार्भकनवयौवनमध्यत्व-वृद्धतावस्थाः** - गर्भ, बच्चा, नव यौवन, मध्यावस्था, बुढ़ापा अवस्था। **व्याधिभयमरणशोकव्यायासान्** - व्याधि, भय, मरण, शोक, दुःखादि का। **अनुभवति** - अनुभव करता है॥४४॥

एकः - अकेला ही आत्मा। **स्वनिमित्तवशात्** - स्वनिमित्त के वश से। **विचित्रपरिणामैः** - विचित्र परिणामों के द्वारा। **विविधसुख-दुःखकारणशुभाशुभाख्यानकर्मसंघातं** - विविध सुखों और दुःखों के कारणभूत शुभ एवं अशुभ नामक कर्मसमूह को। **बध्नाति** - बाँधता है॥४५॥

स्वयं - आप ही। **दृग्बोधनादिगुणरूपात्मा** - दर्शन, ज्ञानादि गुण रूप आत्मा। **एकः** - अकेला ही। **निमित्ताभ्यां** - अंतरंग (उपादान), बहिरंग (निमित्त) इन दोनों कारणों के द्वारा। **कर्माष्टकं** - आठों कर्मों के समूह को। **समूलं** - मूल से। **उन्मूल्य** - उखाड़ करके। **निर्वाणसुखं** - निर्वाण सुख को। **उपैति** - प्राप्त करता है॥४६॥

यह आत्मा अकेला ही गर्भ सम्बन्धी दुःखों को भोगता है, अकेला ही बालपन, युवापन, मध्यावस्था और वृद्धावस्था सम्बन्धी अनेक दुःखों से पीड़ित होता है। शारीरिक पीड़ा, रोग, भय, मरण, शोक और अनेक प्रकार के मानसिक दुःखों का, चिन्ताओं का अकेला ही अनुभव करता है।

अकेला ही यह आत्मा स्वनिमित्तवश विचित्र परिणामों के द्वारा विविध प्रकार के सुख-दुःख के कारणभूत अनेक प्रकार के कर्मों के समूह को बाँधता है और अकेला ही तज्जन्य सुख-दुःखों को भोगता है।

दर्शन ज्ञान गुण स्वरूप आत्मा स्वयं अकेला ही अंतरंग और बहिरंग कारणों के द्वारा ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के समूह को जड़ से उखाड़ कर निर्वाणसुख को प्राप्त करता है।

ज्ञान-दर्शनादि अनंत गुणों का पिण्ड, शुद्ध बुद्ध एक निज स्वभाव को धारण करने वाला भी यह आत्मा अनादि काल से स्वरूप को भूलकर चतुर्गति रूप संसार में अनेक विभाव पर्यायों को धारण कर चौरासी लाख योनियों में अकेला ही जन्म, जरा मरण की आवृत्ति रूप महादुःखों का अनुभव कर रहा है। अकेला जन्म लेता है, अकेला मरता है और अकेला ही शुभ एवं अशुभ कर्मों के फल को भोगता है। कोई स्वजन या परिजन जन्म-जरा-मरणजन्य शारीरिक, मानसिक पीड़ाओं को दूर करने के लिए समर्थ नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप जो धर्म है, वही मेरे दुःख को मेटने में समर्थ है, अन्य कोई नहीं। इस रत्नत्रय रूप धर्म के द्वारा निर्विकल्प समाधि में लीन होकर कर्मरूप शत्रुओं का ध्वंस कर मैं अकेला ही निर्वाणसुख को प्राप्त कर सकता हूँ, अन्य कोई मुझे मोक्ष में पहुँचाने वाला नहीं है, इत्यादि रूप से चिंतन कर सांसारिक पदार्थों से ममत्व हटाना ही एकत्व भावना है।

अन्यत्व अनुप्रेक्षा का लक्षण

मातृपितृपुत्रपौत्रभ्रातृकलत्रादिबन्धुतां कर्म।
योजयति वियोजयति च मारुत इव जीर्णपर्णानि॥१४८॥

अन्योऽज्ञोऽयं प्राणी मोहोदयविह्वलीकृतोऽन्यस्य।
शोके हर्षे जाते करोति बत शोकहर्षौ च॥१४९॥

कार्येण जनस्य जनः शत्रुर्मित्रं च भवति लोकेऽस्मिन्।
भिन्नस्वभावकोऽयं सिकतामुष्टिवदशेषजनः॥१५०॥

ज्ञानादिगुणप्रकृतिक-जीवद्रव्यात्परं स्वकायादि।
यद् दृश्यते समस्तं तदन्यदिति बुद्धिमत्तत्त्वम्॥१५१॥

। इत्यन्यत्वानुप्रेक्षा ।

अन्वयार्थ - मारुतः - वायु। **इव** - जैसे। **जीर्णपर्णानि** - जीर्ण (सूखे) पत्तों को। **योजयति** - एकत्र कर देती है। **च** - और। **वियोजयति** - अलग-अलग कर देती है। उसी प्रकार। **कर्म** - कर्म। **मातृपितृ पुत्र पौत्र भ्रातृकलत्रादि बन्धुतां** - माता, पिता, पुत्र, पौत्र, स्त्री आदि की बन्धुता को। **योजयति** - एकत्र कर देता है। **च** - और कर्म ही उनका। **वियोजयति** - वियोग करा देता है॥४७॥

मोहोदयविह्वलीकृतः - मोह के उदय से विह्वल हुआ। **अयं** - यह। **अन्यः** - अन्य। **अज्ञः** - अज्ञानी। **प्राणी** - प्राणी। **अन्यस्य** - अन्य जीव के। **शोके** - शोक। **च** - और। **हर्षे** - हर्ष के। **जाते** - होने पर। **बत** - बड़े खेद की बात है कि स्वयं । **शोकहर्षौ** - शोक और हर्ष। **करोति** - करता है ॥४८॥

अस्मिन् - इस। **लोके** - लोक में। **सिकतामुष्टिवत्** - बालू रेत की मुष्टि के समान। **अयं** - यह। **अशेषजनः** - अशेषजन। **भिन्नस्वभावकः** - भिन्नस्वभाव वाले हैं फिर भी यह अज्ञ। **जनः** - प्राणी। **जनस्य** - जन के (अन्य जन के) **कार्येण** - कार्य से। **शत्रुः** - शत्रु। **च** - और। **मित्रं** - मित्र। **भवति** - होता है॥४९॥

स्वकायादि - स्वकीय शरीर आदि। **यत्** - जितने। **समस्तं** - सारी वस्तुयें। **दृश्यते** - दृष्टिगोचर हो रही हैं। **तत्** - वे । **ज्ञानादिगुणप्रकृतिकजीवद्रव्यात्** - ज्ञानादि गुण स्वभाव वाले जीवद्रव्य से। **पर** - भिन्न है। **इति** - इस प्रकार। **अन्यत्** - अन्यत्वानुप्रेक्षा ही। **बुद्धिमत्तत्त्वं** - बुद्धिमत् तत्त्व है॥५०॥

अर्थ - जिस प्रकार वायु जीर्ण सूखे पत्तों को एकत्र कर देती है तथा उनको पृथक् भी कर देती है, उसी प्रकार संसारी प्राणियों का यह कर्म माता, पिता, पुत्र, पौत्र, स्त्री आदि कुटुम्बियों से संयोग भी कराता है और वियोग भी अर्थात् पुत्र, पौत्रादि सांसारिक पदार्थों का संयोग और वियोग कर्मजन्य है, आत्मा से भिन्न है, तथापि मोहनीय कर्म के उदय से विह्वल हुआ अज्ञ प्राणी आत्मा से भिन्न पदार्थों के संयोग और वियोग से सुख-दुःख का अनुभव करता है। अन्य पदार्थों के अर्थात् पुत्र, पौत्रादि के हर्ष-विषाद में स्वयं हर्ष-विषाद करता है।

माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री आदि बन्धुजनों का समूह अपने कार्य के वश सम्बन्ध रखता है, परन्तु यथार्थ में जीव का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जिस प्रकार इस लोक में मुट्ठी में बँधी हुई बालू रेत मुट्ठी से भिन्न है, उसी प्रकार सारे संसार के सम्पूर्ण चेतन-अचेतन पदार्थ, पुत्र, पौत्रादिक, घर, सुवर्ण, आभूषणादिक आत्मा से भिन्न हैं, भिन्न स्वभाव वाले हैं। आत्मा से भिन्न कारणों से उत्पन्न हैं तथापि यह प्राणी सांसारिक कार्यों के कारण शत्रु और मित्र होता है, परन्तु वास्तव में कोई भी शत्रु, मित्र नहीं है।

जो नीर-क्षीर के समान एकक्षेत्रावगाही होकर दृष्टिगोचर हो रहा है, वह तथा अन्य घर, धन-धान्यादि वस्तुएँ ज्ञानदर्शन स्वभाव वाले आत्मा से पृथक् हैं, भिन्न हैं, इस प्रकार का विचार ही बुद्धिमत्त्व है, सम्यग्ज्ञानयुक्त है।

शरीर और आत्मा का बन्ध की अपेक्षा अभेद होने पर भी लक्षण की अपेक्षा भेद हैं क्योंकि शरीर ऐन्द्रियक है, आत्मा अतीन्द्रिय है, शरीर अज्ञ है, आत्मा ज्ञानी है, शरीर जड़ है, आत्मा चैतन्य है, शरीर अनित्य है, आत्मा नित्य है, शरीर आदि-अन्त वाला है और आत्मा अनादि अनन्त है। इस आत्मा ने मोकर्म के वशीभूत होकर अनन्त शरीर धारण किये हैं। जब शरीर ही आत्मा से भिन्न है, आत्मा का स्वरूप नहीं है तो पुत्र, पौत्रादिक प्रत्यक्ष पृथक् दृष्टिगोचर होने वाले आत्मा के कैसे हो सकते हैं। इस प्रकार चिंतन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

संसारानुप्रेक्षा का लक्षण

पञ्चविधे संसारे कर्मवशाज्जैनदेशितं मुक्तेः।
मार्गमपश्यन्प्राणी नानादुःखाकुले भ्रमति ॥१५२॥

सर्वेऽपि पुद्गलाः खल्वेकेनात्तोज्झिताश्च जीवेन।
ह्यसकृत्वनन्तकृत्वः पुद्गलपरिवर्त्तसंसारे ॥१५३॥

सर्वत्र जगत्क्षेत्रे देशो न ह्यस्ति जन्तुनाक्षुण्णः।
ह्यवगाहनानि बहुशो बंभ्रमता क्षेत्रसंसारे ॥१५४॥

उत्सर्पणावसर्पणसमयावलिकासु निरवशेषासु।
जातो मृतश्च बहुशः परिभ्रमन्कालसंसारे ॥१५५॥

नरक-जघन्यायुष्याद्युपरिग्रैवेयकावसानेषु।
मिथ्यात्वसंश्रितेन हि भवस्थितिर्भाविता बहुशः ॥१५६॥

सर्वप्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेश-बन्धयोग्यानि।
स्थानान्यनुभूतानि भ्रमता भुवि भावसंसारे ॥१५७॥

। इति संसारानुप्रेक्षा।

अर्थ - मुक्तेः - मुक्ति के। **मार्गं** - मार्ग को। **अपश्यन्** - नहीं देखता हुआ। **प्राणी** - संसारी

आत्मा। **कर्मवशात्** - कर्माधीन होकर। **जनदेशित** - जिनेन्द्र द्वारा कथित। **नानादुःखाकुले** - नाना दुःखों से भरे हुए। **पंचविधे** - पाँच प्रकार के। **संसारे** - संसार में। **भ्रमति** - भ्रमण कर रहा है।

पुद्गलपरिवर्त्तसंसारे - पुद्गल परिवर्तन रूप संसार में। **खलु** - निश्चय से। **हि** - क्योंकि। **एकेन** - इस अकेले एक। **जीवेन** - जीव ने। **असकृत्वनन्तकृत्वः** - बार बार अनन्तबार। **सर्वे** - सारे। **पुद्गलाः** - पुद्गलों को। **अपि** - भी। **आत्तोज्झिताः** - ग्रहण करके छोड़ा है।

क्षेत्रसंसारे - क्षेत्रसंसार में। **बंभ्रमता** - भ्रमण करते हुए। **जन्तुना** - जन्तु के द्वारा। **बहुशः** - बहुत बार। **सर्वत्र** - सर्वत्र। **जगत्क्षेत्रे** - जगत् क्षेत्र में। **अवगाहनानि** - अवगाहन किया है। जन्म-मरण किया है। **हि** - निश्चय से। **अक्षुण्णः** - जन्तु के द्वारा बिना जन्म-मरण किया हुआ। **देशः** - देश (क्षेत्र)। **न** - नहीं। **अस्ति** - है।

कालसंसारे - कालसंसार में। **परिभ्रमन्** - परिभ्रमण करता हुआ यह जीव। **निरवशेषासु** - सम्पूर्ण। **उत्सर्पणावसर्पण-समयावलिकासु** - उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल के समय और आवलियों में। **बहुशः** - अनेक बार। **जातः** - जन्मा है। **च** - और। **मृतः** - मरा है।

हि - निश्चय से। **मिथ्यात्वसंश्रितेन** - मिथ्यात्व संयुक्त जीव ने। **नरकजघन्यायुष्याद्युपरिग्रैवेयका - वसानेषु** - नरक की जघन्य आयु से लेकर ऊपर के ग्रैवेयक विमान तक की आयु को क्रम से। **बहुशः**- अनेक बार। **भवस्थितिः** - भवस्थिति। **भाविता** - प्राप्त की है।

भावसंसारे - भावसंसार में। **भ्रमता** - भ्रमण करते हुए जीव ने। **भुवि** - पृथ्वी पर (संसार में) **सर्वप्रकृतिस्थित्यनुभाग-प्रदेशबंधयोग्यानि** - सर्व प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध के योग्य। **स्थानानि** - स्थानों का। **अनुभूतानि** - अनुभव किया है।

संसरण को संसार कहते हैं जिसका अर्थ परिवर्तन है। मिथ्यादर्शनादि विभाव के वश होकर यह विकारी आत्मा एक शरीर को छोड़ता है और दूसरे नवीन शरीर को ग्रहण करता है। पश्चात् उसको भी छोड़कर दूसरा नूतन शरीर ग्रहण करता है। इस प्रकार परिभ्रमण में इस जीव ने अनन्तानन्त शरीर छोड़े हैं और ग्रहण किये हैं। इस शरीर एवं रागद्वेष के कारण यह जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है और वचनातीत शारीरिक एवं मानसिक दुःखों का भोग कर रहा है।

अनादि काल से जन्म - मरण करते हुए इस जीव ने एक - एक करके लोकस्थ सर्वपुद्गल परमाणुओं को, तीन सौ तैंतालीस राजू प्रमाण सर्व आकाश प्रदेशों को, काल के सर्व समयों को, सर्व प्रकार के कषाय भावों को और नरकादि सर्व भवों को अनन्तानन्त बार ग्रहण करके छोड़ा है। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के परिवर्तन से संसार भी पंच प्रकार का है।

विशेषार्थ - द्रव्य परिवर्तन दो प्रकार का है द्रव्यकर्म परिवर्तन और नोकर्मद्रव्य परिवर्तन।

यह पुद्गल (नोकर्म) परिवर्तनकाल तीन प्रकार का होता है: अगृहीतग्रहण काल, गृहीत ग्रहण काल

और मिश्रकाल। अगृहीत पुद्गल को ग्रहण करने के समय को अगृहीत ग्रहण काल, गृहीत के ग्रहण करने के समय को गृहीत ग्रहण काल और मिश्रवर्गणा के ग्रहणकाल को मिश्र ग्रहणकाल कहते हैं। जैसे किसी एक जीव ने तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को एक समय में ग्रहण किया। अनन्तर वे पुद्गल स्निग्ध या रूक्ष स्पर्श तथा वर्ण और गन्ध आदि के द्वारा जिस तीव्र, मन्द और मध्यम भाव से ग्रहण किये थे उसी रूप से अवस्थित रहकर द्वितीयादि समयों में निर्जीर्ण हो गये। तत्पश्चात् अगृहीत परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा, मिश्र परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा और बीच में गृहीत परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा तत्पश्चात् जब उसी जीव के सर्वप्रथम ग्रहण किये गये वे ही परमाणु उसी प्रकार से नोकर्म भाव को प्राप्त होते हैं, तब यह सब मिलकर एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन है।

एक जीव ने आठ प्रकार के क्रम रूप से जिन पुद्गलों को ग्रहण किया है वे समयाधिक एक आवली के बाद द्वितीयादि समयों में (निर्जीर्ण होकर) झर गये। पश्चात् जो क्रम नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन में बतलाया है उसी क्रम से वे पुद्गल भी उसी प्रकार से उस जीव के जब कर्मभाव को प्राप्त होते हैं तब यह सब मिलकर एक कर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है। इस जीव ने सभी पुद्गलों को क्रम से भोगकर छोड़ा है और इस प्रकार यह जीव अनन्तबार पुद्गल परिवर्तनरूप संसार में घूमता रहता है।

क्षेत्र परिवर्तन संसार भी स्वक्षेत्र और परक्षेत्र के भेद से दो प्रकार का है :

स्वक्षेत्र परिवर्तन का स्वरूप इस प्रकार है - कोई जीव सूक्ष्मनिगोदिया की जघन्य अवगाहना से उत्पन्न हुआ और अपनी आयु प्रमाण जीवित रहकर मर गया। फिर वही जीव एक प्रदेश अधिक अवगाहना लेकर उत्पन्न हुआ। इस प्रकार एक-एक प्रदेश अधिक की अवगाहनाओं को क्रम से धारण करते-करते महामत्स्य की उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त संख्यात घनांगुल प्रमाण अवगाहनाओं के विकल्पों को वही जीव जितने समय में धारण करता है, उतने काल के समुदाय को स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

परक्षेत्रपरिवर्तन रूप संसार में अनेक बार भ्रमण करता हुआ यह जीव तीनों लोकों में सम्पूर्ण क्षेत्र में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ पर अपनी अवगाहना वा परिणाम को लेकर उत्पन्न न हुआ हो। अर्थात् जिसका शरीर आकाश के सबसे कम प्रदेशों पर स्थित है ऐसा एक सूक्ष्म निगोद लब्ध पर्याप्तकजीव लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य में करके उत्पन्न हुआ और क्षुद्र भव ग्रहण काल तक जीवित रहकर मर गया। इसके पश्चात् वही जीव पुनः उसी अवगाहना से वहाँ दूसरी बार उत्पन्न हुआ, तीसरी बार उत्पन्न हुआ, चौथी बार उत्पन्न हुआ, इस प्रकार अंगुल के असंख्यातवें भाग में आकाश का एक-एक प्रदेश बढ़ाकर सम्पूर्ण लोक को अपना जन्मक्षेत्र बनाया। इस प्रकार वह सब मिलकर एक क्षेत्रपरिवर्तन होता है। अर्थात् क्रमशः तीन सौ तैंतालीस राजू प्रमाण क्षेत्र को स्वकीय जन्म-मरण का स्थान बनाता है।

काल परिवर्तन रूप संसार में भ्रमण करता हुआ उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल के सम्पूर्ण समयों और आवलियों में अनेक बार जन्म धारण करता है और मरता है। जैसे - कोई जीव उत्सर्पिणी के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और आयु के समाप्त हो जाने पर मर गया। पुनः वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय

में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के समाप्त होने पर मर गया। पुनः वही जीव तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार इसने क्रम से उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी प्रकार अवसर्पिणी भी। यह जन्म नैरन्तर्य कहा तथा इसी प्रकार मरण का भी नैरन्तर्य लेना चाहिए। यह सब मिलकर एक काल परिवर्तन है।

भव परिवर्तन निर्देश - मिथ्यात्वसंयुक्त इस जीव ने नरक की छोटी सी आयु लेकर ऊपर के ग्रैवेयक विमान तक की आयु क्रम से अनेक बार पाकर संसार-भ्रमण किया है।

नरक गति में सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। एक जीव उस आयु से वहाँ उत्पन्न हुआ पुनः घूम फिरकर पुनः उसी आयु से वहाँ उत्पन्न हुआ और मर गया। पुनः आयु में एक-एक समय बढ़ाकर नरक की तैंतीस सागर आयु पूरी की। इसी प्रकार मनुष्य गति में अन्तर्मुहूर्त आयु के साथ तिर्यंच गति में उत्पन्न हुआ और पूर्वोक्त क्रम से उसने तिर्यंच गति की तीन पल्य आयु समाप्त की। इसी प्रकार मनुष्य गति में अन्तर्मुहूर्त से लेकर तीन पल्य आयु समाप्त की तथा देवगति में नरक गति के समान आयु समाप्त की। किन्तु देवगति में इतनी विशेषता है कि यहाँ ३१ सागर आयु समाप्त होने तक कथन करना चाहिए। क्योंकि ऊपर नव अनुदिश आदि के देव संसार में भ्रमण नहीं करते। इस प्रकार यह सब मिलकर एक भव परिवर्तन है।

पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई एक जीव ज्ञानावरण प्रकृति की सबसे जघन्य अपने योग्य अन्तःकोड़ा-कोड़ी प्रमाण स्थिति को प्राप्त होता है, उसके उस स्थिति के योग्य षट्स्थान पतित असंख्यात लोकप्रमाण कषाय अध्यवसाय स्थान होते हैं और सबसे जघन्य कषाय अध्यवसाय स्थानों के निमित्त से असंख्यात लोकप्रमाण अनुभाग अध्यवसाय स्थान होता है। इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषाय अध्यवसाय स्थान और सबसे जघन्य अनुभाग अध्यवसाय स्थानों को धारण करने वाले इस जीव के तद्योग्य सबसे जघन्य योगस्थान होता है। तत्पश्चात् स्थिति कषाय अध्यवसाय स्थान और अनुभाग अध्यवसाय स्थान वही रहते हैं, किन्तु योगस्थान दूसरा हो जाता है जो असंख्यात भाग वृद्धि संयुक्त होता है। इसी प्रकार तीसरे चौथे आदि योगस्थानों में समझना चाहिए। ये सब योग स्थान चार स्थान पतित होते हैं और इनका प्रमाण श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। तदनन्तर उसी स्थिति और उसी कषाय अध्यवसाय स्थान को धारण करने वाले जीव के दूसरा अनुभाग अध्यवसाय स्थान होता है। इसके योगस्थान पूर्व के समान असंख्यात भागवृद्धि संयुक्त होता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ पर भी पूर्वोक्त तीन बातें (स्थिति, कषाय और अनुभाग) ध्रुव रहती हैं, परन्तु योगस्थान श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है। इस प्रकार असंख्यात लोकप्रमाण अनुभाग अध्यवसाय स्थान के होने तक तीसरे आदि अनुभाग अध्यवसाय स्थानों में जानना चाहिए। तात्पर्य यह कि यहाँ स्थिति और कषाय अध्यवसाय स्थान तो जघन्य ही रहते हैं किन्तु अनुभाग अध्यवसाय स्थान क्रम से असंख्यात लोकप्रमाण हो जाते हैं और एक-एक अनुभाग अध्यवसाय स्थान के प्रति जगत् श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान होते हैं।

तत्पश्चात् उसी स्थिति को प्राप्त होने वाले जीव के दूसरा कषाय अध्यवसाय स्थान होता है, इसके भी अनुभाग अध्यवसाय स्थान और योगस्थान पूर्वोक्त जानने चाहिए। इस प्रकार असंख्यात लोकप्रमाण कषाय अध्यवसाय स्थानों के होने तक तीसरे कषाय अध्यवसाय स्थानों में वृद्धि क्रम जानना चाहिए।

जिस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति के कषायादि स्थान कहे हैं, उसी प्रकार एक समय अधिक जघन्य स्थिति के भी कषायादि स्थान जानने चाहिए। इसी प्रकार एक-एक समय अधिक के क्रम से ज्ञानावरणादि की तीस कोड़ा कोड़ी सागर और मोहनीय की सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त प्रत्येक स्थिति विकल्प के भी कषाय, अनुभाग और योग स्थान जानने चाहिए।

अनन्त भाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुण वृद्धि, असंख्यात गुण-वृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि, ये छह वृद्धि के स्थान हैं। इसी प्रकार हानि के भी छह स्थान हैं। इनमें से अनन्त भाग वृद्धि और अनन्त गुण वृद्धि इन दो स्थानों को छोड़ देने पर चार स्थान होते हैं। इस प्रकार सर्व मूल और उत्तर प्रकृतियों के परिवर्तन का क्रम जानना चाहिए। यह सब मिलाकर भाव परिवर्तन होता है।

इस जीव ने मिथ्यादर्शन के संयोगवश प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध के कारणभूत जितने प्रकार के परिणाम वा भाव हैं उन सब का अनुभव करते हुए भाव परिवर्तन रूप संसार में अनेक बार भ्रमण किया है। इस प्रकार इस पंच प्रकार रूप संसार का चिंतन करना संसारानुप्रेक्षा है।

इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवरूप पाँच प्रकार के संसार का चिंतन करने वाले इस जीव के संसार-रहित निज शुद्धात्म ज्ञान के नाशक तथा संसारवृद्धि के कारणभूत, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग में परिणाम नहीं जाते, बन्ध के ये पाँचों कारण मन्दतर हो जाते हैं तथा यह आत्मा संसारातीत सुख के अनुभव में लीन होकर निज शुद्धात्म ज्ञान के बल से संसार को नष्ट करने वाली निज निरंजन परमात्मा की भावना करता है तथा परमात्मा की भावना से कर्मों का क्षय कर स्वयं परमात्मा बन जाता है।

कर्मविपाकवश आत्मा के भवान्तर की प्राप्ति ही संसार है, जिसका पहले पाँच परिवर्तन रूप से कथन किया है।

चौरासी लाख योनियों और एक सौ साढ़े निन्यानवे लाख करोड़ कुलों से व्याप्त संसार में भ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मयंत्र से प्रेरित होकर पिता से पुत्र भाई होता है, पुत्र होकर वहीं पौत्र हो जाता है। माता होकर भगिनी, भार्या, दासी, दास भी हो जाता है। जिस प्रकार रंगस्थल में नट नाना रूप धारण करता है, उसी प्रकार यह जीव अनेक योनि रूप नाना भेष को धारण करता है। इत्यादि रूप से संसार के स्वरूप का चिंतन करना, नरकादि चारों गतियों के दुःख का विचार करना संसारानुप्रेक्षा है।

लोकानुप्रेक्षा का स्वरूप

जीवाद्यर्था यस्मिन्, लोक्यन्तेऽसौ निरुच्यते लोकः।
सोऽधो मध्योर्ध्वभिदा त्रेधा बहुधा प्रभेदैः स्यात्॥१५८॥

स्यात्सुप्रतिष्ठकाकृतिरनादिनिधनात्मको ह्यधः सदृशः।
वेत्रासनेन मध्यं झल्लर्योर्ध्वं मृदङ्गेन ॥१५९॥

सप्ताधो नरकाः स्युर्मध्ये द्वीपाम्बुराशयोऽसंख्याः।
स्वर्गास्त्रिषष्टिभेदा निर्वाणक्षेत्रमत्रोर्ध्वम् ॥१६०॥

अत्युष्णशीतकर्कशरूक्षाशुचिरतिविरसदुर्गन्धि-।
भूमिषु नरकेषूग्रं दुःखं प्राप्नोति पापिजनः ॥१६१॥

छेदन-भेदनताडन-बन्धन-विशसन विलम्बनोत्तपन-।
ज्वलनादिकर्म सततं प्रकुर्वते नरकिणोऽन्योन्यम् ॥१६२॥

एकद्वित्रिचतुः पञ्चेन्द्रियसंज्ञाश्च जगति तिर्यञ्चः।
दुःखमनेकविकल्पं पापोदर्कादनुभवन्ति ॥१६३॥

मनुजेषु पापपाकाद् दुःखमनेकप्रकारमाप्नोति।
प्राणिगणः पुण्यवशादभ्युदयसुखानि विविधानि ॥१६४॥

शुद्धाशुद्धचरित्रैर्नानाभेदोच्चनीचनिलयेषु।
संभूतो देवगणः सौख्यमनो दुःखमनुभवति ॥१६५॥

मर्त्यक्षेत्रसमाने श्वेतच्छत्रोपमे जगच्छिखरे।
स्वोत्थं सौख्यमनन्तं विध्वस्ताघो जनो भजते ॥१६६॥

। इति लोकानुप्रेक्षा।

अन्वयार्थ - **यस्मिन्** - जिसमें। **जीवाद्यर्था** - जीवादि पदार्थ। **लोक्यन्ते** - देखे जाते हैं, पाये जाते हैं। **असौ** - वह। **लोकः** - लोक। **निरुच्यते** - कहा जाता है। **सः** - वह लोक। **बहुधा** - बहुत से। **प्रभेदैः** - प्रभेदों के साथ। **अधोमध्योर्ध्वभिदा** - अधोलोक, ऊर्ध्वलोक और मध्यलोक के भेद से। **त्रेधा** - तीन प्रकार का। **स्यात्** - होता है।

अनादिनिधनात्मकः - अनादि अनिधन स्वरूप है। **सुप्रतिष्ठकाकृतिः** - पुरुषाकार है। **अधः** -अधो लोक। **वेत्रासनेन** - वेत्रासन के। **सदृशः** - समान। **स्यात्** - होता है। **मध्यं** - मध्यलोक। **झल्लरि** - झल्लरी या गोल है और। **ऊर्ध्वं** - ऊर्ध्वलोक। **मृदंगेन** - मृदंग के। **सदृशः** - समान है।

अधः - अधोलोक में। **सप्त** - सात। **नरकाः** - नरक। **स्युः** - हैं। **मध्ये** - मध्य लोक में। **असंख्याः** - असंख्यात। **द्वीपाम्बुराशयः** - द्वीप और समुद्र हैं। और। **अत्र** - यहाँ। **ऊर्ध्वं** - ऊर्ध्व लोक में। **त्रिषष्टिभेदः** - त्रेसठ पटल भेद वाले। **स्वर्गाः** - स्वर्ग हैं और। **निर्वाणक्षेत्रं** - निर्वाण क्षेत्र सिद्धलोक - सिद्धलोक है।

पापिजनः - हिंसादि पाँच पाप करने वाला जन। **अत्युष्णशीतकर्कशरूक्षाशुचिः अतिविरसदुर्गन्धि - भूमिषु** - अति तीव्र उष्ण, शीत, कठोर, अशुचि, अतिविरस दुर्गन्धियुक्त भूमि वाले। **नरकेषु** - नरकों में। **उग्रं** - उग्रं। **दुःखं** - दुखों को। **प्राप्नोति** - प्राप्त करता है।

नरकिणः - नरक में रहने वाले नारकी। **अन्योन्यं** - एक दूसरे को (परस्पर)। **छेदन-भेदन-ताड़न-बन्धन-विशसन-विलम्बनोत्तपनज्वलनादि कर्म** - छेदन, भेदन, ताड़न, बन्धन, विशसन, विलम्बन, उत्तपन, ज्वलनादि कार्य। **सततं** - निरंतर। **प्रकुर्वते** - करते हैं।

च - और। **जगति** - इस जगत् में। **पापोदर्कात्** - पाप कर्म के उदय से। **एकद्वित्रि चतुः पंचेन्द्रिय संज्ञाः** - एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय संज्ञी, असंज्ञी आदि भेद वाले। **तिर्यञ्चः** - तिर्यञ्च होकर। **अनेकविकल्पं** - अनेक विकल्प वाले। **दुःखं** - दुःख का। **अनुभवन्ति** - अनुभव करते हैं।

प्राणिगणः - संसारी प्राणी। **मनुजेषु** - मनुष्य पर्याय में। **पापपाकात्** - पाप कर्म के उदय से। **अनेक प्रकारं** - अनेक प्रकार के। **दुःखं** - दुःखों को और। **पुण्यवशात्** - पुण्य के उदय से। **विविधानि** - अनेक प्रकार के। **अभ्युदयसुखानि** - चक्रवर्ती आदि अभ्युदयजन्य सुखों को। **आप्नोति** - प्राप्त करते हैं।

शुद्धाशुद्धचरित्रैः - शुद्ध और अशुद्ध चारित्र के द्वारा। **नानाभेदोच्चनीचनिलयेषु** - नाना प्रकार के भेद वाले उच्च नीच निलयों में। **देवगणः** - देवगण। **संभूतः** - होकर। **सौख्यमनः** - सुखमन होकर भी। **दुःखं** - दुःख का। **अनुभवति** - अनुभव करता है।

विध्वस्ताघः - नष्ट कर दिया है पाप को जिन्होंने ऐसे। **जनः** - प्राणी। **मर्त्यक्षेत्रसमाने** - मनुष्यक्षेत्र के समान। **श्वेतच्छत्रोपमे** - श्वेत छत्र की उपमा वाले। **जगच्छिखरे** - जगत् के शिखर पर (लोक के अग्रभाग पर) **स्वोत्थं** - आत्मोत्थ। **अनन्तं** - अनन्त। **सौख्यं** - सुख को। **भजते** - भोगते हैं।

अर्थ - जिस क्षेत्र (आकाश) में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छहों द्रव्य देखे जाते हैं, पाये जाते हैं उसको लोक कहते हैं। अथवा षट् द्रव्यों के समूह को लोक कहते हैं। जन्म, जरा और मरण से व्याप्त संसार भी लोक कहलाता है। अथवा, जहाँ पर पुण्य - पाप का फल सुख - दुःख देखा जाता है वह लोक है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार लोक का अर्थ आत्मा होता है। आत्मा स्वयं अपने स्वरूप का लोकन करता है अतः आत्मा लोक है।

इस लोक के बहुत से भेद-प्रभेद हैं, परन्तु मुख्यतया तीन भेद हैं - अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक।

यह लोक अनादि अनिधन है तथा पुरुषाकार या डेढ़ मुरज के आकार का है। वा सुप्रतिष्ठक

आकार वाला है। अधोलोक का आकार वेत्रासन है अर्थात् अर्ध मृदंग के आकार का है। यह अधोलोक दक्षिण उत्तर दिशा में सात राजू मोटा है, इसकी ऊँचाई भी सात राजू है। नीचे सात राजू चौड़ा और सात राजू की ऊँचाई पर एक राजू चौड़ा है। अर्थात् पूर्व-पश्चिम में घटते-घटते अन्त में मध्यलोक के स्थान पर एक राजू शेष रह जाता है। मध्यलोक का आकार झल्लरी के समान है, अर्थात् खड़े किये हुए आधे मृदंग के ऊर्ध्व भाग के समान है। यह मध्यलोक मेरुतलभाग से उसकी चोटी पर्यन्त एक लाख योजन ऊँचा और एक राजू प्रमाण विस्तार से युक्त है।

सुमेरु पर्वत की चोटी से एक बाल मात्र अन्तर से ऊर्ध्वलोक प्रारंभ होकर लोक-शिखर पर्यन्त एक लाख योजन कम सात राजू प्रमाण ऊर्ध्वलोक है। उसमें भी लोकशिखर से २१ योजन ४२५ धनुष नीचे तक तो स्वर्ग है और उससे ऊपर लोकशिखर पर सिद्धलोक है।

तीन भागों में विभाजित लोक का यह आयाम दक्षिण और उत्तर दिशा में जगत् श्रेणी प्रमाण अर्थात् सात राजू है। पूर्व और पश्चिम भाग में भूमि और मुख का व्यास क्रमशः सात राजू, एक राजू, पाँच राजू और एक राजू है अर्थात् लोक का आयाम सर्वत्र सात राजू है। परन्तु विस्तार क्रम से लोक के नीचे सात राजू, मध्यलोक में एक राजू, ब्रह्म स्वर्ग पर पाँच राजू और लोक के अन्त में एक राजू है। सम्पूर्ण लोक की ऊँचाई १४ राजू प्रमाण है। अर्ध मृदंगाकार अधोलोक की ऊँचाई भी सात राजू है और पूर्ण मृदंग प्रमाण ऊर्ध्व लोक की ऊँचाई भी सात राजू है।

तीन लोक में से अर्ध मृदंग आकार अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा ये सात पृथिवियाँ एक-एक राजू के अन्तराल में स्थित हैं। इनका अपर नाम घम्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी है।

मेरुपर्वत के नीचे वज्र वा वैडूर्य पटलों के बीच में चौकोर संस्थान रूप से अवस्थित आकाश के आठ प्रदेश लोक का मध्य है।

मध्यलोक के अधोभाग से प्रारंभ होकर पहला राजू शर्कराप्रभा पृथिवी के अधोभाग में समाप्त होता है। इससे दूसरा राजू प्रारंभ होता है और बालुकाप्रभा के अधोभाग में समाप्त होता है। इसी प्रकार तीसरा राजू पंकप्रभा के अधोभाग में, चौथा धूम - प्रभा के अधोभाग में, पाँचवाँ तमप्रभा के अधोभाग में, छठा महातम प्रभा के अधोभाग में और सातवाँ लोक के तल भाग में समाप्त होता है। इस प्रकार अधोलोक की सात राजू ऊँचाई का विभाजन है।

अधोलोक में सर्वप्रथम रत्नप्रभा पृथिवी है। उसके तीन भाग हैं, खरभाग, पंकभाग और अब्बहुलभाग। रत्नप्रभा के नीचे क्रमशः शर्कराप्रभा आदि छह पृथिवियाँ हैं।

सातों पृथिवियाँ ऊर्ध्व दिशा को छोड़कर शेष नौ दिशाओं में घनोदधिवातवलय से लगी हुई हैं, परन्तु आठवीं पृथिवी दशों - दिशाओं में घनोदधिवातवलय से लगी हुई हैं। उपर्युक्त पृथिवियाँ पूर्व और पश्चिम दिशा के अन्तराल में वेत्रासन के सदृश आकार वाली हैं तथा उत्तर और दक्षिण में समान रूप से दीर्घ एवं अनादिनिधन हैं।

रत्नप्रभा भूमि के तीन भागों में से खरभाग सोलह हजार योजन मोटा, पंक भाग चौरासी हजार योजन मोटा और अब्बहुल भाग अस्सी हजार योजन मोटा है। इस प्रकार रत्नप्रभा भूमि एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है।

खर भाग १६ प्रस्तरों में विभाजित है। उसमें एक-एक प्रस्तर एक-एक हजार योजन मोटा है।

इस रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग में ऊपर नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर मध्य में १४ हजार योजन भूमि में सात प्रकार के व्यंतर और नव प्रकार के भवनवासी देव रहते हैं। असुरकुमार और व्यन्तरों के राक्षस ये दो जाति के देव पंक भाग में रहते हैं।

अब्बहुल भाग अस्सी हजार योजन मोटा है। उसमें प्रथम नरक के नारकी रहते हैं।

दूसरी शर्करा नामक पृथ्वी बत्तीस हजार योजन मोटी है। तीसरी बालूका भूमि अट्ठाईस हजार योजन मोटी है। चौथी पंक - प्रभा भूमि चौबीस हजार योजन मोटी है। पाँचवी धूमप्रभा बीस हजार योजन मोटी है। छठी तमप्रभा पृथ्वी सोलह हजार योजन मोटी है और सातवीं महातम भूमि आठ हजार योजन मोटी है।

ये सातों भूमियाँ उत्तरोत्तर नीचे-नीचे हैं, परन्तु परस्पर भिड़कर नहीं हैं, अपितु एक-दूसरी भूमि के बीच में एक-एक राजू प्रमाण अन्तर है। ये सातों भूमियाँ घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश के आधार से स्थित हैं। अर्थात् प्रत्येक भूमि घनोदधि के आधार से स्थित है, घनोदधि घनवात के आधार स्थित है, घनवात तनुवात के आधार स्थित है, तनुवात आकाश के आधार स्थित है और आकाश अपने आधार से स्थित है।

प्रथम भूमि के तीसरे भाग अब्बहुल की और शेष छह भूमियों की जितनी-जितनी मोटाई बतलाई है उसमें से ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन भूमि को छोड़कर छहों भूमियों के मध्य भाग में नरक है अर्थात् नीचे-नीचे सात नरक हैं। परन्तु सातवीं भूमि के ठीक मध्य भाग में नरक बिल है। रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में १३ पटल हैं और तीस लाख बिल हैं। शर्करा नामक दूसरे नरक में ११ पटल और २५ लाख बिल हैं। बालुकाप्रभा नामक तीसरे नरक में ९ पटल और १५ लाख बिल हैं। पंक नामक चौथे नरक में ७ पटल और १० लाख बिल हैं। धूम नामक पाँचवें नरक में ५ पटल और ३ लाख बिल हैं। तमप्रभा नामक छठे नरक में तीन पटल और पाँच कम एक लाख बिल हैं। महातमप्रभा नामक सातवें नरक में एक पटल और पाँच बिल हैं। सारे पटल उनचास और बिल चौरासी लाख हैं। प्रत्येक भूमि के पटल एक-एक हजार योजन अन्तराल से ऊपर नीचे स्थित हैं। जिस प्रकार पत्थर या मिट्टी के एक घर पर दूसरा घर अवस्थित है, उसी प्रकार ये पटल हैं। पटल और बिलों का आकार विविध प्रकार का है। कोई गोल है, कोई त्रिकोण है, कोई चतुष्कोण है और कोई अनिश्चित आकार वाले हैं। ये सर्व बिल वज्रमयी भीत्तियों से युक्त हैं।

इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक के भेद से ये बिल तीन प्रकार के हैं। पूर्वादि चार दिशाओं में और

चार विदिशाओं में स्थित बिल श्रेणीबद्ध कहलाते हैं। दिशा और विदिशा के मध्य में स्थित इन्द्रक बिल है और पुष्प के समान बिखरे हुए बिलों को प्रकीर्णक कहते हैं।

इन्द्रक बिलों का विस्तार संख्यात योजन प्रमाण है। श्रेणीबद्ध बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं और प्रकीर्णक कुछ संख्यात योजन और कुछ असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। संख्यात योजन वाले बिलों में संख्यात नारकी रहते हैं तथा असंख्यात योजन वाले बिलों में असंख्यात नारकी रहते हैं। जो बिल संख्यात योजन विस्तार वाले हैं उन बिलों का परस्पर जघन्य अंतराल डेढ़ योजन और उत्कृष्ट अन्तराल तीन योजन प्रमाण है। असंख्यात योजन विस्तार वाले बिलों का परस्पर जघन्य अंतराल सात हजार योजन और उत्कृष्ट असंख्यात योजन है।

प्रथम नरक में इन्द्रक बिल १३ हैं, श्रेणीबद्ध चार हजार चार सौ बीस हैं। प्रकीर्णक उनतीस लाख, पिच्यानवे हजार पाँच सौ सड़सठ हैं, सारे मिलाकर तीस लाख बिल हैं।

दूसरे नरक में ११ इन्द्रक बिल हैं, दो हजार छह सौ चौरासी श्रेणीबद्ध बिल हैं और चौबीस लाख, उन्यासी हजार तीन सौ पाँच (२४,७९,३०५) प्रकीर्णक बिल हैं, सारे बिल पच्चीस लाख हैं।

तीसरे नरक में नौ इन्द्रक बिल हैं, एक हजार चार सौ छिहत्तर श्रेणीबद्ध हैं और चौदह लाख अट्ठानवे हजार पाँच सौ पन्द्रह प्रकीर्णक हैं। सारे मिलाकर तीसरे नरक के १५ लाख बिल हैं।

चतुर्थ नरक में सात इन्द्रक बिल हैं, सात सौ श्रेणीबद्ध हैं और नौ लाख निन्यानवे हजार दो सौ तिरानवे प्रकीर्णक बिल हैं। सारे मिलाकर दश लाख बिल हैं।

पाँचवें नरक में पाँच नरक बिल हैं, दो सौ आठ श्रेणीबद्ध बिल हैं। दो लाख निन्यानवे हजार सात सौ पैंतीस प्रकीर्णक बिल हैं। सारे तीन लाख बिल हैं।

छठे नरक में तीन इन्द्रक बिल हैं, साठ श्रेणीबद्ध बिल हैं और निन्यानवे हजार नौ सौ बत्तीस प्रकीर्णक बिल हैं। इस नरक के सारे बिल ९९९९५ हैं।

सातवें नरक में प्रकीर्णक बिल नहीं हैं, चार श्रेणीबद्ध हैं, चारों दिशाओं में एक और मध्य में इन्द्रक बिल है, इस प्रकार इस नरक में पाँच बिल हैं। सारे बिल चौरासी लाख हैं।

यद्यपि केवली भगवान के ज्ञान में सारे बिलों के नाम अवस्थित हैं क्योंकि बिना नाम की कोई वस्तु नहीं है तथापि वचनों में सबके नाम कथन करने की शक्ति नहीं है, अत: जैन ग्रन्थों में उनचास इन्द्रक बिलों के नाम इस प्रकार हैं -

१. सीमंतक, २. निरय, ३. रौरुक, ४. भ्रान्त, ५. उद्भ्रान्त, ६. संभ्रान्त, ७. असंभ्रान्त, ८. विभ्रांत, ९. तप्त, १०. त्रसित, ११. वक्रान्त, १२. अवक्रान्त और १३. विक्रान्त, ये १३ रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक के इन्द्रक बिलों के नाम हैं।

२. शर्करा पृथिवी के ११ इन्द्रक बिलों के स्तनक, तनक, मनक, वनक, घात, संघात, जिह्वा, जिह्वक, लोल, लोलुक और स्तनलोलुक नाम हैं।

३. बालुकाप्रभा पृथिवी के नौ इन्द्रक बिलों के नाम इस प्रकार हैं: तप्त, शीत, तपन, तापन, निदाघ, प्रज्वलित, उज्वलित, संज्वलित और संप्रज्वलित।

४. पंकप्रभा-भूमि के इन्द्रक बिलों के आर, मार, तार, तत्त्व, तमक, वाद और खड़खड़ नाम हैं।

५. धूमप्रभा पृथ्वी के बिलों के नाम हैं - तमक, भ्रमक, झषक, अन्ध और तिमिश्र।

६. तमप्रभा पृथ्वी के इन्द्रक बिलों के हिम, वर्दल और लल्लक नाम हैं।

७. महातम नामक सातवीं पृथ्वी में अप्रतिष्ठ नामक एक ही इन्द्रक बिल हैं।

इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों के ऊपर अनेक प्रकार की तलवारों से युक्त, अर्धवृत्त और अधोमुख वाली जन्मभूमियाँ हैं। वे जन्मभूमियाँ घर्मा (प्रथम) को आदि लेकर तीसरी पृथिवी तक उष्ट्रिका, कोथली, कुम्भी, मुद्गलिका, मुद्गर, मृदंग और नालि के सदृश हैं। चतुर्थ व पंचम पृथिवी में जन्मभूमियों का आकार गाय, हाथी, घोड़ा भस्रा, अब्जपुट, अम्बरीय और द्रोणी जैसा है। छठी और सातवीं पृथिवी की जन्मभूमियाँ झालर (वाद्य विशेष), भल्लक (पात्र विशेष), पात्री, केयूर, मसूर, शानक, किलिंज (तृण की बनी हुई टोकरी), ध्वज, द्वीपी, चक्रवाक, शृगाल, अज, खर, करभ, संदोलक (झूला) और रीछ के सदृश हैं। ये जन्मभूमियाँ दुष्प्रेक्ष्य एवं महा भयानक हैं। उपर्युक्त नारकियों की जन्मभूमियाँ अन्त में करोंत के सदृश, चारों तरफ से गोल, मज्जवमयी और भयंकर हैं। उपर्युक्त जन्मभूमियों का विस्तार जघन्य से ५ कोस, उत्कृष्ट रूप से ४०० कोस और मध्यमरूप से १०-१५ कोस है। जन्मभूमियों की ऊँचाई अपने-अपने विस्तार की अपेक्षा पाँच गुणी है। ये जन्मभूमियाँ ७,३,२,१ और पाँच कोण वाली हैं। जन्मभूमियों में १, २, ३, ५ और ७ द्वार कोण और इतने ही दरवाजे होते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था केवल श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों में ही है। इन्द्रक बिलों में ये जन्मभूमियाँ तीन द्वार और तीन कोनों से युक्त हैं।

ये जन्मस्थान एक कोस, दो कोस, तीन कोस और एक योजन विस्तार से सहित हैं। उनमें जो उत्कृष्ट स्थान हैं वे सौ योजन तक चौड़े कहे गये हैं।

एक कोस, दो कोस, तीन कोस, एक योजन, दो योजन, तीन योजन और १०० योजन, इतना घर्मादि सात पृथिवियों में स्थित उष्ट्रादि आकार वाले उपपादस्थानों की क्रम से चौड़ाई का प्रमाण है और बाहल्य अपने विस्तार से पाँच गुणा है।

बकरी, हाथी, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊँट, बिल्ली, सर्प और मनुष्य आदि के सड़े हुए शरीरों के गन्ध की अपेक्षा वे नारकियों के बिल अनन्तगुणी दुर्गन्ध से युक्त होते हैं।

नरकों में बकरी, हाथी, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊँट, बिल्ली और मेढ़े आदि के सड़े हुए शरीर की गन्ध से अनन्तगुणी दुर्गन्ध वाली मिट्टी का आहार होता है। घर्मा पृथिवी में जो आहार (मिट्टी) है, उसकी गन्ध

से यहाँ पर एक कोस के भीतर स्थित जीव मर सकते हैं। इसके आगे शेष द्वितीयादि पृथिवियों में इसकी घातक शक्ति, आधा-आधा कोस और भी बढ़ती गई है।

कुत्ता, बिलाव, गधा और ऊँट आदि जीवों के मृत कलेवरों को इकट्ठा करने से जो दुर्गन्ध उत्पन्न होती है, वह भी इन नारकियों के शरीर की दुर्गन्ध की बराबरी नहीं कर सकती है।

स्वभावत: अन्धकार से परिपूर्ण ये नारकियों के बिल कक्षक (क्रकच), कृपाण, छुरिका, खदिर (खैर) की आग, अति तीक्ष्ण सुई और हाथियों की चिक्कार से अत्यन्त भयानक है। ये सब बिल अहोरात्र अन्धकार से व्याप्त हैं। उक्त सभी जन्म-भूमियाँ नित्य ही कस्तूरी से अनन्तगुणा काले अन्धकार से व्याप्त हैं। वेताल सदृश आकृति वाले महाभयानक तो वहाँ पर्वत हैं। दु:खदायक सैकड़ों यन्त्रों से व्याप्त गुफाएँ हैं। अग्निकणिका से संयुक्त लोहमयी स्त्रियों की आकृति वाली सैकड़ों प्रतिमायें (पुतलियाँ) हैं।

फरसी, छुरी, खड्ग इत्यादि शस्त्र समान यंत्रों से सहित असिपत्रवन हैं। महादु:खदायक, मायामयी शाल्मली वृक्ष हैं। खारे जल से भरी हुई और कृमिकुल से व्याप्त वैतरणी नदी है। घिनावने रुधिर से भरे हुए महादुर्गन्धित तालाब हैं। हजार बिच्छू एक साथ काटने से जो यहाँ वेदना होती है उससे भी अधिक वेदना वहाँ की भूमि के स्पर्शमात्र से होती है।

प्रथम पृथ्वी से लेकर पाँचवी पृथ्वी के तीन चौथाई भाग तक स्थित नरक बिलों में अति तीव्रउष्णता है तथा पाँचवी पृथ्वी के अवशिष्ट चतुर्थ भाग में और छठी एवं सातवीं पृथ्वी में अत्यन्त शीत रहती है।

नारकियों के उपर्युक्त चौरासी लाख बिलों में से बयासी लाख पच्चीस हजार बिल उष्ण हैं और एक लाख पचहत्तर हजार बिल अत्यन्त शीत हैं। यदि उष्ण बिलों में मेरु बराबर लोहे का शीतल पिण्ड डाल दिया जाए तो वह तल प्रदेश तक न पहुँच बीच में ही मोम के टुकड़े के समान पिघलकर नष्ट हो जायेगा। इसी प्रकार यदि मेरुपर्वत के बराबर लोहे का उष्ण पिण्ड शीत बिलों में डाल दिया जाय तो वह भी तल प्रदेश तक न पहुँचकर बीच में ही नमक के टुकड़े के समान विलीन हो जायेगा।

इस प्रकार अधोलोक में महाभयंकर दु:खदायी सात नरक हैं, उन नरकों में रहने वाले जीव नारकी कहलाते हैं।

जो नरों को शीत, उष्ण आदि वेदनाओं से शब्दाकुलित कर देता है, वह नरक है। अथवा पापी जीवों को आत्यन्तिक दु:ख प्राप्त कराने वाले स्थान को नरक कहते हैं और उनमें रहने वाले जीव नारकी कहलाते हैं।

नरक स्थान सम्बन्धी अन्नपान आदि द्रव्य में, वहाँ के पृथिवी रूपी क्षेत्र में, नरक गति सम्बन्धी प्रथम समय से लेकर आयु पर्यन्त काल में तथा जीव के चैतन्य रूप भाव वा तत्सम्बन्धी पर्यायों में कभी रति नहीं करते हैं, अत: नारत वा नारकी कहलाते हैं।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पाँच पापों में रत रहने वाले पापी प्राणी नरक में जन्म

लेते हैं और वहाँ की अतिउष्ण, शीत, कर्कश, रूक्ष, अशुचि, अतिविरस और दुर्गन्धयुक्त भूमियों में उग्र दुख भोगते हैं।

नारकियों को चार प्रकार के दुःख होते हैं- क्षेत्रजनित, असुरकृत, मानसिक और शारीरिक।

वहाँ की कर्कश, शीत, उष्ण आदि से युक्त भूमि के स्पर्श से जो महान् दुख होता है वह क्षेत्रकृत दुःख है।

बालुकाप्रभा नामक तीसरे नरक तक असुर जाति के देव जाकर नारकियों को क्रोधित कराते हैं। इस क्षेत्र में जिस प्रकार मनुष्य मेढ़े और भैंसे आदि के युद्ध को देखते हैं, उसी प्रकार असुरकुमार जाति के देव नारकियों के युद्ध को देखते हैं और मन में सन्तुष्ट होते हैं। खूब तपाये हुए लोहे का रस पिलाना, अत्यन्त तपाये हुए लौहस्तम्भ का आलिंगन कराना, यन्त्र में पेलना आदि के द्वारा नारकियों को परस्पर दुख उत्पन्न कराते हैं। वे नारकियों को उनके पूर्वभव के बैर का स्मरण कराकर परस्पर लड़ने के लिए प्रेरणा करते रहते हैं। यह असुरकृत दुःख है।

अहो ! अग्नि के स्फुलिंगों के समान यह वायु, तप्त धूलि की वर्षा, विष सरीखा असिपत्रवन, जबरदस्ती आलिंगन कराने वाली ये लोहे की गरम पुतलियाँ हमको परस्पर लड़ाने वाले ये दुष्ट यमराज तुल्य असुरदेव हमारा भक्षण करने के लिए सामने से आ रहे हैं। भयंकर पशु सदृश तीक्ष्ण शस्त्रों से युक्त ये भयानक नारकी, सन्तापजनक करुण क्रन्दन की आवाज, शृगालों की हृदयविदारक ध्वनियाँ, असिपत्रवन में गिरने वाले पत्तों का कठोर शब्द, काँटों वाले सेमर वृक्ष, भयानक वैतरणी नदी, अग्नि की ज्वालाओं से युक्त ये बिल, कितने दुःसह व भयंकर हैं ! प्राण भी आयु पूर्ण हुए बिना छूटते नहीं। अरे-अरे ! अब हम कहाँ जावें ? इन दुखों से हम कब तिरेंगे ? इस प्रकार मानसिक सन्ताप उत्पन्न होता है तथा हर समय उन्हें मरने का संशय बना रहता है। यह मानसिक दुःख है।

हाय-हाय ! पापकर्म के उदय से हम इस भयानक नरक में पड़े हैं। ऐसा विचारते हुए वज्राग्नि के समान सन्तापकारी पश्चाताप करते हैं। हाय-हाय ! मैंने सत्पुरुषों व वीतरागी साधुओं के कल्याणकारी उपदेशों का तिरस्कार किया है। मिथ्यात्व व अविद्या के कारण विषयान्ध होकर मैंने पाँचों पाप किये हैं। पूर्व भवों में मैंने जिनको सताया है, वे यहाँ मुझको मारने के लिए सिंह के समान उद्यत हैं। मनुष्य भव में मैंने हिताहित का ध्यान (विचार) नहीं किया। अब यहाँ क्या कर सकता हूँ ? अब किसकी शरण में जाऊँ, यह दुख अब मैं कैसे सहूँगा, जिनके लिए मैंने ये पाप कार्य किये हैं वे कुटुम्बीजन अब क्यों आकर मेरी सहायता नहीं करते हैं ? इस संसार में धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई सहायक नहीं। इस प्रकार निरन्तर अपने पूर्वकृत पापों आदि का सोच करता रहता है।

नारकी जीव पाप से नरक बिलों में उत्पन्न होकर और एक मुहूर्त्त मात्र में छह पर्याप्तियों को प्राप्त कर आकस्मिक भय से युक्त होता है।

उन पृथिवियों में जीव मधुमक्खियों के छत्ते के समान लटकते हुए घृणित स्थानों में नीचे की ओर मुख करके पैदा होते हैं।

नारकियों के शरीर अशुभ नामकर्म के उदय से होने के कारण उत्तरोत्तर (आगे पृथिवियों में) अशुभ हैं। उनकी विकृत आकृति है। हुंडक संस्थान है और देखने में बुरे लगते हैं।

जिस प्रकार श्लेष्म, मूत्र, पुरीष, मल, रुधिर, वसा, मेद, पीप, वमन, पूति, मांस, केश, अस्थि, चर्म, अशुभ सामग्री युक्त औदारिक शरीर होता है। उससे भी अधिक अशुभ सामग्री युक्त नारकियों का वैक्रियिक शरीर होता है अर्थात् वैक्रियिक होते हुए भी उनका शरीर वीभत्स सामग्री युक्त होता है।

जिस प्रकार तलवार के प्रहार से भिन्न हुआ कुए का जल फिर से मिल जाता है, इसी प्रकार अनेकानेक शस्त्रों से छेदा गया नारकियों का शरीर फिर से मिल जाता है।

नारकियों के शरीर कदलीघात के बिना आयु के अन्त में वायु से ताड़ित मेघों के समान निःशेष विलीन हो जाते हैं।

वे नारकी जीव चक्र, बाण, शूली, तोमर, मुद्गर, करोंत, भाला, सूई, मूसल और तलवार इत्यादिक शस्त्रास्त्र, वन एवं पर्वत की आग तथा भेड़िया, व्याघ्र, तरक्ष, शृगाल, कुत्ता, बिलाव और सिंह इन पशुओं के अनुरूप परस्पर सदैव अपने-अपने शरीर की विक्रिया किया करते हैं। अन्य नारकी जीव गहरा बिल, धुआँ, वायु, अत्यन्त तपा हुआ खप्पर, यन्त्र, चूल्हा, कण्डनी (एक प्रकार का कूटने का उपकरण), चक्की और दर्बी (बर्छी), इनके आकार रूप अपने-अपने शरीर की विक्रिया करते हैं। उपर्युक्त नारकी शूकर, दावानल तथा शोणित और कीड़ों से युक्त सरिता, द्रह, कूप और वापी आदि रूप पृथक्-पृथक् रूप से रहित अपने-अपने शरीर की विक्रिया किया करते हैं। (तात्पर्य यह कि नारकियों के अपृथक् विक्रिया होती है। देवों के समान उनके पृथक् विक्रिया नहीं होती है।)

छठे नरक तक के नारकियों के त्रिशूल, चक्र, तलवार, मुद्गर, परशु, भिण्डिपाल आदि अनेक आयुधरूप एकत्व विक्रिया होती है। सातवें नरक में गाय बराबर कीड़े, चींटी आदि रूप से एकत्व विक्रिया होती है।

नारकी निरन्तर अशुभतर लेश्या परिणाम, देह, वेदना व विक्रिया वाले होते हैं।

नारकी जीव मिथ्यादृष्टि, सासादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती होते हैं। इस प्रकार सातों पृथिवियों में प्रारम्भ के चार गुणस्थान होते हैं। प्रथम पृथ्वी में नारकीय जीव असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदक सम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं। दूसरी पृथिवी से लेकर सातवीं पृथिवी तक नारकी जीव असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं; शेष दो सम्यग्दर्शन से युक्त होते हैं।

नारकियों को एक क्षण भी मानसिक शांति नहीं मिलती है। यद्यपि वहाँ पर सम्यग्दर्शन हो सकता

है, वह सम्यग्दर्शन सातवें नरक में छह अन्तर्मुहूर्त कम तैंतीस सागर तक रह सकता है परन्तु उनके मानसिक एवं शारीरिक ताप कम नहीं होता। अशुभतर लेश्या के कारण उनके परिणामों की विशुद्धि नहीं होती।

उनको शारीरिक वेदना भी भयंकर होती है। उनका जन्म ऊपर कथित योनिस्थानों में होता है। परन्तु पर्याप्ति पूर्ण होते ही भय से काँपता हुआ बड़े कष्ट से चलने के लिए तत्पर होकर छत्तीस आयुधों के मध्य में गिरकर वहाँ से उछलता है। प्रथम पृथिवी में सात योजन ६५०० धनुष प्रमाण ऊपर उछलता है। इससे आगे शेष छह पृथिवियों में उछलने का प्रमाण क्रम से उत्तरोत्तर दूना-दूना है।

उसको वहाँ उछलता देखकर पहले वाले नारकी उसकी ओर दौड़ते हैं। शस्त्रों, भयंकर पशुओं व वृक्ष नदियों आदि का रूप धरकर उसे मारते हैं व खाते हैं। हजारों यन्त्रों में पेलते हैं। साँकलों से बाँधते हैं व अग्नि में फेंकते हैं। करोत से चीरते हैं व भालों से बींधते हैं। पकते तेल में फेंकते हैं। शीतल जल समझकर यदि वह वैतरणी नदी में प्रवेश करता है तो भी वे उसे छेदते हैं। कछुओं आदि का रूप धरकर उसे भक्षण करते हैं। जब आश्रय ढूँढने के लिए बिलों में प्रवेश करता है तो उसे वहाँ अग्नि ज्वालाओं का सामना करना पड़ता है। नारकी शीतल छाया के भ्रम से असिपत्र वन में जाते हैं। वहाँ उन वृक्षों के तलवार के समान पत्तों से अथवा अन्य शस्त्रास्त्रों से छेदे जाते हैं। गृद्ध आदि पक्षी बनकर नारकी उसे चूंट-चूंट कर खाते हैं। अंगोपांग का चूर्ण बनाकर उसमें क्षार जल डालते हैं। फिर खण्ड-खण्ड करके चूल्हों में डालते हैं। तप्त लोहे की पुतलियों से आलिंगन कराते हैं। उसी के मांस को काटकर उसी के मुख में देते हैं। गलाया हुआ लोहा व तांबा उसे पिलाते हैं। पर फिर भी वे मरण को प्राप्त नहीं होते हैं। अनेक प्रकार के शस्त्रों आदि रूप से परिणत होकर वे नारकी एक दूसरे को इस प्रकार दुख देते हैं।

नारकियों के भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। उसके कारण दूर से ही दुःख के कारणों को जानकर उनको दुःख उत्पन्न हो जाता है और समीप में आने पर एक-दूसरे को देखने पर उनकी क्रोधाग्नि भभक उठती है तथा पूर्वभव का स्मरण होने से उनकी बैर की गाँठ दृढ़तर हो जाती है, जिससे वे कुत्ता और गीदड़ के समान एक-दूसरे का घात करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। वे अपनी विक्रिया से अस्त्रशस्त्र बनाकर उनसे तथा अपने हाथ-पाँव और दाँतों से छेदना, भेदना, छीलना और काटना आदि के द्वारा परस्पर अति तीव्र दुःख को उत्पन्न करते हैं।

कुत्ते आदि जीवों की विष्टा से भी अधिक दुर्गन्धित मिट्टी का भोजन करते हैं और वह भी उनको अत्यन्त अल्प मिलती है, जब कि उनकी भूख बहुत अधिक होती है।

नरक में नारकी जीवों को भूख ऐसी लगती है कि समस्त पुद्गलों का समूह भी उसको शमन करने में समर्थ नहीं तथा वहाँ पर तृषा बड़वाग्नि के समान इतनी उत्कृष्ट होती है कि समस्त समुद्रों का जल भी पी ले तो संतोष नहीं मिलता है।

दुस्सह तथा निष्प्रतिकार जितने भी रोग इस संसार में हैं, वे सबके सब नारकियों के शरीर में रोम-रोम में होते हैं।

इन नारकीय दु:खों का विचार करना अधोलोक का विचार है।

मध्य लोक में झल्लरी के आकार के असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं।

मन्दराचल (सुमेरुपर्वत) की चूलिका से ऊपर का क्षेत्र ऊर्ध्वलोक है। मन्दराचल के मूल से नीचे का क्षेत्र अधोलोक है। मन्दराचल से परिच्छिन्न अर्थात् तत्प्रमाण मध्यलोक है।

तनुवातवलय के अन्तभाग तक तिर्यग्लोक अर्थात् मध्यलोक स्थित है। मेरु पर्वत एक लाख योजन विस्तार वाला है। उसी मेरु पर्वत के ऊपर तथा नीचे इस तिर्यग्लोक की अवधि निश्चित है।

मध्य लोक में असंख्यात द्वीप, समुद्र एक दूसरे को वेष्टित करके स्थित हैं, समवृत्त (गोल) हैं। इनमें से प्रथम जम्बूद्वीप है और अन्त में स्वयंभूरमण समुद्र है तथा बीच में असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं।

चित्रा पृथिवी के ऊपर बहुमध्यभाग में एक राजू लम्बे चौड़े क्षेत्र के भीतर एक-एक को चारों ओर से घेर कर द्वीप और समुद्र स्थित हैं। सभी समुद्र चित्रा पृथिवी को खण्डित कर वज्रा पृथिवी के ऊपर स्थित हैं और सर्वद्वीप चित्रा भूमि के ऊपर स्थित हैं।

मध्यभाग से प्रारम्भ करने पर मध्यलोक में क्रम से (१) जम्बूद्वीप, लवण सागर (२) धातकीखण्ड-कालोद सागर, (३) पुष्करवरद्वीप-पुष्करवर समुद्र, (४) वारुणीवरद्वीप - वारुणीवर समुद्र, (५) क्षीरवर द्वीप - क्षीरवर समुद्र, (६) घृतवर द्वीप - घृतवर समुद्र, (७) क्षौद्रवर (इक्षुवर) द्वीप - क्षौद्रवर (इक्षुवर) समुद्र, (८) नन्दीश्वर द्वीप - नन्दीश्वर समुद्र, (९) अरुणीवर द्वीप - अरुणीवर समुद्र, (१०) अरुणाभास द्वीप - अरुणाभास समुद्र, (११) कुण्डलवर द्वीप - कुण्डलवर समुद्र, (१२) शंखवरद्वीप - शंखवर समुद्र, (१३) रुचकवर - द्वीप - रुचकवर समुद्र (१४) भुजगवरद्वीप - भुजगवर समुद्र, (१५) कुशवर द्वीप - कुशवर समुद्र, (१६) क्रौंचवर द्वीप - क्रौंचवर समुद्र ; ये १६ नाम मिलते हैं।

संख्यात द्वीप-समुद्र के आगे जाकर पुन: एक जम्बूद्वीप है (इसके आगे पुन: उपर्युक्त नामों का क्रम चलता जाता है।)

मध्यलोक के अन्त से प्रारम्भ करने पर - (१) स्वयंभूरमण समुद्र-स्वयंभूरमण द्वीप, (२) अहीन्द्रवर समुद्र - अहीन्द्रवर द्वीप, (३) देववर समुद्र - देववर द्वीप, (४) यक्षवर समुद्र - यक्षवर द्वीप, (५) भूतवर समुद्र - भूतवर द्वीप, (६) नागवर समुद्र - नागवर द्वीप, (७) वैडूर्य समुद्र - वैडूर्य द्वीप, (८) वज्रवर समुद्र - वज्रवर द्वीप (९) कांचन समुद्र - कांचन द्वीप, (१०) रुप्यवर समुद्र - रुप्यवर द्वीप, (११) हिंगुल समुद्र - हिंगुल द्वीप, (१२) अंजनवर समुद्र - अंजनवर द्वीप, (१३) श्याम समुद्र-श्याम द्वीप, (१४) सिन्दूर समुद्र - सिन्दूर द्वीप, (१५) हरितास समुद्र - हरितास द्वीप, (१६) मन:शिल समुद्र - मन:शिलद्वीप।

सागरों के जल का स्वाद - चार समुद्र अपने नामों के अनुसार रसवाले, तीन उदक रस अर्थात् स्वाभाविक जल के स्वाद से संयुक्त, शेष समुद्र ईख रस समान रस से सहित हैं। तीसरे समुद्र में मधुरूप

जल है। वारुणिवर, लवणाब्धि, घृतवर और क्षीरवर, ये चार समुद्र प्रत्येकरस तथा कालोद, पुष्करवर और स्वयंभूरमण ये तीन समुद्र उदकरस हैं।

क्षेत्र निर्देश - जम्बूद्वीप के दक्षिण में प्रथम भरतक्षेत्र है जिसके उत्तर में हिमवान् पर्वत और तीन दिशाओं में लवण सागर है। इसके बीचोंबीच पूर्वापर लम्बायमान एक विजयार्ध पर्वत है। इसके पूर्व में गंगा और पश्चिम में सिन्धु नदी बहती है। ये दोनों नदियाँ हिमवान के मूल भाग में स्थित गंगा व सिन्धु नाम के दो कुण्डों से निकलकर पृथक्-पृथक् पूर्व व पश्चिम की ओर मुड़ जाती हैं और अपने-अपने समुद्र में गिरती हैं। इस प्रकार इन दो नदियों व विजयार्ध से विभक्त इस क्षेत्र के छह खण्ड हो जाते हैं। विजयार्ध के तीन दक्षिण के खण्डों में से मध्य का खण्ड आर्यखण्ड है और शेष पाँच खण्ड म्लेच्छ खण्ड हैं। आर्यखण्ड १२ यो. लम्बी और ९ यो. विस्तृत विनीता या अयोध्या नाम की प्रधान नगरी है जो चक्रवर्ती की राजधानी होती है। विजयार्ध के उत्तर वाले तीन खण्डों में मध्यवाले म्लेच्छ खण्ड के बीचोंबीच वृषभगिरि नाम का एक गोल पर्वत है, दिग्विजय कर चुकने पर चक्रवर्ती उस पर अपना नाम अंकित करता है। इसके पश्चात् हिमवान् पर्वत के उत्तर में तथा महा हिमवान् के दक्षिण में दूसरा हैमवत क्षेत्र है। इसके बहु मध्य भाग में एक गोल शब्दवान नाम का नाभिगिरि पर्वत है। इस क्षेत्र के पूर्व में रोहित और पश्चिम में रोहितास्या नदियाँ बहती हैं। ये दोनों ही नदियाँ नाभिगिरि के उत्तर व दक्षिण में उससे २ कोस परे रहकर ही उसकी प्रदक्षिणा देती हुई अपनी-अपनी दिशाओं में मुड़ जाती है और बहती हुई अन्त में अपनी-अपनी दिशा वाले सागर में गिर जाती है। इसके पश्चात् महाहिमवान के उत्तर तथा निषध पर्वत के दक्षिण में तीसरा हरिक्षेत्र है। नील के उत्तर में और रुक्मि पर्वत के दक्षिण में पाँचवाँ रम्यक क्षेत्र है। पुनः रुक्मि के उत्तर व शिखरी पर्वत के दक्षिण में छठा हैरण्यवत क्षेत्र है। वहाँ विदेह क्षेत्र को छोड़कर इन चारों का कथन हैमवत के समान है। केवल नदियों या नाभिगिरि पर्वत के नाम भिन्न हैं। निषध पर्वत के उत्तर तथा नील पर्वत के दक्षिण में विदेह क्षेत्र स्थित है। इस क्षेत्र की दिशाओं का यह विभाग भरत क्षेत्र की अपेक्षा है, सूर्योदय की अपेक्षा नहीं, क्योंकि वहाँ इन दोनों दिशाओं में भी सूर्य का उदय व अस्त दिखाई देता है। इसके बहुमध्यभाग में सुमेरु पर्वत है (यह क्षेत्र दो भागों में विभक्त है - कुरुक्षेत्र व विदेह) मेरु पर्वत के दक्षिण व निषध के उत्तर में देवकुरु है, मेरु के उत्तर व नील के दक्षिण में उत्तरकुरु है। मेरु के पूर्व व पश्चिम भाग में पूर्व व अपर विदेह है, जिनमें पृथक् पृथक् १६-१६ क्षेत्र हैं जिन्हें ३२ विदेह कहते हैं। इन बत्तीस विदेह क्षेत्रों में तीर्थंकर चक्रवर्त्ती उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार भरत क्षेत्र में पूर्व-अपर (पूर्व और अपर क्षेत्र के) विजयार्ध पर्वत एवं गंगा, सिन्धु नदी के द्वारा छह खण्ड होते हैं, उसी प्रकार एक-एक विदेह क्षेत्र की नगरी में षट्खंड हैं। सब के अन्त में शिखरी पर्वत के उत्तर में तीन तरफ से लवण सागर के साथ स्पर्शित सातवाँ ऐरावत क्षेत्र है। इसका सारा कथन भरत क्षेत्र के समान है।

कुलाचल पर्वत

भरत व हैमवत इन दोनों की सीमा पर पूर्व पश्चिम लम्बायमान प्रथम हिमवान पर्वत है। इस पर

११ कूट हैं। पूर्व दिशा के कूट पर जिनायतन और शेष कूटों पर यथायोग्य नामधारी व्यन्तर देव व देवियों के भवन हैं। इस पर्वत के शीर्ष पर बीचों-बीच पद्म नामका ह्रद है। उसके बाद हैमवत् क्षेत्र के उत्तर और हरिक्षेत्र के दक्षिण में दूसरा महाहिमवान पर्वत है इस पर आठ कूट हैं, पूर्व दिशा के कूट पर जिन मन्दिर है। शेष कूटों पर व्यंतर देव रहते हैं। इसके शीर्ष पर बीचों-बीच महापद्म नामक तालाब है। तदनन्तर हरिवर्ष के उत्तर व विदेह के दक्षिण में तीसरा निषध पर्वत है। इस पर्वत पर पूर्ववत् ९ कूट हैं। इसके शीर्ष पर पूर्ववत् तिगिंछ नाम का द्रह है। तदनन्तर विदेह की उत्तर तथा रम्यकक्षेत्र की दक्षिण दिशा में दोनों क्षेत्रों को विभक्त करने वाला निषधपर्वत के सदृश चौथा नील पर्वत है। इस पर पूर्ववत् ९ कूट है। इतनी विशेषता है कि इस पर स्थित द्रह का नाम केसरी है। तदनन्तर रम्यक व हैरण्यवत क्षेत्रों का विभाग करने वाला तथा महा हिमवान पर्वत के सदृश ५वाँ रुक्मि पर्वत है, जिस पर पूर्ववत् आठ कूट हैं। इस पर्वत पर महापुण्डरीक द्रह है। **तिलोयपण्णत्ति** की अपेक्षा इसके द्रह का नाम पुण्डरीक है। अन्त में जाकर हैरण्यवत व ऐरावत क्षेत्रों की सन्धि पर हिमवान पर्वत के सदृश छठा शिखरी पर्वत है, जिस पर ११ कूट हैं। स्थित द्रह का नाम पुण्डरीक है। **तिलोयपण्णत्ति** की अपेक्षा इसके द्रह का नाम महापुण्डरीक है।

भरत क्षेत्र के मध्य में पूर्व-पश्चिम लम्बायमान विजयार्ध पर्वत है। भूमितल से १० योजन ऊपर जाकर इसकी उत्तर व दक्षिण दिशा में विद्याधर नगरों की दो श्रेणियाँ हैं। तहाँ दक्षिण श्रेणी में ५५ और उत्तर श्रेणी में ६० नगर हैं। इन श्रेणियों से भी १० योजन ऊपर जाकर उसी प्रकार दक्षिण व उत्तर दिशा में आभियोग्य देवों की श्रेणियाँ हैं। इसके ऊपर ९ कूट हैं। पूर्व दिशा के कूट पर सिद्धायतन है और शेष पर यथायोग्य नामधारी व्यन्तर व भवनवासी देव रहते हैं, इसके मूलभाग में पूर्व व पश्चिम दिशाओं में तमिस्र व खण्डप्रपात नाम की दो गुफायें हैं, जिनमें क्रम से गंगा व सिन्धु नदी प्रवेश करती हैं। **त्रिलोकसार** के मत से पूर्व दिशा में गंगा प्रवेश के लिए खण्डप्रपात और पश्चिम दिशा में सिन्धु नदी के प्रवेश के लिए तमिस्र गुफा है। इन गुफाओं के भीतर बहुमध्यभाग में दोनों तटों से उन्मग्ना व निमग्ना नाम की दो नदियाँ निकलती हैं जो गंगा और सिन्धु में मिल जाती हैं। इसी प्रकार ऐरावत क्षेत्र के मध्य में भी एक विजयार्ध है। कूटों व तन्निवासी देवों के नाम भिन्न है। विदेह के उन क्षेत्रों में से प्रत्येक के मध्यपूर्व पर लम्बायमान विजयार्ध पर्वत है। जिनका सम्पूर्ण वर्णन भरत विजयार्ध वत् है। विशेषता यह है कि यहाँ उत्तर व दक्षिण दोनों श्रेणियों में ५५-५५ नगर हैं। इनके ऊपर भी ९-९ कूट हैं, परन्तु उनके व उन पर रहने वाले देवों के नाम भिन्न हैं।

सुमेरु पर्वत - विदेह क्षेत्र के बहु मध्यभाग में सुमेरु पर्वत है। यह पर्वत तीर्थंकरों के जन्माभिषेक का आसनरूप माना जाता है। क्योंकि इसके शिखर पर पाण्डुकवन में स्थित पाण्डुक आदि चार शिलाओं पर भरत, ऐरावत तथा पूर्व व पश्चिम विदेहों के सर्व तीर्थंकरों का देव लोग जन्माभिषेक करते हैं। यह तीनों लोकों का मानदण्ड है तथा इसके मेरु, सुदर्शन, मन्दर आदि अनेक नाम हैं।

यह पर्वत गोल आकार वाला है। पृथ्वीतल पर १०,००० योजन विस्तार तथा ९९,००० योजन उत्सेध वाला है। क्रम से हानिरूप होते हुए इसका विस्तार शिखर पर जाकर १००० योजन रह जाता है। इसकी हानि का क्रम इस प्रकार है - क्रम से हानि रूप होता हुआ पृथ्वीतल से ५०० योजन ऊपर जाने

पर नन्दनवन के स्थान पर यह चारों ओर से युगपत् ५०० योजन संकुचित होता है। तत्पश्चात् ११००० योजन समान विस्तार से जाता है। पुनः ५१५०० योजन क्रमिक हानिरूप से जाने पर, सौमनस वन के स्थान पर चारों ओर से ५०० योजन संकुचित होता है। यहाँ से ११००० योजन तक पुनः समान विस्तार से जाता है और उसके ऊपर २५००० योजन क्रमिक हानि रूप से जाने पर पाण्डुकवन के स्थान पर चारों ओर से युगपत् ४९४ योजन संकुचित होता है। इसका बाह्य विस्तार भद्रशाल आदि वनों के स्थान पर क्रम से १००००, ९९५४$\frac{६}{११}$, ४२७२$\frac{८}{११}$ तथा १००० योजन प्रमाण है। इस पर्वत के शीश पर पाण्डुकवन के बीचोंबीच ४० योजन ऊँची तथा १२ योजन मूल विस्तार युक्त अन्त में ८ योजन विस्तार वाली चूलिका है।

मेरु की परिधियाँ - नीचे से ऊपर की ओर इस पर्वत की परिधि सात मुख्य भागों में विभाजित है - हरितालमयी, वैडूर्यमयी, सर्वरत्नमयी, वज्रमयी, मद्यमयी और पद्मरागमयी अर्थात् लोहिताक्षमयी। इन छहों में से प्रत्येक १६५०० योजन ऊँची है। भूमितल अवगाही सप्त परिधि नाना प्रकार है। पृथ्वीतल के नीचे १००० योजन पृथिवी, उपल, बालुका और शर्करा ऐसे चार भाग रूप है तथा ऊपर चूलिका के पास जाकर तीन काण्डकों रूप है। प्रथम काण्डक सर्वरत्नमयी, द्वितीय जाम्बूनदमयी और तीसरा काण्डक चूलिका है जो वैडूर्यमयी है।

वनखण्ड निर्देश - सुमेरु पर्वत के तलभाग में भद्रशाल नाम का वन है जो पाँच भागों में विभक्त है - भद्रशाल, मानुषोत्तर, देवरमण, नागरमण और भूतरमण। इस वन की चारों दिशाओं में चार जिनभवन हैं। इनमें से एक मेरु से पूर्व तथा सीता नदी के दक्षिण में है। दूसरा मेरु की दक्षिण व सीतोदा के पूर्व में है। तीसरा मेरु से पश्चिम तथा सीतोदा के उत्तर में है और चौथा मेरु के उत्तर व सीता के पश्चिम में है। इन चैत्यालयों का विस्तार पाण्डुक वन के चैत्यालयों से चौगुना है। इस वन में मेरु के चारों तरफ सीता व सीतोदा नदी के दोनों तटों पर एक-एक करके आठ दिग्गजेन्द्र पर्वत हैं। भद्रशाल वन से ५०० योजन ऊपर जाकर मेरु पर्वत की कटनी पर द्वितीय वन स्थित है। इसके दो विभाग हैं - नन्दन व उपनन्दन। इसकी पूर्वादि चारों दिशाओं में पर्वत के पास क्रम से मान, धारणा, गन्धर्व व चित्र नाम के चार भवन हैं जिनमें क्रम से सौधर्म इन्द्र के चार लोकपाल सोम, यम, वरुण व कुबेर क्रीड़ा करते हैं। कहीं-कहीं इन भवनों को गुफाओं के रूप में बताया जाता है। यहाँ भी मेरु के पास चारों दिशाओं में चार जिनभवन हैं। प्रत्येक जिनभवन के आगे दो-दो कूट हैं - जिन पर दिक्कुमारी देवियाँ रहती हैं। चारों विदिशाओं में सौमनस वन की भाँति चार-चार करके कुल १६ पुष्करिणियाँ हैं। इस वन की ईशान दिशा में एक बलभद्र नाम का कूट है, जिसका कथन सौमनस वन के बलभद्र कूट के समान है। इस पर बलभद्र देव रहता है। नन्दन वन से ६२५०० योजन ऊपर जाकर सुमेरु पर्वत पर तीसरा सौमनस वन स्थित है। इसके दो विभाग हैं - सौमनस व उपसौमनस। इसकी पूर्वादि चारों दिशाओं में मेरु के निकट वज्र, वज्रमय, सुवर्ण व सुवर्णप्रभ नाम के चार पुर हैं, इनमें भी नन्दन वन के भवनों के समान सोम आदि लोकपाल क्रीड़ा करते हैं। चारों विदिशाओं में चार-चार पुष्करिणी हैं। पूर्वादि चारों दिशाओं में चार जिनभवन हैं। प्रत्येक जिनमन्दिर सम्बन्धी बाह्य

कोटों के बाहर उसके दोनों कोनों पर एक-एक करके कुल आठ कूट हैं, जिन पर दिक्कुमारी देवियाँ रहती हैं। इसकी ईशान दिशा में बलभद्र नाम का कूट है जो ५०० योजन तो वन के भीतर है और ५०० योजन उसके बाहर आकाश में निकला हुआ है। इस पर बलभद्र देव रहता है। सौमनस वन से ३६००० योजन ऊपर जाकर मेरु के शीर्ष पर चौथा पाण्डुक वन है, जो चूलिका को वेष्टित करके शीर्ष पर स्थित है। इसके दो विभाग हैं- पाण्डुक व उपपाण्डुक। इसकी चारों दिशाओं में लोहित, अंजन, हरिद्र और पाण्डुक नाम के चार भवन हैं जिनमें सोम आदि लोकपाल क्रीड़ा करते हैं। चारों विदिशाओं में चार-चार करके १६ पुष्करिणियाँ हैं। वन के मध्य चूलिका की चारों दिशाओं में चार जिनभवन हैं। वन की ईशान आदि दिशाओं में अर्ध चन्द्राकार चार शिलाएँ हैं – पाण्डुक शिला, पाण्डुकम्बलाशिला, रक्तकम्बला शिला और रक्तशिला। राजवार्त्तिक के अनुसार ये चारों पूर्वादि दिशाओं में स्थित हैं। इन शिलाओं पर क्रम से भरत, अपरविदेह, ऐरावत और पूर्व विदेह के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है।

पाण्डुक शिला १०० योजन लम्बी ५० योजन चौड़ी है, मध्य में ८ योजन ऊँची है और दोनों ओर क्रमशः हीन होती गई है। इस प्रकार यह अर्धचन्द्राकार है। इसके बहुमध्य देश में तीन पीठयुक्त एक सिंहासन है और सिंहासन के दोनों पार्श्व भागों में तीन पीठयुक्त एक भद्रासन है। भगवान के जन्माभिषेक के अवसर पर सौधर्म व ऐशानेन्द्र दोनों इन्द्र भद्रासनों पर स्थित होते हैं और भगवान् को मध्य सिंहासन पर विराजमान करते हैं।

अन्य पर्वत : भरत, ऐरावत व विदेह इन तीनों को छोड़कर शेष हैमवत आदि चार क्षेत्रों के बहुमध्यभाग में एक-एक नाभिगिरि है। ये चारों पर्वत ऊपर-नीचे समान गोल आकार वाले हैं।

मेरु पर्वत की विदिशाओं में हाथी के दाँत के आकार वाले चार गजदन्त पर्वत हैं। जो एक ओर तो निषध व नील कुलाचलों को और दूसरी तरफ मेरु को स्पर्श करते हैं। वहाँ भी मेरु पर्वत के मध्यप्रदेश में केवल एक-एक प्रदेश उससे संलग्न है। इन पर्वतों के परभाग भद्रशाल वन की वेदी को स्पर्श करते हैं। क्योंकि वहाँ उनके मध्य का अन्तराल ५३००० योजन बताया गया है तथा सग्गायणी के अनुसार उन वेदियों से ५०० योजन हटकर स्थित है, क्योंकि वहाँ उनके मध्य का अन्तराल ५२००० योजन बताया है। अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार उन वायव्य आदि दिशाओं में जो-जो भी नाम वाले पर्वत हैं, उन पर क्रम से ७, ९, ७, ९ कूट हैं। ईशान व नैऋत्य दिशा वाले विद्युत्प्रभ व माल्यवान गजदन्तों के मूल में सीता व सीतोदा नदियों के निकलने के लिए एक-एक गुफा होती है। देवकुरु व उत्तरकुरु में सीतोदा व सीता नदी के दोनों तटों पर एकएक यमक पर्वत हैं। ये गोल आकार वाले हैं। इन पर इनके नाम वाले व्यन्तर देव सपरिवार रहते हैं। उनके प्रासादों का सर्वकथन पद्मद्रह के कमलों के समान है। उन्हीं देवकुरु व उत्तरकुरु में स्थित द्रहों के दोनों पार्श्व भागों में कांचन शैल स्थित है। ये पर्वत गोल आकार वाले हैं। इनके ऊपर कांचन नामक व्यन्तर देव रहते हैं। देवकुरु व उत्तरकुरु के भीतर व बाहर भद्रशाल वन में सीतोदा व सीता नदी के दोनों तटों पर आठ दिग्गजेन्द्र पर्वत हैं। ये गोल आकार वाले हैं। इन पर यम व वैश्रवण नामक वाहन देवों के भवन हैं। उनके नाम पर्वतों वाले ही हैं। पूर्व व पश्चिम विदेह में सीता व सीतोदा नदी के दोनों तरफ

उत्तर-दक्षिण लम्बायमान, ४,४ करके कुल १६ वक्षार पर्वत हैं। एक ओर ये निषध व नील पर्वतों को स्पर्श करते हैं और दूसरी ओर सीता व सीतोदा नदियों को। प्रत्येक वक्षार पर चार-चार कट हैं, नदी की तरफ सिद्धायतन है और शेष कूटों पर व्यन्तर देव रहते हैं। इन कूटों का सर्व कथन हिमवान पर्वत के कूटोंवत् है। भरत क्षेत्र के पाँच म्लेच्छ खण्डों में से उत्तर वाले तीन के मध्यवर्ती खण्ड में बीचों-बीच एक वृषभगिरि है, जिस पर दिग्विजय के पश्चात् चक्रवर्ती अपना नाम अंकित करता है। यह गोल आकार वाला है। इसी प्रकार विदेह के ३२ क्षेत्रों में से प्रत्येक क्षेत्र में भी जानना।

द्रह : हिमवान पर्वत के शीर्ष पर बीचोंबीच पद्म नाम का द्रह है। इसके तट पर चारों कोनों पर तथा उत्तर दिशा में ५ कूट हैं और जल में आठों दिशाओं में आठ कूट हैं। ह्रद के मध्य में एक बड़ा कमल है, जिसके ११००० पत्ते हैं। इस कमल पर 'श्री' देवी रहती है। इस प्रधान कमल की दिशा-विदिशाओं में उसके परिवार के अन्य भी अनेक कमल हैं। कुल कमल १४०११६ हैं। तहाँ वायव्य, उत्तर व ईशान दिशाओं में कुल ४००० कमल उसके सामानिक देवों के हैं। पूर्वादि चार दिशाओं में से प्रत्येक में ४००० (कुल १६०००) कमल आत्मरक्षकों के हैं। आग्नेय दिशा में ३२००० कमल आभ्यन्तर पारिषदों के, दक्षिण दिशा में ४०,००० कमल मध्यम पारिषदों के, नैऋत्य दिशा में ४८००० कमल बाह्य पारिषदों के हैं। पश्चिम में ७ कमल सप्त अनीक महत्तरों के हैं तथा दिशा व विदिशा के मध्य आठ अन्तर दिशाओं में १०८ कमल त्रायस्त्रिंशों के हैं। इसके पूर्व, पश्चिम व उत्तर द्वारों से क्रम से गंगा, सिन्धु व रोहितास्या नदी निकलती है।

महा हिमवान् आदि शेष पाँच कुलाचलों पर स्थित महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नाम के ये पाँच द्रह हैं। इन ह्रदों का सर्व कथन कूट कमल आदि का उपर्युक्त पद्म सरोवर के समान ही जानना चाहिए। विशेषता यह है कि तन्निवासिनी देवियों के नाम क्रम से ही, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी है। कमलों की संख्या तिगिंछ तक उत्तरोत्तर दूनी है। केसरी की तिगिंछवत्, महापुण्डरीक की महापद्म वत् और पुण्डरीक की पद्मवत् है। अन्तिम पुण्डरीक द्रह से पद्मद्रहवत् रक्ता, रक्तोदा व सुवर्णकूला ये तीन नदियाँ निकलती हैं और शेष द्रहों से दो-दो नदियाँ केवल उत्तर व दक्षिण द्वारों से निकलती हैं।

देवकुरु व उत्तरकुरु में दस द्रह हैं अथवा दूसरी मान्यता से २० द्रह हैं। इनमें देवियों के निवासभूत कमलों आदि का सम्पूर्ण कथन पदमद्रह वत् जानना। ये द्रह नदी के प्रवेश व निकास के द्वारों से संयुक्त हैं।

सुमेरु पर्वत के नन्दन, सौमनस व पाण्डुकवन में १६-१६ पुष्करिणी हैं, जिनमें सपरिवार सौधर्म व ऐशानेन्द्र क्रीड़ा करते हैं। तहाँ मध्य में इन्द्र का आसन है। उसकी चारों दिशाओं में चार आसन लोकपालों के हैं, दक्षिण में एक आसन प्रतीन्द्र का, अग्रभाग में आठ आसन अग्रमहिषियों के, वायव्य और ईशान दिशा में ८४००,००० आसन सामानिक देवों के, आग्नेय दिशा में १२,००,००० आसन अभ्यन्तर पारिषदों से, दक्षिण में १४,००,००० आसन मध्यम पारिषदों के, नैऋत्य दिशा में १६,००,००० आसन बाह्य पारिषदों के तथा उसी दिशा में ३३ आसन त्रायस्त्रिंशों के, पश्चिम में छह आसन महत्तरों के और एक आसन महत्तरिका का है। मूल मध्य सिंहासन की चारों दिशाओं में ८४,००० आसन अंगरक्षकों के हैं (इस प्रकार कुल आसन १,२६,८४,०५४ होते हैं।)

कुण्ड : हिमवान पर्वत के मूलभाग से २५ योजन हटकर गंगाकुण्ड स्थित है। उसके बहुमध्यभाग में एक द्वीप है, जिसके मध्य में एक शैल है। शैल पर गंगा देवी का प्रासाद है। इसी का नाम गंगाकूट है। उस कूट के ऊपर एक जिन प्रतिमा है, जिसके शीश पर गंगा की धारा गिरती है।

उसी प्रकार सिन्धु आदि शेष नदियों के पतन स्थानों पर भी अपने-अपने क्षेत्रों में अपने-अपने पर्वतों के नीचे सिन्धु आदि कुण्ड जानना। इनका सम्पूर्ण कथन उपर्युक्त गंगा कुण्डवत् है विशेषता यह कि उन कुण्डों के तथा तन्निवासिनी देवियों के नाम अपनी-अपनी नदियों के समान हैं। भरत आदि क्षेत्रों में अपने-अपने पर्वतों से उन कुण्डों का अन्तराल भी क्रम से २५,५०,१००,२००,१००,५०,२५ योजन है।

३२ विदेहों में गंगा, सिन्धु व रक्ता-रक्तोदा नाम वाली ६४ नदियों के भी अपने-अपने नाम वाले कुण्ड नील व निषध पर्वत के मूलभाग में स्थित हैं। जिनका सम्पूर्ण वर्णन उपर्युक्त गंगा कुण्डवत् ही है।

नदियाँ : (१) हिमवान पर्वत पर पद्मद्रह के पूर्वद्वार से गंगानदी निकलती है। द्रह की पूर्व दिशा में इस नदी के मध्य एक कमलाकार कूट है, जिसमें बला नाम की देवी रहती है। द्रह से ५०० योजन आगे पूर्व दिशा में जाकर पर्वत पर स्थित गंगाकूट से $\frac{१}{२}$ योजन इधर-ही-इधर रहकर दक्षिण की ओर मुड़ जाती है और पर्वत के ऊपर ही उसके अध विस्तार प्रमाण अर्थात् ५२३ $\frac{२९}{१५२}$ योजन आगे वृषभाकार प्रणाली को प्राप्त होती है। फिर उसके मुख से निकलती हुई पर्वत के ऊपर से अधोमुखी होकर उसकी धारा नीचे गिरती है। वहाँ पर्वत के मूल से २५ योजन हटकर वह धार गंगाकुण्ड में स्थित गंगाकूट के ऊपर गिरती है। इस गंगा कुण्ड के दक्षिण द्वार से निकलकर वह उत्तर भारत में दक्षिणमुखी बहती हुई विजयार्ध की तमिस्र गुफा में प्रवेश करती है। उस गुफा के भीतर वह उन्मग्ना व निमग्ना नदी को अपने में समाती हुई गुफा के दक्षिण द्वार से निकलकर वह दक्षिण भारत में उसके आधे विस्तार तक अर्थात् ११९ $\frac{३}{१९}$ योजन तक दक्षिण की ओर जाती है। तत्पश्चात् पूर्व की ओर मुड़ जाती है और मागध तीर्थ के स्थान पर लवण सागर में मिल जाती है। इसकी परिवार नदियाँ कुल मिलाकर १४००० हैं। ये सब परिवार नदियाँ म्लेच्छ खण्ड में होती हैं, आर्यखण्ड में नहीं।

(२) सिन्धु नदी का सम्पूर्ण कथन गंगा नदीवत् है। विशेष यह कि पद्म द्रह के पश्चिम द्वार से निकलती है। इसके भीतरी कमलाकार कूट में लवणा देवी रहती है। सिन्धुकुण्ड में स्थित सिन्धुकूट पर गिरती है। विजयार्ध की खण्डप्रपात गुफा को प्राप्त होती है। पश्चिम की ओर मुड़कर प्रभास तीर्थ के स्थान पर पश्चिम लवणसागर में मिलती है। इसकी परिवार नदियाँ १४००० हैं।

(३) हिमवान पर्वत के ऊपर पद्मद्रह के उत्तर द्वार से रोहितास्या नदी निकलती है जो उत्तरमुखी ही रहती हुई पर्वत के ऊपर २७६ $\frac{६}{१९}$ योजन चलकर पर्वत के उत्तरी किनारे को प्राप्त होती है, फिर गंगानदीवत् ही धार बनकर रोहितास्या कुण्ड में स्थित रोहितास्या कूट पर गिरती है। कुण्ड के उत्तरी द्वार से निकलकर उत्तरमुखी रहती हुई वह हैमवत् क्षेत्र के मध्यस्थित नाभिगिरि तक जाती है, परन्तु उससे दो कोस इधर ही रहकर पश्चिम की ओर उसकी प्रदक्षिणा देती हुई पश्चिम दिशा में उसके अर्धभाग के सम्मुख

होती है। वहाँ पश्चिम दिशा की ओर मुड़ जाती है और क्षेत्र के अर्ध आयाम प्रमाण क्षेत्र के बीचों बीच बहती हुई अन्त में पश्चिम लवणसागर में मिल जाती है। इसकी परिवार नदियों का प्रमाण २८,००० है।

(४) महाहिमवान पर्वत के ऊपर महापद्म ह्रद के दक्षिण द्वार से रोहित नदी निकलती है। दक्षिणमुखी होकर १६०५ $\frac{५}{१९}$ यो. पर्वत के ऊपर जाती है। वहाँ से पर्वत के नीचे रोहित कुण्ड में गिरती है और दक्षिणमुखी बहती हुई रोहितास्यावत् ही हैमवत क्षेत्र में, नाभिगिरि से २ कोस इधर रहकर पूर्व दिशा की ओर उसकी प्रदक्षिणा देती है। फिर वह पूर्व की ओर मुड़कर क्षेत्र के बीच में बहती हुई अन्त में पूर्व लवणसागर में गिर जाती है। इसकी परिवार नदियाँ २८,००० हैं।

(५) महाहिमवान पर्वत के ऊपर महापद्म ह्रद के उत्तर द्वार से हरिकान्ता नदी निकलती है। वह उत्तरमुखी होकर पर्वत पर १६०५ $\frac{५}{१९}$ यो. चलकर नीचे हरिकान्ता कुण्ड में गिरती है। वहाँ से उत्तरमुखी बहती हुई हरिक्षेत्र के नाभिगिरि को प्राप्त हो उससे दो कोस इधर ही रहकर उसकी प्रदक्षिणा देती हुई पश्चिम की ओर मुड़ जाती है और क्षेत्र के बीचोंबीच बहती हुई पश्चिम लवणसागर में मिल जाती है। इसकी परिवार नदियाँ ५६,००० हैं।

(६) निषध पर्वत के तिगिंछ द्रह के दक्षिण द्वार से निकलकर हरित नदी दक्षिणमुखी ही ७४२१ $\frac{१}{१९}$ योजन पर्वत के ऊपर जा, नीचे हरित कुण्ड में गिरती है। वहाँ से दक्षिणमुखी बहती हुई हरिक्षेत्र के नाभिगिरि को प्राप्त हो उससे दो कोस इधर ही रहकर उसकी प्रदक्षिणा देती हुई पूर्व की ओर मुड़ जाती है और क्षेत्र के बीचोंबीच बहती हुई पूर्व लवणसागर में गिरती है। इसकी परिवार नदियाँ ५६,००० हैं।

(७) निषध पर्वत के तिगिंछह्रद के उत्तर द्वार से सीतोदा नदी निकलती है, जो उत्तरमुखी हो पर्वत के ऊपर ७४२१ $\frac{१}{१९}$ योजन जाकर नीचे विदेह क्षेत्र में स्थित सीतोदा कुण्ड में गिरती है। वहाँ से उत्तरमुखी बहती हुई वह सुमेरु पर्वत तक पहुँचकर उससे दो कोस इधर ही पश्चिम की ओर उसकी प्रदक्षिणा देती हुई, विद्युत्प्रभ गजदंत की गुफा में से निकलती है। सुमेरु के अर्द्धभाग के सन्मुख हो वह पश्चिम की ओर मुड़ जाती है और पश्चिम विदेह के बीचोंबीच बहती हुई अन्त में पश्चिम लवणसागर में मिल जाती है। इसकी सर्व परिवार नदियाँ देवकुरु में ८४,००० और पश्चिम विदेह में ४४८०३८ (कुल ५३२०३८) हैं।

(८) सीता नदी का सर्व कथन सीतोदावत् जानना। विशेषता यह कि नील पर्वत के केसरी द्रह के दक्षिण द्वार से निकलती है। सीताकुण्ड में गिरती है। माल्यवान गजदन्त की गुफा से निकलती है। पूर्व विदेह में से बहती हुई पूर्व सागर में मिलती है। इसकी परिवार नदियाँ भी सीतोदावत् जानना।

(९) नरकान्ता नदी का सम्पूर्ण कथन हरितवत् है। विशेषता यह कि नील पर्वत के केसरी द्रह के उत्तर द्वार से निकलती है, पश्चिमी रम्यकक्षेत्र के बीच में बहती है और पश्चिम सागर में मिलती है।

(१०) नारी नदी का सम्पूर्ण कथन हरिकान्तावत् है। विशेषता यह है कि रुक्मि पर्वत के महापुण्डरीक द्रह के दक्षिण द्वार से निकलती है और पूर्व रम्यक क्षेत्र में बहती हुई पूर्व सागर में मिलती है।

(११) रूप्यकूला नदी का सम्पूर्ण कथन रोहित नदीवत् है। विशेषता यह है कि यह रुक्मि पर्वत के महापुण्डरीक ह्रद के उत्तर द्वार से निकलती है और पश्चिम हैरण्यवत् क्षेत्र में बहती हुई पश्चिम सागर में मिलती है।

(१२) सुवर्णकूला नदी का सम्पूर्ण कथन रोहितास्या नदीवत् है। विशेषता यह है कि यह शिखरी के पुण्डरीक ह्रद के दक्षिणद्वार से निकलती है और पूर्वी हैरण्यवत् क्षेत्र में बहती हुई पूर्व सागर में मिल जाती है।

(१३-१४) रक्ता-रक्तोदा का सम्पूर्ण कथन गंगा व सिन्धुवत् है। विशेषता यह कि ये शिखरी पर्वत के महापुण्डरीक ह्रद के पूर्व और पश्चिम द्वार से निकलती हैं। इनके भीतरी कमलाकार कूटों के पर्वत के नीचे वाले कुण्डों व कूटों के नाम रक्ता व रक्तोदा हैं। ऐरावत क्षेत्र के पूर्व व पश्चिम में बहती है।

(१५) विदेह के ३२ क्षेत्रों में भी गंगा नदी की भाँति गंगा, सिन्धु व रक्ता-रक्तोदा नाम की क्षेत्र नदियाँ हैं। इनका सम्पूर्ण कथन गंगा नदीवत् जानना। इन नदियों की भी परिवार नदियाँ १४०००, १४,००० हैं।

(१६) पूर्व व पश्चिम विदेह में से प्रत्येक में सीता व सीतोदा नदी के दोनों तरफ तीन-तीन करके कुल १२ विभंगा नदियाँ हैं। ये सब नदियाँ निषध या नील पर्वतों से निकलकर सीतोदा या सीता नदियों में प्रवेश करती हैं। ये नदियाँ जिन कुण्डों से निकलती हैं वे नील व निषध पर्वत के ऊपर स्थित हैं। प्रत्येक नदी का परिवार २८,००० नदी प्रमाण है।

देवकुरु व उत्तरकुरु :

(१) जम्बूद्वीप के मध्यवर्ती चौथे नम्बर वाले विदेह क्षेत्र के बहुमध्यप्रदेश में सुमेरु पर्वत स्थित है। उसके दक्षिण व निषध पर्वत की उत्तर दिशा में देवकुरु तथा उसकी उत्तर व नील पर्वत की दक्षिण दिशा में उत्तरकुरु स्थित है। सुमेरु पर्वत की चारों दिशाओं में चार गजदन्त पर्वत हैं जो एक ओर तो निषध व नील कुलाचलों को स्पर्श करते हैं और दूसरी ओर सुमेरु को। अपनी पूर्व व पश्चिम दिशा में ये दो कुरु इनमें से ही दो-दो गजदन्त पर्वतों से घिरे हुए हैं।

(२) तहाँ देवकुरु में निषध पर्वत से १००० योजन उत्तर में जाकर सीतोदा नदी के दोनों तटों पर यमक नाम के दो शैल हैं, जिनका मध्य अन्तराल ५०० योजन है। अर्थात् नदी के तटों से नदी के अर्ध विस्तार से हीन २२५ योजन हटकर स्थित है। इसी प्रकार उत्तर कुरु में नील पर्वत के दक्षिण में १००० योजन जाकर सीतानदी के दोनों तटों पर दो यमक हैं।

(३) इन यमकों से ५०० योजन उत्तर में जाकर देवकुरु की सीतोदा नदी के मध्य उत्तर दक्षिण लम्बायमान ५ द्रह हैं। मतान्तर से कुलाचल से ५५० योजन दूरी पर पहला द्रह है। ये द्रह नदियों के प्रवेश व निकास द्वारों से संयुक्त हैं। तात्पर्य यह है कि यहाँ नदी की चौड़ाई तो कम है और ह्रदों की चौड़ाई अधिक।

सीतोदा नदी ह्रदों के दक्षिण द्वारों से प्रवेश करके उनके उत्तरी द्वारों से बाहर निकल जाती है। ह्रद नदी के दोनों पार्श्व भागों में निकले रहते हैं। अन्तिम द्रह से २०९२$\frac{२}{१९}$यो. उत्तर में जाकर पूर्व व पश्चिम गजदन्तों की वन की वेदी आ जाती है। इसी प्रकार उत्तर कुरु में भी सीता नदी के मध्य ५ द्रह जानना। उनका सम्पूर्ण वर्णन उपर्युक्तवत् है। (इस प्रकार दोनों कुरुओं में कुल १० द्रह हैं। परन्तु मतान्तर से द्रह २० हैं।) मेरु पर्वत की चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में पाँच हैं। उपर्युक्तवत् ५०० योजन अन्तराल से सीता व सीतोदा नदी में ही स्थित हैं। इनके नाम ऊपर वालों के समान हैं।

(४) दस द्रह वाली प्रथम मान्यता के अनुसार प्रत्येक द्रह के पूर्व व पश्चिम तटों पर दस-दस करके कुल २०० कांचन शैल हैं। पर २० द्रहों वाली दूसरी मान्यता के अनुसार प्रत्येक द्रह के दोनों पार्श्व भागों में पाँच-पाँच करके कुल २०० कांचन शैल हैं।

(५) देवकुरु व उत्तर कुरु के भीतर भद्रशाल वन में सीतोदा व सीतानदी के पूर्व व पश्चिम तटों पर तथा इन कुरुक्षेत्रों से बाहर भद्रशाल वन में उक्त दोनों नदियों के उत्तर व दक्षिण तटों पर एक-एक करके कुल ८ दिग्गजेन्द्र पर्वत हैं।

(६) देवकुरु में सुमेरु के दक्षिण भाग में सीतोदा नदी के पश्चिम तट पर तथा उत्तरकुरु में सुमेरु के उत्तरभाग में सीता नदी के पूर्व तट पर तथा इसी प्रकार दोनों कुरुओं से बाहर मेरु के पश्चिम में सीतोदा के उत्तर तट पर और मेरु की पूर्व दिशा में सीता नदी के दक्षिण तट पर एक-एक करके चार त्रिभुवन चूड़ामणि नाम वाले जिन भवन हैं।

(७) निषध व नील पर्वतों से संलग्न सम्पूर्ण विदेह क्षेत्र के विस्तार समान लम्बी, दक्षिण उत्तर लम्बायमान भद्रशाल वन की वेदी है।

(८) देवकुरु में निषध पर्वत के उत्तर में, विद्युत्प्रभ गजदन्त के पूर्व में, सीतोदा के पश्चिम में और सुमेरु के नैर्ऋत्य दिशा में शाल्मली वृक्षस्थल है। सुमेरु की ईशान दिशा में, नील पर्वत के दक्षिण में, माल्यवंत गजदंत के पश्चिम में सीतानदी के पूर्व में जम्बू वृक्षस्थल है।

जम्बू व शाल्मली वृक्षस्थल :

देवकुरु व उत्तरकुरु में प्रसिद्ध शाल्मली व जम्बूवृक्ष है। ये वृक्ष पृथिवीमयी हैं। तहाँ शाल्मली या जम्बू वृक्ष का सामान्यस्थल ५०० योजन विस्तार युक्त होता है तथा मध्य में ८ योजन और किनारों पर २ कोस मोटा है। यह स्थल चारों ओर से स्वर्णमयी वेदिका से वेष्टित है। इसके बहुमध्य भाग में एक पीठ है, जो आठ योजन ऊँचा है तथा मूल में १२ और ऊपर ४ योजन विस्तृत है। पीठ के मध्य में मूलवृक्ष है, जो कुल आठ योजन ऊँचा है। उसका स्कन्ध दो योजन ऊँचा है तथा एक कोस मोटा है। इस वृक्ष की चारों दिशाओं में छह-छह योजन लंबी तथा इतने ही अंतराल से स्थित चार महाशाखाएँ हैं। शाल्मली वृक्ष की दक्षिण शाखा पर और जम्बूवृक्ष की उत्तरशाखा पर जिनभवन हैं। शेष तीन शाखाओं पर व्यन्तर देवों के भवन हैं। शाल्मली वृक्ष पर वेणु व वेणुधारी तथा जम्बू वृक्ष पर इस द्वीप के रक्षक आदृत व अनादृत

नाम के देव रहते हैं। इस स्थल पर एक के पीछे एक करके १२ वेदियाँ हैं, जिनके बीच में १२ भूमियाँ हैं। यहाँ पर ह.पु. में वापियों वाली ५ भूमियों को छोड़कर केवल परिवार वृक्षों वाली ७ भूमियाँ बतायी हैं। इन सात भूमियों में आदृत युगल या वेणु युगल के परिवार देवों के वृक्ष हैं। तहाँ प्रथम भूमि के मध्य में उपरोक्त मूल वृक्ष स्थित है। द्वितीय में वन वापिकाएँ हैं। तृतीय की प्रत्येक दिशा में २७ करके कुल १०८ वृक्ष महामान्यों अर्थात् त्रायस्त्रिंशों के हैं। चतुर्थ की चारों दिशाओं में चार द्वार हैं, जिन पर स्थित वृक्षों पर उसकी देवियाँ रहती हैं। पाँचवीं में केवल वापियाँ हैं। छठी में वनखण्ड हैं। सातवीं की चारों दिशाओं में कुल १६००० वृक्ष अंगरक्षकों के हैं। अष्टम की वायव्य, ईशान व उत्तर दिशा में कुल ४००० वृक्ष सामानिकों के हैं। नवम की आग्नेय दिशा में कुल ३२,००० वृक्ष आभ्यन्तर पारिषदों के हैं। दसवीं की दक्षिण दिशा में ४०,००० वृक्ष मध्यम पारिषदों के हैं। ग्यारहवीं की नैर्ऋत्य दिशा में ४८,००० वृक्ष बाह्य पारिषदों के हैं। बारहवीं की पश्चिम दिशा में सात वृक्ष अनीक महत्तरों के हैं। सब वृक्ष मिलकर १,४०,१२० होते हैं। स्थल के चारों ओर तीन वन खंड हैं। प्रथम की चारों दिशाओं में देवों के निवासभूत चार प्रासाद हैं। विदिशाओं में से प्रत्येक में चार-चार पुष्करिणी हैं प्रत्येक पुष्करिणी की चारों दिशाओं में आठ-आठ कूट हैं। प्रत्येक कूट पर चार-चार प्रासाद हैं, जिन पर उन आदृत आदि देवों के परिवार देव रहते हैं। इसी प्रकार प्रासादों के चारों तरफ भी आठ कूट बताये हैं। इन कूटों पर उन आदृत युगल या वेणु युगल का परिवार रहता है।

विदेह के ३२ क्षेत्र :

पूर्व व पश्चिम की भद्रशाल वन की वेदियों से आगे जाकर सीता व सीतोदा नदी के दोनों तरफ चार-चार वक्षारगिरि और तीन-तीन विभंगा नदियाँ एक वक्षार व एक विभंगा के क्रम से स्थित हैं। इन वक्षार व विभंगा के कारण उन नदियों के पूर्व व पश्चिम भाग आठ-आठ भागों में विभक्त हो जाते हैं। विदेह के ये ३२ खण्ड उसके ३२ क्षेत्र कहलाते हैं। उत्तरीय पूर्व विदेह का सर्वप्रथम क्षेत्र कच्छा नाम का है। इनके मध्य में पूर्वापर लम्बायमान भरत क्षेत्र के विजयार्धवत् एक विजयार्ध पर्वत है। उसके उत्तर में स्थित नील पर्वत की वनवेदी के दक्षिण पार्श्वभाग में पूर्व व पश्चिम दिशाओं में दो कुण्ड हैं, जिनसे रक्ता व रक्तोदा नाम की दो नदियाँ निकलती हैं। दक्षिणमुखी होकर बहती हुई वे विजयार्ध की दोनों गुफाओं में से निकलकर नीचे सीता नदी में जा मिलती हैं। जिसके कारण भरत क्षेत्र की भाँति यह देश भी छह खंडों में विभक्त हो गया है। यहाँ भी उत्तर म्लेच्छ खंड के मध्य एक वृषभगिरि है, जिस पर दिग्विजय के पश्चात् चक्रवर्ती अपना नाम अंकित करता है। इस क्षेत्र के आर्यखंड की प्रधान नगरी का नाम क्षेमा है। इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में दो नदियाँ व एक विजयार्ध के कारण छह-छह खंड उत्पन्न हो गये हैं। विशेष यह है कि दक्षिण वाले क्षेत्रों में गंगा-सिन्धु-नदियाँ बहती हैं। मतान्तर से उत्तरीय क्षेत्रों में गंगा-सिंधु व दक्षिणी क्षेत्रों में रक्ता-रक्तोदा नदियाँ हैं। पूर्व व अपर दोनों विदेहों में प्रत्येक क्षेत्र के सीता-सीतोदा नदी के दोनों किनारों पर आर्यखण्डों में मागध, बरतनु और प्रभास नामवाले तीन-तीन तीर्थस्थान हैं। पश्चिम विदेह के अंत में जम्बूद्वीप की जगती के पास सीतोदा नदी के दोनों ओर भूतारण्यक वन है। इसी प्रकार पूर्व विदेह के अंत में जम्बूद्वीप की जगती के पास सीता नदी के दोनों ओर देवारण्यक वन हैं।

लवणसागर :

जम्बूद्वीप को घेरकर २,००,००० योजन विस्तृत वलयाकार यह प्रथम सागर स्थित है, जो एक नाव पर दूसरी नाव मुंधी रखने से उत्पन्न हुए आकार वाला है तथा गोल है। इसके मध्यतल भाग में चारों ओर १००८ पाताल या विवर हैं। इनमें ४ उत्कृष्ट, ४ मध्यम और १००० जघन्य विस्तार वाले हैं। तटों से ९५,००० योजन भीतर प्रवेश करने पर चारों दिशाओं में चार ज्येष्ठ पाताल हैं। ९९,५०० योजन प्रवेश करने पर उनके मध्य विदिशा में चार मध्यम पाताल और उनके मध्य प्रत्येक अंतर दिशा में १२५,१२५ करके १००० जघन्य पाताल मुक्तावली रूप से स्थित हैं। १००,००० योजन गहरे महापाताल नरक सीमन्तक बिल के ऊपर संलग्न हैं। तीनों प्रकार के पातालों की ऊँचाई तीन बराबर भागों में विभक्त है। तहाँ निचले भाग में वायु, उपरि भाग में जल और मध्य भाग में यथायोग रूप से जल व वायु दोनों रहते हैं। मध्य भाग में जल व वायु की हानि वृद्धि होती रहती है। शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन २२२२$\frac{२}{९}$ योजन वायु बढ़ती है और कृष्ण पक्ष में इतनी ही घटती है। यहाँ तक कि इस पूरे भाग में पूर्णिमा के दिन केवल वायु ही तथा अमावस्या को केवल जल ही रहता है। पाताल लोक में जल व वायु की इस वृद्धि का कारण नीचे रहने वाले भवनवासी देवों का उच्छ्वास निःश्वास है। पातालों में होने वाली उपर्युक्त वृद्धि हानि से प्रेरित होकर सागर का जल शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन ८००/३ धनुष ऊपर उठता है और कृष्ण पक्ष में इतना ही घटता है। यहाँ तक कि पूर्णिमा को ४००० धनुष आकाश में ऊपर उठ जाता है और अमावस्या को पृथिवी तल के समान हो जाता है। लोगायणी के अनुसार सागर ११,००० योजन तो सदा ही पृथिवी तल से ऊपर अवस्थित रहता है। शुक्ल पक्ष में इसके ऊपर प्रतिदिन ७०० योजन बढ़ता है और कृष्णपक्ष में इतना ही घटता है। यहाँ तक कि पूर्णिमा के दिन ५००० योजन बढ़कर १६,००० योजन हो जाता है और अमावस्या को इतना ही घटकर वह पुनः ११,००० योजन रह जाता है। समुद्र के दोनों किनारों पर व शिखर पर आकाश में ७०० योजन जाकर सागर के चारों तरफ कुल १,४२,००० वेलन्धर देवों की नगरियाँ हैं। तहाँ बाह्य व आभ्यन्तर वेदी के ऊपर क्रम से ७२,००० और ४२,००० और मध्य में शिखर पर २८,००० हैं। मतान्तर से इतनी ही नगरियाँ सागर के दोनों किनारों पर पृथिवी तल पर भी स्थित हैं। सग्गायणी के अनुसार सागर की बाह्य व आभ्यन्तर वेदी वाले उपरोक्त नगर दोनों वेदियों से ४२,००० योजन भीतर प्रवेश करके आकाश में अवस्थित हैं और मध्य वाले जल के शिखर पर भी। दोनों किनारों से ४२,००० योजन भीतर जाने पर चारों दिशाओं में प्रत्येक ज्येष्ठ पाताल के बाह्य व भीतरी पार्श्व भागों में एक-एक करके कुल आठ पर्वत हैं, जिन पर वेलन्धर देव रहते हैं। इस प्रकार अभ्यन्तर वेदी से ४२,००० भीतर जाने पर उपर्युक्त भीतरी ४ पर्वतों के दोनों पार्श्व भागों में प्रत्येक में दो-दो करके कुल आठ सूर्य द्वीप हैं। सागर के भीतर, रक्तोदा नदी के सम्मुख मागध द्वीप, जगती के अपराजित नामक उत्तर द्वार के सम्मुख वरतनु और रक्ता नदी के सम्मुख प्रभास द्वीप है। इसी प्रकार ये तीनों द्वीप जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में भी गंगा सिन्धु नदी व वैजयन्त नामक दक्षिण द्वार के प्रणिधि भाग में स्थित हैं। आभ्यन्तर वेदी से १२,००० योजन सागर के भीतर जाने पर सागर की वायव्य दिशा में मागध नाम का द्वीप है। इसी प्रकार लवण समुद्र के बाह्य भाग में भी ये द्वीप जानना।

मतान्तर की अपेक्षा दोनों तटों से ४२,००० योजन भीतर जाने से ४२,००० योजन विस्तार वाले २४, २४ द्वीप हैं। तिनमें ८ तो चारों दिशाओं व विदिशाओं के दोनों पार्श्व भागों में हैं और १६ आठों अंतर दिशाओं के दोनों पार्श्व भागों में है।

विदिशा वालों का नाम सूर्यद्वीप और अंतर दिशावालों का नाम चंद्रद्वीप है। इनके अतिरिक्त ४८ कुमानुष द्वीप हैं। २४ अभ्यन्तर भाग में और २४ बाह्य भाग में। तहाँ चारों दिशाओं में चार, चारों विदिशाओं में ४, अंतर दिशाओं में ८ तथा हिमवान, शिखरी व दोनों विजयार्ध पर्वतों के प्रणिधि भाग में ८ हैं। दिशा, विदिशा व अंतर दिशा तथा पर्वत के पास वाले, ये चारों प्रकार के द्वीप क्रम से जगती से ५००, ५००, ५५० व ६०० योजन अंतराल पर स्थित हैं तथा १००, ५५, ५० व २५ योजन विस्तार युक्त हैं। इन कुमानुष द्वीपों में एक जांघवाला, शशकर्ण, बंदरमुख आदि रूप आकृतियों के धारक मनुष्य बसते हैं। धातकी खंड की दिशाओं में भी इस सागर में इतने ही अर्थात् २४ अंतर्द्वीप हैं जिनमें रहने वाले कुमानुष भी वैसे ही हैं।

धातकी खण्ड : लवणोद को वेष्टित करके ४,००,००० योजन विस्तृत यह द्वितीय द्वीप है। इसके चारों तरफ भी एक जगती है। इसकी उत्तर व दक्षिण दिशा में उत्तर-दक्षिण लम्बायमान दो इष्वाकार पर्वत हैं, जिनसे यह द्वीप पूर्व व पश्चिम रूप दो भागों में विभक्त हो जाता है। प्रत्येक पर्वत पर ४ कूट हैं। प्रथम कूट पर जिनमंदिर है और शेष पर व्यंतर देव रहते हैं। इस द्वीप में दो रचनाएँ हैं पूर्व धातकी और पश्चिम धातकी। दोनों में पर्वत, क्षेत्र, नदी, कूट आदि सब जम्बूद्वीप के समान हैं। जम्बू व शाल्मली वृक्ष को छोड़कर शेष सबके नाम भी वही हैं। सभी का कथन जम्बूद्वीपवत् है। दक्षिण इष्वाकार के दोनों तरफ दो भरत हैं तथा उत्तर इष्वाकार के दोनों तरफ दो ऐरावत हैं। तहाँ सर्व कुल पर्वत तो दोनों सिरों पर समान विस्तार को धरे पहिये के अरोंवत् स्थित हैं और क्षेत्र उनके मध्यवर्ती छिद्रोंवत् है। जिनके अभ्यंतर भाग का विस्तार कम व बाह्य भाग का विस्तार अधिक है। तहाँ सर्व कथन पूर्व व पश्चिम दोनों धातकी खंडों में जम्बूद्वीपवत् है। विदेह क्षेत्र के बहु मध्य भाग में पृथक्-पृथक् सुमेरु पर्वत हैं। उनका स्वरूप तथा उन पर स्थित जिनभवन आदि का सर्व कथन जम्बूद्वीपवत् है। इन दोनों पर भी जम्बूद्वीप के सुमेरुवत् पांडुक आदि चार वन हैं। विशेषता यह है कि यहाँ भद्रशाल से ५०० योजन ऊपर नंदन, उससे ५५५०० योजन सौमनस वन और उससे २८००० योजन ऊपर पांडुक वन है। पृथिवी तल पर विस्तार ९४०० योजन है। ५०० योजन ऊपर जाकर नंदन वन पर ९३५० योजन रहता है। तहाँ चारों तरफ से युगपत् ५०० योजन सिकुड़कर ८३५० योजन ऊपर तक समान विस्तार से जाता है। तदनन्तर ४५५०० योजन क्रमिक हानि सहित जाता हुआ सौमनस वन पर ३८०० योजन रहता है तहाँ चारों तरफ से युगपत् ५०० योजन सिकुड़कर २८०० योजन रहता है, ऊपर फिर १०,००० योजन समान विस्तार से जाता है, तदनन्तर १८,००० योजन क्रमिक हानि सहित जाता हुआ शीष पर १००० योजन विस्तृत रहता है। जम्बूद्वीप के शाल्मली वृक्षवत् यहाँ दोनों कुरुओं में दो-दो करके कुल चार धातकी (आँवले के) वृक्ष स्थित हैं। प्रत्येक वृक्ष का परिवार जम्बूद्वीपवत् १४०१२० है। चारों वृक्षों का कुल परिवार ५६०४८० है। इन वृक्षों पर इस द्वीप के रक्षक

प्रभास व प्रियदर्शन नामक देव रहते हैं। इस द्वीप में पर्वतों आदि का प्रमाण निम्न प्रकार है : मेरु २, इष्वाकार २, कुलगिरि १२, विजयार्ध ६८, नाभिगिरि ८, गजदंत ८, यमक ८, कांचन शैल ४००, दिग्गजेन्द्र पर्वत १६, वक्षार पर्वत ३२, वृषभगिरि ६८, क्षेत्र या विजय ६८, कर्मभूमि ६, भोगभूमि १२, महानदियाँ २८, विदेह क्षेत्र की नदियाँ १२८, विभंगा नदियाँ २४, द्रह ३२, महानदियों व क्षेत्र नदियों के कुंड १५६, विभंगा के कुंड २४, धातकी वृक्ष २, शाल्मली वृक्ष २ हैं।

कालोद समुद्र :

धातकी खंड को घेरकर ८००,००० योजन विस्तृत वलयाकार कालोद समुद्र स्थित है। जो सर्वत्र १००० योजन गहरा है। इस समुद्र में पाताल नहीं है। इसके अभ्यंतर व बाह्य भाग में लवणोदवत् दिशा, विदिशा, अंतरदिशा व पर्वतों के प्रणिधि भाग में २४, २४ अंतर्द्वीप स्थित हैं। वे दिशा विदिशा आदि वाले द्वीप क्रम से तट से ५००, ६५०, ५५० व ६५० योजन के अंतर से स्थित हैं तथा २००, १००, ५०, ५० योजन है। मतान्तर से इनका अंतराल क्रम से ५००, ५५०, ६०० व ६५० है तथा विस्तार लवणोद वालों की अपेक्षा दूना अर्थात् २००, १००० व ५० योजन है।

पुष्कर द्वीप :

कालोद समुद्र को घेरकर १६,००,००० के विस्तार युक्त पुष्कर द्वीप स्थित है। इसके बीचों-बीच स्थित कुंडलाकार मानुषोत्तर पर्वत के कारण इस द्वीप के दो अर्ध भाग हो गए हैं, एक अभ्यन्तर और दूसरा बाह्य। अभ्यंतर भाग में मनुष्यों की स्थिति है पर मानुषोत्तर पर्वत को उल्लंघकर बाह्य भाग में जाने की उनकी सामर्थ्य नहीं है। अभ्यंतर पुष्करार्ध में धातकी खंडवत् ही दो इष्वाकार पर्वत हैं जिनके कारण यह पूर्व व पश्चिम के दो भागों में विभक्त हो जाता है। दोनों भागों में धातकी खंडवत् रचना है। धातकी खंड के समान यहाँ ये सब कुलगिरि तो पहिये के अरोंवत् समान विस्तार वाले और क्षेत्र उनके मध्य छिद्रों में हीनाधिक विस्तार वाले हैं। दक्षिण इष्वाकार के दोनों तरफ दो भरत क्षेत्र और इष्वाकार के दोनों तरफ दो ऐरावत क्षेत्र हैं। क्षेत्रों, पर्वतों आदि के नाम जम्बूद्वीप के समान है। दोनों मेरुओं का वर्णन धातकी मेरु के समान है। मानुषोत्तर पर्वत का अभ्यंतर भाग दीवार की भाँति सीधा है और बाह्य भाग में नीचे से ऊपर तक क्रम से घटता गया है। भरतादि क्षेत्रों की १४ नदियों के गुजरने के लिए इसके मूल में १४ गुफाएँ हैं। इस पर्वत के ऊपर २२ कूट हैं। तहाँ पूर्वादि दिशा में तीन-तीन कूट हैं। पूर्वी विदिशाओं में दो-दो और पश्चिमी विदिशाओं में एक-एक कूट है। इन कूटों की अग्रभूमि में अर्थात् मनुष्य लोक की तरफ चारों दिशाओं में ४ सिद्धायतन कूट हैं। सिद्धायतन कूट पर जिनभवन है और शेष पर सपरिवार व्यंतर देव रहते हैं। मतांतर की अपेक्षा नैर्ऋत्य व वायव्य दिशावाले एक-एक कूट नहीं हैं। इस प्रकार कुल २० कूट हैं। इसके ४ कुरुओं के मध्य जम्बू वृक्षवत् सपरिवार ४ पुष्कर वृक्ष हैं। जिन पर सम्पूर्ण कथन जम्बूद्वीप के जम्बू व शाल्मली वृक्षवत् है। पुष्करार्ध द्वीप में पर्वत क्षेत्रादि का प्रमाण बिल्कुल धातकी खंडवत् जानना।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नन्दीश्वर द्वीप :

अष्टम द्वीप नंदीश्वर द्वीप है। उसका कुल विस्तार १६३८४०,००० योजन प्रमाण है। इसके बहुमध्य भाग में पूर्व दिशा की ओर काले रंग का एक-एक अंजनगिरि पर्वत है। उस अंजनगिरि के चारों तरफ १००,००० योजन छोड़कर ४ वापियाँ हैं। चारों वापियों का भीतरी अंतराल ६५०४५ योजन है और बाह्य अंतर २२३६६१ योजन है। प्रत्येक वापी की चारों दिशाओं में अशोक, सप्तच्छद, चंपक और आम्र नाम के चार वन हैं। इस प्रकार द्वीप की एक दिशा में १६ और चारों दिशाओं में ६४ वन हैं। इन सब पर अवतंस आदि ६४ देव रहते हैं। प्रत्येक वापी में सफेद रंग का एक-एक दधिमुख पर्वत है। प्रत्येक वापी के बाह्य दोनों कोनों पर लाल रंग के दो रतिकर पर्वत हैं। **लोकविनिश्चय** की अपेक्षा प्रत्येक द्रह के चारों कोनों पर चार रतिकर हैं। जिनमंदिर केवल बाहर वाले दो रतिकरों पर ही होते हैं, अभ्यंतर रतिकरों पर देव क्रीड़ा करते हैं। इस प्रकार एक दिशा में एक अंजनगिरि, चार दधिमुख, आठ रतिकर ये सब मिलकर १३ पर्वत हैं। इनके ऊपर १३ जिनमंदिर स्थित हैं। इसी प्रकार शेष तीन दिशाओं में भी पर्वत, द्रह, वन व जिनमंदिर जानना। कुल मिलाकर ५२ पर्वत, ५२ मंदिर, १६ वापियाँ और ६४ वन हैं। अष्टाह्निका पर्व में सौधर्म आदि इन्द्र व देवगण बड़ी भक्ति से इन मंदिरों की पूजा करते हैं। तहाँ पूर्व दिशा में कल्पवासी, दक्षिण में भवनवासी, पश्चिम में व्यंतर और उत्तर में ज्योतिषी देव पूजा करते हैं।

ग्यारहवाँ द्वीप कुंडलवर नाम का है जिसके बहुमध्य भाग में मानुषोत्तरवत् एक कुंडलाकार पर्वत है। तहाँ पूर्वादि प्रत्येक दिशा में चार-चार कूट हैं। उनके अभ्यंतर भाग में अर्थात् मनुष्यलोक की तरफ एक-एक सिद्धवर कूट है। इस प्रकार इस पर्वत पर कुल २० कूट हैं। जिनकूटों के अतिरिक्त प्रत्येक पर अपने-अपने कूटों के नाम वाले देव रहते हैं। मतान्तर की अपेक्षा आठों दिशाओं में एक-एक जिनकूट है। **लोक-विनिश्चय** की अपेक्षा इस पर्वत की पूर्वादि दिशाओं में से प्रत्येक में चार-चार कूट हैं। पूर्व व पश्चिम दिशावाले कूटों की अग्रभूमि में द्वीप के अधिपति देवों के दो कूट हैं। इन दोनों कूटों के अभ्यंतर भागों में चारों दिशाओं में एक-एक जिनकूट है। मतांतर की अपेक्षा उनके उत्तर व दक्षिण भागों में एक-एक जिनकूट है।

तेरहवाँ द्वीप रुचकवर नाम का है। उसमें बीचोंबीच रुचकवर नाम का कुंडलाकार पर्वत है। इस पर्वत पर कुल ४४ कूट हैं। पूर्वादि प्रत्येक दिशा में आठ-आठ कूट हैं जिन पर दिक्कुमारियाँ देवियाँ रहती हैं। जो भगवान के जन्म कल्याणक के अवसर पर माता की सेवा में उपस्थित रहती हैं। पूर्वादि दिशाओं वाली आठ-आठ देवियाँ क्रम से झारी, दर्पण, छत्र व चँवर धारण करती हैं। इन कूटों के अभ्यन्तर भाग में चारों दिशाओं में चार महाकूट हैं तथा इनकी भी अभ्यन्तर दिशाओं में चार अन्य कूट हैं जिन पर दिशाएँ स्वच्छ करने वाली तथा भगवान का जातकर्म करने वाली देवियाँ रहती हैं। इनके अभ्यंतर भाग में चार सिद्धकूट हैं। किन्हीं आचार्यों के अनुसार विदिशाओं में भी चार सिद्धकूट हैं। **लोकविनिश्चय** के अनुसार पूर्वादि चार दिशाओं में एक-एक करके चार कूट हैं जिन पर दिग्गजेन्द्र रहते हैं। इन चारों के अभ्यंतर भाग

में चार दिशाओं में आठ-आठ कूट हैं, जिन पर माता की सेवा करने वाली ३२ दिव्यकुमारियाँ रहती हैं। उनके बीच की विदिशाओं में दो-दो करके आठ कूट हैं जिन पर भगवान का जातकर्म करने वाली आठ महत्तरियाँ रहती हैं। इनके अभ्यंतर भाग में पुन: पूर्वादि दिशाओं में चार कूट हैं जिन पर दिशाएँ निर्मल करने वाली देवियाँ रहती हैं। इनके अभ्यंतर भाग में चार सिद्धकूट हैं।

अंतिम द्वीप स्वयम्भू रमण है। इसके मध्य में कुंडलाकार स्वयंप्रभ पर्वत है। इस पर्वत के अभ्यंतर भाग तक तिर्यंच नहीं होते, पर उसके पर भाग से लेकर अंतिम स्वयम्भूरमण सागर के अंतिम किनारे तक सब प्रकार के तिर्यंच पाए जाते हैं।

इस प्रकार मध्यलोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। एक लाख योजन ऊँचा एक राजू चौड़ा सात राजू लम्बा मध्य लोक है, जिसका संक्षेप में यहाँ वर्णन किया है। संस्थान विचय नामक ध्यान में मध्यलोक का चिंतन कर मेरी आत्मा ने किस स्थान में जन्म लिया, कैसा दु:ख भोगा ऐसा ध्यान करना चाहिए।

इस मध्य लोक वा तिर्यग् लोक में यह संसारी आत्मा एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असैनी पंचेन्द्रिय, सैनी पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त आदि योनियों में जन्म-मरण के दु:खों को भोगते हुए अनन्त काल व्यतीत किया है।

इस संसार में पापकर्म के उदय से यह प्राणी अनेक दु:ख भोगता रहता है।

यदि किसी पुण्य के उदय से इस तिर्यग् लोक में मानवभव को प्राप्त किया तो इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, शारीरिक, मानसिक आदि अनेक दु:खों को भोगता है।

यदि पुण्य के उदय से चक्रवर्ती पद, नारायण पद, प्रतिनारायण पद, कामदेव पद आदि अनेक प्रकार के अभ्युदयों की प्राप्ति होती है तो भी निराकुलता नहीं मिलती है, आकुलता बनी रहती है। अत: मध्यलोक में भी कहीं सुख नहीं है।

यदि किसी पुण्योदय से स्वर्ग सम्पदा भी प्राप्त हो गई तो वहाँ पर भी सुख नहीं है।

प्रश्न - स्वर्ग कहाँ है इस लोक में ?

उत्तर - तीन सौ तैंतालीस राजू प्रमाण लोक के अधोभाग रूप सात राजू प्रमाण अधोलोक है - जिसका घनफल एक सौ छियालीस राजू प्रमाण है।

उस अधोलोक का वर्णन पूर्व में किया है, इसके ऊपर सात राजू ऊँचा ऊर्ध्वलोक है। लोक के मध्य में एक लाख योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत है, जिसका कथन पूर्व में किया है।

लोक के मेरुतल भाग से उसकी चोटी पर्यन्त एक लाख योजन ऊँचा एक राजू प्रमाण विस्तार वाला और सात राजू प्रमाण लम्बा मध्य लोक है। इसी को तिर्यग् लोक कहते हैं।

चित्रा पृथ्वी के ऊपर से मेरु की चोटी तक ९९,००० योजन ऊँचा और अढ़ाई द्वीप प्रमाण अर्थात् ४५,००,००० योजन विस्तार वाला मनुष्य लोक है।

चित्रा पृथ्वी के नीचे खर व पंक भाग से एक लाख योजन तथा चित्रा पृथ्वी के ऊपर मेरु की चोटी तक ९९,००० योजन ऊँचा और एक राजू प्रमाण विस्तार युक्त भावन लोक है। भावन लोक बराबर व्यंतर लोक है।

चित्रा पृथ्वी से सात सौ नब्बे योजन ऊपर जाकर ११० योजन बाहल्य और एक राजू प्रमाण विस्तार युक्त ज्योतिषी लोक है। इस भूतल से ७९० योजन ऊपर तारागण हैं। तारागण से दश योजन ऊपर जाने पर सूर्य विमान है। सूर्य से दश योजन ऊपर चन्द्रमा स्थित है। इससे चार योजन ऊपर नक्षत्र स्थित हैं। उससे चार योजन ऊपर बुध है, उससे तीन योजन ऊपर गुरु (बृहस्पति) है। उसके तीन योजन ऊपर शुक्र है, उसके तीन योजन ऊपर मंगल है। उससे तीन योजन ऊपर शनि है। यह एक सौ दश योजन मोटा - एक राजू विस्तार वाला ज्योतिर्लोक है।

ऊर्ध्वलोक

मध्यलोक के ऊपरी भाग से सौधर्म विमान का ध्वजदण्ड एक लाख योजन कम डेढ़ राजू प्रमाण ऊँचा है। इसके ऊपर डेढ़ राजू प्रमाण नभस्थल में माहेन्द्र और सानत्कुमार स्वर्ग की सीमा है। इसके ऊपर अर्ध राजू प्रमाण आकाश में ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग स्थित है। उसके आगे आधे राजू प्रमाण नभस्थल में लान्तव-कापिष्ठ स्वर्ग है। इसके ऊपर आधे राजू प्रमाण गगनतल में शुक्र-महाशुक्र स्वर्ग है। उसके ऊपर आधे राजू प्रमाण आकाश में सतार-सहस्रार नामक स्वर्ग स्थित है। इसके ऊपर आधे राजू प्रमाण गगनतल में आनत, प्राणत स्वर्ग है। इसके ऊपर आधे राजू प्रमाण नभस्थल में आरण और अच्युत स्वर्ग है। यहाँ तक का स्थान कल्प कहलाता है क्योंकि यहाँ तक स्वर्ग विमानों में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक रूप से दश भेदों की कल्पना है, अतः ये कल्पोपपन्न हैं। इनके ऊपर एक राजू प्रमाण आकाश क्षेत्र में नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमान हैं। ये कल्पातीत हैं।

स्वर्गलोक के पटल

उत्तरकुरु में स्थित मनुष्यों के एक बाल हीन चार सौ पच्चीस धनुष और एक लाख इकसठ योजनों से रहित सात राजू प्रमाण आकाश में ऊपर-ऊपर स्वर्ग पटल स्थित हैं। मेरु की चूलिका के ऊपर उत्तरकुरु क्षेत्रवर्ती मनुष्य के एक बाल मात्र के अन्तर से प्रथम इन्द्रक स्थित है। लोकशिखर के नीचे ४२५ धनुष और २१ योजन मात्र जाकर अन्तिम इन्द्रक स्थित है। शेष इकसठ इन्द्रक इन दोनों इन्द्रकों के बीच में हैं। ये सब रत्नमय इन्द्रक विमान अनादिनिधन हैं।

स्वर्ग में दो प्रकार के पटल हैं - कल्प और कल्पातीत। कल्पपटलों के सम्बन्ध में दृष्टिभेद है। कोई १२ कहता है और कोई १६, कल्पातीत पटल तीन हैं। १२ कल्प की मान्यता के अनुसार अधो, मध्यम व उपरिम भाग में चार-चार कल्प हैं और १६ कल्पों की मान्यता के अनुसार ऊपर-ऊपर आठ युगलों में

१६ कल्प हैं। ग्रैवेयक, अनुदिश व अनुत्तर ये तीन कल्पातीत पटल हैं। सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तव, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत ये बारह कल्प हैं। इनसे ऊपर कल्पातीत विमान हैं जिनमें नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमान है।

(२) सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लाँतव, कापिष्ट, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत नामक ये १६ कल्प हैं। ऐसा कोई आचार्य मानते हैं।

मेरु की चूलिका से लेकर ऊपर लोक के अन्त तक ऊपर-ऊपर ६३ पटल या इन्द्रक स्थित हैं।

एक-एक इन्द्रक का अन्तराल असंख्यात योजन प्रमाण है। अब इनके नामों को अनुक्रम से कहते हैं–

उन सौधर्म व ईशान कल्पों के ३१ विमान प्रस्तार हैं (अर्थात् जो इन्द्रक का नाम है वही पटल का नाम है।) (१) ऋतु, (२) विमल, (३) चन्द्र, (४) वल्गु, (५) वीर, (६) अरुण, (७) नन्दन, (८) नलिन, (९) कंचन, (१०) रुधिर (रोहित) (११) चंचत्, (१२) मरुत्, (१३) ऋद्धीश, (१४) वैडूर्य, (१५) रुचक, (१६) रुचिर, (१७) अंक, (१८) स्फटिक, (१९) तपनीय, (२०) मेघ, (२१) अभ्र, (२२) हारिद्र, (२३) पद्ममाल, (२४) लोहित, (२५) वज्र, (२६) नन्द्यावर्त, (२७) प्रभंकर, (२८) पृष्ठक, (२९) गज, (३०) मित्र, (३१) प्रभ। (सौधर्म-इशान स्वर्ग के पटल)

(३२) अंजन, (३३) वनमाल, (३४) नाग, (३५) गरुड़, (३६) लांगल, (३७) बलभद्र, (३८) चक्र, ये सात पटल सानत्कुमार माहेन्द्र युगल के पटल हैं।

(३९) अरिष्ट, (४०) सुरसमिति, (४१) ब्रह्म, (४२) ब्रह्मोत्तर, ये चार ब्रह्म ब्रह्मोत्तर युगल में हैं।

(४३) ब्रह्म हृदय (४४) लांतव, ये दोनों पटल लान्तव-कापिष्ठ युगल के हैं।

शुक्र-महाशुक्र युगल में एक (४५) महाशुक्र नामक पटल है।

शतार-सहस्रार युगल में एक (४६) सहस्रार नामक पटल है।

(४७) आनत (४८) प्राणत (४९) पुष्पक (५०) शान्तकर (५१) आरण (५२) अच्युत ये छह पटल आनत-प्राणत-आरणाच्युत इन युगलों में हैं।

(५३) सुदर्शन (५४) अमोघ (५५) सुप्रबुद्ध (५६) यशोधर (५७) सुभद्र (५८) सुविशाल (५९) सुमनस (६०) सौमनस (६१) प्रीतिंकर ये नव पटल नवग्रैवेयक में हैं (६२) आदित्य और (६३) सर्वार्थसिद्धि नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर के पटल हैं; इस प्रकार स्वर्गों में कुल ६३ पटल हैं।

समस्त श्रेणीबद्ध विमानों की जो संख्या है, उसका आधा भाग तो स्वयंभूरमण समुद्र के ऊपर है और आधा अन्य समस्त द्वीप समुद्रों के ऊपर फैला हुआ है। सौधर्म के प्रथम ऋतु इन्द्रक सम्बन्धी

श्रेणीबद्धोंका एक दिशा सम्बन्धी प्रमाण ६२ हैं, उसके आधे अर्थात् ३१ श्रेणीबद्ध तो स्वयम्भूरमण समुद्र के उपरिम भाग में स्थित हैं और अवशेष विमानों में से १५ स्वयम्भूरमण द्वीप के ऊपर, आठ अपने से लगते समुद्र के ऊपर, ४ अपने से लगते द्वीप के ऊपर, २ अपने से लगते समुद्र के ऊपर, १ अपने से लगते द्वीप के ऊपर तथा अन्तिम एक अपने से लगते अनेक द्वीप-समुद्रों के ऊपर है।

जिनके पृथक्-पृथक् इन्द्र हैं ऐसे पहले व पिछले चार-चार कल्पों में सौधर्म, सानत्कुमार, आनत व आरण ये चार दक्षिण कल्प हैं। ईशान, माहेन्द्र, प्राणत व अच्युत ये चार उत्तर विमान हैं, क्योंकि जैसा कि निम्न प्ररूपणा से विदित है, इनमें क्रम से दक्षिण व उत्तर दिशा के श्रेणीबद्ध सम्मिलित हैं। तहाँ सभी दक्षिण कल्पों में उस-उस युगल सम्बन्धी सर्व इन्द्रक पूर्व, पश्चिम व दक्षिण दिशा के श्रेणीबद्ध और नैर्ऋत्य व अग्नि दिशा के प्रकीर्णक सम्मिलित हैं। सभी उत्तर कल्पों में उत्तर दिशा के श्रेणीबद्ध तथा वायु व ईशान दिशा के प्रकीर्णक सम्मिलित हैं। बीच के ब्रह्म आदि चार युगल जिनका एक-एक ही इन्द्र माना गया है, उनमें दक्षिण व उत्तर का विभाग न करके सभी इन्द्रक, सभी श्रेणीबद्ध व सभी प्रकीर्णक सम्मिलित हैं।

छह युगलों और शेष कल्पों में यथाक्रम से प्रथम युगल में अपने अन्तिम इन्द्रक से सम्बद्ध अठारहवें श्रेणीबद्ध में तथा इसके आगे दो हीन क्रम से अर्थात् १६वें, १४वें, १२वें, १०वें, ८वें और छठे श्रेणीबद्ध में, दक्षिण भाग में, दक्षिण इन्द्र और उत्तर भाग में उत्तर इन्द्र स्थित है। अपने-अपने पटल के अन्तिम इन्द्रक की दक्षिण दिशा वाले श्रेणीबद्धों में से १८वें, १६वें, १४वें, १२वें, छठे और पुनः छठे श्रेणीबद्ध विमान में क्रम से सौधर्म, सानत्कुमार, ब्रह्म, लांतव, आनत और आरण ये छह इन्द्र स्थित हैं। उन्हीं इन्द्रकों की उत्तर दिशा वाले श्रेणीबद्धों में से १८वें, १६वें, १०वें, ८वें, छठे और पुनः छठे श्रेणीबद्धों में क्रम से ईशान, माहेन्द्र, महाशुक्र, सहस्रार, प्राणत और अच्युत ये छह इन्द्र रहते हैं।

इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक इन तीनों प्रकार के विमानों के ऊपर समचतुष्कोण व दीर्घ विविध प्रकार के प्रासाद स्थित हैं। ये सब प्रासाद सात, आठ, नौ, दस भूमियों से भूषित हैं। आसनशाला, नाट्यशाला व क्रीड़नशाला आदिकों से शोभायमान हैं। सिंहासन, गजासन, मकरासन आदि से परिपूर्ण हैं। मणिमय शय्याओं से कमनीय हैं। अनादिनिधन व अकृत्रिम विराजमान हैं।

प्रधान प्रासाद के पूर्व दिशाभाग आदि में चार-चार प्रासाद होते हैं। दक्षिण इन्द्रों में वैडूर्य, रजत, अशोक और मृषत्कसार तथा उत्तर इन्द्रों में रुचक, मन्दर, अशोक और सप्तच्छद ये चार-चार प्रासाद होते हैं।

सौधर्म व सानत्कुमार युगल के गृहों के आगे स्तम्भ होते हैं, जिन पर तीर्थंकर बालकों के वस्त्राभरणों के पिटारे लटके रहते हैं। सभी इन्द्रमन्दिरों के सामने चैत्य वृक्ष होते हैं। सौधर्म इन्द्र के प्रासाद की ईशान दिशा में सुधर्मा सभा, उपपाद सभा और जिनमन्दिर हैं (इस प्रकार अनेक प्रासाद व पुष्प वाटिकाओं आदि से युक्त वे इन्द्रों के नगरों में) एक के पीछे एक ऊँची-ऊँची पाँच वेदियाँ होती हैं। प्रथम वेदी के बाहर चारों दिशाओं में देवियों के भवन, द्वितीय के बाहर चारों दिशाओं में पारिषद, तृतीय के बाहर

सामानिक और चौथी के बाहर आभियोग्य आदि रहते हैं। पाँचवीं वेदी के बाहर वन हैं और उनसे भी आगे दिशाओं में लोकपालों के और विदिशाओं में गणिका महत्तरियों के नगर हैं, इसी प्रकार कल्पातीतों के भी विविध प्रकार के प्रासाद, उपपाद सभा, जिनभवन आदि होते है। प्रतीन्द्र, सामानिक व त्रायस्त्रिंश में प्रत्येक के १० प्रकार के परिवार अपने-अपने इन्द्रों के समान हैं, सौधर्मादि १२ इन्द्रों के लोकपाल में प्रत्येक के सामन्त क्रम से ४०००, ४०००, १०००, १०००, ५००, ४००, ३००, २००, १००, १००, १००, १०० हैं। समस्त दक्षिणेन्द्रों में प्रत्येक के सोम व यम लोकपाल के अभ्यन्तर आदि तीनों पारिषद के देव क्रम से ५०,४०० व ५०० हैं। वरुण के ६०, ५००, ६०० हैं तथा कुबेर के ७०,६००, ७०० हैं। उत्तरेन्द्रों में इससे विपरीत क्रम करना चाहिए। सोम आदि लोकपालों की सात सेनाओं में प्रत्येक की प्रथम कक्षा २८००० और द्वितीय आदि ६ कक्षाओं में उत्तरोत्तर दुगुनी हैं। इस प्रकार वृषभादि सेनाओं में से प्रत्येक सेना का कुल प्रमाण २८००० × १२७ = ३५५६००० हैं और सातों सेनाओं का कुल प्रमाण ३५५६००० × ७ = २४८९२००० हैं। सौधर्म सानत्कुमार व ब्रह्म इन्द्रों के चार-चार लोकपालों में से प्रत्येक के विमानों की संख्या ६६६६६६ है। शेष की संख्या उपलब्ध नहीं है, सौधर्म के सोमादि चारों लोकपालों के प्रधान विमानों के नाम क्रम से स्वयंप्रभ, अरिष्ट, चलप्रभ और वल्गुप्रभ हैं। शेष दक्षिणेन्द्रों में सोमादि उन लोकपालों के प्रधान विमानों के नाम क्रम से स्वयंप्रभ, वरज्येष्ठ, अंजन और वल्गु हैं। उत्तरेन्द्रों के लोकपालों के प्रधान विमानों के नाम क्रम से सोम (सम), सर्वतोभद्र, सुभद्र और अमित हैं। दक्षिणेन्द्रों के सोम और यम समान ऋद्धि वाले हैं, उनसे अधिक वरुण और उससे भी अधिक कुबेर हैं। उत्तरेन्द्रों के सोम और यम समान ऋद्धि वाले हैं। उनसे अधिक कुबेर और उससे अधिक वरुण होता है। सभी दक्षिणेन्द्रों की ८ ज्येष्ठ देवियों के नाम समान होते हुए क्रम से पद्मा, शिवा, शची, अंजुका, रोहिणी, नवमी, बला और अर्चिनिका हैं और सभी उत्तरेन्द्रों की आठ-आठ ज्येष्ठ देवियों के नाम कृष्णा, मेघराजी, रामापति, रामरक्षिता, वसुका, वसुमित्रा, वसुधर्मा और वसुन्धरा ये हैं। छह दक्षिणेन्द्रों की प्रधान वल्लभाओं के नाम हेममाला, नीलोत्पला, विश्रुता, नन्दा, वैलक्षण और जिनदासी ये हैं। इन वल्लभाओं में से प्रत्येक के कामा, कामिनिका, पंकजगन्धा और अलम्बु नाम की चार महत्तरिका होती हैं।

छह दक्षिणेन्द्रों की आठ-आठ ज्येष्ठ देवियों के नाम क्रम से शची, पद्मा, शिवा, श्यामा, कालिन्दी, सुलसा, अज्जुका और भानु ये हैं। छहों उत्तरेन्द्रों की आठ-आठ ज्येष्ठ देवियों के नाम क्रम से श्रीमती, रामा, सुसीमा, प्रभावती, जयसेना, सुषेणा, वसुमित्रा और वसुन्धरा हैं।

भवनवासी से लेकर ईशान स्वर्ग पर्यन्त देव व देवी दोनों की उत्पत्ति होती है। इससे आगे नियम से देव ही उत्पन्न होते हैं, देवियाँ नहीं। आरण अच्युत स्वर्ग तक देवियों का गमनागमन है, इससे आगे नियम से उनका गमनागमन नहीं है।

सब (कल्पवासिनी) देवियाँ सौधर्म और ईशान कल्पों में ही उत्पन्न होती हैं। इससे उपरिम कल्पों में उनकी उत्पत्ति नहीं होती, उन कल्पों में उत्पन्न हुई देवियों को अवधिज्ञान से जानकर सराग मन वाले

देव अपने कल्पों में ले जाते हैं। विशेष यह है कि सौधर्म और ईशान कल्प में उत्पन्न हुई देवियों के मूल शरीर अपने-अपने कल्पों के देवों के पास जाते हैं।

आरण स्वर्ग पर्यन्त दक्षिण दिशा के देवों की देवियाँ सौधर्म स्वर्ग में ही अपने-अपने उपपाद स्थानों में उत्पन्न होती हैं और नियोगी देवों के द्वारा यथास्थान ले जायी जाती हैं तथा अच्युत स्वर्ग पर्यन्त उत्तर दिशा के देवों की सुन्दर देवियाँ ऐशान स्वर्ग में उत्पन्न होती हैं एवं अपने-अपने नियोगी देवों के स्थान पर जाती हैं। सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में शुद्ध देवियों से युक्त विमानों की संख्या क्रम से ६००,००० और ४००,००० बतायी है अर्थात् इतने उनके उपपाद स्थान हैं।

यद्यपि स्वर्ग में सांसारिक सुखों की उत्कृष्टता है, अनेक प्रकार की ऋद्धियों की संभावना है, परन्तु वहाँ पर भी शाश्वत सुख वा निराकुलता नहीं है। इस प्रकार इन तीनों लोकों में सुख और शांति नहीं है। शुद्ध और अशुद्ध चारित्र का पालन कर नाना भेद वाले उच्च नीच निलयों में (चार प्रकार के देवों में) उत्पन्न होकर देवगण सुख का अनुभव करके भी दु:ख का ही अनुभव करते हैं अर्थात् मानसिक दु:खों से पीड़ित रहते हैं। इस संसार में कहीं पर सुख नहीं है। पाप-पुण्य रूप सर्वकर्मों का नाश कर यह प्राणी ऊर्ध्व लोक के ऊपर मनुष्य लोक प्रमाण (४५ लाख योजन प्रमाण) श्वेत छत्र के समान सिद्धशिला पर स्थित सिद्ध भूमि में स्वात्मा से उत्पन्न अनन्त सुख भोगते हैं। इस प्रकार चिंतन करना लोक भावना है। इसके चिंतन करने से संसार से भय उत्पन्न होता है। अत: तप आराधना में ध्यान रूप अंतरंग तप में भावनाओं का कथन किया है।

अशुचि भावना

अशुचितमशुक्रशोणित-संभूतं छर्दितान्नसंवृद्धम्।
दोषमलधातुनिलय: कथं शरीरं वद शुचीदम्॥१६७॥

अन्वयार्थ - **अशुचितमशुक्रशोणितसंभूतं** - अशुचितम वीर्य और रज से उत्पन्न। **छर्दितान्नसंवृद्धं** - वमन किये हुए अन्न से संवर्धित। **दोषमलधातुनिलय:** - दोष, मल और धातु का स्थान ऐसा। **इदं** - यह। **शरीरं** - शरीर। **वद** - कहो। **शुचि** - पवित्र। **कथं** - कैसे हो सकता है।

अर्थ - पिता के अशुचितम (अत्यंत अपवित्र) वीर्य और माता के रक्त से यह शरीर उत्पन्न होता है। माता जो कुछ खाती है, पीती है उसका रस भाग बनता है, उससे इस शरीर की वृद्धि होती है। अत: माता के द्वारा चर्वित अन्न से वृद्धि होने से इसको छर्दित अन्न से संवर्धित कहा गया है।

यह शरीर रोग, मल, मूत्र तथा सप्त धातु का स्थान है। मलमूत्र का खजाना है, ऐसा शरीर पवित्र एवं पावन कैसे हो सकता है!

सो ही दो श्लोकों में कहा है-

रसाद् रक्तं ततो मांसं, मांसान्मेद: प्रवर्तते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जाशुक्रं तत: प्रजा:॥१६७*१.२॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वातं पित्तं तथा श्लेष्म सिरा स्नायुश्च चर्म च।
जठराग्निरिति प्राज्ञैः प्रोक्ताः सप्तोपधातवः॥ इति॥

अन्वयार्थ - रसात् - रस से। **रक्तं** - रक्त (खून) बनता है। **ततः** - रक्त से। **मांसं** - मांस बनता है। **मांसात्** - मांस से। **मेदः** - मेद (चर्बी)। **प्रवर्त्तते** - प्रवर्त्त होता है। **मेदसः** - मेद से। **अस्थि** - हड्डियाँ उत्पन्न होती हैं। **ततः** - उन हड्डियों से। **मज्जा** - मज्जा। **मज्जाशुक्रं** - मज्जा और शुक्र। **ततः** - उससे। **प्रजाः** - संतान उत्पन्न होती हैं। **च** - और। **वातं** - वायु। **पित्तं** - पित्त। **श्लेष्म** - कफ। **सिरा** - सिरा। **स्नायुः** - स्नायु। **च** - और। **जठराग्निः** - उदराग्नि। **इति** - इस प्रकार। **प्राज्ञैः** - बुद्धिमानों ने। **सप्तोषधातवः** - सात प्रकार के उपधातु। **प्रोक्ताः** - कहे हैं। इति।

अर्थ - इस शरीर में सात धातु और सात उपधातु होते हैं। सात प्रकार के धातुओं के नाम - रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र।

इन सात धातुओं का परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध है। यह संसारी आत्मा जब जन्म लेता है, तब सर्वप्रथम आहारवर्गणा ग्रहण करता है, उससे शरीर की उत्पत्ति होती है। उस आहार वर्गणा के खल और रस भाग से कठोर हड्डी आदि अवयव बनते हैं। अतः रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेदा, मेद से हड्डियाँ, हड्डियों से मज्जा और मज्जा से वीर्य उत्पन्न होता है तथा वीर्य से संतान उत्पन्न होती है। ये शरीर में सात धातुएँ हैं।

वायु, पित्त, कफ, सिरा (शरीर की छोटी-छोटी नसें), स्नायु (उससे कुछ बड़ी रक्तवाहिनी नसें) चर्म और जठराग्नि ये सात उपधातु हैं। इन धातु-उपधातु का निलय यह शरीर है। इस शरीर में कोई भी वस्तु पवित्र नहीं है।

शरीर रूपी अपवित्र घर

अस्थिघटितं सिरासंबद्धं चर्मावृतं च मांसेन।
व्यालिप्तं किल्विषवसुकथं नु शुचि देहगेहमिदम्॥१६८॥

अन्वयार्थ - अस्थिघटितं - हड्डियों से निर्मित। **सिरासंबद्धं** - सिराओं से बँधा हुआ। **चर्मावृतं** - चमड़े से आच्छादित। **मांसेन** - मांस के द्वारा। **व्यालिप्तं** - लिप्त। **किल्विषवसु** - पापरूपीधन से भरित। **इदं** - यह। **देहगेहं** - शरीर रूपी घर। **नु** - अहो। **शुचि** - पवित्र। **कथं** - कैसे हो सकता है?

अर्थ - इस शरीर को आचार्यदेव ने घर की उपमा दी है। जिस प्रकार घर का निर्माण करने के लिए बड़े-बड़े स्तंभ, छोटी-छोटी सींकें हैं, सीमेंट आदि आच्छादित है और चूने आदि से लिप्त होता है, उसी प्रकार इस शरीर में हड्डियाँ हैं, वे स्तंभ हैं जिन पर यह तन स्थित है, निर्मित है। उसमें छोटी-छोटी सिराएँ सींकें हैं, जिनसे यह बँधा हुआ है। मांस से लिपा हुआ है और चर्म से आच्छादित है, जिसमें पापरूपी धन भरा हुआ है। ऐसा यह शरीर रूपी घर पवित्र कैसे हो सकता है?

शरीर का स्पर्श भी अशुचि का कारण

शुचिसुरभिपूतजलमालाम्बरगन्धाक्षतादि वस्तूनि।
स्पर्शेनाशुचिभावं नयति कथं शुचि भवेदङ्गम्॥१६९॥

अन्वयार्थ - शुचि सुरभि पूत जल मालाम्बर गन्धाक्षतादि वस्तूनि - पवित्र, सुगन्धित, पूत, जल, माला, वस्त्र, गंध, अक्षत आदि वस्तुयें। **स्पर्शेन** - जिसके स्पर्श मात्र से। **अशुचिभावं** - अशुचिभाव को। **नयति** - प्राप्त हो जाते हैं, वह। **अंगं** - अंग। **शुचि** - पवित्र। **कथं** - कैसे। **भवेत्** - हो सकता है।

अर्थ - यह शरीर स्वयं तो अपवित्र है ही, परन्तु इस शरीर के स्पर्श मात्र से निर्मल, सुगन्धित, पवित्र जल, पुष्पमाला, वस्त्र, गन्ध, अक्षत आदि उत्तम, उत्तम वस्तुएँ अपवित्र, दुर्गन्धित, मलिन हो जाती हैं, ऐसा यह शरीर किसी प्रकार से पवित्र नहीं हो सकता। यह स्वभाव से ही अपवित्र है।

चर्म के बिना शरीर की रक्षा अशक्य

मक्षिकपत्रसमानं यदि चर्माङ्गस्य भवति नो बाह्ये।
द्रष्टुं स्प्रष्टुं काकादिभ्यस्त्रातुं च नो शक्यम्॥१७०॥

। इत्यशुचित्वानुप्रेक्षा।

अन्वयार्थ - अङ्गस्य - शरीर के। **बाह्ये** - बाह्य में। **यदि** - यदि। **मक्षिकापत्रसमानं** - मक्खी के पंख के समान सूक्ष्म। **चर्म** - चमड़ा। **नो** - नहीं। **भवति** - होता तो। **द्रष्टुं** - देखने के लिए। **स्प्रष्टुं** - स्पर्श करने के लिए। **च** - और। **काकादिभ्यः** - कौआ आदि पक्षियों से। **त्रातुं** - रक्षा करने के लिए। **शक्यं** - शक्य। **नो** - नहीं है।

अर्थ : इस भौतिक शरीर के आच्छादन रूप मक्खी के पंख से भी अधिक सूक्ष्म चर्म है, जिससे यह सुरक्षित है। यदि यह शरीर चर्म से आच्छादित नहीं होता तो इसको कोई देखने और छूने में समर्थ नहीं होता तथा इसको कौवे, चींटियाँ नोंच कर खा जाते; उनसे इसकी रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं होता। इस प्रकार का चिंतन कर शरीर से विरक्त होना अशुचि भावना है।

इस प्रकार अशुचि भावना के चिंतन से संसार एवं शरीर से विरक्ति होती है और जीव सांसारिक वासनाओं से हटकर आत्मकल्याण के मार्ग में लग जाता है।

जो शरीर के स्वरूप को न जानकर उसको सजाने में लीन रहते हैं, वे कभी अपना कल्याण नहीं कर सकते। अतः अशुचि भावना को ध्यान रूप तप में गर्भित किया है।

आस्रवानुप्रेक्षा

जन्मसमुद्रे बहुदोषवीचिके दुःखजलचराकीर्णे।
जीवस्य परिभ्रमणे निमित्तमात्रास्रवो भवति॥१७१॥

अन्वयार्थ - बहुदोषवीचिके - बहुदोष रूपी जिसमें लहरें हैं। **दुःखजलचराकीर्णे** - दुःख रूपी जलचरों से व्याप्त। **जन्मसमुद्रे** - संसार-समुद्र में। **जीवस्य** - जीव के। **परिभ्रमणे** - परिभ्रमण में। **निमित्तमात्रास्रवः** - निमित्तमात्र आस्रव। **भवति** - होता है।

अर्थ - संसार एक महान् समुद्र है, जिस प्रकार समुद्र लहरों से व्याप्त होता है, यह संसार-समुद्र रागद्वेषादि बहुत से दोषरूपी लहरों से व्याप्त है। समुद्र जलचर जीवों से भरा रहता है, यह समुद्र भी इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, शारीरिक एवं मानसिक दुःख रूपी जलचर जीवों से व्याप्त है। ऐसे इस संसार रूपी समुद्र में अनादिकाल से परिभ्रमण करते हुए जीव के कर्मों का आगमन द्वार आस्रव ही एक मात्र निमित्त है अर्थात् आस्रव के कारण ही यह जीव संसार में भटक रहा है॥७०॥

यद्वत्सास्रवपोतो वारिधिमध्ये निमज्जति क्षिप्रम्।
तद्वत्कर्मास्रववज्जीवः संसारवारिनिधौ॥१७२॥

अन्वयार्थ - यद्वत् - जिस प्रकार। **सास्रवपोतः** - जिसमें पानी आ रहा है ऐसी नौका। **वारिधिमध्ये** - समुद्र के मध्य में। **क्षिप्रं** - शीघ्र ही। **निमज्जति** - डूब जाती है। **तद्वत्** - उसी प्रकार। **कर्मास्रववज्जीवः** - कर्म आस्रव सहित जीव। **संसारवारिनिधौ** - संसार समुद्र में। **क्षिप्रं** - शीघ्र ही। **निमज्जति** - डूब जाती है॥७१॥

अर्थ - जिस प्रकार जिसमें छिद्रों से पानी आ रहा है ऐसी नौका शीघ्र ही समुद्र के मध्य में डूब जाती है; उसी प्रकार जिस प्राणी के कर्मों का आस्रव हो रहा है, वह प्राणी संसार-समुद्र में डूब जाता है।

आस्रवहेतुर्मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगकाः पञ्च।
द्वादशकपञ्चविंशति पञ्चादशभेदयुक्ताश्च॥१७३॥

अन्वयार्थ - पञ्च द्वादशक पंचविंशति पंचादश भेदयुक्ताः - पाँच, बारह, पच्चीस, पन्द्रह भेदों से युक्त। **मिथ्यात्वाविरति - कषाययोगकाः** - मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। **आस्रवहेतुः** - आस्रव के कारण हैं।

अर्थ - विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान ये पाँच प्रकार के मिथ्यात्व हैं।

वस्तु के स्वरूप को विपरीत जानना **विपरीत मिथ्यात्व** है।

नित्य वा अनित्य, एक वा अनेक आदि एक रूप ही मानना अर्थात् अनेक धर्मात्मक वस्तु को एक रूप ही मानना एकान्त **मिथ्यात्व** है।

वस्तु का निर्णय नहीं करना **संशय मिथ्यात्व** है।

सत्य, असत्य, देव, कुदेव, गुरु, कुगुरु, शास्त्र, कुशास्त्र की परीक्षा न करके सबका विनय करना **विनय मिथ्यात्व** है।

समीचीन ज्ञान को प्राप्त न करके मिथ्यादृष्टि प्रणीत शास्त्रों को प्रमाण मानकर अज्ञानपूर्वक क्रिया करना **अज्ञान मिथ्यात्व** है।

छह काय के जीवों की विराधना करना और पाँच इन्द्रियों एवं मन को वश में नहीं करना बारह प्रकार की **अविरति** है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनन्त संसार के कारणभूत मिथ्यात्व का अनुसरण करने वाली, एक बार बँधने के बाद अनन्तभव तक साथ में रहने वाली **अनन्तानुबंधी** क्रोध, मान, माया, लोभ है।

देशसंयम की घातक वा जिसके उदय में जीव 'अ' ईषद् (थोड़ा सा) भी प्रत्याख्यान (त्याग) करने में समर्थ नहीं होता वे **अप्रत्याख्यान** क्रोध, मान, माया, लोभ हैं। सम्पूर्ण त्याग न कर सके वा जो सकल संयम की घातक है, वह **प्रत्याख्यान** क्रोध, मान, माया, लोभ है। संयम के साथ प्रज्वलित रहे ऐसी यथाख्यात चारित्र की घातक संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ रूप ये १६ कषाय हैं।

हास्य - जिसके उदय से हँसी आती है। **रति** - जिसके उदय से पंचेन्द्रिय-विषयों में रति (प्रेम) होती है। **अरति** - जिसके उदय से धार्मिक कार्यों में अरुचि होती है। **शोक** - जिसके उदय से शोक-संताप से मन खेद खिन्न होता है।

भय - जिसके उदय से जीव भयभीत रहता है। **जुगुप्सा** (ग्लानि) - जिसके उदय से प्राणी ग्लानियुक्त होता है। **स्त्रीवेद** - जिसके उदय से पुरुष के साथ रमण करने की भावना होती है।

पुरुष वेद - जिसके उदय से स्त्री के साथ रमण करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है।

नपुंसक वेद - जिसके उदय से दोनों के साथ रमण करने की भावना जागृत होती है।

ये पच्चीस कषाय हैं।

सत्य मन, असत्य मन, उभय मन, अनुभय मन; सत्य वचन, असत्य वचन, उभय वचन, अनुभय वचन; औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रकाययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्र काययोग, वैक्रियिककाय योग, वैक्रियिक मिश्र काय योग कार्माण काययोग ये १५ योग हैं। इन १५ योगों के द्वारा आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होता है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप आस्रव के सत्तावन भेदों से कर्मों का आगमन होता है।

आस्रव के फल का कथन

कारणवशेन गाढं लग्नं कर्मोग्रदुःखजलपूर्णे।
भ्रमयति संसाराब्धौ सुचिरं कालं तु जन्तुगणम्॥१७४॥

अन्वयार्थ - कारणवशेन - इन सत्तावन कारणों के द्वारा। **गाढं** - अत्यन्त गाढ़ रूप से। **लग्नं** - लगे हुए। **कर्म** - कर्म। **जन्तुगणं** - संसारी प्राणियों को। **सुचिरं** - बहुत। **कालं** - काल तक।

उग्रदुःखजलपूर्णे - उग्रदुःख रूपी जल से परिपूर्ण। **संसाराब्धौ** - संसार समुद्र में। **भ्रमयति** - भ्रमण कराता है।

अर्थ - अनादिकाल से मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग के द्वारा आगत कर्म आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाही है। ये ही मिथ्यात्वादि भावास्रव और पुद्गल कर्म रूप द्रव्यास्रव इस प्राणी को दुःखों से परिपूर्ण इस संसार में भ्रमण कराते हैं, अर्थात् यह संसारी प्राणी आस्रव के कारण चिर काल से संसार में भटक रहा है।

प्रागाश्रितकर्मवशाद् दुःपरिणामा भवन्ति तेभ्योऽन्यत्।
बध्नाति दुरितमेवं बीजांकुररूपतास्रवणे ॥१७५॥

। इत्यास्रवानुप्रेक्षा।

अन्वयार्थ - **प्रागाश्रितकर्मवशात्** - पूर्व में उपार्जित कर्म के वश से। **दुःपरिणामः** - दुष्परिणाम। **भवन्ति** - होते हैं। **तेभ्यः** - उन दुष्परिणामों से। **अन्यत्** - दूसरे। **दुरितं** - पाप कर्मों को। **बध्नाति** - बाँधता है। **एवं** - इस प्रकार। **आस्रवणे** - आस्रव में। **बीजाङ्कररूपता** - बीज और अंकुर के समान कार्य-कारण रूपता है॥७४॥

अर्थ - जब प्राणी के पूर्व में बँधे हुए कर्मों का उदय आता है, तब दुष्परिणाम होते हैं, पापमय प्रवृत्ति होती है तथा उन दुष्परिणामों से नवीन कर्मों का आस्रव होता है। पुनः वे कर्म उदय में आते हैं, फिर कर्मों का आस्रव होता है। इस प्रकार आस्रव और परिणामों में बीज-अंकुरता वा कारण-कार्य पना है।

आस्रव दो प्रकार का है- भाव और द्रव्य। द्रव्य आस्रव पुद्गल कर्मों का आगमन है और भाव आस्रव जीव के परिणाम हैं।

जीव के परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल वर्गणा स्वयमेव (स्वकीय उपादान से) कर्म रूप परिणत हो जाती है और पौद्गलिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर परिणमन स्वरूप आत्मा स्वयमेव रागद्वेष रूप परिणत हो जाता है। अतः द्रव्य कर्म के आने का निमित्त भाव कर्म है और भाव कर्म का निमित्त, द्रव्य कर्म है। जैसे बीज का कारण वृक्ष और वृक्ष का कारण बीज है। इस प्रकार द्रव्य और भाव कर्म में परस्पर कार्य-कारणता है।

संवरानुप्रेक्षा

संसारवारिराशेस्तरणेऽवान्तरसमुद्भवाभ्युदय-।
प्राप्तौ च कारणं स्यात्संवरणं जन्तुनिवहस्य ॥१७६॥

अन्वयार्थ - **जन्तुनिवहस्य** - संसारी प्राणियों के समूह के। **संसारवारिराशेः** - संसारसमुद्र को। **तरणे** - तिरने में। **च** - और। **अवान्तरसमुद्भवाभ्युदयप्राप्तौ** - अवान्तर समुत्पन्न अभ्युदयों की प्राप्ति में। **कारणं** - कारण। **संवरणं** - संवर। **स्यात्** - होता है।

अर्थ - जो संसारी प्राणियों के संसारसमुद्र को तारने में और स्वर्गादि अभ्युदय के देने में कारण है अर्थात् सांसारिक सुख एवं मोक्ष को प्रदान करने में समर्थ होता है, उसको संवर कहते हैं।

कर्मों के आगमन द्वार रूप आस्रव का प्रतिबन्धक **संवर** कहलाता है।

यद्वदनास्रवपोतो वाञ्छितदेशं भृशं समाप्नोति।
तद्वदनास्रवजीवो वाञ्छितमुक्तिं समाप्नोति ॥१७७॥

अन्वयार्थ - यद्वत् - जिस प्रकार। **अनास्रवपोतः** - पानी के आगमन से रहित नौका। **भृशं** - शीघ्र ही। **वाञ्छितदेशं** - इच्छितदेश को। **समाप्नोति** - प्राप्त हो जाती है। **तद्वत्** - उसी प्रकार। **अनास्रवजीवः** - आस्रवरहित जीव। **वाञ्छितमुक्तिं** - इच्छितमुक्तिपद को। **समाप्नोति** - प्राप्त हो जाता है॥७६॥

अर्थ - जिस प्रकार छिद्र रहित एवं पानी के आगमन रहित नौका शीघ्र ही इष्ट स्थान पर पहुँच जाती है, उसी प्रकार अनास्रव जीव शीघ्र ही मुक्तिस्थान को प्राप्त हो जाता है अर्थात् संवर से मुक्तिप्राप्ति होती है।

संवर के कारण

संवरहेतुः सम्यग्दर्शन-संयमकषायरहितत्वम्।
योगनिरोधास्तेषां भेदा वेद्याः सदागमतः ॥१७८॥

अन्वयार्थ - सम्यग्दर्शन-संयम-कषाय-रहितत्वं - सम्यग्दर्शन, संयम और कषाय रहित। **योगनिरोधाः** - योगनिरोध। **संवर - हेतुः** - संवर का कारण है। **तेषां** - उन संवर के। **भेदाः** - भेद। **सदागमतः** - समीचीन आगम से। **वेद्याः** - जानने चाहिए।

अर्थ - सम्यग्दर्शन, संयम, कषाय का अभाव और योगों का निरोध संवर का कारण है अर्थात् इन कारणों से कर्मों का आना रुक जाता है। संवर के उन भेदों को समीचीन आगम से जानना चाहिए।

तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। पंचेन्द्रिय और मन का निग्रह करना तथा छह काय के जीवों का घात नहीं करना संयम हैं।

आत्मा को कषने वाली, दुःख देने वाली कषाय है। उस कषाय का अभाव करना निष्कषाय बनना है।

मन, वचन और काय के निमित्त से आत्मप्रदेशों में जो परिस्पन्दन होता है, वह **योग** है। उन मन, वचन, काय रूप योग का अभाव **योगनिरोध** कहलाता है।

सम्यग्दर्शन, संयम, निष्कषाय भाव और योगों की चंचलता का अभाव ही संवर है। कर्मागमन द्वार आस्रव का निरोध रूप संवर इन्हीं कारणों से होता है। संवर के कारणों को विशेष रूप से वीतराग, सर्वज्ञकथित आगम से जानना चाहिए।

मिथ्यात्वादि के द्वारा आने वाले आस्रव को रोकने के उपायों का कथन

मिथ्यात्वास्रवजानां मार्गाः सम्यक्त्वदृढकवाटौघैः।
अविरत्यास्रवजानां वर्त्मानि व्रतमहापरिघैः ॥१७९॥
क्रोधाद्यास्रवजानां द्वाराण्यकषायभावफलकाभिः।
योगास्रवजानां प्रणिरुध्यन्तेऽयोगतावृत्या ॥१८०॥ युग्मम्।

। इति संवरानुप्रेक्षा।

अन्वयार्थ - **मिथ्यात्वास्रवजानां** - मिथ्यात्व से उत्पन्न होने वाले आस्रव के। **मार्गाः** - मार्ग। **सम्यक्त्वदृढकवाटौघैः** - सम्यग्दर्शनरूपी दृढ़ कपाट के समूह के द्वारा। **प्रणिरुध्यन्ते** - रोक दिये जाते हैं। **अविरत्यास्रवजानां** - अविरति से आने वाले आस्रवों से उत्पन्न। **वर्त्मानि** - द्वार को। **व्रतमहापरिघैः** - व्रतरूपीमहाअर्गल के द्वारा। **क्रोधाद्यास्रवजानां** - क्रोधादि के द्वारा आने वाले आस्रवों के। **द्वाराणि** - द्वारों को। **अकषायभावफलकाभिः** - अकषाय भावरूप फलक के द्वारा। **योगास्रवजानां** - योग से आने वाले आस्रव द्वार। **अयोगतावृत्या** - अयोगतारूपी वृत्ति के द्वारा। **प्रणिरुध्यन्ते** - रोक दिये जाते हैं।

अर्थ - कर्म आने के द्वार मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग हैं अर्थात् मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग ये चार कर्मागमन के द्वार हैं। इन चार द्वारों को रोकने वाले सम्यग्दर्शन, व्रत, निष्कषाय भाव और योगनिरोध हैं।

मिथ्यादर्शन के द्वारा आने वाली जो मिथ्यात्व, हुंडक संस्थान, नपुंसक वेद, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, स्थावर, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, नरक गति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरकायु रूप १६ प्रकृति हैं, वे सम्यग्दर्शन रूप दृढ़ कपाट के द्वारा रुक जाती हैं। इसी के साथ अनन्तानुबंधी कषाय से बँधने वाली २५ प्रकृतियों का निरोध हो जाता है।

अविरति भाव से आने वाली प्रकृतियों का संवर अणुव्रत और महाव्रतों के द्वारा हो जाता है। क्रोधादि कषायों के द्वारा आने वाले कर्मों का संवर निष्कषाय भाव से रुक जाता है और योग से आने वाले कर्मों का निरोध योगनिरोध से हो जाता है। इस प्रकार संवर भावना का चिन्तन करना चाहिए।

निर्जरा भावना

पूर्वोपार्जितकर्मप्रविगलनं निर्जरा विनिर्दिष्टा।
सा द्विविधा ज्ञेया स्यादुदयोत्थोदीरणोत्था च ॥१८१॥

अन्वयार्थ - **पूर्वोपार्जितकर्मप्रविगलनं** - पूर्वोपार्जित कर्मों का नाश होना। **निर्जरा** - निर्जरा। **विनिर्दिष्टा** - कही है। **सा** - वह निर्जरा। **उदयोत्था** - कर्मों के उदय से उत्पन्न। **च** - और। **उदीरणोत्था** - उदीरणा से उत्पन्न। **द्विधा** - दो प्रकार की। **स्यात्** - है ऐसा। **ज्ञेया** - जानना चाहिए।

अर्थ - पूर्वोपार्जित कर्मों का उदय में आकर झड़ जाना, नष्ट हो जाना, आत्मा से पृथक् हो जाना निर्जरा है। कर्मों की स्थिति पूरी होकर जो कर्म नष्ट होते हैं, वह कर्मोदयोत्था निर्जरा है और स्थिति पूरी हुए बिना जो कर्म झड़ते हैं, वह उदीरणोत्था निर्जरा है।

कर्मोदयत्था निर्जरा

उदयोत्था संसृतिगतजीवाना सर्वदैव सर्वेषाम्।
ज्ञानावरणादीनां स्थितिजे काले परिसमाप्ते॥१८२॥

अन्वयार्थ - **ज्ञानावरणादीनां** - ज्ञानावरणादि के। **स्थितिजे** - स्थितिजन्य। **काले** - काल के। **परिसमाप्ते** - समाप्त होने पर। **उदयोत्था** - कर्म के उदय से उत्पन्न निर्जरा। **सर्वेषां** - सारे। **संसृतिगतजीवानां** - संसारी जीवों के। **सर्वदा** - निरंतर। **एव** - ही, होती है।

अर्थ - ज्ञानावरणादि कर्मों की स्थिति पूरी हो जाने पर उदय में आकर कर्म स्वकीय फल प्रदान कर नष्ट हो जाते हैं, यह उदयोत्था निर्जरा संसारी प्राणियों के निरंतर होती रहती है अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर १४वें गुणस्थान तक सर्वगुणस्थानों में तथा एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्यन्त सर्व जीवों के निरंतर (प्रतिक्षण) कर्म उदय में आकर स्वकीय फल प्रदान कर झर जाते हैं, आत्मा से पृथक् होते ही रहते हैं। अत: कर्मोदयत्था निर्जरा संसारी प्राणियों के निरंतर होती रहती है।

उदीरणोत्था निर्जरा

कालेऽप्यपरिसमाप्ते परिणामप्रग्रहावकृष्टानाम्।
कर्माणूनां भवति ह्युदीरणोत्था द्विभेदा सा॥१८३॥
देशसकलाभिधाभ्यां देशाख्यानात्तयोरनेकविधा।
सकला तपसा महता दुरितानां निर्जरा भवति॥१८४॥ युग्मम्॥

अन्वयार्थ - **परिणामप्रग्रहावकृष्टानां** - परिणाम रूपी रज्जु से अवकृष्ट (खींचे हुए) **कर्माणूनां** - कर्म परिणामों का। **काले**- काल के। **अपरिसमाप्ते** - समाप्त न होने पर। **अपि** - भी। कर्म झरते हैं वह। **हि** - निश्चय से। **उदीरणोत्था** - उदीरणा से उत्पन्न हुई निर्जरा है। **सा** - वह निर्जरा। **देशसकलाभिधाभ्यां** - एकदेश और सकलदेश के भेद से। **द्विभेदा** - दो प्रकार की है। **तयो:** - उन दोनों निर्जराओं में। **देशाख्यानात्** - एकदेश नाम की निर्जरा। **अनेकविधा** - अनेक प्रकार की है। **महता** - महान्। **तपसा** - तप के द्वारा। **दुरितानां** - पापों की। **निर्जरा** - निर्जरा। **भवति** - होती है वह। **सकला** - सकलनिर्जरा कहलाती है।

अर्थ - स्वकीय स्थिति के पूर्ण हुए बिना पूर्वोपार्जित कर्मों का उदय में आ जाना वह उदीरणा कहलाती है। उस उदीरणा के समय कर्म स्वकीय फल देकर नष्ट हो जाते हैं। वह उदीरणोत्थ निर्जरा कहलाती है। उदीरणोत्थ निर्जरा दो प्रकार की होती है - एकदेश और सर्वदेश। एकदेश निर्जरा अनेक प्रकार

की है। एकदेश उदीरणोत्थ निर्जरा में भी बिना तपश्चरण के भी किसी कारणवश कर्म उदय में आकर नष्ट हो जाते हैं; जैसे भयानक पदार्थों के देखने, श्वासोच्छ्वास के रोकने, रक्त बहने आदि कारणों से आयु कर्म का नाश हो जाता है, वह एकदेश उदीरणोत्थ निर्जरा है और भी अनेक ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनमें कर्म बिना काल में ही उदय में आकर नष्ट हो जाते हैं।

अथवा - चतुर्थ गुणस्थान, पंचमगुणस्थान में होने वाली, इत्यादि अनेक प्रकार की निर्जरा एकदेशोत्थउदीरणा निर्जरा होती है।

महान् तप के द्वारा दुष्कर्मों का झड़ना, गलना, पचना होता है, उसको सकल निर्जरा कहते हैं। अर्थात् जब महान् तप के द्वारा सारे घातिया कर्म नष्ट होकर आत्मा सकल परमात्मा बन जाती है, वह सकल निर्जरा कहलाती है।

कालोपायाभ्यां फलपाकः संदृश्यते यथागेषु।
कालोपायाभ्यां फलपाकः कर्मसु तथा भवति॥१८५॥

। इति निर्जरानुप्रेक्षा।

अन्वयार्थ - यथा - जिस प्रकार। **अगेषु** - पापकर्मों में। **कालोपायाभ्यां** - काल और उपाय के द्वारा। **फलपाकः** - फल का पाक। **संदृश्यते** - देखा जाता है। **तथा** - उसी प्रकार। **कर्मसु** - सर्वकर्मों में। **कालोपायाभ्यां** - काल और उपायों के द्वारा। **फलपाकः** - कर्म का विपाक। **भवति** - होता है॥८४॥

अर्थ - जिस प्रकार घातिया कर्मादि पापकर्म काल (स्थिति पूर्ण होने पर) और उपाय, तपश्चरणादि के द्वारा उदय तथा उदीरणा के द्वारा स्वकीय सुख, दुःख आदि फलों को देकर झड़ते हैं, गलते हैं, पचते हैं, नष्ट होते हैं; उसी प्रकार आठों ही कर्म कालस्थिति पूर्ण होने पर उदय में आकर महान् तपश्चरणादि के द्वारा उदीरणा को प्राप्त होकर अपने सुख दुःख आदि फलों को देकर झड़ते हैं, गलते हैं, नष्ट होते हैं; यह निर्जरा कहलाती है।

इस प्रकार कर्मों का उदय, उदीरणा, उससे होने वाले फल का चिंतन करना निर्जरा भावना है।

धर्मानुप्रेक्षा

अभ्युदयजनिः श्रेयससंभवसौख्येषु यः सदा सत्त्वम्।
धारयति सोऽत्र धर्मोऽहिंसादिकलक्षणोपेतः॥१८६॥

अन्वयार्थ - यः - जो। **सदा** - निरंतर। **सत्त्वं** - जीवों को। **अभ्युदयजनिः श्रेयससंभवसौख्येषु** - सांसारिक भोगों के साथ मोक्षसुख में। **धारयति** - धारण करता है। **सः** - वह। **अत्र** - यहाँ पर। **अहिंसादिकलक्षणोपेतः** - अहिंसादि लक्षणों से युक्त। **धर्मः** - धर्म है।

अर्थ - ध्यानस्वरूप अंतरंग तप के कथन में आचार्यदेव ने बारह भावना के चिंतन का निर्देश दिया है, उसमें धर्मानुप्रेक्षा का वर्णन है कि जो निरंतर जीवों को सांसारिक इन्द्रपद, चक्रवर्ती पद, तीर्थंकर पद आदि उत्तम अभ्युदयों को प्राप्त कराता है तथा सारे सांसारिक दु:खों से निकालकर उत्तम सुख में पहुँचाता है जिससे निर्वाण पद की प्राप्ति होती है, वह अहिंसादि लक्षण वाला धर्म है।

भावार्थ - जो संसारी प्राणियों को सांसारिक दु:खों से निकाल कर उत्तम सुख में पहुँचाता है, वह धर्म है अहिंसा। इस 'अहिंसा परमोधर्म' लक्षण में धर्म के जितने लक्षण कहे हैं वे सारे लक्षण गर्भित हो जाते हैं।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहा है क्योंकि रत्नत्रय से ही प्राणी इन्द्रादि पद को प्राप्त कर अन्त में निर्वाण पद को प्राप्त करता है, अहिंसा के बिना रत्नत्रय का पालन नहीं होता। सम्यक्चारित्र की घातक कषायें हैं और कषायों का अभाव अहिंसा है, अत: 'चारित्तं खलु धम्मो' यह भी अहिंसा का द्योतक है। मोह, क्षोभ रहित साम्यभाव धर्म है और साम्यभाव अहिंसा रूप है। इस प्रकार 'अहिंसा परमो धर्म' में सारी धर्मक्रियायें गर्भित हैं।

धर्म के भेद-प्रभेद

स द्विविध: सागारोऽनगाराख्यानभेदतस्तत्र।
प्रथमोऽप्येकादशधा दशधा प्रविभज्यते ह्यन्य: ॥१८७॥

अन्वयार्थ - **तत्र** - वहाँ। **स:** - वह धर्म। **सागार:** - गृहस्थ। **अनगाराख्यानभेदत:** - अनगार नामक भेद से। **द्विविध:** - दो प्रकार का है। **अपि** - और। **प्रथम:** - गृहस्थ धर्म। **एकादशधा** - ग्यारह प्रकार और। **हि** - निश्चय से। **अन्य:** - अनगार धर्म। **दशधा** - दश प्रकार का। **प्रविभज्यते** - कहा जाता है।

अर्थ - गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म के भेद से अहिंसादि लक्षण धर्म दो प्रकार का है। इसमें श्रावकधर्म दर्शन प्रतिमा आदि के भेद से ग्यारह प्रकार का है तथा उत्तम क्षमा आदि के भेद से मुनि धर्म दश प्रकार का है।

दृष्टिव्रतसामायिकपूर्वा: प्रथमस्य सम्यगवगम्या:।
भेदा ह्युपासकाध्ययनोदितरूपेण विद्धिरमी ॥१८८॥

अन्वयार्थ - **प्रथमस्य** - श्रावक धर्म के। **दृष्टिव्रतसामायिकपूर्वा:** - दर्शन, व्रत, सामायिक पूर्व। **सम्यक्** - भली प्रकार। **अवगम्या:** - जानने चाहिए। **हि** - और। **अमी** - ये। **भेदा:** - भेद। **उपासकाध्ययनोदितरूपेण** - उपासकाध्ययन कथित रूप से। **विद्धि:** - जानना चाहिए।

अर्थ - श्रावक धर्म के दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभोजनत्याग वा दिवा मैथुन त्याग, ब्रह्मचर्यव्रत, आरंभ त्याग, परिग्रहत्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्टत्याग रूप प्रतिमा के ग्यारह भेद जानने चाहिए।

दर्शन प्रतिमा - पंच परमेष्ठी का परम भक्त सम्यग्दृष्टि तथा अष्ट मूलगुण आदि का धारी श्रावक दार्शनिक कहलाता है।

व्रत प्रतिमा - पंच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करना तथा तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत इन सात व्रतों का अभ्यास रूप से पालन करना व्रत प्रतिमा है।

त्रिकाल सामायिक करना **सामायिक प्रतिमा** है। अष्टमी और चतुर्दशी के दिन उपवास वा एकासन करना **प्रोषध प्रतिमा** है। सचित्त आहार का त्याग करना पाँचवीं **सचित्त त्याग प्रतिमा** है। रात्रिभोजन का तथा दिवामैथुन का त्याग करना **रात्रि - भुक्तित्याग नामक छठी प्रतिमा** है।

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना **ब्रह्मचर्य नामक सातवीं प्रतिमा** है। आरम्भादि सम्पूर्ण व्यापार का त्याग **आरम्भत्याग नामक आठवीं प्रतिमा** है।

अपने पहनने के वस्त्रों के अलावा सारे परिग्रह का त्याग करना **परिग्रह त्याग प्रतिमा** है।

किसी भी सांसारिक कार्य की अनुमति नहीं देना **अनुमति त्याग प्रतिमा** है।

अपने निमित्त से बने हुए या कहकर बनाये हुए आहारादिक का त्याग करना **उद्दिष्टत्याग प्रतिमा** है। इस प्रकार व्रतपालन की अपेक्षा श्रावक धर्म ग्यारह प्रकार का है। इनका विस्तार चारित्र आराधना में किया है।

मुनिधर्म के दश भेद

स्युः क्षान्तिमार्दवार्जवसत्यत्यागादयो द्वितीयस्य।
भेदा दश विज्ञेया ह्याचाराङ्गोक्तविधिनैव ॥१८९॥

अन्वयार्थ - द्वितीयस्य - अनगार धर्म के। **आचारांगोक्तविधिना** - आचारांग विधि से कथित क्षान्तिमार्दवार्जवसत्य-त्यागादयः - क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, त्याग आदि। **स्युः** - धर्म हैं। **एव** - ही। **हि** - निश्चय से। **दश** - दश। **भेदा** - भेद। **विज्ञेया** - जानने चाहिए।

अर्थ - अनगार धर्म के उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दश भेद जानने चाहिए। इनका लक्षण आचार्य के गुणों के कथन में किया है।

धर्म का माहात्म्य

धर्मो बन्धुर्जगतां धर्मो मित्रं रसायनं धर्मः।
स्वजनपरिजनसमूहो धर्मो धर्मो निधिनिधानम् ॥१९०॥

धर्मः कल्पमहीजो धर्मश्चिन्तामणिश्च कामदुहः।
धेनुर्धर्मोऽचिन्त्यं रत्नं धर्मो रसो धर्मः ॥१९१॥

। इति धर्मानुप्रेक्षा।

अन्वयार्थ - **धर्मः** - धर्म। **जगतां** - संसारी प्राणियों का। **बन्धुः** - बन्धु है। **धर्मः** - धर्म ही। **मित्रं** - मित्र है। **धर्मः** - धर्म ही। **रसायनं** - रसायन है। **धर्मः** - धर्म ही। **स्वजन परिजन समूहः** - स्वजन परिजन का समूह है। **धर्मः** - धर्म ही। **निधिनिधानं** - निधियों का निधान है। **धर्मः** - धर्म। **कल्पमहीजः** - कल्पवृक्ष है। **धर्मः** - धर्म ही। **चिन्तामणिः** - चिन्तामणि है। **धर्मः** - धर्म ही। **कामदुहः** - इच्छित फल को देने वाली। **धेनुः** - गाय है। **धर्मः** - धर्म ही। **अचिन्त्यं** - अचिन्त्य। **रत्नं** - रत्न है। **च** - और। **धर्मः** - धर्म। **रसः** - रस है।

अर्थ - संसारी प्राणियों का धर्म ही एक सच्चा बन्धु है। धर्म ही मित्र है। धर्म ही रसायन है, धर्म ही स्वजन - परिजन का समूह है अर्थात् धर्म ही परिवार है। धर्म ही सर्व लौकिक पारलौकिक निधियों का खजाना है। इच्छित फल को देने वाला होने से धर्म ही कल्पवृक्ष है। धर्म ही कामधेनु है। धर्म ही अचिंत्य रत्न है और धर्म ही परम रस है॥९०॥

बोधिदुर्लभ भावना

बोधिस्तत्त्वार्थानां श्रद्धानं विशदबोधसंवृद्धम्।
दुर्लभमेतद्यत्तत्प्रयत्नमस्मिन् सदा कुर्यात्॥९२॥

अन्वयार्थ - **तत्त्वार्थानां** - जीवादि तत्त्वों का। **श्रद्धानं** - श्रद्धान करना। **विशदबोधसंवृद्धं** - निर्मल ज्ञान की वृद्धि ही। **बोधिः** - बोधि है। **यत्** - जो। **एतत्** - यह। **दुर्लभं** - दुर्लभ है। **तत्** - इसलिए। **अस्मिन्** - इस बोधि में। **सदा** - निरंतर। **प्रयत्नं** - प्रयत्न। **कुर्यात्** - करना चाहिए।

अर्थ - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति बोधि कहलाती है और यह बोधि बहुत दुर्लभ है। इसलिए इस रत्नत्रय रूप बोधि को प्राप्त करने का निरंतर प्रयत्न करना चाहिए।

पञ्चेन्द्रियता नृत्वं स्वायुः कुलदेशजन्ममारोग्यम्।
रूपबलबुद्धिसत्त्वं विनयो बुधसेवनाश्रवणम्॥९३॥
युक्तायुक्तविवेको युक्तिग्रहणं च धारयिष्णुत्वम्।
चेत्येतान्यतिदुर्लभतमानि बाहुल्यतोऽन्येषाम्॥९४॥ युग्मम्॥

अन्वयार्थ - **पंचेन्द्रियता** - पंचेन्द्रिय की प्राप्ति। **नृत्वं** - मनुष्यत्व। **स्वायुः** - दीर्घायु। **कुलदेशजन्मं** - उत्तम कुल, उत्तम देश में जन्म। **आरोग्यं** - नीरोगता। **रूपबलबुद्धिसत्त्वं** - सौन्दर्य, शारीरिक आदि बल, बुद्धि का अस्तित्व। **विनयः** - विनय। **बुधसेवनाश्रवणं** - ज्ञानी जनों की सेवा, उनके वचनों का श्रवण। **युक्तायुक्तविवेकः** - योग्य अयोग्य का विवेक। **युक्तिग्रहणं** - युक्तिपूर्वक ग्रहण। **च** - और। **धारयिष्णुत्वं** - युक्तिपूर्वक वस्तु को ग्रहण करना। **इति** - इस प्रकार। **तानि** - ये सारी वस्तुएँ। **अन्येषां** - दूसरों को। **बाहुल्यतः** - बहुलता से। **अतिदुर्लभतमानि** - दुर्लभ से दुर्लभ हैं।

अर्थ - अनादि काल से निगोद में एक श्वास में अठारह बार जन्म - मरण करने वाले इन जीवों

को पंचेन्द्रिय पद की प्राप्ति होना दुर्लभ है। पंचेन्द्रिय में भी मनुष्यत्व की प्राप्ति होना दुर्लभ है। मनुष्य पर्याय प्राप्त करके भी तपश्चरण के योग्य दीर्घ आयु प्राप्त करना दुर्लभ है। मानव पर्याय में दीर्घायु प्राप्त करके भी मुनिपद के धारण करने योग्य कुल, उत्तमदेश, नीरोगता, योग्य और अयोग्य का विचार, युक्तिपूर्वक शास्त्रों के अर्थ ग्रहण करना, उनको धारण करना, शारीरिक सौन्दर्य, शारीरिक, वाचनिक, मानसिक शक्ति, विनयसम्पन्नता आदि वस्तुएँ आगे-आगे दुर्लभ एवं दुर्लभतर हैं, बड़ी कठिनता से प्राप्त होती हैं।

लब्धेषु तेषु नितरां बोधिर्दुर्लभतया विशुद्धतमा।
कुपथाकुले हि लोके यस्माद्बलिनः कषायाश्च ॥१९५॥

अन्वयार्थ - **तेषु** - उपरिकथित सर्व वस्तुओं के। **लब्धेषु** - प्राप्त होने पर भी। **विशुद्धतमा** - विशुद्धतर। **बोधिः** - रत्नत्रय की प्राप्ति। **दुर्लभतया** - दुर्लभतर है। **यस्मात्** - क्योंकि। **हि** - निश्चय से। **कुपथाकुले** - कुपथ से आकुलित। **लोके** - लोक में। **कषायाः** - ये कषायें। **बलिनः** - बलवान हैं।

अर्थ - उपरिश्लोक में कथित पंचेन्द्रियत्व, मनुष्यत्व, दीर्घ आयुत्व, उत्तम देश-कुल में जन्म, आरोग्य आदि को प्राप्त करके भी विशुद्ध रत्नत्रय की प्राप्ति रूप बोधि की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि ये कषायें ही बोधि की घातक हैं। अतः संसारी मानव विषयवासनाओं में फँसकर बोधि को प्राप्त करने की बात भूल रहा है। बोधि की तरफ इसका लक्ष्य नहीं है। बोधि का प्राप्त होना अति दुर्लभ है।

बोधि की प्राप्ति में आलस्य का निषेध

इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात्।
संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरम् ॥१९६॥

अन्वयार्थ - **इति** - इस प्रकार। **अतिदुर्लभरूपां** - अति दुर्लभ स्वरूप। **बोधिं** - बोधि को। **लब्ध्वा** - प्राप्त करके। **यदि** - यदि। **प्रमादी** - आलसी। **स्यात्** - होगा (होता है) तो। **वराकः** - बेचारा। **नरः** - मानव। **सुचिरं** - बहुत काल तक। **संसृतिभीमारण्ये** - संसार रूपी भयंकर अरण्य (जंगल) में। **भ्रमति** - भ्रमण करता है।

अर्थ - रत्नत्रयरूपी बोधि की प्राप्ति अति दुर्लभ है, उस दुर्लभ बोधि को प्राप्त करके जो प्राणी प्रमाद करता है, उसके प्रति अनुराग करके उसमें स्थिर नहीं होता है तो वह मूर्ख मानव चिर (दीर्घ) काल तक संसार अटवी में भ्रमण करता हुआ अनन्त दुःखों को भोगता रहता है।

पुनः बोधि की प्राप्ति की दुर्लभता का कथन

पतिता बोधिः सुलभा नो पश्चात्सुमहतापि कालेन।
पतितमनर्घ्यं रत्नं सलिलनिधावन्धकार इव ॥१९७॥

अन्वयार्थ - **पतिता** - पतित हुई। **बोधिः** - रत्नत्रय की प्राप्ति। **सुमहता** - बहुत से। **कालेन**

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

- काल के व्यतीत होने पर। **अपि** - भी। **सुलभा** - सुलभ। **नो** - नहीं है। **इव** - जैसे। **अन्धकारे** - अन्धकार में। **सलिलनिधौ** - समुद्र में। **पतितं** - गिरा हुआ। **अनर्घ्यं** - अमूल्य। **रत्नं** - रत्न प्राप्त नहीं होता॥९६॥

जिस प्रकार अन्धकार में प्रमाद से समुद्र में गिरे हुए अमूल्य रत्न का पुनः प्राप्त होना बहुत कठिन है; उसी प्रकार यदि रत्नत्रय रूपी बोधि हाथ से निकल गई तो पुनः बहुत काल बीतने पर भी प्राप्त होना कठिन है। इस प्रकार बोधि की दुर्लभता का चिंतन करना बोधिदुर्लभ भावना है। इन १२ भावनाओं का चिंतन संस्थानविचय नामक धर्म ध्यान है।

बारह भावनाओं का कथन पूर्ण हुआ।

शुक्ल ध्यान का कथन

आकाशस्फटिकमणिज्योतिर्वा निश्चलं कषायाणाम्।
प्रशमक्षयजं शुक्लध्यानं कर्माटवीदहनम्॥१९८॥

अन्वयार्थ - कषायाणां - कषायों के। **प्रशमक्षयजं** - प्रशम अथवा क्षय से उत्पन्न होने वाला। **कर्माटवीदहनं** - कर्म रूपी वन को दग्ध करने में समर्थ। **आकाशस्फटिकमणिज्योतिः** - आकाश वा स्फटिक मणि की ज्योति के समान। **निश्चलं** - निश्चल। **शुक्लध्यानं** - शुक्ल ध्यान होता है।

शुक्ल ध्यान कषायों के उपशम या क्षय से उत्पन्न होता है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता का मत है कि कषायों के उदय में शुक्ल ध्यान नहीं होता।

जो मल (कषाय) रहित जीव के परिणामों से उत्पन्न होता है तथा जिसमें शुचिगुण का सम्बन्ध है, वह शुक्ल ध्यान कहलाता है। जैसे मैल हट जाने से वस्त्र शुचि होकर शुक्ल होता है, वैसे ही कषाय मल के हट जाने से शुक्ल ध्यान शुचि एवं निर्मल होता है।

यह शुक्ल ध्यान, आकाश अथवा स्फटिक मणि की ज्योति के समान निर्मल एवं निष्कम्प होता है। कषायरूपी रज के क्षय से वा उपशम से उत्पन्न होता है और यहाँ लेश्या भी शुक्ल होती है। ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यान के विकल्प से रहित, अन्तमुर्खाकार समस्त इन्द्रिय समूह के अगोचर निरंजन निज परमात्म तत्त्व में अविचल स्थिति तथा समस्त रागादि विकल्प से रहित आत्मसंवेदन होता है, वह शुक्ल ध्यान है।

शुक्ल ध्यान के भेद प्रभेद का कथन

स पृथक्त्ववितर्कान्वितवीचारप्रभृतिभेदभिन्नं तत्।
ध्यानं चातुर्विध्यं प्राप्नोतीत्याहुराचार्याः॥१९९॥

अन्वयार्थ - पृथक्त्ववितर्कान्वितवीचार प्रभृति भेद भिन्नं - पृथक्त्व वितर्क वीचारादि भेदों से भिन्न। **तत्** - वह। **ध्यानं** - शुक्ल ध्यान। **चातुर्विध्यं** - चार प्रकार को। **प्राप्नोति** - प्राप्त होता है।

इति - इस प्रकार। **आचार्याः** - आचार्य। **आहुः** - कहते हैं।

अर्थ - पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्व वितर्क वीचार, सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रिया निवर्त्ति के भेद से शुक्ल ध्यान के चार प्रकार हैं।

वितर्क का अर्थ श्रुत है अर्थात् विशेष रूप से तर्कणा जिसमें होती है उसको वितर्क कहते हैं।

ध्यान करने योग्य द्रव्य को अर्थ कहते हैं, इसमें द्रव्य और पर्याय को ग्रहण किया जाता है।

वचन को व्यञ्जन कहते हैं। मन, वचन, काय की क्रिया को योग कहते हैं। परिवर्तन को संक्रान्ति कहते हैं।

अर्थ व्यञ्जन योग संक्रान्ति को वीचार कहते हैं। पृथक्-पृथक् अर्थ-व्यञ्जन योग का आश्रय जिसमें होता है, उसको पृथक्त्व वितर्क वीचार कहते हैं। इस ध्यान से मोहनीय कर्म का नाश होता है।

जिसमें अर्थ, व्यञ्जन और योग का परिवर्तन नहीं है; एक योग का आश्रय लेकर ध्याता एक ही द्रव्य का चिंतन करता है तथा श्रुत सहित है, उस दूसरे शुक्ल ध्यान को एकत्व वितर्कवीचार कहते हैं।

यह ध्यान भी निश्चल निष्कंप है तथा असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करता हुआ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म का उच्छेद करता है।

एकत्ववितर्कवीचार शुक्ल ध्यान के द्वारा कर्मों का नाश कर आत्मा केवलज्ञानी बन जाता है तथा यह केवलज्ञानी सर्व पदार्थों को एक साथ जानता-देखता हुआ विहार करता है।

जब सयोगकेवली की आयु अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहती है, तब केवली समुद्घात करता है। तदनन्तर तेरहवें गुणस्थान का काल एक अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहता है, तब सर्व प्रकार के मनोयोग और बादर काययोग को त्याग कर सूक्ष्म काययोग का आलम्बन लेकर सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति ध्यान को स्वीकार करता है।

इस ज्ञान में श्रुतज्ञान का अभाव है तथा इसमें अर्थ व्यंजन योग संक्रान्ति भी नहीं है तथा क्रिया का अर्थ योग है। जिसमें योग सूक्ष्म हो गया है अतः सूक्ष्मक्रिया यह नाम सार्थक है। यह ध्यान अप्रतिपाती है, यह ध्यान छूटकर पुनः नहीं होता है, इसके बाद दूसरा व्युपरत क्रिया नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यान होता है। अतः यह ध्यान सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती सार्थक नामधारी है।

चतुर्थ शुक्ल ध्यान का नाम समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति या व्युपरतक्रियानिवृत्ति है।

जिस ध्यान में प्राणापान रूप क्रिया का तथा सर्व प्रकार के काययोग, वचनयोग, मनोयोग द्वारा होने वाली आत्मप्रदेश परिस्पन्दन रूप क्रिया का उच्छेद हो जाता है, उसे समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ध्यान कहते हैं।

नाक द्वारा निकलने वाला श्वास जब निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है तो मोह कर्म का नाश होता है और मन स्थिर हो जाता है तथा जब यह श्वासोच्छ्वास क्रिया सर्वथा नष्ट हो जाती है, सम्पूर्ण अघातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं तब मुक्ति पद की प्राप्ति होती है।

औदारिक, तैजस और कार्मण रूप तीन शरीर का नाश करने के लिए अयोगकेवली के समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यान होता है।

पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्ल ध्यान उपशम श्रेणी में अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म सांपरायिक और उपशांत मोह इन चार गुणस्थानों में होता है। क्षपक श्रेणी में अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण एवं सूक्ष्म सांपराय इन तीन गुणस्थानों में होता है तथा किसी आचार्य के अभिप्राय से पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान भी होता है। एकत्व वितर्क वीचार शुक्ल ध्यान क्षीणकषाय नामक १२वें गुणस्थान में ही होता है, ऐसा पूज्यपाद, अकलंकदेव आदि का अभिप्राय है, परन्तु षट्खण्डागम में कथंचित् इस ध्यान को ११वें गुणस्थान में भी कहा है।

धवला की १३वीं पुस्तक में लिखा है कि - उपशांत कषाय जीव के भवक्षय और कालक्षय के निमित्त से पुनः कषाय के प्राप्त होने पर एकत्व वितर्क अवीचार ध्यान का प्रतिपात भी देखा जाता है। इससे जाना जाता है कि एकत्व वितर्क अवीचार शुक्ल ध्यान ११-१२ दो गुणस्थानों में होता है।

सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति शुक्ल ध्यान १३वें गुणस्थान में होता है और समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाति ध्यान चौदहवें गुणस्थान में होता है।

शुक्ल ध्यान का विषय

अर्थेष्वेकं पूर्वश्रुतजनितज्ञानसंपदाश्रित्य।
त्रिविधात्मकसंक्रान्त्या ध्यायत्याद्येन शुक्लेन॥२००॥

अन्वयार्थ - पूर्व श्रुत जनित ज्ञानसम्पदाश्रित्य - पूर्वश्रुत से उत्पन्न ज्ञानसम्पदा का आश्रय लेकर। **आद्येन** - प्रथम। **शुक्लेन** - पृथक्त्व वितर्क शुक्ल ध्यान के द्वारा। **अर्थेषु** - अर्थों में। **एकं** - एकद्रव्य या पर्याय को। **त्रिविधात्मकसंक्रान्त्या** - तीन प्रकार की संक्रान्ति से। **ध्यायति** - ध्याता है।

अर्थ - पृथक्त्व वितर्कवीचार शुक्ल ध्यान से ११ अंग चौदह पूर्व को जानने वाला श्रुतकेवली द्रव्य, गुण, पर्याय रूप पदार्थों में एक द्रव्य, गुण या पर्याय का आश्रय लेकर अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति से चिंतन करता है। अर्थात् अर्थ को छोड़कर पर्याय का चिंतन करता है, एक योग को छोड़कर दूसरे योग का आश्रय लेता है। एक व्यञ्जन से व्यञ्जनान्तर की संक्रान्ति होती है। इस प्रकार अर्थ - व्यञ्जन और योग के परिवर्तन रूप तीन प्रकार की संक्रान्ति होती है।

वस्त्वेकं पूर्वश्रुतवेदीप्रव्यक्तमाश्रितो येन।
ध्यायति संक्रमरहितं शुक्लध्यानं द्वितीयं तत्॥२०१॥

अन्वयार्थ - येन - जिसके द्वारा। **पूर्वश्रुतवेदीप्रव्यक्तं** - पूर्व श्रुत के ज्ञाता महामुनियों के द्वारा कथित। **एकं** - एक। **वस्तु** - वस्तु का। आश्रय लिया जाता है तथा। **संक्रमरहितं** - संक्रमण रहित जो। **ध्यायति** - ध्यान करता है। **तत्** - वह। **द्वितीयं** - दूसरा एकत्व वितर्कावीचार नामक। **शुक्लध्यानं** - शुक्ल ध्यान है।

अर्थ - पूर्वश्रुतवेदी मानव के द्वारा व्यक्त है अर्थात् जिस ध्यान का ध्याता पूर्वविद् ही होता है, ऐसे मानव किसी एक वस्तु का आश्रय लेकर ध्यान के द्वारा अर्थ, व्यंजन और योग के संक्रमण रूप संक्रान्ति से रहित ध्यान किया करते हैं, उस ध्यान को एकत्व वितर्कावीचार नामक दूसरा शुक्ल ध्यान कहते हैं।

इस ध्यान में अर्थ-व्यंजन तथा योग रूप किसी एक पदार्थ का आश्रय होता है, अत: एकत्व है। श्रुतज्ञान के आश्रय से होता है, अत: वितर्क है तथा अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रान्ति नहीं होने से अवीचार है। अत: इस ध्यान को एकत्व वितर्क अवीचार कहते हैं।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान का लक्षण

कैवल्यबोधनोऽर्थान् सर्वांश्च सपर्ययांस्तृतीयेन।
शुक्लेन ध्यायति वै सूक्ष्मीकृतकाययोगः सन् ॥२०२॥

अन्वयार्थ - **वै** - निश्चय से। **सूक्ष्मीकृतकाययोगः सन्** - सूक्ष्म किया है काययोग को जिसने ऐसा। **कैवल्यबोधनः** - केवलज्ञानी। **सर्वपर्यायान्** - सर्वपर्यायसहित। **अर्थान्** - सर्व पदार्थों को। **तृतीयेन** - तीसरे। **शुक्लेन** - शुक्ल ध्यान के द्वारा। **ध्यायति** - ध्याता है।

अर्थ - तृतीय सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक शुक्ल ध्यान १३वें गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त्त काल शेष रहने पर होता है, उस समय उनके काययोग सूक्ष्म हो जाता है। वे १३वें गुणस्थानवर्ती केवलज्ञानी सर्वपर्याय सहित सारे पदार्थ एक साथ जानते हैं, देखते हैं और सूक्ष्म क्रिया से युक्त होते हैं, तब सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति नामक शुक्ल ध्यान होता है।

चतुर्थ शुक्ल ध्यान का कथन

शीलेशितामुपेतो युगपद्विश्वार्थसंकुलं सद्यः।
ध्यायत्यपेतयोगो येन तु शुक्लं चतुर्थं तत् ॥२०३॥

अन्वयार्थ - **येन** - जिससे । **शीलेशितां** - शैलेशभाव को। **उपेतः** - युक्त। **अपेतयोगः** - योगरहित। **सद्यः** - शीघ्र ही। **युगपत्** - एक साथ। **विश्वार्थसंकुलं** - सर्व पदार्थों से व्याप्त वस्तु का। **ध्यायति** - ध्यान करते हैं। **तु** - पादपूर्ति हेतु है। **तत्** - वह। **चतुर्थं** - चौथा। **शुक्लं** - शुक्ल ध्यान है।

अर्थ - योगों का निरोध हो जाने से जो पर्वत के समान निश्चल हो गये हैं, अर्थात् जिनके आत्मप्रदेश निश्चल अकंप है अथवा जो १८ हजार शीलों के स्वामी हैं, जो अपने केवलज्ञान के द्वारा सर्वपर्याय सहित सर्व पदार्थों को एक साथ जानते हैं, देखते है। चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती अयोगकेवली जिस ध्यान को ध्याते हैं, वह समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यान है।

चार प्रकार के ध्यान में होने वाले गुणस्थानों का कथन

आद्येष्वार्तध्यानं षट्स्वपि रौद्रं च पञ्चसु गुणेषु।
धर्ममसंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु भवति हि चतुर्षु ॥२०४॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अन्वयार्थ - आद्येषु - आदि के। **षट्सु** - छहों। **गुणेषु** - गुणस्थानों में। **आर्त्तध्यानं** - आर्त्तध्यान। **भवति** - होता है। **च** - और। **रौद्रं** - रौद्रध्यान। **अपि** - भी। **आद्येषु** - आदि के। **पंचसु** - पाँच। **गुणेषु** - गुणस्थानों में होता है। **हि** - और निश्चय से। **धर्मं** - धर्म ध्यान। **असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु** - असंयत सम्यग्दर्शन आदि चतुर्थ गुणस्थान से आदि लेकर। **चतुर्षु** - चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें इन चार गुणस्थानों में। **भवति** - होता है।

अर्थ - प्रथम गुणस्थान से लेकर प्रमत्तनामक छठे गुणस्थान तक आर्त्तध्यान का अस्तित्व है अर्थात् इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, पीड़ाचिंतन और निदान नामक चार आर्त्तध्यान पंचम गुणस्थान तक रहते हैं और निदान नामक आर्त्तध्यान को छोड़कर शेष तीन ध्यान छठे गुणस्थान तक रहते हैं।

हिंसानन्द, असत्यानंद, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द नामक चारों प्रकार के रौद्र ध्यान प्रथम गुणस्थान से लेकर पाँचवें गुणस्थान तक रहते हैं। क्योंकि जहाँ पर परिग्रह का सम्बन्ध है, वहाँ तक रौद्रध्यान इस जीव का पिंड नहीं छोड़ता है। जहाँ तक शिष्यों का संयोग - वियोग है, वस्तु में इष्टानिष्ट का विचार है और शरीर के प्रति लक्ष्य है, तब आर्त्तध्यान पूर्णतया दूर नहीं हो सकते। अत: छठे गुणस्थान तक आर्त्तध्यान रहता है। छठे गुणस्थानवर्त्ती मुनिराज किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करते। अत: उनके निदान नामक आर्त्तध्यान नहीं है।

धर्म ध्यान का प्रारंभ सम्यग्दर्शन के साथ ही होता है, सम्यग्दर्शन के बिना धर्म के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और धर्म के स्वरूप के ज्ञान के बिना उसका चिंतन कैसे हो सकता है। अत: धर्म ध्यान का प्रारंभ असंयत सम्यग्दृष्टि रूप चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ होकर सप्तम गुणस्थान तक रहता है। सो ही कहा है-

तत्त्वज्ञानमुदासीनमपूर्वकरणादिषु।
शुभाशुभमलाभावाद्विशुद्धं शुक्लमभ्यदुः ॥२०४❊१॥

अन्वयार्थ - तत्त्वज्ञानं - तत्त्वज्ञानं। **उदासीनं** - उदासीन। **शुभाशुभमलाभावात्** - शुभ और अशुभ मल के अभाव हो जाने से। **विशुद्धं** - निर्मल। **शुक्लं** - शुक्ल ध्यान। **अपूर्वकरणादिषु** - अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में। **अभ्यदुः** - कहा है।

अर्थ - अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में तत्त्वज्ञान, उदासीनता, शुभ और अशुभ मल (भावमल) के नाश हो जाने से निर्मल शुक्ल ध्यान होता है।

किन्हीं-किन्हीं आचार्यों के मतानुसार धर्मध्यान दसवें गुणस्थान तक होता है। ११, १२, १३, १४ गुणस्थान में क्रमश: शुक्ल ध्यान होता है। पूज्यपाद, अकलंक देव आदि ने श्रेणी आरोहण के पूर्व धर्मध्यान माना है और पश्चात् शुक्ल ध्यान माना है। अर्थात् आठवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थान में पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्ल ध्यान होता है। बारहवें गुणस्थान में एकत्ववितर्कावीचार, तेरहवें गुणस्थान में तृतीय सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति और चौदहवें गुणस्थान में समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति शुक्ल ध्यान होता है। इस

प्रकार आचार्यों का मतभेद होने से आचार्यदेव ने 'उक्तं' कहकर आचार्यों के कथन के मतभेद को सूचित किया है। इस ग्रन्थ में भी आचार्यदेव ने, शुक्ल ध्यान १२वें गुणस्थान से होता है, ऐसा माना है।

शुक्ल ध्यान में गुणस्थान

शान्तकषाये प्रथमं क्षीणकषाये द्वितीयशुक्लं तु।
भवति तृतीयं योगिनि केवलिनि चतुर्थमपयोगे॥२०५॥

अन्वयार्थ - शान्तकषाये - उपशान्त नामक ग्यारहवें गुणस्थान में। **प्रथमं** - पृथक्त्व वितर्क शुक्ल ध्यान। **क्षीणकषाये** - क्षीणकषाय नामक १२वें गुणस्थान में। **द्वितीय शुक्लं** - दूसरा शुक्ल ध्यान होता है। **योगिनि** - सयोग। **केवलिनि** - केवली के। **तृतीयं** - तीसरा शुक्लध्यान होता है। **तु** - और। **अपयोगे** - अयोगकेवली के। **चतुर्थं** - चौथा शुक्लध्यान। **भवति** - होता है।

अर्थ - उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान में पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यान होता है। क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान में एकत्व-वितर्क-अवीचार नामक दूसरा शुक्ल ध्यान होता है। सयोगकेवली नामक तेरहवें गुण-स्थान में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्ल ध्यान और समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यान होता है।

आर्तादि चारों ध्यानों के फल का कथन

आर्त्तध्यानविकल्पाः नयन्ति तिर्यग्गतिस्तु देहभृतः।
रौद्रध्यानविभेदा नरकगतीस्तीव्रपापरतान्॥२०६॥
धर्मध्यानविशेषाद् देवगतिं प्रापयन्त्यनेकविधाम्।
शुक्लध्यानोत्कर्षाः सिद्धगतिं शाश्वतात्मसुखाम्॥२०७॥

अन्वयार्थ - आर्त्तध्यानविकल्पाः - आर्त्तध्यान के विकल्प। **देहभृतः** - प्राणियों को। **तिर्यग्गतिः** - तिर्यंच गति में। **नयन्ति** - ले जाते हैं। **तु** - और। **रौद्रध्यानविभेदाः** - रौद्रध्यान के भेद। **तीव्रपापरतान्** - तीव्रपाप में रत। **देहभृतः** - प्राणियों को। **नरकगतिः** - नरक गति में। **नयन्ति** - ले जाते हैं।

धर्मध्यानविशेषात् - धर्मध्यान के विशेष से यह प्राणी। **अनेकविधां** - अनेक प्रकार की। **देवगतिं** - देवगति को। **प्रापयन्ति** - प्राप्त होते हैं। **शुक्लध्यानोत्कर्षः** - शुक्ल ध्यान के उत्कर्ष परिणाम। प्राणियों को। **शाश्वतात्मसुखां** - शाश्वत आत्मसुख रूप। **सिद्धगतिं** - सिद्धगति को। **प्रापयन्ति** - प्राप्त कराते हैं।

जो प्राणी निरंतर आर्त्तध्यान में लीन रहते हैं वे मरकर तिर्यंच गति में उत्पन्न होते हैं अर्थात् आर्त्तध्यान तिर्यंच गति का कारण है। रौद्र ध्यान तीव्रपाप में रत प्राणियों को नरक गति में पहुँचाता है अर्थात् रौद्र ध्यान नरक गति का कारण है।

देवगति के भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी के भेद से चार प्रकार हैं। इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक के भेद से देव दस प्रकार के हैं। धर्म ध्यान के प्रभाव से यह आत्मा उत्तम देव पद को प्राप्त करता है और शुक्ल ध्यान की उत्कृष्टता से यह आत्मा शाश्वत सुख के धाम सिद्धगति को प्राप्त होता है।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि के भी आर्त्त, रौद्र ध्यान होते हैं, परन्तु वे आर्त्त, रौद्र ध्यान दुर्गति के कारण नहीं होते। जैसे विषघातक औषधि के समक्ष विष अपना फल नहीं देता है वैसे ही सम्यग्दर्शन के समक्ष आर्त्त, रौद्र ध्यान दुर्गति के कारण नहीं होते।

शुक्ल ध्यान से यद्यपि सर्वार्थसिद्धि आदि देवों के सुख प्राप्त होते हैं, परन्तु जब शुक्ल ध्यान में उत्कर्षता आती है तब उत्तम, शाश्वत सुख का धाम मोक्षपद प्राप्त होता है।

इस प्रकार तपाराधना में कथित १२ प्रकार के तपों में ध्यान नामक अंतरंग तप का कथन पूर्ण हुआ।

व्युत्सर्ग तप का कथन

दु:परिणामसमुद्भवनिमित्तनि:शेषवस्तुसंत्याग:।
व्युत्सर्ग: स द्विविधो बाह्याभ्यन्तरजभेदेन॥२०८॥

क्षेत्रादिदशत्यागो बाह्यो व्युत्सर्ग इति सदा गद्य:।
मिथ्यात्वादिचतुर्दशसंत्यागोऽभ्यन्तरोद्भूत: ॥२०९॥

अन्वयार्थ - दुष्परिणाम समुद्भवनिमित्त नि:शेष वस्तु संत्याग: - दुष्परिणामों की उत्पत्ति में निमित्तभूत सम्पूर्ण वस्तु का त्याग करना। **व्युत्सर्ग:** - व्युत्सर्ग है। **स:** - वह व्युत्सर्ग। **बाह्याभ्यन्तरजभेदेन** - बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से। **द्विविध:** - दो प्रकार का है।

क्षेत्रादिदशत्याग: - क्षेत्रादि दश प्रकार के परिग्रह का त्याग करना। **बाह्य:** - बाह्य। **व्युत्सर्ग:** - व्युत्सर्ग है। **इति** - इस प्रकार। **सदा** - हमेशा। **गद्य:** - कहा जाता है और। **मिथ्यात्वादिचतुर्दशसंगत्याग:** - मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार के परिग्रह का त्याग करना। **अभ्यन्तरोद्भूत:** - अभ्यन्तर से उत्पन्न अंतरंग व्युत्सर्ग है।

अर्थ - दुष्परिणामों की उत्पत्ति में निमित्तभूत सम्पूर्ण वस्तु का त्याग करना व्युत्सर्ग है और वह व्युत्सर्ग बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। दुष्परिणामों का त्याग अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है तथा दुष्परिणामों की उत्पत्ति में निमित्तभूत बाह्य वस्तुओं का त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग है। अंतरंग आत्मा से उत्पन्न मिथ्यादर्शन, क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चार कषाय तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक वेद रूप चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह का त्याग करना, वा दुष्परिणामों का त्याग करना अभ्यंतर व्युत्सर्ग है। इन दुष्परिणामों के निमित्तभूत क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भांड रूप दश प्रकार के परिग्रह का त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग है।

तप को अभ्यन्तर कहने का कारण

अभ्यन्तरजातत्वादभ्यन्तरकर्मदोषनिर्हरणात्।
अभ्यन्तरसंज्ञं स्यादुक्तमिदं षड्विधतपस्तु ॥२१०॥

॥ इति सम्यक् तप-आराधना ॥

अन्वयार्थ - **अभ्यन्तरजातत्वात्** - अभ्यन्तर आत्मीय परिणामों से उत्पन्न होने से। **अभ्यन्तर कर्म दोष निर्हरणात्** - आंतरिक कर्म दोषों का नाशक होने से। **इदं** - इस। **षड्विधतपः** - छह प्रकार के तप को। **अभ्यन्तरसंज्ञं** - अभ्यन्तर नामक तप। **उक्तं** - कहा। **स्यात्** - है।

अर्थ - कर्मनिर्जरा का कारणभूत १२ प्रकार का तप है। उसमें छह प्रकार का बहिरंग और छह प्रकार का अंतरंग तप है। जो बाह्य में दृष्टिगोचर होता है, मिथ्यादृष्टि जन भी जिसको करते हैं, वह बाह्य तप कहलाता है तथा जो अभ्यन्तर से उत्पन्न होता है, जिस तप को सम्यग्दृष्टि ही धारण करते हैं, जो अंतरंग में कर्मनाश का कारण है उसको अंतरंग तप कहते हैं। इस प्रकार तप आराधना के भेद-प्रभेद का कथन करने वाला तपाराधना नामक अध्याय पूर्ण हुआ।

॥ इति तपाराधना ॥

गुण आराध्य स्वरूप चार आराधना का कथन करके अब गुणी आराध्य के स्वरूप का कथन करते हैं

गुणिनः पंचविकल्पा ह्यर्हत्सिद्धादिसार्थनामधराः।
स्युरुपेयोपायात्मक दृग्बोधचरित्रसुतपांसः ॥२११॥

अन्वयार्थ - **हि** - निश्चय से। **अर्हत्सिद्धादिसार्थनामधराः** - अरिहन्त सिद्ध आदि सार्थक नाम धारक । **पंचविकल्पाः** - पाँच विकल्प (भेद) वाले। **गुणिनः** - गुणी। **स्युः** - होते हैं वे गुणी। **उपेयोपायात्मकदृग्बोधचरित्रसुतपांसः** - उपेय, उपाय स्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संम्यक्चारित्र और सम्यक् तप के धारी होते हैं।

भावार्थ - सर्व प्रथम ग्रन्थ के प्रारंभ में आचार्यदेव ने गुण और गुणी के भेद से आराध्य दो प्रकार के कहे हैं, उनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप के भेद से आराधना करने योग्य गुण चार प्रकार के कहे हैं। उनका वर्णन पूर्व में सम्यग्दर्शनाराधना, सम्यग्ज्ञान आराधना, सम्यक्चारित्र आराधना और सम्यक् तपाराधना के रूपमें विस्तार पूर्वक किया है। यहाँ पर गुणी रूप आराध्य अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के भेद से पाँच प्रकार के हैं।

अरिहंत और सिद्ध उपेय हैं और आचार्य, उपाध्याय और साधु उपाय हैं अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप के द्वारा उपेय पाँच परमेष्ठी हैं और सम्यग्दर्शन आदि पाँच परमेष्ठी पद को प्राप्त करने के उपाय हैं।

ये पाँचों परमेष्ठी सार्थक नाम के धारी हैं। नाम दो प्रकार के होते हैं सार्थक और असार्थक। नाम

के अनुसार गुण है उसको सार्थक नाम कहते हैं। जैसे शं सुखं करः करोति इति शंकरः अर्थात् सुख को करने वाला शंकर होता है। 'दुरितान् हरतीति हरः' = पापों का नाश करने वाला 'हर' कहलाता है। भ्रातुः भगं (कल्याणं) इच्छतीति भगिनी - अर्थात् भाई का कल्याण चाहने वाली भगिनी (बहिन) कहलाती है। अव समन्तात् ऋद्धं, वृद्धं, मानं, ज्ञानं यस्यासौ वर्द्धमानः। जिसका ज्ञान वर्द्धमान है, परिपूर्ण है, वह वर्द्धमान कहलाता है।

जिसका नाम तो सुलोचन है और आँखों से अन्धा हो, नाम तो लक्ष्मीबाई हो परन्तु भीख माँगने वाली हो, ऐसे नाम असार्थक कहलाते हैं।

महापुरुषों के नाम सार्थक होते हैं, पंच परमेष्ठी भी सार्थक नाम के धारी होते हैं। परम (उत्कृष्ट) पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी। उत्कृष्ट पद में स्थित आत्मा को परमेष्ठी कहते हैं।

अरिहंताणं - चार घातिया कर्म रूपी शत्रुओं का हनन (नाश) करने वाले होने से अरिहंत कहलाते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अथवा - अरहंत - 'अ' - अरि शत्रु मोहनीय कर्म, ज्ञानगुण और दर्शन गुण के आच्छादक ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म रज कहलाते हैं। 'र' रहस्य - अन्तराय कर्म है। अरि, रज, रहस्य के हन्ता अरहंत कहलाते हैं। **अथवा** - सातिशय पूजा के योग्य होने से अरहंत कहलाते हैं। क्योंकि पंच कल्याणकों के समय में देवों के द्वारा की गई पूजा को प्राप्त होने से अरहंत कहलाते हैं।

मूलाचार में **कुन्दकुन्दाचार्य** ने मंगलाचरण में अरहंत के स्वरूप में लिखा है -

अरहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए।
रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चदे॥

जो नमस्कार के योग्य हैं, लोक में देवों के द्वारा पूजा को प्राप्त हुए हैं इसलिए अरिहंत हैं। मोहनीय कर्मादि चार घातिया रूपी कर्मरज के नाशक होने से अरहन्त हैं, यह इनका सार्थक नाम है।

सितं बद्धमष्ट प्रकारं कर्मेन्धनं ध्वान्तं दग्धं जाज्वल्यमानशुक्लध्यानानलेन यैः ते सिद्धाः।

सि - बँधे हुए आठ प्रकार के कर्म रूपी ईन्धन को शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा। **द्ध** - ध्मातः नष्ट कर दिया है, उनको **सिद्ध** कहते हैं।

अथवा 'सिध्' धातु गमन अर्थ में भी आती है। जो शिवलोक में पहुँच चुके हैं और वहाँ से कभी लौट कर नहीं आते हैं, वे **सिद्ध** कहलाते हैं।

'सिध्' धातु संशोधन अर्थ में भी आती है, जिससे अर्थ निकलता है कि जिन्होंने आत्मीय गुणों को प्राप्त कर लिया है। जिनकी आत्मा में अपने स्वाभाविक अनन्त गुणों का विकास हो गया है, उनको सिद्ध कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भगवती सूत्र में लिखा है -

ध्मातं सितं येन पुराणकर्म, यो वा गतो निर्वृतिं सौधमूर्ध्नि। जिन्होंने पुरातन कर्मों का नाश कर मोक्षमहल को प्राप्त कर लिया है। 'ख्यातोऽनुशास्ता' जो सबके अनुशास्ता हैं, कृतकृत्य हैं, परिनिष्ठितार्थो यः सोऽस्तु सिद्धः, कृतमंगलो मे, ये सिद्ध भगवान मेरा मंगल करें।

पंच आचरणों का जो स्वयं आचरण करते हैं और भव्य जीवों से भी आचरण कराते हैं, वे **आचार्य** कहलाते हैं।

उप - जिनको समीप पाकर भव्य शिष्य विनयपूर्वक अध्ययन करते हैं, अतः वे **उपाध्याय** कहलाते हैं।

जो रत्नत्रयमय मोक्षमार्ग की साधना करते हैं अथवा नित्य निरंजन शुद्धात्मा की आराधना करते हैं, वे **साधु** कहलाते हैं। इस प्रकार पंच परमेष्ठी सार्थक नाम के धारी हैं।

अर्हन्त का स्वरूप

विनिहतघातिचतुष्का नवकेवललब्धिजनितपरमात्म -।
व्यपदेशा दिव्यध्वनि-निरूपिताशेषतत्त्वार्थाः ॥२१२॥
त्रिभुवनपतिभिरभिष्टुतनिजयशसोद्भूत विहरणास्थानाः।
देहप्रभृतिसुविभवाः सकलात्मानः स्युरर्हन्तः ॥२१३॥ युग्मम्॥

अन्वयार्थ - विनिहतघातिचतुष्काः - नष्ट कर दिया है घातिया चतुष्कों को जिन्होंने। **नवकेवललब्धिजनित-परमात्म-व्यपदेशा** - नव केवल लब्धिजनित परमात्मा नामधारी। **दिव्यध्वनि निरूपिताशेषतत्त्वार्थाः** - दिव्य ध्वनि के द्वारा निरूपित किया है सारे तत्त्वार्थ को जिन्होंने। **त्रिभुवनपतिभिः** - तीन लोक के पति (स्वामी वा इन्द्र) के द्वारा। **अभिष्टुतनिजयशसोद्भूतविहरणास्थानाः** - स्तुत्य निज यश से उत्पन्न है विहरणस्थान जिनका। **देहप्रभृतिसुविभवाः** - शरीर सम्बन्धी चौंतीस विभव के धारक। **सकलात्मानः** - सकल परमात्मा। **अर्हन्तः** - अरिहंत परमेष्ठी होते हैं।

अर्थ - ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिया कर्म कहलाते हैं। इन चार घातिया कर्मों का नाश करने वाले अरहंत होते हैं।

क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य ये नवलब्धियाँ हैं।

ज्ञानावरण कर्म के अत्यन्त क्षय हो जाने से क्षायिक केवलज्ञान होता है। दर्शनावरण कर्म के अत्यन्त क्षय होने से क्षायिक (केवल) दर्शन होता है। दानान्तराय कर्म का क्षय होने से अनन्त प्राणियों का उपकार करने वाला दिव्य उपदेश क्षायिक अभय दान कहलाता है। समस्त लाभान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से

क्षायिक लाभ होता है, जिससे उनके शरीर को बल प्रदान करने में कारणभूत दूसरे मनुष्यों को असाधारण अर्थात् कभी न प्राप्त होने वाले परम शुभ और सूक्ष्म ऐसे अनन्त परमाणु प्रति समय सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, जिससे कवलाहार के बिना केवली भगवान आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व रह सकते हैं।

भोगान्तराय कर्म के समस्त क्षय हो जाने से अतिशय वाले क्षायिक अनन्त भोगों का प्रादुर्भाव होता है, जिससे कुसुमवृष्टि आदि अतिशय विशेष होते हैं। समस्त उपभोगान्तराय के नष्ट हो जाने से अनन्त क्षायिक उपभोग प्राप्त होता है, जिससे सिंहासन, चामर और तीन छत्रादि विभूतियाँ होती हैं।

वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से क्षायिक अनन्तवीर्य प्रगट होता है। पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के अत्यन्त विनाश से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। चारित्र मोहनीय के विनाश से क्षायिक चारित्र होता है।

चार घातिया कर्मों के नाश से ये नौ क्षायिक भाव उत्पन्न होते हैं। इन्हीं को नौ लब्धि कहते हैं।

इन नौ लब्धियों के कारण ही यह आत्मा परमात्मा पद को प्राप्त होता है।

वीतराग अर्हन्त देव दिव्यध्वनि के द्वारा सम्पूर्ण तत्त्वों के स्वरूप का निरूपण करते हैं। तीन लोक के स्वामी अर्थात् सौ इन्द्रों के द्वारा स्तुति करने योग्य निजयश से उत्पन्न विहार करने का स्थान है अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के महान् पुण्य तीर्थंकर नाम प्रकृति के उदय से समवसरण की रचना होती है अथवा जब भगवान विहार करते हैं, तब इन्द्र दिव्य पुष्पयान बनाता है, जिसकी रचना कुबेर करता है।

अरिहंत देहादि सुवैभव से युक्त होते हैं अर्थात् चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य और चार अनन्त चतुष्टय से युक्त होते हैं।

चौंतीस अतिशयों के नाम

(१) जन्म के दस अतिशय :

१. अनुपम सौन्दर्य, २. चम्पक के पुष्प के समान सौरभ से युक्त शरीर, ३. स्वेद (पसीना) रहित, ४. मलमूत्र का नहीं होना अर्थात् निर्मल शरीर का होना (इसमें मलमूत्र रहित यह उपलक्षण मात्र है।) इस निर्मल शब्द के प्रयोग से कफ, नाकमल, कर्णमल आदि किसी प्रकार का मल उनके शरीर में नहीं होता है। ५. दूध के समान श्वेत वर्ण का रक्त होता है। ६. शरीर बहुत बलशाली है, अतः शरीर में अतुल बल होता है। ७. हितमित प्रिय और मधुर वचन बोलते हैं। ८. वज्र वृषभ नाराच संहनन के धारी होते हैं। ९. उनका समचतुरस्र संस्थान होता है और १०. एक हजार आठ लक्षण होते हैं।

एक हजार आठ में से एक सौ आठ लक्षण व नौ सौ व्यंजन होते हैं।

श्रीवृक्ष, शंख, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चमर, श्वेतछत्र, सिंहासन, पताका, दो मीन, दो कुंभ, कच्छप, चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, हाथी, मनुष्य, स्त्रियाँ, सिंह, बाण, धनुष, मेरु,

इन्द्र, देवगंगा, पुर, गोपुर, चन्द्रमा, सूर्य, उत्तम घोड़ा, तालवृन्त (पंखा), बाँसुरी, वीणा, मृदंग, मालाएँ, रेशमी वस्त्र, दुकान, कुण्डलादि चमकते हुए चित्र विचित्र आभूषण, फल सहित उपवन, परिपक्व फलों-फूलों एवं धान्यों से व्याप्त क्षेत्र (खेत), रत्नद्वीप, वज्र, पृथिवी, लक्ष्मी, सरस्वती, कामधेनु, वृषभ, चूड़ामणि, महानिधियाँ, कल्पलता, सुवर्ण, जम्बूद्वीप, गरुड़, नक्षत्र, तारे, राजमहल, सूर्यादि ग्रह, सिद्धार्थवृक्ष, आठ प्रातिहार्य और आठ मंगल द्रव्य आदि एक सौ आठ शुभ लक्षणों से तथा भँवरी, तिल, लहसुन आदि नौ सौ व्यंजन रूप १००८ लक्षणों से अरिहंत देव का शरीर सुशोभित होता है।

(२) केवलज्ञान के दस अतिशय :

(१) जहाँ पर अरिहंत भगवान विराजमान रहते हैं, उनके चारों तरफ चारों दिशाओं में सौ-सौ योजन तक सुभिक्ष होता है।

(२) इस भूतल से पाँच हजार धनुष ऊपर आकाश में गमन होता है।

(३) अरिहंत प्रभु के समक्ष परस्पर विरोधी सर्प - नेवला, सिंह - गाय आदि पशु परस्पर विरोध को छोड़कर प्रेम से एक साथ बैठते हैं अर्थात् उनके समक्ष अदया, हिंसा का अभाव होता है।

(४) अरिहंत के कवलाहार अर्थात् मनुष्य और पशुओं के समान ग्रास वाले आहार का अभाव है।

(५) अरिहंत पर कोई उपसर्ग नहीं कर सकता अतः तिर्यंचकृत, मनुष्यकृत, देवकृत और अचेतनकृत किसी प्रकार का उपसर्ग नहीं होता है।

(६) चारों तरफ से मुख का अवलोकन होता है अर्थात् एक पूर्व या उत्तर दिशा में मुख करके स्थित भी प्रभु का मुख चारों दिशाओं में बैठे हुए मानवों को दिखता है।

(७) प्रभु के शरीर की छाया नहीं पड़ती है।

(८) उनकी आँखों की पलकें नहीं झपकतीं अर्थात् वे निर्निमेषदृष्टि रहते हैं।

(९) वे सब विद्याओं के ईश्वर होते हैं अर्थात् केवलज्ञानी हैं।

(१०) सजीव होते हुए भी उनके नख और केश वृद्धिंगत नहीं होते हैं।

केवली भगवान के ये १० अतिशय केवलज्ञान के निमित्त से होते हैं। अतः केवलज्ञानजन्य हैं। यद्यपि शास्त्रों में केवलज्ञानजन्य दश अतिशय लिखे हैं, परन्तु **तिलोयपण्णत्ति** में ११ अतिशय लिखे हैं। इन अतिशयों के साथ अठारह महाभाषा और सात सौ लघु भाषाओं सहित दिव्य ध्वनि का प्रादुर्भाव ग्यारहवाँ अतिशय कहा गया है।

(३) देवकृत १४ अतिशय :

(१) अरिहंत (तीर्थंकर) देव के माहात्म्य से संख्यात योजनों तक वन असमय में ही पत्र-फूल और फलों की वृद्धि से संयुक्त हो जाते हैं।

(२) कंटक और रेती आदि को दूर करती हुई सुखदायक, सुरभित वायु चलने लगती है।

(३) जीव पूर्व वैर को छोड़कर मैत्री भाव से रहने लगते हैं।

(४) उतनी भूमि दर्पण तल के सदृश स्वच्छ और रत्नमय हो जाती है।

(५) सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से मेघकुमारदेव सुगन्धित जल की वर्षा करते हैं।

(६) देव विक्रिया से फलों के भार से नम्रीभूत शालि और जौ आदि सस्य को रचते हैं।

(७) सब जीवों को नित्य आनन्द उत्पन्न होता है।

(८) वायुकुमार देव मन्द-मन्द शीतल पवन चलाते हैं।

(९) कूप और तालाब निर्मल जल से पूर्ण हो जाते हैं।

(१०) आकाश धुआँ और उल्कापातादि से रहित होकर निर्मल हो जाता है।

(११) सम्पूर्ण जीवों को रोग आदि की बाधायें नहीं होती हैं।

(१२) यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित और किरणों से उज्ज्वल ऐसे चार दिव्य धर्मचक्र होते हैं। उन चक्रों को देखकर जनता को आश्चर्य होता है।

(१३) तीर्थंकरों की चारों दिशाओं में (व विदिशाओं में) छप्पन सुवर्ण कमल, एक पादपीठ और दिव्य एवं विविध प्रकार के पूजन द्रव्य होते हैं।

तिलोयपण्णत्ति के अनुसार देवकृत अतिशय १३ हैं, क्योंकि अर्धमागधी भाषा नाम के अतिशय का कथन इन्होंने केवलज्ञान के ११ अतिशयों में लिखा है।

निशीथ चूर्णि नामक ग्रन्थ में श्री अर्हन्त भगवान के १००८ बाह्य लक्षणों को उपलक्षण मानकर सत्त्वादि अन्तरंग लक्षणों को अनन्त कहा गया है। उसी प्रकार उपलक्षण से अतिशयों को परिमित मान करके भी उन्हें अनन्त कहा जा सकता है। इसमें कोई शास्त्रविरोध नहीं है।

भगवान के ८ प्रातिहार्य :

१. अशोक वृक्ष, २. तीन छत्र, ३. रत्नखचित सिंहासन, ४. भक्ति युक्त गणों द्वारा वेष्टित रहना, ५. दुन्दुभिनाद, ६. पुष्पवृष्टि, ७. प्रभामण्डल, ८. चौंसठ चमरयुक्तता।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनन्त चतुष्टय :

१. अनन्त दर्शन, २. अनन्त ज्ञान, ३. अनन्त सुख और ४. अनन्त वीर्य।

भगवान के ४६ गुण ये हैं : ४ अनन्त चतुष्टय, ३४ अतिशय और ८ प्रातिहार्य।

१८ दोषों के अभाव का निर्देश :

छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरारुजामिच्चु।
स्वेदं खेदं मदो रइ विम्हियणिद्दाजणुव्वेगो॥

१. क्षुधा, २. तृषा, ३. भय, ४. रोष (क्रोध), ५. राग, ६. मोह, ७. चिन्ता, ८. जरा, ९. रोग, १०. मृत्यु, ११. स्वेद, १२. खेद, १३. मद, १४. रति, १५. विस्मय, १६. निद्रा, १७. जन्म, १८. उद्वेग (अरति) ये अठारह दोष हैं।

इन शरीर वैभवादि ४६ गुण सहित और क्षुधादि १८ दोष रहित सकल (शरीर सहित) परमात्मा अरहन्त कहलाते हैं।

सिद्धों का स्वरूप

निर्गलितसिक्थमूषाभ्यन्तररूपोपमस्वकाकृतयः।
स्वल्पोनचरमदेहसमाना ध्रुवनिष्कलात्मानः॥२१४॥
अष्टविधकर्मरहिताः स्वस्थीभूता निरञ्जना नित्याः।
स्वष्टगुणाः कृतकृत्या लोकाग्रनिवासिनः सिद्धाः॥२१५॥ युग्मम्॥

अन्वयार्थ - निर्गलितसिक्थ-मूषाभ्यन्तर रूपोपम स्वकाकृतयः - निर्गलितसिक्थ मूषा के अभ्यन्तर रूप के समान स्वकीय आकृति वाले। **स्वल्पोनचरमदेहसमाना** - कुछ कम चरम देह के समान। **ध्रुवनिष्कलात्मानः** - ध्रुव निष्कलात्मा। **अष्टविधकर्मरहिताः** - आठ प्रकार के कर्म से रहित। **स्वस्थीभूताः** - स्वस्थीभूत। **निरंजनाः** - कर्म अंजन से रहित। **स्वष्ट-गुणाः** - स्वकीय आठ गुणों से युक्त। **कृतकृत्याः** - कृतकृत्य। **नित्याः** - नित्य। **लोकाग्रनिवासिनः** - लोकाकाश के अग्र भाग पर स्थित। **सिद्धाः** - सिद्ध होते हैं।

लोहे आदि का जो साँचा बना रहता है उसको मूषा कहते हैं। सिक्थ ओदन को कहते हैं। अर्थात् अग्नि पर पकाने पर चावल होते हैं, उनको सिक्थ कहते हैं। साँचे के भीतर मोम या ओदन निकालने के बाद जो आकार रह जाता है, उसी प्रकार अन्तिम शरीर से कुछ न्यून पुरुषाकार सिद्ध भगवान की आकृति होती है।

जिन्होंने नाना भेदरूप आठ कर्मों का नाश कर दिया है, जो तीन लोक के मस्तक के शेखर स्वरूप

हैं, दुखों से रहित हैं, सुख रूपी सागर में निमग्न हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुणों से युक्त हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने सर्वांग में समस्त पर्यायों सहित सम्पूर्ण पदार्थों को जान लिया है, जो वज्रशिला में उत्कीर्ण प्रतिमा के समान अभेद्य आकार से युक्त हैं, जो सब अवयवों से पुरुषाकार होने पर भी गुणों से पुरुष के समान नहीं हैं।

पुरुष के आकार वाले और लोक शिखर पर स्थित ऐसा आत्मा सिद्ध परमेष्ठी है अर्थात् मोम रहित मूषा के आकार की तरह अथवा छाया के प्रतिबिम्ब के समान पुरुष आकार को धारण करने वाला है। जहाँ तक धर्मद्रव्य है वहाँ तक जाकर लोक-शिखर पर सब सिद्ध पृथक्-पृथक् मोम से रहित मूषा के अभ्यन्तर आकाश के सदृश स्थित हो जाते हैं।

अन्तिम भव में जिसका जैसा आकार दीर्घता और बाहल्य लिये हो उसके तृतीय भाग से कम सब सिद्धों की अवगाहना होती है।

वे सिद्ध चरम शरीर से किंचित् ऊन होते हैं और वह किंचित् ऊनता शरीर के अंगोपांग नामकर्म से उत्पन्न नासिका आदि छिद्रों की पोलाहट के कारण से है।

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के नाश से उनको आठ गुण प्राप्त हुए हैं। जैसे - ज्ञानावरण कर्म का अभाव हो जाने से उन्हें क्षायिक केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है।

दर्शनावरण के क्षय हो जाने से क्षायिक केवल दर्शन प्रगट होता है। वेदनीय कर्म के नाश होने से अव्याबाध, अविनाशी परम सुख की प्राप्ति होती है।

मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। आयुकर्म के नाश से अवगाहनत्व गुण प्राप्त होता है जिससे एक सिद्ध की अवगाहना में अनन्त सिद्ध रह सकते हैं।

नाम कर्म के अभाव से सूक्ष्मत्व (अमूर्त्तत्व) गुण प्रगट होता है। यद्यपि आत्मा स्वभाव से अमूर्तिक है परन्तु द्रव्य कर्म के सम्बन्ध से वह अनादि काल से मूर्त्तिक बना हुआ है। जन्ममरण के दु:खों को भोग रहा है। जब यह आत्मा अपने पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी शस्त्र के द्वारा कर्म रूपी शत्रुओं का नाश कर अमूर्तिक हो जाता है तब वास्तव में अमूर्तिक होता है।

गोत्र कर्म के नाश से अगुरुलघुत्व गुण प्रगट होता है। यद्यपि न गुरु (उच्च) है और न लघु (नीच) है तथापि गोत्रकर्म के उदय से ऊँच-नीच होता है। उनके अभाव से अगुरुलघु गुण प्रगट होता है और अन्तराय कर्म के नाश से अनन्तवीर्य रूप गुण प्रगट होता है। इन आठ गुणों से युक्त सिद्ध होते हैं।

आचार्य का स्वरूप

शिष्यानुग्रहनिग्रहकुशलाः कुलजातिदेशसंशुद्धाः।
षट्त्रिंशद् गुणयुक्तास्तात्कालिकविश्वशास्त्रज्ञाः ॥२१६॥

आचारं पञ्चविधं भव्यानाचारयन्ति ये नित्यम्।
शक्त्याचरन्ति च स्वयमाचार्यास्ते मते जैने॥२१७॥ युग्मम्॥

अन्वयार्थ - **शिष्यानुग्रहनिग्रहकुशलाः** - शिष्यों का अनुग्रह और निग्रह करने में कुशल हैं। **कुलजातिदेशसंशुद्धाः** - कुल जाति देश से शुद्ध हैं। **षट्त्रिंशद्गुणयुक्ताः** - छत्तीस गुणों से युक्त हैं। **तात्कालिकविश्वशास्त्रज्ञाः** - तात्कालिक सारे शास्त्रों के ज्ञाता हैं। **च** - और। **ये** - जो। **नित्यं** - नित्य। **पंचविधं** - पाँच प्रकार के। **आचारान्** - आचार को। **स्वयं** - स्वयं। **शक्त्या** - शक्ति के अनुसार। **आचरन्ति** - आचरण करते हैं, पंचाचार का आचरण कराते हैं। **ते** - वे। **जैने** - जैन। **मते** - मत से। **आचार्याः** - आचार्य कहलाते हैं।

अर्थ - जो अनुशासन करने योग्य होते हैं अर्थात् जो गुरु के अनुशासन में रहता है, वह शिष्य कहलाता है।

इष्ट कार्य के प्रतिपादन को अनुग्रह कहते हैं। जिस कार्य से स्वपर का उपकार होता है, वह अनुग्रह कहलाता है। स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकना निग्रह है।

जो साधु शिष्यों को हितोपदेश देकर उनका उपकार करता है और शिष्यों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकने में समर्थ है, उसको शिष्यों का अनुग्रह और निग्रह करने में कुशल कहा जाता है।

पिता की वंश परम्परा को कुल और माता की वंश परम्परा को जाति कहते हैं। जिस देश में रहते हैं, निवास करते हैं, वह देश कहलाता है।

जिनके माता और पिता के वंश में किसी प्रकार का दूषण नहीं हो, अर्थात् जो लोकनिन्दा से रहित हो। सर्व लौकिक जनों के द्वारा निश्शंक रूप से सेवा करने योग्य हो तथा कुल-परम्परा से आगत गुणों से युक्त तथा क्रूरतादि दोषों से रहित हो उसको जातिकुलशुद्ध कहते हैं। जिस देश में निवास करता है, वह देश भी दुराचार, हिंसादि पापों से रहित होना चाहिए। अतः इन तीनों से शुद्ध को कुल-जाति-देश-संशुद्ध कहते हैं।

पाँच आचार, दशधर्म-धारण, बारह तपों का पालन, तीन गुप्ति और षट् आवश्यक ये आचार्य के ३६ गुण कहलाते हैं अथवा -

(१) आचारवान् - जो दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पाँचों प्रकार के आचारों का स्वयं पालन करते हैं और शिष्यों से पालन कराते हैं, वे आचारवान् कहलाते हैं।

(२) आधारवान् - जो चौदह पूर्व, ग्यारह अंग व दश पूर्व के ज्ञाता हैं, सागर के समान गम्भीर हैं और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और रक्षा के आधारभूत हैं, उनको आधारवान् कहते हैं। इसका दूसरा नाम श्रुताधार भी है।

(३) व्यवहारवान् (प्रायश्चित्त शास्त्र का ज्ञाता) ग्यारहवें अंग में वर्णित प्रायश्चित्त विधान को आगम कहते हैं। चौदह पूर्वों में वर्णित ज्ञान को श्रुत कहते हैं। अन्य देश में स्थित एक आचार्य अन्य देश में स्थित दूसरे आचार्य के समीप दोषों को प्रकट करने के लिए अपने शिष्य को भेजता है, उसको आज्ञा कहते हैं।

विहार करने की शक्ति से क्षीण साधु अकेले रहते हैं। जब आचार्यों का समागम होता है, तब स्वकीय व्रतों में लगे हुए दोषों का पूर्व धारणा के अनुसार प्रायश्चित्त लेते हैं, उसे धारणा कहते हैं।

पूर्व आचार्यों के अनुसार जो आधुनिक आचार्यों के द्वारा प्रणीत प्रायश्चित्त है, वह जीत कहलाता है। इन आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत रूप पाँच प्रकार के व्यवहार वा प्रायश्चित्त के ज्ञाता को व्यवहारवान् वा प्रायश्चित्तज्ञ कहते हैं।

(४) आसनादिद - वसतिका में प्रवेश करने में (अर्थात् कोई साधु वसतिका में आया है) वसतिका से निकलने में (अर्थात् कोई साधु वसतिका से जा रहा है उसके) वसतिका, आसन और उपकरण के शोधन में सहायता करना। रोगी साधु की वैय्यावृत्ति में करवट बदलाना, बैठाना, उठाना, शय्या बिछाना, मल-मूत्रादि स्वच्छ करना, भोजनपान की विधि मिलाकर शारीरिक सहायता करना, आदि क्रियाओं के द्वारा साधुगणों की सेवा करने वाले को प्रकारक या आसनादिद कहते हैं।

(५) आयापायकथी - साधुजनों के लिए आय और अपाय (हेयोपादेय) का कथन करना अर्थात् हे साधुजन ! यदि मायाचार से अपने दोषों को प्रगट करोगे तो तुमको भव-भव में दुःख भोगना पड़ेगा, प्रायश्चित्त लेकर भी आत्मशुद्धि नहीं कर सकोगे, यदि तुम सरल चित्त से अपने दोषों को प्रगट करोगे तो प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाओगे, तुम्हारी साधना सफल होगी, परभव में सुखी और परम्परा से मुक्तिपद प्राप्त करोगे। इस प्रकार तपस्वीजनों को हानि, लाभ का उपदेश करने वाले आचार्य को आयापायदर्शी या आयापायकथी कहते हैं।

(६) दोषाभाषक या उत्पीड़क - जो आचार्य अपनी बुद्धि की कुशलता से स्वकीय दोषों को गुह्य रखने वाले कुटिल साधुओं के दोषों को भी उनसे प्रकट करवा लेते हैं, उनके अन्तःकरण में स्थित रहस्य (वा गुप्त दोषों) को भेदने वाले, उनके दोषों को अपनी युक्ति से निकलवाकर साधु को निर्दोष करने वाले आचार्य को दोषाभाषक या उत्पीड़क कहते हैं।

अथवा, जो आचार्य उत्कृष्ट आत्मबली, शारीरिक तेज से विभूषित, प्रशस्त वचन बोलने वाले तथा जिनकी कीर्ति संसार में प्रसिद्ध है, सिंह के समान पराक्रम के धारक होते हैं, वे उत्पीलक या उत्पीड़क कहलाते हैं।

(७) अपरिस्रावी - गुरु का विश्वास करके, शिष्य ने स्वकीय निन्दनीय अपकीर्तिकारक दोषों

को निष्कपट भाव से गुरु के समक्ष प्रगट कर दिया। उन दोषों को सुनकर किसी के समक्ष बाह्य में प्रगट नहीं करने वाले आचार्य को अपरिस्रावी गुण-धारक कहते हैं। यह आचार्य का अपरिस्रावी गुण है।

(८) निर्वापक या संतोषकारी - स्नेहयुक्त, मधुर, मनोहर, गंभीर और कर्णप्रिय वाणी से साधु के भूख, प्यासादि परीषहों के असह्य दुःखों को शांत करने में समर्थ होते हैं, यह आचार्य का निर्वापक या संतोषकारी गुण कहलाता है।

(९) दिगम्बरत्व - जिन्होंने सर्व प्रकार के वस्त्रों को संयम का घातक समझ कर परित्याग कर दिया है, जातरूप नग्नत्व को गुणों का आधार समझ कर सदा दिगम्बर रहते हैं, ऐसे आचार्य का यह दिगम्बरत्व गुण है।

शंका - वस्त्र धारण करने से क्या हानि होती है ?

समाधान - वस्त्र के मलिन होने पर उसे जल से धोना पड़ता है, जिससे छह काय के जीवों की विराधना होने से हिंसा होती है और हिंसा के सद्भाव में संयम की विराधना होती है। जब वस्त्र नष्ट हो जाता है वा जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, तब चित्त में आकुलता उत्पन्न होती है तथा महान् पद के धारक आचार्यदेव को भी दूसरों से वस्त्र की याचना करनी पड़ती है, लंगोटी मात्र वस्त्र के नष्ट होने से क्रोध उत्पन्न होता है तो अधिक वस्त्रों का तो कहना ही क्या !

स्वकीय विकार को छिपाने के लिए वस्त्र धारण किया जाता है, परन्तु जिसके मन में विकार ही नहीं है, उसको वस्त्र से क्या प्रयोजन है। जैसे निर्विकारी बालक नग्न रहता है और विकार आते ही वस्त्र को धारण कर लेता है। अतः वीतराग - निर्विकारी मुनि दिगम्बर वा नग्न होते हैं, नग्नत्व उनका गुण है।

(१०) अनुद्दिष्ट भोजी - अपने निमित्त बने हुए भोजन का त्याग कर छियालीस दोषों और बत्तीस अन्तरायों से रहित निर्दोष आहार ग्रहण करने वाले को अनुद्दिष्टभोजी कहते हैं।

(११) शय्याधराभोजी - शय्याधर के तीन अर्थ हैं, वसतिका बनाने वाला, वसतिका संस्कार (सफाई, बिजली आदि लगाना) करने वाला और आप इस वसतिका में ठहरिये, ऐसा कहकर स्थान देने वाला। इन तीनों को शय्याधर कहते हैं। इन शय्याधरों के घर का आहार, पिच्छिका आदि ग्रहण नहीं करना। वसतिका देने वाले के घर का आहार लेने से अनेक दोष होते हैं।

यदि आचार्य शय्याधर का आहार लेंगे तो धर्म के लोभ से शय्याधर प्रच्छन्न रूप से आहार आदि की योजना करेंगे।

आहारादि के देने में असमर्थ, दरिद्र या लोभी वसतिका नहीं देगा, क्योंकि उसे जनापवाद का भय रहता है कि इस मंद-भाग्य को देखो, मुनिराज इसकी वसतिका में रहते हैं और यह उन्हें आहार भी नहीं देता है।

जो वसतिका और आहार दोनों देता है, उस पर बहुत उपकारी होने से मुनिराज का स्नेह होना सम्भव है। अत: साधुजन शय्याधर का (वसतिका देने वाले का) आहार भी नहीं लेते हैं।

कोई आचार्य कहते हैं कि मार्ग में विहार करते हुए साधु रात्रि में जिसके घर शयन करते हैं, दूसरे दिन उसके घर का भोजन नहीं करते, उसे शय्याधर पिण्डत्याग कहते हैं। यह भी आचार्य का एक गुण है।

(१२) अराजभुक्-राजपिण्डाभोजी - राजा तथा राजा के सदृश महाऋद्धि वाले राजमंत्री आदि के घर का आहार आदि ग्रहण नहीं करना अराजभुक् गुण कहलाता है।

राजपिण्ड के ग्रहण करने से आत्मजन्य और परजन्य दो दोष उत्पन्न होते हैं।

आत्मजन्य दोष - राजकुल में मुनि आहार की यथार्थ शोधना नहीं कर सकते। परदे में लाये हुए तथा आहृत आहार को भी ग्रहण करना पड़ता है। अत: शास्त्रविरुद्ध आहार ग्रहण करने से विकृति तथा इंगाल आदि दोष उत्पन्न होते हैं।

जिसने गृहस्थ अवस्था में ऐश्वर्य का अनुभव नहीं किया है, ऐसा साधु राजभवन की बहुमूल्य मनोहर रत्नादि सम्पत्ति को तथा देवाङ्गना के समान सुन्दर ललनाओं को क्रीड़ा करती हुई देखकर विकार को प्राप्त हो सकता है तथा अनुपम सुन्दरियों व ऐश्वर्य को देखकर निदान बन्ध भी सम्भव है।

परजन्य दोष - मनुष्यकृत और तिर्यंचकृत के भेद से ये दो प्रकार के होते हैं।

राजभवन में निर्दय, पापी, दासी-दास रहते हैं, अत: उनके कारण राजकुल में प्रवेश करना कठिन है। यदि प्रवेश ही भी जाये तो मदिरापान से मतवाले दासी-दास आदि मुनिराज का उपहास करते हैं, दुर्वचन बोलते हैं या आगे जाने से रोक देते हैं। काम से पीड़ित हुई स्त्रियाँ मुनि को देखकर हाव-भाव, विभ्रम करती हैं, जिससे मुनि का चित्त विचलित हो जाने की सम्भावना है। राजघर में रत्न, सुवर्ण आदि इधर-उधर पड़े रहते हैं। उसे दूसरे लोग चुराकर मुनिजन को दोष लगा सकते हैं कि यहाँ पर मुनिराज आये थे वे ही ले गये होंगे। ये मनुष्यकृत परजन्य दोष हो सकते हैं। राजपिण्ड ग्रहण करने से तिर्यंचकृत परजन्य दोष भी होता है। वह तिर्यञ्चकृत परजन्य दोष दो प्रकार का है - ग्राम्य पशुकृत और वन्य पशुकृत।

ग्रामीण दुष्ट प्रकृति वाले हाथी, घोड़े, गाय, बैल, भैंसा, कुत्ता आदि राजाओं के घर में निवास करते हैं। किसी कारणवश इनके बन्धन से छूट जाने पर संयमी मुनि का घात हो सकता है। राजभवन के पिंजरों में रहने वाले व्याघ्र, सिंह आदि दुष्ट जीवों से संयमी के प्राणों का संहार होने की संभावना है। भागते हुए वानर आदि प्राणियों से भी संयमी को पीड़ा हो सकती है, ये पशुकृत परजन्य दोष हैं। राजपिण्ड ग्रहण करने में इन दोषों की सम्भावना है, इसलिए राजपिण्डत्याग आचार्य का गुण कहा है। सर्वथा राजपिण्ड का त्याग नहीं हो सकता है क्योंकि सभी तीर्थंकर सर्वप्रथम राजाओं के घर में ही आहार करते हैं। श्रीमती और वज्रजंघ ने मुनिराज को आहार दिया था, और भी कितने ही राजाओं ने मुनिराजों को आहार देकर पुण्यबंध किया है।

(१३) कृतिकर्मयुक्त - जो स्वयं छह आवश्यक क्रियाओं का आचरण करते हैं, अपने से गुणों में अधिक पुरुषों की तथा गुरुजनों की विनय, सेवा, शुश्रूषा करते हैं, उसे कृतिकर्मयुक्त गुण कहते हैं।

(१४) व्रतारोपण योग्यता - जो नग्न परीषह को सहन करने में समर्थ है, उद्देशिक आदि दोषों से दूषित आहार का त्याग कर सकता है, गुरुजनों की भक्ति में रत है और विनयगुण से विभूषित है, वही मुनिव्रत धारण करने योग्य होता है। उपरिकथित गुण वाले मानव की परीक्षा करके उस पर व्रतारोपण करने वाले आचार्य के गुण को व्रतारोपण योग्यता कहते हैं।

(१५) ज्येष्ठगुणता - जो सर्व मुनियों के आचरण में श्रेष्ठ होते हैं, वही आचार्य होते हैं। यह आचार्यज्येष्ठगुणता १५ वाँ गुण है।

(१६) मासनिवासिता - वर्षायोग को छोड़कर अन्यकाल में मुनीश्वर एक ग्राम में अधिक से अधिक एक महीने तक ठहर सकते हैं, अधिक दिन नहीं। यह इनका एकमास-निवासिता गुण है। अधिक दिन एक जगह रहने पर क्षेत्रादि में अनुराग होता है, गौरव नष्ट हो जाता है, धर्मोपदेश आदि के द्वारा जनता का उपकार नहीं हो सकता और न देश-देशान्तर की भाषा आदि का परिज्ञान होता है। सुकुमारपना, आहार की लोलुपता, आलस्य, श्रावकों से अनुराग आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। अत: मासनिवासिता यह गुण कहा गया है आचार्यश्री का। इसका दूसरा नाम षण्मासयोगी है अर्थात् चातुर्मास में एक महीने पूर्व चातुर्मास करने के स्थान में आ सकते हैं तथा वर्षायोग समाप्त होने के बाद एक महीना और ठहर सकते हैं। शेषकाल में एक महीने से अधिक नहीं रह सकते।

(१७) प्रतिक्रमी - मन, वचन, काय से किये गये अपराधों का आलस्य रहित होकर निष्कपट भावों से निराकरण करने वाले को प्रतिक्रमी कहते हैं।

(१८) वर्षायोग (पाद्य) - वर्षाकाल में चार मास एक स्थान पर रहने को, विहार का त्याग करने को पाद्य नामक स्थिति-कल्प कहते हैं। वर्षाकाल में भूमि त्रस और स्थावर जीवों से व्याप्त हो जाती है। उस समय भूमि का प्रत्येक प्रदेश जीव से युक्त होता है। उस समय विहार करने से मुनि के संयम का विनाश होता है। वृष्टि के कारण शीत वायु के चलते रहने से मुनि के शरीर की विराधना होना सम्भव है। उस समय मार्ग प्राय: जलमग्न रहते हैं, इसलिए कुए, बावड़ी आदि में गिरने की सम्भावना रहती है, जल के आछन्न होने से पाँव आदि में काँटें, पत्थर आदि के गड़ जाने की तथा ठूंठ (स्थाणु) आदि की चोट लगने का भय रहता है, कीचड़ आदि की बाधा होती है, इसलिए मुनीश्वर वर्षायोग में एक जगह एक सौ बीस दिन (४ मास) तक ठहरते हैं। यह उत्सर्ग मार्ग (सामान्य नियम) है। कारण विशेष होने पर अधिक दिन भी ठहर सकते हैं। जैसे कार्त्तिक शुक्ला पूर्णिमा के दिन चातुर्मासिक योग समाप्त होने पर भी वृष्टि बहुत हो रही हो, श्रुत का अभ्यास करना हो, विहार करने की शक्ति न हो, किसी वृद्ध या रोगी साधु की वैयावृत्ति करनी हो, आदि कारण उपस्थित हों तो अधिक दिन भी ठहर सकते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यदि कोई उपसर्ग आ जाये तो चातुर्मास के भीतर भी अन्य स्थान में गमन कर सकते हैं। यह पाद्य अर्थात् वर्षायोग नामक स्थिति कल्प है। मूलाराधना टीका में उल्लेख है कि दो-दो महीने से निषिद्धिका द्रष्टव्य है।

१२ प्रकार का तप आचार्य का गुण है। पौद्गलिक पंचेन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति करने वाली इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोककर स्वाध्याय आदि शुभ कार्यों में लगाना या उनका निरोध करना तप कहलाता है। बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से तप दो प्रकार का है। जिसका शरीर के द्वारा आत्मा के साथ सम्बन्ध हो अथवा बाह्य में दृष्टिगोचर हो, वह बाह्य तप कहलाता है। जिसका आत्मा के साथ सम्बन्ध हो, बाह्य दृष्टिगोचर न हो, वह अन्तरंग तप कहलाता है।

अनशन - चार प्रकार के आहार का त्याग कर अपनी आत्मा में वास करना अनशन या उपवास कहलाता है। इसका उत्कृष्टकाल एक वर्ष और जघन्य काल एक दिन आदि है, मध्यम के अनेक भेद हैं।

अवमौदर्य - इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए तथा स्वाध्याय की सिद्धि के लिए भूख से कम खाना, पूर्ण उदरे भर नहीं खाना, अवमौदर्य अथवा ऊनोदर व्रत है।

वृत्तिपरिसंख्यान - आहार के लिए जाते समय घर, मोहल्ला, दाता, बर्तन, वस्तु आदि का नियम लेना। इससे कर्मों की निर्जरा होती है।

रसपरित्याग - इन्द्रियों की वासना को जीतने के लिए घृत, तेल, दूध, दही, लवण, गुड़ आदि छहों रसों का या उनमें से एक, दो रसों का त्याग करना।

विविक्तशय्यासन - स्वाध्याय, ध्यान की वृद्धि के लिए तथा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के लिए एकान्त स्थान में बैठना, शयन करना।

कायक्लेश - कर्मों का संवर और निर्जरा करने के लिए उग्र तप करना, शीत - उष्ण, भूख-प्यास की बाधा को सहन करना। ये छह बहिरंग तप हैं।

प्रायश्चित्त - अज्ञान के कारण व्रतों में लगे हुए दोषों का निराकरण करने के लिए गुरुओं के समीप जाकर प्रायश्चित्त लेकर दण्ड लेना।

विनय - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक्तप आदि का विनय करना।

वैयावृत्ति - आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, रुग्ण, शैक्ष्य, कुल, गण, तपस्वी, मनोज्ञ आदि की वैयावृत्ति करना, उनके दुखों को दूर करना।

स्वाध्याय - आत्महित करने के लिए, समीचीन ज्ञान प्राप्त करने के लिए वीतराग देव प्रणीत शास्त्रों का पठन-पाठन करना स्वाध्याय है।

व्युत्सर्ग - अंतरंग-बाह्य परिग्रह का त्याग करना व्युत्सर्ग है।

ध्यान - आर्त्त, रौद्र ध्यान का परित्याग कर धर्म एवं शुक्ल ध्यान में लीन होना ध्यान नामक तप है। ये अन्तरंग तप हैं।

षट् आवश्यक: प्रतिक्रमण - भूतकाल में किये गये पापों का पश्चाताप करना।

प्रत्याख्यान - भविष्यकाल में होने वाले पापों का त्याग करना अथवा इतने काल तक मैं सावद्य योग में प्रवृत्ति नहीं करूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा करना।

समता - सुख में, दु:ख में, जीवन-मरण में, लाभ - अलाभ में, बंधु - शत्रु में, महल - मसान में समभाव रखना।

वंदना - एक भगवान की स्तुति करना।

संस्तवन - चौबीस भगवान की स्तुति करना।

कायोत्सर्ग - शरीर के ममत्व का त्याग कर धर्मध्यान अथवा शुक्ल ध्यान में लीन होना। ये षट् आवश्यक हैं। इस प्रकार इन छत्तीस प्रकार के गुणों से सुशोभित आचार्य होते हैं।

ये छत्तीस गुण चारित्रगुण की अपेक्षा से कहे हैं, इस प्रकार के चारित्रधारी को आचार्य कहते हैं।

ज्ञान की अपेक्षा वे आचार्य वर्त्तमानकालीन सारे शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं। जो स्वसमय, परसमय का ज्ञाता है अर्थात् न्याय ग्रन्थ, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग आदि सारे जैन सिद्धान्त का ज्ञाता होता है और अन्य मत के शास्त्र का ज्ञाता है अर्थात् षट्दर्शन को जानने वाला ही आचार्य होता है।

अपनी शक्ति के अनुसार निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप और वीर्य में जो यत्न किया जाता है, इनमें निर्मल अंतरंग भावों से प्रवृत्ति की जाती है; उसको आचार कहते हैं, वह आचार दर्शनाचारादि के भेद से पाँच प्रकार का है।

सम्यग्दर्शन आठ अंग सहित होता है -

नि:शंकित - जिनेन्द्रकथित तत्त्वों में शंका नहीं करना वा आत्मतत्त्व के अस्तित्व में अडोल, अकम्प, आस्था होना नि:शंकित अंग है।

संसार के भोगों की कांक्षा (इच्छा) नहीं करना **नि:कांक्षित अंग** है।

स्वभाव से अशुचि परन्तु रत्नत्रय से पवित्र मुनिजनों के शरीर से ग्लानि नहीं करना तथा जिनधर्म से अरुचि नहीं करना **निर्जुगुप्सा अंग** है।

तत्त्वों के विषय में मूढ़ नहीं बनना; कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र की मन, वचन, काय से प्रशंसा नहीं करना **अमूढ़दृष्टि अंग** है।

किसी कारणवश वा अज्ञान तथा शारीरिक शक्ति के अभाव में धर्म में दूषण लगाने वाले के दोषों का आच्छादन करना उनके दोषों को प्रगट नहीं करना **उपगूहन अंग** है।

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से च्युत होने वाले प्राणियों को पुनः सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र में स्थिर करना **स्थितीकरण अंग** है।

साधर्मियों के साथ **वात्सल्य** भाव रखना और धर्म की **प्रभावना** करना, उसको **दर्शनाचार** कहते हैं। ऐसा दर्शनाराधना में कहा है। इन आठ अंगों के पालन करने वालों का कथन आराधक पुरुष के स्वरूप में लिखा है।

पाँच प्रकार के ज्ञान की आराधना करना, विशेषकर श्रुतज्ञान की आराधना के लिए आठ प्रकार के अंग सहित ज्ञानाभ्यास करना। अक्षर शुद्ध पढ़ना, अर्थ शुद्ध पढ़ना, अक्षर अर्थ दोनों शुद्ध पढ़ना, काल में पढ़ना, विनयपूर्वक पढ़ना, उपधान से पढ़ना, बहुमान से पढ़ना और गुरु का नाम नहीं छिपाना ये ज्ञान के आठ अंग हैं। इनका विशेष लक्षण, इनके पालन करने वालों के नाम, कथा आदि का वर्णन आराधक पुरुषों का कथन करते समय किया है। इस प्रकार ज्ञान का अभ्यास करना **ज्ञानाचार** है।

चारित्र आराधना में कथित चारित्र का पालन करना **चारित्राचार** है।

तपाराधना में कथित १२ प्रकार के तप का आचरण करना **तपाचार** है।

इन चार प्रकार के आचारों में अपनी शक्ति को न छिपाकर प्रवृत्ति करना **वीर्याचार** है।

उत्तम क्षमा - क्रोध कषाय का अभाव होना। दुष्ट-दुर्जन पुरुषों के दुर्व्यवहार को सहन करने की क्षमता होना, किसी भी प्रकार के प्रतिकूल कारणों के मिलने पर मानसिक क्षोभ उत्पन्न न होना उत्तम क्षमा है।

उत्तम मार्दव - मान कषाय का अभाव होना; ज्ञान, जाति, कुल, पूजा, बल (शारीरिक शक्ति), ऐश्वर्य (धनसम्पदा), शारीरिक सौन्दर्य और तपश्चरण आदि का अभिमान नहीं करना, विनयशील होना उत्तम मार्दव भाव है।

उत्तम आर्जव - छल - कपट नहीं करना, सरल परिणाम होना, मन, वचन और काय की छल रहित प्रवृत्ति होना उत्तम आर्जव है।

उत्तम शौच - पवित्रता के घातक लोभ कषाय का अभाव होना, सांसारिक पदार्थों में गृद्धि नहीं होना, संतोष होना उत्तम शौचधर्म है।

उत्तम सत्य - अन्य जीवों को दु:खदायक, कठोर, अप्रिय, असत्य वचन नहीं बोलना; हित, मित, प्रिय वचन बोलना उत्तम सत्य है।

उत्तम संयम - 'सं' - भली प्रकार से (सम्यग्दर्शन सहित) यम - नियम का पालन करना संयम है। भाव और द्रव्य के भेद से संयम दो प्रकार का है। पाँचों इन्द्रियों और मन को बाह्य विषयों से रोकना भाव संयम है और पृथिवीकायादि छह काय के जीवों की रक्षा करना, उनकी विराधना नहीं करना द्रव्य संयम है। इन दोनों प्रकार के संयम का पालन करना उत्तम संयम धर्म है।

उत्तम तप - तपाराधना में कथित १२ प्रकार के तपों का पालन करना, वा अपनी आत्मा में लीन रहना उत्तम तप धर्म है।

उत्तम त्याग - उत्तम, मध्यम और जघन्य इन तीन प्रकार के पात्रों को आहार, औषध, ज्ञान और अभय के भेद रूप चार प्रकार का दान देना तथा निश्चय से राग-द्वेष का त्याग करना उत्तम त्याग धर्म है।

आकिंचन्य धर्म - निज ज्ञान स्वरूप को छोड़कर मेरा कुछ भी नहीं है, मैं अकिंचन हूँ ऐसा विचार कर आन्तरिक दृढ़ता के साथ बाह्य में धन-धान्यादि दश प्रकार के परिग्रह का और कषाय मिथ्यात्वादि अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना आकिंचन्य है।

उत्तम ब्रह्मचर्य - ब्रह्म अर्थात् अपनी आत्मा में चर्या-रमण करना ब्रह्मचर्य है। बाह्य में स्त्रीमात्र के साथ रमण करने का मन, वचन, काय से त्याग कर स्वकीय आत्मा में लीन रहना उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है।

षट् आवश्यक और १२ तप का कथन पूर्व में किया है।

सम्यक् प्रकार से मन, वचन और काय को वश में करना तीन गुप्ति है।

इन दश धर्म, बारह तप, षट् आवश्यक, पाँच पंचाचार और तीन गुप्ति का पालन करना आचार्य परमेष्ठी के ३६ मूलगुण हैं।

इस प्रकार ३६ मूलगुणों के धारी आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

जो चौदह विद्यास्थानों का पारंगत है, ग्यारह अंगधारी है अथवा आचारांग मात्र का धारी है अथवा तत्कालीन स्व-समय और पर-समय में पारंगत है, मेरु के समान निश्चल है, पृथिवी के समान सहनशील है। जिसने समुद्र के समान मल अर्थात् दोषों को बाहर फेंक दिया है और जो सात प्रकार के भय से रहित है, उसे आचार्य कहते हैं।

प्रवचनरूपी समुद्र के जल के मध्य में स्नान करने से अर्थात् परमागम के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं, जो मेरु

पर्वत के समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर हैं, जो सिंह के समान निर्भीक हैं, जो निर्दोष हैं, देश-कुल और जाति से शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं। जो संघ के संग्रह अर्थात् दीक्षा और अनुग्रह करने में कुशल हैं, जो सूत्र अर्थात् परमागम के अर्थ में विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण अर्थात् आचरण, वारण अर्थात् निषेध और शोधन अर्थात् व्रतों की शुद्धि करने वाली क्रियाओं में निरन्तर उपयुक्त हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिए अर्थात् जिनसिद्धान्त में उनको आचार्य परमेष्ठी कहते हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप

व्रतसमितिगुप्तिसंयमशीलगुणोज्ज्वलविभूषणोपेताः।
देशकुलादिविशुद्धा विजितकषायादिरिपुवर्गाः ॥२१८॥
स्वपरसमयागमानां व्याख्यानरताः स्वशक्तिसारेण।
भव्याम्बुजवनदिनपाः भवन्त्युपाध्यायनामानः ॥२१९॥ युग्मम्॥

अन्वयार्थ - **व्रतसमितिगुप्तिसंयमशीलगुणोज्ज्वलविभूषणोपेताः** - व्रत, समिति, गुप्ति, संयम, शील आदि गुण रूपी उज्ज्वल विभूषणों से युक्त। **देशकुलादिविशुद्धाः** - देशकुल आदि से शुद्ध। **विजितकषायादिरिपुवर्गाः** - जीत लिया है कषाय आदि विभाव भाव रूप शत्रुवर्गों को जिन्होंने। **स्वशक्तिसारेण** - अपनी शक्ति के अनुसार। **स्वपरसमयागमानां** - स्वसमय (जिनधर्म के शास्त्र) और परसमय (अन्य मिथ्यादृष्टियों के शास्त्रों) के। **व्याख्यानरताः** - व्याख्यान करने में लीन। **भव्याम्बुजवनदिनपाः** - भव्यरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान। **उपाध्यायनामानः** - उपाध्याय नामक परमेष्ठी। **भवन्ति** - होते हैं।

भावार्थ - व्रत, समिति, गुप्ति, संयम, शील और गुणों के स्वरूप का कथन चारित्र आराधना में विस्तार पूर्वक किया है। देश, कुल और जाति का कथन आचार्य के गुणों का कथन करते समय किया है। प्राचीन आचार्यों ने साधुपद को स्वीकार करने वाले के कुल, जाति, देश की शुद्धि आवश्यक बतलाई है। अतः आचार्य और उपाध्याय का जाति, कुल और देश शुद्ध यह विशेषण दिया है।

जिसका देश-कुल-जाति शुद्ध नहीं है, वह मुनिदीक्षा के योग्य नहीं है, अतः वे उपाध्याय नहीं हो सकते। प्रवचनसार, षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों में आचार्यों ने दिगम्बर दीक्षा ग्रहण करने वाले का प्रथम विशेषण देश, कुल, जाति शुद्ध दिया है।

जो मानव अहिंसादि पाँच महाव्रत, ईर्यादि पाँच समिति, मन, वचन और काय को वश में करने रूप तीन गुप्ति, द्रव्य और भाव रूप संयम और अठारह हजार शील रूप उज्ज्वल गुणों से विभूषित हैं, वे ही उपाध्याय हो सकते हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी के अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ इन १२ कषायों का उदय तो नहीं है। परन्तु संज्वलन कषाय है, उसके भी वशीभूत नहीं होते हैं, वे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं, अतः उपाध्याय परमेष्ठी का विशेषण है कषाय रूपी शत्रुओं के विजेता।

जो अपनी शक्ति के अनुसार (ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार) स्वसमय और परसमय के व्याख्याता होते हैं। स्वसमय का अर्थ है जिनेन्द्रकथित शास्त्र और परसमय है अन्य तीन सौ त्रेसठ पाखण्डीजन के द्वारा रचित मिथ्याशास्त्र। इन स्वसमय और परसमय के व्याख्यान करने में जो रत (लीन) रहते हैं अर्थात् ध्यान, अध्ययन और अध्यापन ही जिनका कार्य है वे उपाध्याय कहलाते हैं।

भव्यजीव रूपी कमल वन को विकसित करने के लिए जो सूर्य के समान हैं, जिनके समीप जाकर भव्यजीव शास्त्रों का अध्ययन करते हैं, तब उन उपाध्याय रूपी सूर्य के वचन रूपी किरणों से भव्य जीवों के हृदय रूपी कमल विकसित हो जाते हैं, उनका अज्ञान अंधकार विलीन हो जाता है, अतः उपाध्याय को सूर्य की उपमा दी है।

उपाध्याय परमेष्ठी ११ अंग और १४ पूर्व के पाठी होते हैं अर्थात् उपाध्याय परमेष्ठी के ये २५ गुण होते हैं। ११ अंग और १४ पूर्व के स्वरूप का कथन ज्ञानाराधना में संक्षेप से किया गया है।

धवला की प्रथम पुस्तक में लिखा है कि चौदह विद्यास्थानों के व्याख्यान करने वाले, तत्कालीन परमागम के ज्ञाता व्याख्याता, स्वयं मोक्षमार्ग में स्थित तथा मोक्षमार्ग के इच्छुक शीलधर मुनियों को अध्ययन कराने वाले और शिष्यों के अनुग्रह एवं निग्रह को छोड़कर आचार्य के सारे गुणों का पालन करने वाले उपाध्याय होते हैं। शंका समाधान करने वाला, सुवक्ता, वाग्ब्रह्म, सर्वज्ञ अर्थात् सिद्धान्तशास्त्र और यावत् आगमों का पारगामी, वार्तिक तथा सूत्रों को शब्द और अर्थ के द्वारा सिद्ध करने वाला होने से कवि, अर्थ में मधुरता का द्योतक तथा वक्तृत्व के मार्ग का अग्रणी होता है। उपाध्यायपने में शास्त्र का विशेष अभ्यास ही कारण है, क्योंकि जो स्वयं अध्ययन करता है और शिष्यों को भी अध्ययन कराता है, वही गुरु उपाध्याय है। उपाध्याय में व्रतादिक के पालन करने की शेष विधि सर्व मुनियों के समान है। ये उपाध्याय परमेष्ठी संसारी प्राणियों को संसार के दुःखों से निकलने का उपाय बताते हैं, सन्मार्ग में लगाते हैं, स्व-पर का कल्याण करते हैं और जनजन के द्वारा आराध्य होते हैं।

साधु परमेष्ठी का लक्षण

मूलोत्तराभिधानैरखिलगुणैः शासनप्रकाशकराः।
काले द्वितीयकेऽपि प्रवर्तमानाः प्रवरशीलाः ॥२२०॥

सिंह गज वृषभ मृग पशु मारुत सूर्याब्धि मन्दरेन्दुमणि-।
क्षित्युरगाम्बरसदृशाः परमपदान्वेषिणो यतयः ॥२२१॥

अन्वयार्थ - मूलोत्तराभिधानैः - मूल और उत्तर नामक। **अखिलगुणैः** - सम्पूर्ण गुणों के द्वारा। **शासनप्रकाशकराः** - जिनशासन का उद्योतन करने वाले। **द्वितीयके** - इस पंचम, **काले** - काल में। **अपि** - भी। **प्रवर्त्तमानाः** - प्रवर्त्तमान। **प्रवरशीलाः** - उत्कृष्ट शील के धारी और। **सिंहगजवृषभमृगपशुमारुत - सूर्याब्धि मन्दरेन्दु मणि क्षित्युरगाम्बर सदृशाः** - सिंह, हाथी, बैल, हरिण, पशु, वायु, सूर्य, समुद्र, मन्दर, चन्द्रमा, मणि, पृथ्वी, सर्प और आकाश के सदृश स्वभाव वाले। **परमपदान्वेषिणोः** - परमपद का अन्वेषण करने वाले। **यतयः** - मुनीश होते हैं।

अर्थ - पञ्चमहाव्रत, पंच समिति, पञ्चेन्द्रिय निरोध, षड़ावश्यक पालन, स्नान त्याग, दंतमंजन त्याग, वस्त्रादि के परिधान का त्याग, भूमिशयन, खड़े होकर आहार लेना, दिन में एक बार आहार लेना और केशलुंचन करना ये अट्ठाईस मूलगुण हैं। दस धर्म का पालन, तीन गुप्ति का धारण, अठारह हजार शीलों का पालना, २२ परिषहविजय आदि चौरासी लाख उत्तरगुण हैं, जिनका वर्णन पूर्व में किया गया है। इन मूलगुणों और उत्तरगुणों के द्वारा जिनशासन का उद्योतन-प्रकाशन करते हैं। इन साधु परमेष्ठियों का अस्तित्व इस पंचम काल में भी पाया जाता है। ये उत्कृष्ट शील के धारी होते हैं।

जो अनन्त ज्ञानादि रूप आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं, जो पाँच महाव्रतों को धारण करते हैं, तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं, वा अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तरगुणों का पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी या उन्नत बैल के समान भद्रप्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरी करने वाले, पवन के समान निस्संग या सब जगह बिना रुकावट के विचरने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी या सकल तत्त्वों के प्रकाशक, उदधि अर्थात् सागर के समान गम्भीर, मन्दराचल अर्थात् सुमेरु पर्वत के समान परीषह और उपसर्गों के आने पर अकम्प और अडोल रहने वाले, चन्द्रमा के समान शान्तिदायक, मणि के समान प्रभापुंजयुक्त, क्षिति के समान सर्व प्रकार की बाधाओं को सहने वाले, उरग अर्थात् सर्प के समान दूसरे के बनाये हुए अनियत आश्रय, वसतिका आदि में निवास करने वाले, अम्बर अर्थात् आकाश के समान निरालम्बी या निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्ष का अन्वेषण करने वाले होते हैं।

आराधना की सिद्धि में ये पाँचों परमेष्ठी आराध्य हैं। इन आराध्य पुरुषों की आराधना से ही मुक्तिसिद्धि तथा स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति होती है। क्योंकि इन पंचपरमेष्ठी का ध्यान मानसिक कालुष्य को धोने के लिए निर्मल नीर है।

आराध्यस्वरूप पंचपरमेष्ठी का ध्यान मोक्षद्वार को खोलने के लिए कुंजी के समान है। संसार-समुद्र से पार करने के लिए नौका है। अनादिकालीन कर्म पटल से आच्छादित आत्मनिधि को प्राप्त करने के लिए कर्म रूपी पृथ्वी की भेदक कुल्हाड़ी है। विषयवासना की प्यास बुझाने के लिए अमृत सदृश है। मुक्ति रूपी सुन्दरी के मुखावलोकन के लिए दर्पण के तुल्य है और काम, भोग रूप अप्रशस्त राग के अंगारों से पच्यमान प्राणियों के संताप को दूर करने के लिए सजल मेघ है। अतः ये पाँच परमेष्ठी आराध्य हैं।

इस ग्रन्थ के प्रारंभ में आचार्यदेव ने गुण और गुणी के भेद से आराध्य दो प्रकार के कहे थे। उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप के भेद से चार प्रकार के गुणरूप आराध्य का कथन चार आराधना में कहा और यहाँ पर गुणी (जिसमें सम्यग्दर्शन आदि गुण पाये जाते हैं ऐसे) रूप पाँच प्रकार के आराध्य का कथन किया है। अत: पाँच परमेष्ठी आराध्य हैं उनकी आराधना से आत्मस्वरूप की सिद्धि होती है।

आराध्य कथन पूर्ण हुआ।

दर्शनाराधना करने वाले मानव का स्वरूप

उपशमवेदकसम्यग्दर्शनभाजो विशुद्धपरिणामाः।
तद्योग्यगुणा जीवाः सम्यक्त्वाराधका ज्ञेयाः ॥२२२॥

अन्वयार्थ - विशुद्धपरिणामाः - विशुद्ध परिणाम वाले। **तद्योग्यगुणाः** - सम्यग्दर्शन के योग्य गुणों के धारक। **उपशम-वेदकसम्यग्दर्शनभाजः** - उपशम और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन युक्त। **जीवाः** - जीव। **सम्यक्त्वाराधकाः** - सम्यग्दर्शन की आराधना के आराधक हैं। **ज्ञेयाः** - जानना चाहिए। इसमें क्षायिक सम्यग्दर्शन का उल्लेख नहीं है।

अर्थ - सम्यग्दर्शन का लक्षण सम्यग्दर्शनाराधना में लिखा है, उपशम और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वधारी विशुद्ध परिणाम वाले नि:शंकित आदि गुणधारक जीव ही सम्यग्दर्शन आराधना के आराधक होते हैं।

सम्यग्दर्शन आराधना की आराधना करने वाला सम्यग्दृष्टि ही होता है, मिथ्यादृष्टि सम्यग्दर्शन की आराधना का पात्र नहीं होता क्योंकि नि:शंकितादि गुण सहित सम्यग्दर्शन को धारण करना ही दर्शनाराधना है।

आराधना और आराधक जन में गुण-गुणी का भेद है, आराधना गुण है और आराधक गुणी है। सम्यग्दर्शनादि गुणों को स्व में प्रगट करने के लिए उन गुणों की आराधनाकर स्व में उन गुणों को प्रगट कर लेना ही आराधना है।

ज्ञानाराधना के आराधक जन का लक्षण

मत्यादिच्छद्मस्थज्ञानसमेतास्तदुचितगुणवन्तः।
ज्ञानाराधकसंज्ञा भवन्ति सुविशुद्धपरिणामाः ॥२२३॥

अन्वयार्थ - मत्यादिच्छद्मस्थज्ञानसमेताः - मत्यादि छद्मस्थ ज्ञान से युक्त। **तदुचितगुणवन्तः**

- मति, श्रुतज्ञान के उचित गुण, अर्थ, व्यंजन और दोनों शुद्ध पढ़ना आदि गुणों के धारक। **सुविशुद्धपरिणामाः** - विशुद्ध परिणाम वाले जीव। **ज्ञानाराधकसंज्ञाः** - ज्ञानाराधना के आराधक नाम वाले। **भवन्ति** - होते हैं।

अर्थ - ज्ञानावरण कर्म के उदय से युक्त जीव को छद्मस्थ कहते हैं।

जिस घातिया कर्म के समूह के कारण जीव चारों गतियों में संसरण करते हैं वह घातिया कर्म का समूह छद्म वा संसार है और घातिया कर्म के साथ रहने वाले जीव छद्मस्थ या संसारस्थ कहलाते हैं।

छद्मस्थ दो प्रकार के होते हैं: मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि।

सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ २ प्रकार के होते हैं : (१) सराग (२) वीतराग। चौथे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक सराग छद्मस्थ है और ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में वीतराग छद्मस्थ कहलाते हैं। वीतराग छद्मस्थ २ प्रकार के हैं, उपशांतकषाय और क्षीणकषाय। ११वें गुणस्थान में उपशांत कषाय वीतराग छद्मस्थ है और १२वें गुणस्थान में क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ है।

क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ अकृत्याकृत्य और कृतकृत्य के भेद से २ प्रकार के हैं।

क्षीणकषाय गुणस्थान में मोहरहित ३ घातिया प्रकृतियों का काण्डकघात होता है, उसमें अंत समय में प्रकृतियों का घात होता है, उसको कृतकृत्य कहते हैं अर्थात् काण्डकघात के बाद भी कुछ द्रव्य शेष रह जाता है, जिसका काण्डकघात संभव नहीं है। इस शेष द्रव्य को समय - समय प्रति उदयावली में प्राप्त करके एक-एक निषेक का क्रम से अन्तर्मुहूर्त्त काल द्वारा अभाव करता है, इस अन्तर्मुहूर्त्त काल में कृतकृत्य छद्मस्थ कहलाता है।

छद्मस्थ प्राणियों के संयोग से होने वाले मति आदि ज्ञान भी छद्मस्थ कहलाते हैं अर्थात् मति आदि क्षायोपशमिक ज्ञान छद्मस्थ ज्ञान हैं। जो इस छद्मस्थ ज्ञान से युक्त हैं वे छद्मस्थ ज्ञानी हैं।

अर्थ शुद्ध पढ़ना, अक्षर शुद्ध पढ़ना, दोनों शुद्ध पढ़ना, विनयपूर्वक पढ़ना, बहुमान से पढ़ना उपधान से पढ़ना, काल में स्वाध्याय करना और जिस गुरु से पठन किया है, उनका नाम नहीं छिपाना ये आठ ज्ञान के गुण हैं। इनका विशेष वर्णन ज्ञान आराधना में किया है। ज्ञान के उचित गुणधारी अर्थात् गुणों का धारी ज्ञान आराधना का आराधक होता है, क्योंकि जो अक्षर शुद्ध नहीं पढ़ता, अर्थ शुद्ध नहीं पढ़ता, अकाल में स्वाध्याय करता है, विनय से नहीं पढ़ता है, बहुमान और उपधान से नहीं पढ़ता है, गुरु का नाम छिपाता है, वह ज्ञान का आराधक नहीं, अपितु ज्ञान का विराधक है। इसलिए ज्ञान के आराधक को 'तदुचितगुणवन्तः' विशेषण दिया है।

चारित्र आराधना के आराधक का लक्षण

देशविरतादिनष्टकषायान्ताः वर्धमानशुभलेश्याः।
शीलगुणभूषितास्ते चारित्राराधका ज्ञेयाः॥२२४॥

अन्वयार्थ - **देशविरतादिनष्टकषायान्तः** - देशविरतादि गुणस्थान से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त वाले जीव। **वर्धमान-शुभलेश्याः** - वर्द्धमान है शुभ लेश्या जिन्होंके। **शीलगुणभूषिताः** - शीलगुणों से भूषित। **ते** - वे मानव महापुरुष। **चारित्राराधकाः** - चारित्र आराधना के आराधक। **ज्ञेयाः** - जानने चाहिए।

अर्थ - चारित्र का प्रारंभ पंचम गुणस्थान से होता है, इसलिए पंचम गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय (१२वें गुणस्थान) पर्यन्त जीव चारित्र आराधना के आराधक कहलाते हैं।

जिन जीवों के कृष्ण, नील और कापोत लेश्या होती है, वे चारित्र का पालन नहीं कर सकते। अतः वर्धमान शुभलेश्या वाले ही चारित्र के आराधक कहे गये हैं। शीलगुण रूपी भूषणों के धारक महापुरुष ही चारित्र के आराधक हैं। इसलिए आचार्यदेव ने चारित्र आराधक के दो विशेषण दिये हैं, वर्धमानशुभलेश्या और शीलगुणों से विभूषित।

तप आराधक का लक्षण

देशविरतादिनष्टकषायान्ताः स्वोचितोत्तमाचरणाः।
संशुद्धचित्तयुक्तास्तपसो ह्याराधका गम्याः॥२२५॥

अन्वयार्थ - **स्वोचितोत्तमाचरणाः** - स्वकीय गुणस्थानों में होने वाले उत्तम आचरण के धारक। **संशुद्धचित्तयुक्ताः** - संशुद्ध चित्त से युक्त। **देशविरतादिनष्टकषायान्ताः** - देशविरतादि से क्षीणकषाय तक के गुणस्थानवर्त्ती जीव। **हि** - निश्चय से। **तपसः** - तप के। **आराधकाः** - आराधक। **गम्याः** - जानने चाहिए।

अर्थ - तप आराधना और चारित्र आराधना में कोई विशेष अन्तर नहीं है क्योंकि चारित्रधारी ही वास्तव में तपश्चरण कर सकते हैं। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान आराधना नहीं है, उसी प्रकार चारित्र के बिना तपाराधना नहीं है।

तपाराधना का प्रारंभ देशविरत गुणस्थान में होता है और अंत क्षीणकषाय गुणस्थान में। अपने गुणस्थान के योग्य उत्तम आचरण करने वाले, अत्यन्त शुद्ध चित्त वाले, पंचम गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के जीव तप आराधना के आराधक होते हैं। यद्यपि षट्खण्डागम की तेरहवीं पुस्तक में तपोकर्म छठे गुणस्थान से कहा है परन्तु कुछ अंश में पंचम गुणस्थान में भी तपाराधना है क्योंकि इस गुणस्थान में भी इन्द्रियों और मन का किसी अंश में निरोध होता ही है। अन्यथा एकदेशव्रत रूप पंचम गुणस्थान नहीं हो सकता। इसलिए इस ग्रन्थ में पंचम गुणस्थान से तप आराधना का प्रारंभ माना है।

दर्शनमाराधयता ज्ञानं ह्याराधितं भवेन्नियमात्।
ज्ञानं त्वाराधयता भजनीयं दर्शनं विद्यात्॥२२६॥

अन्वयार्थ - **हि** - निश्चय से। **दर्शनं** - दर्शन की। **आराधयता** - आराधना करने वाले के। **ज्ञानं** - ज्ञान। **आराधितं** - आराधना। **नियमात्** - नियम से। **भवेत्** - होती है। **तु** - परन्तु। **ज्ञानं** - ज्ञान। **आराधयता** - आराधना करने वाले के। **दर्शनं** - दर्शन। **भजनीयं** - भजनीय है अर्थात् ज्ञान आराधना वाले के दर्शन आराधना हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। **विद्यात्** - ऐसा समझना चाहिए।

अर्थ - जो मानव दर्शन की आराधना करता है, उसके ज्ञान आराधना अवश्य होती है अर्थात् सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञान की आराधना अवश्य करता है, परन्तु जो ज्ञान की आराधना करता है, वह सम्यग्दर्शन का आराधक हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। ऐसा एकान्त नियम है कि जो सम्यग्दर्शन की आराधना करता है वह सम्यग्ज्ञान की आराधना अवश्य करता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्ज्ञान अवश्य होता है, परन्तु जो ज्ञान की आराधना करता है, वह दर्शन की आराधना करे ही करे, ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि भी द्रव्यश्रुत की आराधना कर सकता है।

सम्यग्दर्शनभाजा ज्ञानं भावात्मकं सदा ह्यस्ति।
द्रव्यात्मकं च तस्मात् पूर्वार्धं कथितमाचार्यैः॥२२७॥

अन्वयार्थ - **सम्यग्दर्शनभाजाः** - सम्यग्दृष्टि के। **हि** - निश्चय से। **भावात्मकं** - भावात्मक। **च** - और। **द्रव्यात्मकं** - द्रव्यात्मक। **ज्ञानं** - ज्ञान। **सदा** - हमेशा। **अस्ति** - होते हैं। **तस्मात्** - इसलिए। **आचार्यैः** - आचार्यों। **पूर्वार्धं** - ज्ञान के पूर्व दर्शन। **कथितं** - कहा है।

अर्थ - सम्यग्दृष्टि भव्यात्मा के द्रव्यात्मक और भावात्मक श्रुतज्ञान निरंतर रहता है, इसलिए आचार्यदेव ने सम्यग्दर्शन के पश्चात् ज्ञान आराधना कही है। अर्थात् सम्यग्दर्शन के अनन्तर ही सम्यग्ज्ञान होता है, इसलिए सम्यग्दर्शनाराधना के बाद ज्ञान आराधना कही है।

मिथ्यादृष्टौ च यतौ द्रव्यश्रुतमस्ति तत्समालोक्य।
शुद्धनयेनोक्तं तत्पश्चार्धं सूरिभिस्तु ततः॥२२८॥

अन्वयार्थ - **च** - और। **मिथ्यादृष्टौ** - मिथ्यादृष्टि। **यतौ** - मुनि में। **द्रव्यश्रुतं** - द्रव्यश्रुत। **अस्ति** - है। **तत्** - उसको। **समालोक्य** - देखकर। **ततः** - इसलिए। **सूरिभिः** - आचार्यदेव ने। **शुद्धनयेन** - शुद्धनय की अपेक्षा। **तत्पश्चार्धं** - ज्ञानाराधना के पश्चात् दर्शनाराधना। **उक्तं** - कही है। **तु** - परन्तु।

शुद्धनयाविज्ञानं मिथ्यादृष्टेर्भवन्ति चाज्ञानम्।
तस्मान्मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानस्याराधको नैव ॥२२९॥

अन्वयार्थ - मिथ्यादृष्टेः - मिथ्यादृष्टि का। **शुद्धनयाविज्ञानं** - शुद्धनय से होने वाला विज्ञान। **अज्ञानं** - अज्ञान ही। **भवन्ति** - होता है। **तस्मात्** - इसलिए। **मिथ्यादृष्टिः** - मिथ्यादृष्टि। **ज्ञानस्य** - ज्ञान का। **आराधकः** - आराधक। **न एव** - नहीं है।

अर्थ - मिथ्यादृष्टि मुनिराज ग्यारह अंग के पाठी हो सकते हैं। अतः द्रव्यलिंगी मुनि द्रव्यश्रुत आराधक है, ऐसा जानकर कुछ आचार्यों ने शुद्ध नय की अपेक्षा प्रथम ज्ञान आराधना और पश्चात् दर्शन आराधना का कथन किया है, परन्तु शुद्धनय की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि के जो विज्ञान कहा है, वह वास्तव में अज्ञान ही है। इसलिए मिथ्यादृष्टि ज्ञान का आराधक नहीं है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति देशनालब्धि पूर्वक ही होती है क्योंकि तत्त्वज्ञान के बिना तत्त्वार्थश्रद्धानपूर्वक सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता इसलिए पूर्व में ज्ञान होता है, फिर दर्शन होता है। ऐसा कथन किया जाता है, परन्तु तत्त्वश्रद्धान रहित जीवादि पदार्थों की जानकारी रूप जो ज्ञान है, वह ज्ञान समीचीन नहीं है, अपितु मिथ्या ही है इसलिए सम्यग्दर्शन के अनन्तर ही ज्ञान की आराधना होती है।

संयममाराधयता तपः समाराधितं भवेन्नियमात्।
आराधयता हि तपश्चारित्रं भवति भजनीयम् ॥२३०॥

अन्वयार्थ - संयमं - संयम की। **आराधयता** - आराधना करने वाला। **नियमात्** - नियम से। **तपः** - तप का। **समाराधितं** - आराधक। **भवेत्** - होता है। **हि** - परन्तु। **तपः** - तप की। **आराधयता** - आराधना करने वाले के। **चारित्रं** - चारित्र। **भजनीयं** - भजनीय है।

यस्माच्चारित्रवतस्तनुचेतोदर्परोधरूपतपः।
संलक्ष्यते हि तस्मात् पूर्वार्धं विद्भिरुपदिष्टम् ॥२३१॥

अन्वयार्थ - यस्मात् - क्योंकि। **चारित्रवतः** - चारित्रवान के। **तनुचेतोदर्परोधरूपतपः** - शरीर और मन के दर्प का रोध रूप तप। **हि** - निश्चय से। **संलक्ष्यते** - देखा जाता है। **तस्मात्** - इसलिए। **विद्भिः** - विद्वानों ने। **पूर्वार्धं** - तप के पूर्वार्ध में संयम आराधना का। **उपदिष्टं** - उपदेश दिया है।

अर्थ - जो प्राणी संयम की आराधना करता है, वह मन और शरीर का निरोध करता ही है अर्थात् पंच इंद्रियों का और मन का निरोध करना तथा शरीर को कृश करना संयम है। इन्द्रियों एवं मन का संयमन करने के लिए तपश्चरण की आवश्यकता होती है। इसलिए संयम की (चारित्र) की आराधना करने वाले तप की आराधना अवश्य करते हैं, परन्तु तप की आराधना करने वाले के चारित्र की आराधना भजनीय

है अर्थात् हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। चारित्रयुक्त तप करने वाले प्राणी के तो चारित्र आराधना होती है, परन्तु जिनके चारित्र नहीं है वे उपवास आदि के द्वारा शरीर को कृश करते हैं, उनके चारित्र आराधना नहीं है। क्योंकि चारित्रवान के ही शरीर और चित्त के दर्प का निरोध करने रूप तप अवश्य पाया जाता है। इसलिए विद्वानों (ज्ञानीजनों) ने तपाराधना के पूर्व ही चारित्र आराधना का कथन किया है।

तनुचेतोदर्पहरं तपोऽस्त्यसंयमवतोऽप्यशुद्धनयात्।
यत्तत्समुक्तमार्यैरार्याः पश्चार्धमाचार्यैः ॥२३२॥

अन्वयार्थ - **अशुद्धनयात्** - अशुद्धनय की अपेक्षा। **असंयमवतः** - असंयमी के। **अपि** - भी। **तनुचेतोदर्पहरं** - शरीर और मन के दर्प का नाशक। **यत्** - जो। **तपः** - तप। **अस्ति** - है। उस तप की अपेक्षा। **आर्यैः** - श्रेष्ठ। **आचार्यैः** - आचार्यों ने। **पश्चार्धं** - तप आराधना के बाद। **तत्** - चारित्र आराधना। **समुक्तं** - कही है, ऐसा। **आर्याः** - आर्यों का मत है।

किन्हीं आचार्यों ने ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना, तपाराधना उसके बाद चारित्र आराधना का कथन किया है। चारित्र भक्ति में भी इसी प्रकार का कथन है। इसलिए कहा गया है कि अशुद्ध नय की अपेक्षा असंयमी के तप आराधना कही है। अतः चारित्र पूर्व तप आराधना का कथन आचार्यों ने कहा है। परन्तु इस ग्रन्थ में प्रथम सम्यग्दर्शन आराधना, द्वितीय ज्ञानाराधना, तृतीय चारित्र आराधना और चतुर्थ तप आराधना कही है।

इस ग्रन्थ में आचार्यदेव ने कहा है कि यद्यपि मिथ्यादृष्टि मुनिराज ११ अंग के पाठी हो सकते हैं तथा असंयमी भी तपश्चरण करता है, इसलिए किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने असंयमी के भी तप आराधना स्वीकार की है। परन्तु वास्तव में मिथ्यादृष्टि के दर्शनादि आराधना नहीं हैं।

सम्यग्दृशोऽप्यविरतस्यास्ति तपो नैव शुद्धनयदृष्ट्या।
तनुचेतोदण्डनमपि पूर्वार्जितपापफलमेतत् ॥२३३॥

अन्वयार्थ - **शुद्धनयदृष्ट्या** - शुद्धनय की दृष्टि से। **अविरतस्य** - अविरत के। **सम्यग्दृशः** - सम्यग्दृष्टि के। **अपि** - भी। **तपः** - तप। **नैव** - नहीं। **अस्ति** - है। इसलिए। **एतत्** - यह। **तनुचेतोदण्डनं** - शरीर और मन के दर्प का निरोध करना। **अपि** - भी, उसके। **पूर्वार्जितपापफलं** - पूर्व में उपार्जित पाप का फल है।

अर्थ - शुद्धनय की दृष्टि से अविरत सम्यग्दृष्टि के भी तप नहीं है, मिथ्यादृष्टि के तो तप हो नहीं सकता। मिथ्यादृष्टि जो शरीर और मन का विरोध करता है, वह उसके पूर्वोपार्जित पाप का फल है अर्थात् पूर्वोपार्जित पाप के फल से इन्द्रिय-विषय - भोग प्राप्त नहीं होते हैं, तब शांतिपूर्वक सहन करता है, उससे अकामनिर्जरा होती है, इसलिए यह बाल तप है, वास्तविक तप नहीं है। इसलिए कहा गया है कि यह पूर्वोपार्जित पाप का फल है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आराधयता चरितं समस्तमाराधितं भवेन्नियमात्।
आराधयतां शेषं चरितं भजनीयमित्याहुः ॥२३४॥

अन्वयार्थ - **चरितं** - चारित्र की। **आराधयता** - आराधना करने वाले के द्वारा। **नियमात्** - नियम से। **समस्तं** - सारी (ज्ञानादि सम्पूर्ण आराधना)। **आराधितं** - आराधित। **भवेत्** - होती हैं। परन्तु **शेषं** - शेष आराधना की। **आराधयतां** - आराधना करने वाले के। **चरितं** - चारित्र आराधना। **भजनीयं** - भजनीय है। **इति** - इस प्रकार आचार्यों ने। **आहुः** - कहा है।

अर्थ - जो मानव चारित्र की आराधना करता है, उसके नियम से दर्शन आदि चारों आराधना होती है। क्योंकि ज्ञान, दर्शन, तपश्चरण के बिना चारित्र का पालन नहीं होता है। परन्तु जो दर्शन आदि की आराधना करता है, उसके चारित्र की आराधना होती भी है और नहीं भी होती है। क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की आराधना तो अविरत सम्यग्दृष्टि के भी होती है, परन्तु चारित्र की आराधना और तप की आराधना देशविरत से ही प्रारंभ होती है, इसलिए कहा जाता है कि शेष की आराधना करने वाले के चारित्र आराधना भजनीय होती है।

शुद्धाशुद्धनयद्वयमाश्रित्यात्यन्तमागमे निपुणाः।
कथयन्त्वस्याभावं ज्ञात्वार्या ये गुणसमग्राः ॥२३५॥

अन्वयार्थ - **ये** - जो। **आगमे** - आगम में। **अत्यन्तं** - अत्यन्त। **निपुणाः** - निपुण हैं। **गुणसमग्राः** - गुणों में श्रेष्ठ। **आर्याः** - महान् आचार्य। **अस्य** - इस कथन के। **अभावं** - अभाव को। **ज्ञात्वा** - जानकर। **शुद्धाशुद्धनयद्वयं** - शुद्ध और अशुद्ध दोनों नयों का। **आश्रित्य** - आश्रय लेकर। **कथयन्तु** - कथन करें।

अर्थ - आचार्यदेव आराधक जन के स्वरूप का और आराधनाओं का कथन करके अन्तिम क्षमायाचना करते हैं।

जो महान् आचार्य हैं, जो आगम में अत्यन्त निपुण हैं, सारे गुणों से समृद्ध हैं, परिपूर्ण हैं, वे आचार्य शुद्ध और अशुद्ध दोनों नयों का आश्रय लेकर आराधनाओं का कथन करें। अर्थात् किस गुणस्थान से कौन सी आराधनाओं का प्रारंभ होता है, किस गुणस्थान तक उनका अस्तित्व है, इन आराधनाओं का आराधक कौन है, ऐसा शास्त्रों के द्वारा जानकर वर्णन करें।

वस्तु का कथन शुद्ध और अशुद्ध दोनों नयों के आश्रित है। निश्चय नय भी शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का है अथवा शुद्ध नय निश्चय नय है, अशुद्ध नय व्यवहारनय है। व्यवहार और निश्चय दोनों की परस्पर सापेक्षता रखते हुए जो वस्तु का कथन किया जाता है, वही वास्तव में वस्तु का स्वरूप होता है, अतः एक नय को गौण और एक नय को मुख्य करके वस्तु का कथन करना चाहिए। निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं, अतः एक नय की अपेक्षा कथन करना युक्त नहीं है।

आचार्यों ने दोनों नयों की अपेक्षा कथन किया है, इसलिए लिखा है कि शुद्ध और अशुद्ध दोनों नयों का आश्रय लेकर कथन करना चाहिए।

आराधक जन का कथन पूर्ण हुआ।

आराधना के उपाय

शङ्कादिदोषसंकुलसंत्यागश्चेतसा सदाभ्यासः।
निःशंकादिगुणानां सम्यक्त्वाराधनोपायः॥२३६॥

अन्वयार्थ - **शंकादिदोषसंकुलसंत्यागः** - शङ्कादिदोषों के समूह का त्याग करके। **चेतसा** - चित्त के द्वारा। **सदा** - हमेशा। **निःशंकादिगुणानां** - निःशंकित आदि गुणों का। **अभ्यासः** - अभ्यास करना। **सम्यक्त्वाराधनोपायः** - सम्यक्त्व की आराधना का उपाय है।

अर्थ - सम्यग्दर्शन के शंकादि पच्चीस दोषों के समूह का त्याग करके निरन्तर अपने चित्त के द्वारा निःशंकितादि गुणों का अभ्यास करना सम्यक्त्वाराधना का उपाय है।

शंका - जिनेन्द्र भगवान के वचनों में शंका वा संशय करना।

कांक्षा - सांसारिक भोगों की वाञ्छा करना, सांसारिक भोगों में आसक्ति रखना।

विचिकित्सा - जिनधर्मावलम्बी वा जिनधर्म से ग्लानि करना, उनमें अनुराग नहीं रखना तथा मुनिराज के नग्न वा मलिन शरीर को देखकर घृणा करना।

मूढ़दृष्टि - हेयोपादेय का निर्णय नहीं करना तथा देवशास्त्रगुरु के स्वरूप को न जानकर यद्वा तद्वा निर्णय करना।

अनुपगूहन - अज्ञानी एवं अशक्त जनों के द्वारा किये गये दोषों को प्रगट करना, उनका आच्छादन नहीं करना।

अस्थितीकरण - व्रतों से वा श्रद्धान से गिरे हुए प्राणियों को व्रत एवं श्रद्धान में स्थिर नहीं करना।

अवात्सल्य - जिनधर्म और जिनधर्मावलम्बियों में अनुराग नहीं रखना।

अप्रभावना - अज्ञानरूपी अन्धकार को हटाकर जिनधर्म का उद्योत नहीं करना।

ये निःशंकितादि आठ गुणों से विपरीत उपर्युक्त आठ दोष हैं।

आठ प्रकार के मद (घमण्ड) सम्यग्दर्शन के घातक होने से सम्यग्दर्शन के दोष हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होने वाले विनाशीक ज्ञान को प्राप्त कर घमण्ड करना **ज्ञानमद** है।

सांसारिक ख्याति, पूजा, प्रतिष्ठा प्राप्त कर उन्मत्त हो जाना **पूजामद** है।

माता के परिवार यानी ननिहाल के लोगों के धनाढ्य होने पर घमण्ड करना **जातिमद** है।

पिता के परिवार के लोगों के धनाढ्य आदि होने पर घमण्ड करना **कुलमद** है।

शारीरिक शक्ति का घमण्ड करना **बलमद** है।

सांसारिक ऐश्वर्य प्राप्त कर उन्मत्त होना ऐश्वर्य मद या **ऋद्धि मद** है।

बहिरंग उपवास आदि तप करके घमण्ड को प्राप्त होना कि मैंने दस-दस उपवास किये हैं, मैं नीरस खाता हूँ, मेरे समान तपश्चरण करने वाला कोई नहीं है, इत्यादि भाव **तपमद** हैं।

शरीर के सौन्दर्य का घमण्ड करना **रूपमद** है।

ये आठ प्रकार के मद सम्यग्दर्शन के घातक हैं, अतः दोष हैं।

सम्यग्दर्शन की घातक तीन मूढ़ता है - लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता।

वस्तु के स्वरूप का विचार न करके लौकिक जनों की देखादेखी करना लोकमूढ़ता है। जैसे लौकिक जनों को पूजते देखकर नदी आदि में स्नान करने में, उसकी पूजा में धर्म मानकर पूजा करना **लोकमूढ़ता** है।

रागद्वेष से मलिन देवताओं को आप्त मानकर सांसारिक भोगों की प्राप्ति के लिए उनको पूजना, उनका सत्कार करना **देवमूढ़ता** है।

पाखण्डी साधुओं की सेवा करना, उनका सत्कार करना, उनकी प्रशंसा करना **गुरु/पाखण्ड मूढ़ता** है।

कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और उनके सेवकों का सत्कार-पूजा-बहुमान करना ये षट् **अनायतन** सेवा है। अर्थात् कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और उनके सेवक सम्यग्दर्शन के घातक होने से अनायतन हैं, मिथ्यादर्शन के आयतन हैं।

सम्यग्दर्शन के ये २५ दोष सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाले हैं, अतः इन दोषों का मानसिक शुद्धिपूर्वक त्याग करना सम्यक्त्व की आराधना का उपाय है।

अस्ति-नास्ति, भाव और अभाव आदि विरोधी धर्म एक साथ रहते हैं, अतः दुर्गुणों का त्याग करके सद्गुणों का निरंतर अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार दोषरहित, आठ गुण सहित सम्यग्दर्शन का पालन करना दर्शनविशुद्धि है।

जिनोपदिष्ट निर्ग्रंथ मोक्षमार्ग में रुचि तथा निःशंकितादि आठ अंग सहित होना सो दर्शनविशुद्धि

है। २५ दोषरहित, आठ अंग सहित निजात्मरूप आत्मानुभव जिस प्रकार सम्यग्दर्शन की विशुद्धि में कारण है उसी प्रकार बाह्य खान-पान की शुद्धि भी सम्यग्दर्शन की विशुद्धि में कारण है। क्योंकि बाह्य खान-पान से भी सम्यग्दर्शन मलिन होता है।

भावप्राभृत की टीका में **श्रुतसागर** जी ने लिखा है कि सम्यग्दर्शन को आठ गुणों सहित होना चाहिए तथा चर्म की वस्तु में रखे हुए जल, तेल, घी आदि वस्तुओं के खाने का त्याग करना, पाँच उदम्बर फल, मद्य, मांस, मधु के खाने का त्याग कर अष्ट मूलगुण धारण करना, जमीकंदमूल के खाने का त्याग करना, तरबूज, पाँच प्रकार के पुष्प, आचार, कौसुंभ पत्र और पत्ते की शाक-भाजी का त्याग करना चाहिए। सम्यग्दर्शन को निर्मल करने के लिए मांसाहारी के हाथ का भोजन-पानी ग्रहण नहीं करना चाहिए तथा जिस बर्तन में मांसाहारी भोजन करता है, उस बर्तन में सम्यग्दृष्टि को भोजन नहीं करना चाहिए।

प्रथमानुयोग के पठन-मनन-चिंतन करने से बोधि-समाधि की प्राप्ति होती है, अतः अष्ट अंगों में प्रसिद्ध महापुरुषों का कथन भी सुनना परमावश्यक है। उनका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है-

जिस प्रकार गुण के बिना गुणी नहीं रह सकता, उसी प्रकार निःशंकितादि गुणों के बिना सम्यग्दर्शन रूपी गुणी नहीं रहता। यही आठ गुण आगे चलकर आठ अंगों के रूप में प्रचलित हो गये। जैसे शरीर अपने अंगोपांग में समाहित है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी अपने अंगों में समाहित है। **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** में **समन्तभद्र स्वामी** ने इन आठ अंगों का संक्षिप्त किन्तु हृदयग्राही वर्णन किया है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में **अमृतचंद्र स्वामी** ने इनके लक्षण बतलाने के लिए आठ श्लोक लिखे हैं।

इन आठ अंगों की मान्यता सम्यग्दर्शन का पूर्ण विकास करने के लिए आवश्यक है। अंगों की आवश्यकता बतलाते हुए स्वामी **समन्तभद्र** ने लिखा है कि जिस प्रकार कम अक्षर वाला मंत्र विषवेदना को नष्ट करने में असमर्थ रहता है, उसी प्रकार कम अंगों वाला सम्यग्दर्शन संसार की संतति का छेद करने में समर्थ नहीं होता।

'तत्त्व यही है, इसी प्रकार है, अन्य नहीं, अन्य प्रकार नहीं,' ऐसी अडोल, अकंप तत्त्व-रुचि को निःशंकित अंग कहते हैं। सम्यग्दृष्टि निर्भीक एवं निःशंक होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि समझता है कि सत् का विनाश और असत् का उत्पाद नहीं होता है, फिर भय किसका।

कषाय अथवा अज्ञान के कारण ही मिथ्याभाषण होता है। जो निष्कषाय, वीतराग और सर्वज्ञ होने के कारण पूर्ण ज्ञानी हैं, उनके वचन सत्य ही होते हैं। इस प्रकार वीतराग के वचन पर अडोल, अकंप श्रद्धान होना **निःशंकित गुण** है।

जिनधर्म पर जिसकी अविचल आस्था है, दानवी शक्ति भी उसे सत्य से, धर्म या अखंड

आत्मविश्वास से विचलित नहीं कर सकती। **अंजन चोर** के समान जिसका अडिग विश्वास है और निर्भयता जिसके हृदय में कूट-कूट कर भरी रहती है, उसके यह अंग होता है।

आठ अंगों में प्रसिद्ध होने वालों की कथाएँ

(१) अंजन चोर

राजा अरमन्थि का पुत्र ललितांग पूर्वोपार्जित कर्मोदय के कारण कुसंगति में पड़कर सप्त व्यसनी चोर बन गया था। औषधि-विज्ञानवेत्ता ने ऐसा अंजन बनाया कि जिसको आँख में आँजने से आँजने वाला किसी को नहीं दिखता, परन्तु उसको सबकुछ दिखता था। राजकुमार चोरी-कला में इतना निपुण हो गया कि लोगों के देखते हुए उनके सामने से वस्तुओं का अपहरण कर लेता था अत: लोगों ने उसे अंजन चोर नाम से पुकारना प्रारंभ कर दिया।

अंजन चोर का प्रेम राजगृही नगरी की प्रधान वेश्या मणिकांचना से हो गया था। "आज मैंने प्रजापाल की महारानी कनकावती के गले में ज्योतिप्रभ नामक रत्नहार देखा है। यदि इस समय वह हार लाकर मुझे दोगे तो तुम मेरे पति हो, नहीं तो हमारे-तुम्हारे प्रेम का अन्त है।" वेश्या ने स्त्रियोचित भाव भंगी प्रदर्शित करते हुए कहा। अंजन चोर को वेश्या का ताना सहन नहीं हुआ। वह आँखों में अंजन लगाकर हार चुराने के लिए चल पड़ा। अपने कार्य में चतुर अंजन ने ज्योतिप्रभहार को अपने हाथ में ले लिया, किन्तु हार में लगी हुई मणियों का प्रकाश बहुत तेज था, जिससे वह हार को छिपा न सका। अत: सशस्त्र सिपाहियों ने उसके पदचालन का लक्ष्य करके हल्ला करते हुए उसका पीछा किया। निकल भागने में असमर्थ अंजन हार को छोड़कर भागता हुआ श्मशान भूमि में आया, जहाँ पर एक वृक्ष की शाखा पर १०८ रस्सियों का एक छींका लटक रहा था। नीचे चमचमाती तलवार आदि तीक्ष्ण शस्त्र गड़े थे। टिमटिमाते दीपक के प्रकाश में दिख रही थी चारों तरफ भीषण अटवी। एक मानव कभी छींके पर चढ़ता और कभी नीचे गड़े हुए शस्त्रों से भयातुर हो नीचे उतर आता।

"प्रलयकाल के अन्धकार से व्याप्त इस काल में ऐसा दुष्कर कर्म करने वाले महासाहसी पुरुष तुम कौन हो ?" अञ्जन चोर ने पूछा।

वह बोला - "मेरा नाम वारिषेण है। मैं आकाशगामिनी विद्या सिद्ध करने आया हूँ। जिनदत्त सेठ ने कहा था कि नीचे तीक्ष्ण शस्त्र रखकर ऊपर १०८ रस्सी के छींके पर बैठकर इस मंत्र का जप करते हुए एक - एक रस्सी काटना, अन्तिम रस्सी कटते ही तुझे आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो जायेगी। परन्तु भाई मुझे विश्वास नहीं हो रहा है, मन शंकित है, कहीं विद्या-सिद्धि के लोभ में प्राणों से हाथ न धोना पड़े।" अंजन चोर उसकी बातों को सुनकर मन्द मुस्कान के साथ बोला - "तुम डरपोक हो। तुम्हें मंत्र पर विश्वास नहीं है, मुझे इस विद्या की साधना करने दो।" वारिषेण प्राणों के मोह में पड़कर घबरा गया और उसने मंत्र

तथा उसकी विधि अंजन चोर को बतला दी। "जिनदत्त के वचन असत्य नहीं हो सकते। इस मंत्र का प्रभाव अचिंत्य है।" ऐसी दृढ़ श्रद्धा के साथ नि:शंक होकर अंजन ने एक ही झटके में सारी रस्सियाँ काट दीं। जब वह नीचे गिरने को ही था कि इसी बीच आकाश-गामिनी विद्या ने आकर उसे आकाश में अधर झेल लिया। उस विद्या के प्रभाव से अंजन चोर सुमेरु पर्वत स्थित जिनमंदिरों की वन्दना करता हुआ, नन्दन वन में पहुँचा जहाँ जिनदत्त पूजा कर रहा था।

उसने जिनदत्त को नमस्कार कर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और तत्रस्थ चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के चरण-कमलों में नमस्कार कर जिनदीक्षा ग्रहण की और घोर तपश्चरण करके घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्ति-पति बन गया। यह है नि:शंकित गुण की महिमा ! जिनवचनों पर दृढ़ विश्वास से ही सम्यग्दर्शन ज्योति जगमगा उठती है।

सांसारिक भोगों की वांछा नहीं करना, संसार के भोगों के स्वरूप का चिंतन कर उनसे विरक्त होना **नि:कांक्षित अंग** है। जब अन्त:करण में सम्यग्दर्शन की ज्योति प्रकाशमान होती है तो अनादिकालीन अंधकार सहसा विलीन हो जाता है और समग्र तत्त्व अपने वास्तविक रूप में उद्भासित होने लगते हैं। तभी आत्मा के प्रति प्रगाढ़ रुचि का आविर्भाव होता है और सांसारिक भोग नीरस प्रतीत होने लगते हैं।

वह प्राणी किसी प्रलोभन में पड़कर पर-मत की अथवा सांसारिक सुखों की अभिलाषा नहीं करता, अपितु उन आकांक्षाओं का त्याग कर नि:कांक्षित गुणधारी बनता है।

जो सांसारिक सुखों के बदले में सम्यक्त्व बेच देता है, वह छाछ के बदले में माणिक्य को बेच देने वाले मनुष्य के समान अपने को ठगता है। इंद्रियजन्य सुख वास्तविक सुख नहीं, तृष्णा की वृद्धि का कारण होने से दु:ख रूप ही हैं। ये भोग भुजंग से भी अधिक भयावह हैं क्योंकि भुजंग से डसा हुआ प्राणी एक ही बार मरता है जबकि भोग रूपी भुजंग से डसा हुआ प्राणी अनंत बार मृत्यु को प्राप्त होता है। ऐसा विचार करने वाले के हृदय में सांसारिक भोगों से अरुचि हो जाती है।

अभिलाषा तीन प्रकार की होती है- इहलोक संबंधी, परलोक संबंधी और कुधर्म संबंधी। इस लोक में चक्रवर्ती, बलदेव, धनाढ्य अथवा अनेक प्रकार के वैभव प्राप्त होने की वांछा करना इह लोक संबंधी अभिलाषा है। परभव में इन्द्र - प्रतीन्द्र आदि पदप्राप्ति की वांछा करना परलोक संबंधी अभिलाषा है। सांसारिक भोगों की प्राप्ति के लिए कुधर्म की वांछा करना कुधर्माभिलाषा है। ये तीनों प्रकार की अभिलाषाएँ सम्यग्दर्शन की घातक हैं। इसलिए सम्यग्दृष्टि सांसारिक भोगों के लिए तप का अनुष्ठान नहीं करता, अपितु कर्मनिर्जरा के लिए करता है। अत: नि:कांक्षित अंग का धारी होता है। सांसारिक वैभव के प्रलोभन से वह कभी अपने पद से च्युत नहीं होता। जैसे अनन्तमती, सुतारा, सीता आदि सन्नारियों का मन विचलित नहीं हुआ।

(२) अनन्तमती

अष्टाह्निका पर्व आया। प्रियदत्त सेठ ने धर्मकीर्ति मुनिराज के चरण-सान्निध्य में आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया, साथ में उसने प्रिय पुत्री अनंतमती को भी विनोदवश ब्रह्मचर्य व्रत दिला दिया।

उक्त घटना को घटे वर्ष बीत गये, अब अनंतमती में यौवन का संचार हो चला। उसके अंग-प्रत्यंग विकसित हो उठे। उसका सम्पूर्ण शरीर असाधारण सौन्दर्य की प्रतिमा के समान निखर उठा। परन्तु उसका मानस वैराग्य रंग से रंगा हुआ था। वह कभी-कभी अतिशय गम्भीर प्रतीत होती, मानों संसार के दुःख-दावानल से पार होने की चिंता में हो। इठलाता हुआ यौवन भी उसे भोगों में नहीं फँसा सका। उसकी वृत्तियाँ वस्तुतः आत्माभिमुखी थीं। जब माता-पिता ने उसके विवाह करने का आयोजन किया तो उसने इन्कार कर दिया और कहा - "पिताजी ! मैंने देव, शास्त्र, गुरु और माता-पिता की साक्षीपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत लिया है तब विवाह के आयोजन से क्या प्रयोजन है।"

अनंतमती के व्रत की दृढ़ता के कारण माता-पिता को विवाह का आयोजन समेटना पड़ा। अनंतमती ध्यान, स्वाध्याय में लीन रहकर आत्मशक्ति का विकास करने लगी।

एक दिन कामी कुण्डलमति विद्याधर की दृष्टि अनंतमती पर पड़ी। दृष्टि पड़ते ही उसका हृदय कामवेदना से व्यथित हो गया और उसका प्रतिकार करने के लिए उसने अनंतमती को उठाया और अपने विमान में बिठाकर चलता बना। थोड़ी ही दूर गया होगा कि उसे सामने आता हुआ अपनी स्त्री का विमान दिखाई दिया। पाप का घड़ा फूटता देखकर उसने अनंतमती को पर्णलघुनामकविद्या के सहारे भयंकर अटवी में छोड़ दिया। एक विपत्ति से छूटते ही दूसरी विपत्ति ने अनंतमती को घेर लिया। विद्याधर के हाथों से छूटी, परन्तु उसके पापकर्म ने भील राजा के हाथ में पहुँचा दिया। भील राजा ने प्रथम तो अनंतमती को सांसारिक सुखों का प्रलोभन देकर उसे अपने वश में करना चाहा, परन्तु जब देखा कि यह आँख उघाड़ करके भी मेरी तरफ नहीं देख रही है, तो अपने बाहुपाश से उसको पकड़ना चाहा, परन्तु सती के व्रत के प्रभाव से वनदेवता ने आकर भील राजा के शरीर में अग्नि लगा दी। अग्नि की ज्वाला से पीड़ित होकर भील राजा ने सुन्दरी से क्षमायाचना की। देवता का कोप शांत हुआ तो अनंतमती ने सोचा, 'अब मैं अपने माता - पिता के पास पहुँच जाऊँगी।' परन्तु विधाता को यह मंजूर नहीं था।

प्रातःकाल होते ही देवता के भय से भयभीत भीलराज ने अनन्तमती को एक सेठ के सुपुर्द कर कहा, "इस अनुपम सुन्दरी को इसके घर पहुँचा देना।"

अनंतमती के अनुपम रूप को देखकर सेठ का मन मयूर नाच उठा। वह सोचने लगा, "मेरे पुण्योदय से यह स्त्रीरत्न अनायास मेरे हाथ लग गया। अब यह मेरे पंजे से छूटकर नहीं जा सकती"। वह पापी अनंतमती से कहने लगा, "महाभाग्ये ! तेरे पुण्य ने एक पापी के हाथ से छुड़ा कर पुण्य पुरुष के हाथ

में तुझे सुपुर्द कर दिया। कहाँ तो यह तुम्हारा अनिन्द्य स्वर्गिक सौन्दर्य और कहाँ वह भील राक्षस जिसे देखते ही हृदय काँप उठता है। मैं तुझे देखकर कृतकृत्य हो गया। अपनी सारी सम्पदा की मैं तुझे स्वामिनी बनाता हूँ और मैं बनता हूँ तेरे चरणों का दास। मुझे अपने हृदय में जगह दोगी न !'' ऐसा कहकर उसने अपने बाहु-पाश फैलाये। स्त्री को लोग अबला, शक्तिहीन समझते हैं। परन्तु यह नहीं जानते कि स्त्री शक्तिहीन अबला नहीं। अपितु 'बलवन्तोऽपि पुरुषा यया निर्बला क्रियन्ते इति' बलवन्त महाशक्तिशाली पुरुष भी जिसके द्वारा शक्तिहीन कर दिये जाते हैं। जिसके तेजपुंज से इन्द्र का आसन भी डोल उठता है, वह अबला कैसे ?

उस अबला असहाय अनंतमती ने पादप्रहार किया उस पापी पर, जिससे वह जा गिरा चार हाथ दूर। निकलने लगी मुख से खून की धारा। वह उठ ही नहीं पाया था कि अनंतमती बरस पड़ी काली मेघ-घटा के समान।

''पापी ! नरपिशाच ! तुझे बोलते लज्जा नहीं आती, दंभी ! धर्म की ओट में शिकार करता है, बगुले सा भेष बनाये भोले प्राणियों को ठगता फिरता है, अधर्मी ! यदि अब दूसरी बार मुख से ये शब्द निकाले तो प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा।'' अनन्तमती के इस साहस से उसका हृदय काँप उठा। उस सती के अलौकिक तेज के सामने वह कुछ नहीं कर सका। परन्तु उसकी क्रोध अग्नि भभक गई। उसने अनंतमती को कामसेना वेश्या के हाथ में सौंप दिया।

कर्मों की विचित्रता है। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतकर्म शुभाशुभं' पूर्वोपार्जित शुभ-अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। कामसेना ने अनंतमती के प्रति धनवैभव का प्रलोभन, मारन-ताड़न आदि अनेक प्रयोग किये, परन्तु अनंतमती का मन मेरु अडोल रहा। ठीक ही है, जो संसार से भयभीत हैं, जिनका हृदय सम्यग्दर्शन के आलोक से आलोकित है, वे न्याय-प्राप्त सांसारिक भोगों से भी घबरा उठते हैं, तो अन्याय से प्राप्त की तो बात ही क्या है !

जब कामसेना ने देखा कि इस पर मेरा चक्र नहीं चलता तब वह उसको राजा सिंहव्रत के पास ले गयी और राजा से बोली, ''देव ! यह रमणीरत्न आपकी सेवा में अर्पित करने आयी हूँ, यह अनाघ्रात कलिका आपके भोग करने योग्य है। दासी ने इसे पाने के लिए अपार धन खर्च किया है।'' राजा उस दिव्य सुन्दरी को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने वेश्या को विपुल धनराशि प्रदान की। संध्या होते ही राजा अनंतमती से बोला - ''हे कमलमुखी ! तुम्हारे रूप के जादू ने मुझे विह्वल कर दिया है। मेरा मन-तन मेरे आधीन नहीं है। यह विशाल राज्य तेरे श्रीचरणों में अर्पित करता हूँ। तुम मेरी मनोकामना को पूर्ण करो।'' राजा ने क्या कहा उस पर अनंतमती का लक्ष्य नहीं था। वह अपने ध्यान में मग्न थी। उसके मुख पर अद्भुत तेज था, सतीत्व की किरणें फूट रही थीं सर्वांग से। ज्योंही राजा ने उसका स्पर्श करना चाहा कि उसकी पीठ पर धमाधम कोड़ों की वर्षा होने लगी। मारने वाला नहीं दीख रहा था। परन्तु मार के कारण मुख से रुधिर धारा निकल रही थी। हल्ला-गुल्ला सुनकर रानियाँ आ गईं, उन्होंने जान लिया कि कोई दैविक कोप

है। हाथ जोड़कर प्रार्थना की - "हे देवराज ! हमारे अपराधों को क्षमा करो।" तब शासनदेवता ने प्रत्यक्ष होकर कहा - "इस सती को कष्ट देने का फल आपको मिल चुका है। आप इस सती से क्षमायाचना करें।"

वहाँ से निकलकर अनंतमती जिनालय पहुँची और पद्मश्री आर्यिका के पास धर्मसाधना करती हुई रहने लगी।

अनंतमती के हरे जाने पर प्रियदत्त विह्वल हो उठा। काफी प्रयत्न करने पर भी जब अनंतमती के समाचार नहीं मिले तो वह मन शांत करने के लिए तीर्थयात्रा करने चल पड़ा। चलते-चलते अयोध्या नगरी में जा पहुँचा जहाँ उसका साला जिनदत्त रहता था।

रात्रि दुख-वार्तालाप से बीती। भानजी के वियोग की वार्त्ता से जिनदत्त का मन भी दुखित हुआ, परन्तु क्या कर सकता था। अनंतमती श्रावकों के घर भोजन करती और उनके कुछ कार्यों में मदद कर जिनमंदिर में चली जाती। आज भी वह जिनदत्त के घर चौक पूर भोजन कर मंदिर में चली गई।

प्रियदत्त जिनमंदिर में पूजन कर घर आया। आते ही उसकी दृष्टि चौक पर पड़ी। देखते ही उसे अनंतमती का स्मरण हो आया। झर-झर आँखों से पानी निकल पड़ा। सजल नेत्र और अवरुद्ध कण्ठ से बोला - "जिसने यह चौक पूरा है, क्या मुझ अभागे को उसके दर्शन होंगे।" जिनदत्त जिनमंदिर में गया और अनंतमती को अपने घर ले आया। पिता-पुत्री का मिलन एक अनूठा हर्षोल्लास था। सुख-दुःख मिश्रित आँसुओं से सेठ के कपोल भीग गये। जिनदत्त को भी अपनी भानजी के मिलने का अपार हर्ष हुआ और इतने दिन नहीं पहिचान पाने का अफसोस भी।

पिता ने पुत्री को घर चलने का आग्रह किया, परन्तु अनंतमती ने घर जाना स्वीकार नहीं किया और पिता के देखते-देखते अपने नीलमणि के समान काले केशों को उसने हाथ से उखाड़ कर फेंक दिया और श्वेत साटिका धारण कर पद्मश्री आर्यिका के पास दीक्षा ग्रहण कर मुक्ति-पथगामिनी बन गई। अन्त में, स्त्रीलिंग छेद कर सहस्रार स्वर्ग में देव हुई। कितने कष्ट आने पर तथा सांसारिक भोगों का प्रलोभन मिलने पर भी अनंतमती अपने व्रत से च्युत नहीं हुई। ठीक ही है, जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन रूपी चिन्तामणि है, काय में व्रत रूपी कल्पवृक्ष है, वचन में सत्यरूपी कामधेनु है, उसे अन्य सांसारिक भोगों में रुचि कैसे हो सकती है ! भोग कर्माधीन हैं, अन्त सहित हैं, दुःखों से मिश्रित हैं और पाप के बीजभूत हैं।

सीता

संसार की असारता को जानकर दशरथ ने संसार से विरक्त हो जिनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करने का विचार किया तथा मंत्रीगण को बुलाकर आदेश दिया कि राम के राज्याभिषेक की तैयारी करें। राम के राज्याभिषेक और पिता के तपोवन जाने का समाचार सुन भरत दीक्षा लेने के लिए तत्पर हुआ। पति और

पुत्र के वियोग के दुःख से खिन्न हुई कैकेयी ने राजा दशरथ के पास जाकर हाथ जोड़ प्रार्थना की - "हे पतिदेव, आपकी धरोहर में मेरे पास वर पड़ा है। उसकी इस समय याचना करती हूँ। आशा है, आप उसकी पूर्ति करेंगे।" दशरथ ने कहा - "प्रिये ! माँगो, क्या माँगती हो ?" राजा की आज्ञा पाकर कैकेयी ने कहा - "नाथ ! आपके गृहवास छोड़कर चले जाने पर भरत भी मुनिपद स्वीकार करेगा। आप जानते हैं कि स्त्री की रक्षा तीन ही करते हैं - पिता, पुत्र और पति। स्वामिन् ! पिता तो स्वर्गलोक सिधार गये। पति और पुत्र दीक्षा ले रहे हैं। आप ही बताइये कि मुझ अबला का सहारा कौन है। अतः हे नाथ ! मेरे पुत्र को राज्य प्रदान कीजिये।"

तब दशरथ ने कहा - "इसमें लज्जा की बात क्या है ! जैसा तुम चाहती हो वैसा ही होगा।"

उसी समय दशरथ ने राम को बुलाकर खिन्नचित्त से कहा - "हे वत्स ! कला की पारगामिनी, चतुर कैकेयी ने एक बार युद्ध में सारथी का काम कर मेरी रक्षा की थी। उस समय मैंने सभी के समक्ष इसे वर माँगने के लिए कहा था, सो आज यह अपने पुत्र के लिए राज्य माँग रही है ! यदि बड़े पुत्र को राज्य देता हूँ तो मेरी प्रतिज्ञा भंग होती है और यदि छोटे पुत्र को राज्य देता हूँ तो मर्यादा नष्ट होती है। क्योंकि बड़े पुत्र के रहते हुए छोटे पुत्र को राज्य देना मर्यादा का उल्लंघन करना है तथा भरत को राज्य देने पर परम तेज को धारण करने वाले तुम लक्ष्मण के साथ कहाँ जाओगे, यह मैं नहीं जानता। तुम पंडित हो अतः बताओ इस दुःखपूर्ण स्थिति में अब मैं क्या करूँ ?"

प्रसन्नमन राम पिता के चरणों में दृष्टि लगाये हुए विनयपूर्वक निवेदन करते हैं -

"पिताजी ! मेरी चिन्ता छोड़िये। यदि आपकी अपकीर्ति हो तो मुझे इन्द्र की लक्ष्मी से भी क्या प्रयोजन ? जो पिता को पवित्र करे और शोक से उनको मुक्त करे, पुत्र का यही पुत्रपना है।"

इतना कहकर रामचन्द्र पिता को नमस्कार कर वहाँ से चले गए। उसी क्षण दशरथ मूर्च्छा को प्राप्त हो गये।

अपराजिता (कौशल्या) के महल में जाकर राम ने अपनी माता को सारी वार्त्ता कही। विह्वल हुई माता को समझाकर सीता के पास गये। कितनी बार समझाने पर भी सीता ने उनकी एक नहीं सुनी और चल पड़ी छाया के समान उनके पीछे-पीछे। भ्रातृप्रेम से लक्ष्मण भी महल से निकलकर भ्राता और भावज के अनुगामी बने।

जंगल-नदी-पर्वतों का उल्लंघन करते-करते सिंहोदर का मान मर्दन कर, वज्रकर्ण की रक्षा करते हुए, भरत के शत्रुओं को पराजित कर, भरत के राज्य की रक्षा करते तथा वनमाला, कल्याणमाला आदि के साथ विवाह कर सांसारिक सुखों का अनुभव करते हुए वंशस्थल गिरि पर जाकर कुलभूषण, देशभूषण मुनि का उपसर्ग दूर किया।

चलते-चलते दण्डक वन में पहुँचते हैं और मुनिराज को आहार दान कर महान् पुण्य उपार्जन करते हैं।

पुण्य-पाप, सुख-दुःख, आपत्ति-विपत्ति, हर्ष-क्षोभ में मानव कभी सुखी, कभी दुःखी होता है।

इन पुण्य-पाप की गलियों में भटकते राम लक्ष्मण एक अटवी में पहुँचते हैं। वहाँ उनको सूर्यहास खड्ग की प्राप्ति, शंभु का मरण तथा चन्द्रनखा का राम पर मोहित होना, खरदूषण का युद्ध और युद्ध में आये हुए रावण का सीता पर मोहित होकर सीता का हरण कर लेना आदि घटनायें घटती हैं।

सीता पर वज्रपात हो गया, वह बिलख-बिलख कर रो रही है। जिनेन्द्र देव के सिवाय कोई रक्षक नहीं है। तीन खण्ड का अधिपति अपने वैभव का प्रलोभन देता है। प्रलोभन से जब सीता को लुभा नहीं सका, तब भयंकर रूप धारण कर जितना हो सका, सीता को भयभीत करने का प्रयत्न किया, परन्तु सीता के मन मेरु को विचलित नहीं कर सका। सीता अपने शील संयम पर अडिग रही। तीन खण्ड के राज्य का प्रलोभन उसको अपने व्रत से च्युत नहीं कर सका। सीता की निर्भयता से श्री श्रुतसागर ने निःकांक्षित अंग में उसका नामोल्लेख किया है। जिसका हृदय सम्यग्दर्शन से प्लावित है, संसार-शरीर-भोगों से जिसको विरक्ति है, निःकांक्षित अंग में मन रंगा हुआ है, उसको सांसारिक भोगों का प्रलोभन झुका नहीं सकता।

स्वभाव से अपवित्र परंतु रत्नत्रय से पवित्र मुनिराज के मलिन शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना, धर्म भावना से प्रेरित होकर, उनकी वैयावृत्ति करना निर्जुगुप्सा अंग है। इसका दूसरा नाम निर्विचिकित्सा भी है। चिकित्सा द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की है। उस चिकित्सा का नहीं होना निर्विचिकित्सा है। भेदाभेद रत्नत्रय के धारक भव्य जीवों के दुर्गन्धित मल-मूत्र आदि को देखकर उससे ग्लानि नहीं करना, उनकी वैयावृत्ति उनके दुःख को दूर करने की चेष्टा करना द्रव्य **निर्विचिकित्सा** है।

क्षुधादि परिषहों के आने पर धर्म से च्युत नहीं होना और सांसारिक अभ्युदयों के लिए जिनधर्म से विमुख होकर अन्य धर्म की प्रशंसा नहीं करना **भाव निर्विचिकित्सा** है।

निश्चय और व्यवहार के भेद से निर्विचिकित्सा दो प्रकार की है, **द्रव्यसंग्रह** में लिखा है कि सारे रागद्वेष आदि विकल्प - रूप तरंगों का त्याग कर, निर्मल आत्मानुभूति लक्षण निज शुद्धात्मा में स्थिर होना **निश्चय निर्विचिकित्सा** है तथा मलमूत्र आदि से ग्लानि नहीं करना **व्यवहार निर्विचिकित्सा** है।

उद्दायन राजा

सौधर्म स्वर्ग में देवसभा चल रही थी और इन्द्र महाराज देवों को सम्यग्दर्शन की महिमा समझा रहे थे - अहो ! सम्यग्दर्शन में आत्मा का कोई अपूर्व सुख होता है। इस सुख के सामने स्वर्ग के वैभव की कोई गिनती नहीं है, इस स्वर्ग लोक में साधु दशा नहीं हो सकती, परन्तु सम्यग्दर्शन की आराधना तो यहाँ पर भी हो सकती है।

मनुष्य तो सम्यग्दर्शन की आराधना के पश्चात् चारित्र दशा प्रगट करके मोक्ष भी पा सकते हैं। सच में जो जीव निःशंकता, निःकांक्षिता, निर्विचिकित्सा इत्यादि आठ अंग सहित सम्यग्दर्शन के धारक होते हैं, वे धन्य हैं। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीवों की हम यहाँ स्वर्ग में भी प्रशंसा करते हैं।

इस समय कच्छ देश में उद्दायन नामक राजा अभी सम्यग्दर्शन से सुशोभित है और सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का वे पालन करते हैं, उसमें भी निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने में वे बहुत दृढ़ हैं। मुनिवरों की सेवा में वे इतने तत्पर हैं कि कैसे भी रोगादि हों तो भी वे जरा भी जुगुप्सा नहीं करते और घृणा बिना, परम भक्ति से धर्मात्माओं की सेवा करते हैं, धन्य है उन्हें, अहो उन चरम शरीरी को।

राजा के गुणों की ऐसी प्रशंसा सुनकर वासव नामक एक देव के मन में उन्हें देखने की इच्छा हुई और वह स्वर्ग से उतरकर मनुष्यलोक में आया।

इधर उद्दायन राजा एक मुनिराज को देखकर भक्तिपूर्वक आहारदान के लिए पड़गाह रहे हैं। हे स्वामी..... हे स्वामी.... हे स्वामी..... पश्चात् रानी सहित उद्दायन राजा नवधा भक्ति पूर्वक मुनिराज को आहार देने लगे।

अरे ! लेकिन यह क्या ? बहुत से लोग मुनिवेषधारी वासवदेव से दूर भागने लगे। बहुतों ने तो अपने चेहरे को कपड़े से ढक लिया, क्योंकि मुनि के काने-कुबड़े शरीर में भयंकर कोढ़ रोग हुआ था और उसमें से असह्य दुर्गन्ध आ रही थी, हाथ-पैरों से पीप बह रही थी।

परन्तु राजा का इस पर कोई लक्ष्य नहीं था, वे तो प्रसन्न होकर परम भक्ति से एकचित्त होकर आहार दे रहे थे और स्वयं को धन्य मान रहे थे - अहो ! रत्नत्रयधारी मुनिराज मेरे आँगन में आये हैं। इनकी सेवा से मेरा जीवन सफल हो गया।

इतने में मुनिराज के पेट में अचानक गड़बड़ी हुई और उनको एकाएक उलटी हुई। वह दुर्गन्ध भरी उलटी राजा-रानी के शरीर पर जा गिरी। अचानक दुर्गन्ध भरी उलटी उनके शरीर पर गिरने से भी राजा - रानी को किंचित् भी ग्लानि नहीं हुई और मुनिराज के प्रति जरा भी घृणा नहीं आई, बल्कि अत्यन्त सावधानीपूर्वक वे मुनिराज के दुर्गन्धमय शरीर को साफ करने लगे और उनके मन में ऐसा विचार आया - अरे रे ! हमारे आहारदान में अवश्य कोई भूल हुई होगी, जिस कारण से मुनिराज को इतना कष्ट हुआ, मुनिराज की पूर्ण सेवा हम से नहीं हो सकी।

वास्तव में, किसी मुनिराज को कष्ट नहीं पहुँचा, ऐसा जानकर राजा का चित्त प्रसन्न हो गया और वे कहने लगे - हे देव ! यह मनुष्य शरीर तो स्वभाव से ही मलिन है और रोगों का घर है। यह अचेतन शरीर मलिन हो तो भी उसमें आत्मा का क्या ! धर्मी वा आत्मा तो सम्यक्त्वादि पवित्र गुणों से ही शोभित होता है। शरीर की मलिनता देखकर धर्मात्मा के गुणों के प्रति जो ग्लानि करते हैं, उन्हें आत्मा की दृष्टि

नहीं होती, परन्तु देह की दृष्टि होती है। अरे चमड़े के शरीर से ढका हुआ आत्मा अन्दर सम्यग्दर्शन के प्रभाव से शोभायमान हो रहा है, वह प्रशंसनीय है।

राजा उद्दायन की यह उत्तम बात सुनकर देव बहुत प्रसन्न हुआ और उसने राजा को अनेक विद्यायें दीं, वस्त्राभूषण दिये। ❖

अज्ञानीजन के चित्त में विस्मय उत्पन्न करने वाले, मिथ्यादृष्टियों द्वारा निर्मित रसायनादिक शास्त्रों को देखकर वा सुनकर उनमें मूढ़ भाव से धर्मबुद्धि करके उनके प्रति भक्ति या प्रीति नहीं करना अमूढ़दृष्टित्व है।

लौकिक, वैदिक, सामाजिक और अन्यदेव मूढ़ता के भेद से मूढ़ता चार प्रकार की है, जिसका समावेश तीन प्रकार की मूढ़ता में किया है। ये सारी मूढ़ता सम्यग्दर्शन की घातक हैं। इन मूढ़ताओं से मन का रहित होना अमूढ़दृष्टि है। यह अमूढ़दृष्टि अंग निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। उपरिकथित चार प्रकार की मूढ़ता का त्याग करना वा कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की मन, वचन, काय से प्रशंसा, स्तुति, सेवा आदि नहीं करना अर्थात् कुगुरु, कुदेव, कुधर्म में मन से सम्मत नहीं होना, वचन से स्तुति नहीं करना और काय से सराहना नहीं करना व्यवहार अमूढ़दृष्टि अंग है।

व्यवहार अमूढ़दृष्टि गुण के प्रसाद से जब अंतरंग और बहिरंग तत्त्व का निश्चय हो जाता है, तब जीव संपूर्ण मिथ्यात्व, रागादि शुभाशुभ संकल्प - विकल्पों में इष्ट बुद्धि को छोड़कर त्रिगुप्ति से विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावी निजात्मा में निश्चल अवस्थान करता है। चेतयिता समस्त विभाव भावों में अमूढ़ होकर अपने आप में लीन होता है, यह निश्चय अमूढ़त्व है।

सम्यग्दृष्टि की प्रत्येक विचारणा और प्रवृत्ति विवेकपूर्ण होती है, उसने अपने जीवन का जो प्रशस्त लक्ष्य नियत कर लिया है, उसकी ओर आगे बढ़ने में सहायक विचार और व्यवहार को ही वह अपनाता है। वह किसी का अंधानुकरण नहीं करता, अपितु सोच-विचार कर प्रत्येक कार्य करता है। क्योंकि देव, गुरु और धर्म के विषय में भ्रमपूर्ण या विपरीत धारणा होने से मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है। मानव अज्ञानवश यह समझने में असमर्थ हो जाता है कि आराध्य देव कैसा पावन, पवित्र, संपूर्ण ज्ञानमय और सर्वथा निर्विकार होना चाहिए। शास्त्र का लक्षण क्या है ? शास्त्र का अर्थ किस प्रकार लगाना चाहिए ? शास्त्रकथित अर्थ पर कैसा दृढ़ विश्वास होना चाहिए ? गुरु का स्वरूप कैसा है और धर्म का स्वरूप क्या है ?

यदि देव और शास्त्र निर्दोष न हों तो प्राणियों की क्रिया भी वास्तविक फल को नहीं देती, जैसे विजातियों में कुलीन संतान की प्राप्ति नहीं होती। अतः देव, धर्म, शास्त्र और गुरु के विषय में मूढ़ नहीं बनना, जैसे रेवती रानी ब्रह्मा, विष्णु, शिव और जिन भगवान के रूप में देव के पधारने पर भी मूर्ख नहीं बनी।

रेवती रानी

भरत क्षेत्र के मध्यस्थ विजयार्ध पर्वत पर रहने वाले विद्याधरों के स्वामी राजा चन्द्रसेन संसार - शरीर-भोगों से विरक्त होकर राज्य-भार पुत्रों को सौंपकर सर्व तीर्थों की वन्दना करते हुए दक्षिण देश में आये। वहाँ उन्होंने गुप्ताचार्य मुनिराज की वन्दना करके क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। एक दिन उन्होंने मथुरा की यात्रा करने का विचार किया। दक्षिण मथुरा नगरी का राजा वरुण था, उनकी रानी का नाम रेवती था।

चन्द्रसेन नामक क्षुल्लक महाराज ने मथुरा जाने की इच्छा गुप्ताचार्य के समक्ष प्रगट की और आज्ञा मांगी तथा वहाँ पर विद्यमान संघ के लिए कोई सन्देश देने के संबंध में पूछा। आचार्यदेव ने कहा कि रत्नत्रय में रत श्रुतसागर मुनिराज को वात्सल्य पूर्वक 'नमोस्तु' तथा सम्यक्त्वशालिनी रेवती रानी को धर्मवृद्धिपूर्वक आशीर्वाद कहना।

इस प्रकार आचार्यदेव ने श्रुतसागर मुनिराज को नमोस्तु तथा रेवती रानी को धर्मवृद्धि पूर्वक आशीर्वाद कहा, परन्तु ग्यारह अंग के पाठी भव्यसेन को कुछ भी नहीं कहा, इस पर चन्द्रसेन को बहुत आश्चर्य हुआ, फिर भी आचार्य महाराज को स्मरण कराने के उद्देश्य से उसने पूछा - ''क्या अन्य भी किसी को कुछ कहना है ?''

परन्तु आचार्यदेव ने इस पर विशेष कुछ नहीं कहा। इससे चन्द्रसेन को ऐसा लगा कि इसमें कोई गुप्त रहस्य है, इसका निर्णय वहाँ जाकर ही होगा।

गुरु का आशीर्वाद लेकर चन्द्रसेन मथुरा पहुँचे तथा सर्व प्रथम ज्ञान, ध्यान एवं तप में लवलीन श्रुतसागर मुनिराज के दर्शन किये और भक्तिपूर्वक गुप्ताचार्य मुनिराज का नमोस्तु कहा। श्रुतसागर महाराज ने वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर प्रति नमोस्तु किया। उनका हृदय गद्गद हो गया। तदनन्तर वह चन्द्रसेन ब्रह्मचारी का रूप धारण कर भव्यसेन मुनि के समीप पहुँचा और उनको नमोस्तु कहा, परन्तु भव्यसेन ने दृष्टि उठाकर भी नहीं देखा और न आशीर्वाद दिया।

उनकी क्रिया देखकर चन्द्रसेन ने जान लिया कि यह वास्तव में अभव्यसेन है, फिर भी इसकी परीक्षा करनी चाहिए।

दूसरे दिन जब भव्यसेन शुचि करने के लिए जंगल में जाने लगे तब चन्द्रसेन उनका कमण्डलु लेकर उनके पीछे-पीछे चलने लगा तथा उनके साथ वार्तालाप करके 'उनके समान है', ऐसा विश्वास दिला दिया।

कुछ दूर जाने के बाद चन्द्रसेन ने अपनी विद्या के बल से सारे मार्ग को हरितांकुर से व्याप्त कर दिया। परन्तु भव्यसेन मुनि उस अंकुरित भूमि पर निःशंक होकर चलने लगे। चन्द्रसेन ने उनके कमण्डलु का पानी सुखा दिया और सामने निर्मल जल से भरे हुए एक तालाब की रचना कर दी। भव्यसेन मुनि ने उस तालाब से अप्रासुक पानी उपयोग में ले लिया। यद्यपि वे शास्त्र पढ़ते थे फिर भी शास्त्रानुसार उनका

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आचरण नहीं था। मुनि को नहीं करने योग्य प्रवृत्ति वे करते थे। यह सब अपनी आँखों से देख कर चन्द्रसेन की समझ में आ गया कि ये भव्यसेन मुनि चाहे जितने प्रसिद्ध हों परन्तु सच्चे मुनि नहीं हैं तो फिर गुप्ताचार्य उन्हें क्यों याद करेंगे ? सच में, उन चतुर आचार्यदेव ने योग्य ही किया।

इस प्रकार चन्द्रसेन ने मुनि श्रुतसागर और भव्यसेन मुनि की स्वयं आँखों से देख कर परीक्षा की। रेवती रानी को भी आचार्य महाराज ने धर्मवृद्धि का आशीर्वाद कहा है, इसलिए इनकी भी परीक्षा करनी चाहिए, ऐसा उसके मन में विचार आया।

अगले दिन मथुरा नगरी के उद्यान में अकस्मात् साक्षात् ब्रह्मा प्रगट हुए। इस सृष्टि के कर्त्ता साक्षात् आये हैं, वे कह रहे हैं - "मैं इस सृष्टि का कर्त्ता हूँ और दर्शन देने के लिए आया हूँ।"

यह बात नगरजनों में फैल गई। नगरजनों की टोलियाँ उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ीं और उन्हें गाँव में लाने की चर्चा हुई।

मूढ़ लोगों का तो क्या कहना ? बहु-भाग लोग इन ब्रह्माजी के दर्शन करने आये। प्रसिद्ध भव्यसेन मुनि भी कुतूहलवश उस जगह आये। नहीं आये तो सिर्फ श्रुतसागर मुनि और रेवती रानी।

जैसे ही राजा ने साक्षात् ब्रह्मा की बात की, वैसे ही महारानी रेवती ने नि:शंकपने से कहा - महाराज! ये कोई ब्रह्मा हो ही नहीं सकते, किसी मायाचारी ने इन्द्रजाल खड़ा किया है, क्योंकि कोई ब्रह्मा या कोई अन्य भी इस सृष्टि का कर्त्ता है ही नहीं। साक्षात् ब्रह्मा तो अपना ज्ञानस्वरूप आत्मा है अथवा भरतक्षेत्र में भगवान ऋषभदेव ने मोक्षमार्ग की रचना की इसलिए उन्हें आदिब्रह्मा कहते हैं। इनके अतिरिक्त दूसरा कोई ब्रह्मा है ही नहीं जिसे मैं वन्दन करूँ।

दूसरे दिन मथुरा नगरी में एक अन्य दरवाजे से नागशय्या पर विराजमान विष्णु भगवान प्रगट हुए, जो अनेक अलंकर पहने हुए थे। उनके चारों हाथों में शस्त्र थे। लोगों में फिर हलचल मच गई। लोग बिना कोई विचार किये पुन: उस तरफ भागे, वे कहने लगे, "अहा ! मथुरा नगरी का भाग्य खुल गया है, कल साक्षात् ब्रह्मा ने दर्शन दिये और आज विष्णु भगवान पधारे हैं।" राजा को ऐसा लगा कि आज रानी अवश्य जायेगी इसलिए उन्होंने स्वयं रानी से बात की, परन्तु रेवती रानी तो वीतरागदेव की शरण में ही समर्पित थी, उसका मन जरा भी नहीं डिगा।

श्रीकृष्ण आदि नौ विष्णु (वासुदेव) होते हैं और वे तो चौथे काल में हो चुके। दसवाँ विष्णु या नारायण होता नहीं। इसलिए अवश्य ये सब बनावटी हैं क्योंकि जिनवाणी मिथ्या नहीं होती। इस प्रकार जिनवाणी की दृढ़ श्रद्धापूर्वक अमूढ़दृष्टि अंग से वह जरा भी विचलित नहीं हुई।

तीसरे दिन वहाँ एक नई बात हुई। ब्रह्मा और विष्णु के बाद आज तो पार्वती सहित जटाधारी महादेव शंकर प्रगटे। गाँव के बहुत लोग उनके दर्शन करने चल दिये, कोई भक्ति से गया तो कोई कौतूहल

से गया, परन्तु जिसके रोम-रोम में वीतराग देव बसे हुए हैं ऐसी रेवती रानी पर तो कुछ भी असर नहीं हुआ। उसे कोई आश्चर्य भी नहीं हुआ, उल्टे उसे तो लोगों पर दया आई।

रेवती रानी सोचने लगी - "अरे रे ! परम वीतराग सर्वज्ञदेव, मोक्षमार्ग को दिखाने वाले भगवान को भूल कर मूढ़ता से लोग इन्द्रजाल में कैसे फँस रहे हैं ? सच में भगवान अरहंत देव का मार्ग प्राप्त होना जीवों को बहुत दुर्लभ है।"

अहो आश्चर्य ! अब चौथे दिन तो मथुरा के विशाल प्रांगण में साक्षात् तीर्थंकर भगवान प्रकट हुए। अद्भुत समवसरण की रचना, गंधकुटी जैसा दृश्य और उसमें चतुर्मुख सहित विराजमान तीर्थंकर भगवान। लोग फिर दर्शन करने दौड़े।

राजा ने सोचा - इस बार तो तीर्थंकर भगवान आये हैं, इसलिए रेवती रानी अवश्य जायेगी।

परन्तु रेवती रानी ने कहा - "हे महाराज ! अभी इस पंचम काल में तीर्थंकर कैसे ? भगवान ने इस भरतक्षेत्र में एक कालखण्ड में चौबीस तीर्थंकर होने का ही विधान कहा है और वे ऋषभ से लेकर महावीर पर्यंत चौबीस तीर्थंकर मोक्ष चले गये हैं। यह पच्चीसवाँ तीर्थंकर कैसा ? यह तो किसी कपटी का मायाजाल है। मूढ़ लोग देव के स्वरूप का विचार करते नहीं और एक के पीछे एक दौड़े चले जा रहे हैं।"

बस, परीक्षा हो चुकी। विद्याधर राजा को निश्चय हो गया कि रेवती रानी की जो प्रशंसा श्री गुप्ताचार्य ने की थी वह यथार्थ ही है। यह तो सम्यक्त्व के सर्व अंगों से शोभायमान है।

क्या पवन से कभी मेरु पर्वत हिलता है ? नहीं, उस सम्यग्दर्शन में मेरु जैसा अकम्प सम्यग्दृष्टि जीव कुधर्म रूपी पवन से जरा भी डिगता नहीं, देव-गुरु-धर्म सम्बन्धी मूढ़ता उसे होती नहीं, उनकी उचित पहिचान करके सच्चे वीतराग देव-गुरु-धर्म को ही वह नमन करता है।

रेवती रानी की ऐसी दृढ़ धर्मश्रद्धा देखकर विद्याधर राजा चन्द्रसेन को बहुत प्रसन्नता हुई, तब अपने असली स्वरूप में प्रगट होकर उसने कहा, "माता ! मुझे क्षमा करो। चार दिन से इन ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, तीर्थंकर इत्यादि का इन्द्रजाल मैंने ही खड़ा किया था। पूज्य श्री गुप्ताचार्य महाराज ने आपके सम्यक्त्व की प्रशंसा की थी, इसलिए आपकी परीक्षा करने के लिए ही मैंने यह सब किया था। अहा ! धन्य है आपके अमूढ़दृष्टि अंग को, हे माता ! आपके सम्यक्त्व की प्रशंसापूर्वक श्री गुप्ताचार्य महाराज ने आपके लिए धर्मवृद्धि का आशीर्वाद भेजा है।"

अहो ! मुनिराज के आशीर्वाद की बात सुनते ही रेवती रानी को अपार हर्ष हुआ। हर्ष से गद्गद होकर उन्होंने यह आशीर्वाद स्वीकार किया और जिस दिशा में मुनिराज विराजित थे उस तरफ सात पाँव चल कर परम भक्ति से मस्तक नवा कर उन मुनिराज को परोक्ष नमस्कार किया।

विद्याधर राजा ने रेवती माता का बहुत सम्मान किया और उनकी प्रशंसा करके सम्पूर्ण नगरी में उनकी महिमा फैला दी। राजमाता की ऐसी दृढ़ श्रद्धा और जिनमार्ग की ऐसी महिमा देख कर मथुरा नगरी के कितने ही जीव कुमार्ग छोड़कर जिनधर्म के भक्त बन गये और बहुत से जीवों की श्रद्धा दृढ़ हो गई।

वीतराग देव द्वारा कथित स्वयंशुद्ध मोक्षमार्ग में मूर्ख वा अशक्त जनों के द्वारा लगाये हुए दोषों का आच्छादन करना उनको प्रगट न करना **उपगूहन अंग** है। उपगूहन, उपवृंहण यह इस अंग के दो नाम हैं। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि के द्वारा स्वकीय धर्म की वृद्धि करना उपवृंहण तथा जैसे माता अपने पुत्र के अपराध को छिपाती है, वैसे ही यदि धर्मात्माओं के द्वारा दैववश या प्रमादवश कोई अपराध बन गया हो तो उसे छिपाना, प्रकट नहीं करना, जिनेन्द्रकथित उपगूहन अंग है, सम्यग्दर्शन की वृद्धि करने वाला है।

जिनभक्त सेठ

पादलिप्त नगर में एक सेठ रहता था, वह महान् जिनभक्त था, सम्यक्त्व का धारक था और धर्मात्माओं के गुणों की वृद्धि तथा दोषों का उपगूहन करने के लिए प्रसिद्ध था। पुण्य प्रताप से वह बहुत वैभव - सम्पन्न था। उसका सात मंजिला महल था। वहाँ सबसे ऊपर के भाग में उसने एक अद्भुत चैत्यालय बनाया था। उसमें बहुमूल्य रत्नों से बनाई हुई भगवान पार्श्वनाथ की मनोहर मूर्ति थी। उसके रत्नजड़ित तीन छत्र थे। उनमें एक नीलम रत्न बहुत ही कीमती थी। वह अन्धेरे में भी जगमगाता था। उस समय सौराष्ट्र के पाटलीपुत्र नगर का राजकुमार सुवीर कुसंगति से दुराचारी तथा चोर हो गया था, वह एक बार सेठ के जिनमन्दिर में आया। वहाँ उसका मन ललचाया-भगवान की भक्ति के कारण नहीं बल्कि कीमती नीलम रत्न की चोरी करने के भाव से।

उसने चोरों की सभा में घोषणा की कि जो कोई उस जिनभक्त सेठ के महल से कीमती नीलम रत्न लेकर आयेगा उसे बड़ा इनाम मिलेगा।

सूर्य नामक एक चोर उसके लिए तैयार हो गया। उसने कहा - "अरे ! इन्द्र के मुकुट में लगा हुआ रत्न भी मैं क्षण भर में लाकर दे सकता हूँ तो यह कौन सी बड़ी बात है !"

लेकिन महल से उस रत्न की चोरी करना कोई सरल बात नहीं थी। वह चोर किसी भी तरह से वहाँ पहुँच नहीं पाया। इसलिए अन्त में एक त्यागी ब्रह्मचारी का कपटी वेश धारण करके वह उस सेठ के यहाँ पहुँचा। उस त्यागी बने चोर में वक्तृत्व की अच्छी कला थी। जिस किसी से वह बात करता उसे अपनी तरफ आकर्षित कर लेता, उसी तरह व्रत उपवास इत्यादि को दिखा-दिखा कर लोगों में उसने प्रसिद्धि भी पा ली थी तथा उसे धर्मात्मा समझकर जिनभक्त सेठ ने स्वयं चैत्यालय की देखरेख का काम उसे सौंप दिया।

सूर्य चोर तो उस नीलम मणि को देखते ही आनन्दविभोर हो गया और विचार करने लगा - "कब मौका मिले और कब इसे लेकर भागूँ ?"

इन्हीं दिनों सेठ को बाहर गाँव जाना था। इसलिए उस बनावटी ब्रह्मचारी श्रावक से चैत्यालय संभालने के बारे में कह कर सेठ चले गये। जब रात होने लगी तो गाँव से थोड़ी दूर जाकर उन्होंने पड़ाव डाला।

रात हो गई तो इधर सूर्य चोर उठा.... उसने नीलम मणि रत्न को जेब में रखा और भागने लगा, परन्तु नीलम मणि का प्रकाश छिपा नहीं, वह अन्धेरे में भी जगमगाता था। इससे चौकीदारों को शंका हुई और वे उसे पकड़ने के लिए उसके पीछे दौड़ पड़े।

"अरे.... मन्दिर के नीलम मणि की चोरी करके चोर भाग रहा है। पकड़ो-पकड़ो" चारों ओर सिपाहियों ने हल्ला मचाया। इधर सूर्य चोर को भागने का कोई मार्ग नहीं रहा, इसलिए वह तो जहाँ जिनभक्त सेठ का पड़ाव था, वहीं पर घुस गया। चौकीदार चिल्लाते हुए चोर को पकड़ने के लिए पीछे से आये। सेठ सब कुछ समझ गया, "अरे ! ये भाई साहब चोर हैं, त्यागी नहीं।"

"लेकिन त्यागी के रूप में प्रसिद्ध यह मनुष्य चोर है, ऐसा लोगों में प्रसिद्ध हुआ तो धर्म की बहुत निन्दा होगी ऐसा विचार कर बुद्धिमान सेठ ने चौकीदारों को रोक कर कहा, "अरे ! तुम लोग यह क्या कर रहे हो ? यह कोई चोर नहीं है। यह तो धर्मात्मा है। नीलममणि लाने के लिए तो मैंने उसे कहा था तुम गलती से इसे चोर समझ कर हैरान कर रहे हो।"

सेठ की बात सुन कर लोग चुपचाप वापिस चले गये। इस तरह एक मूर्ख मनुष्य की भूल के कारण होने वाली धर्म की बदनामी बच गयी।

इसे ही उपगूहन अंग कहते हैं। जैसे एक मेंढक दूषित होने से सम्पूर्ण समुद्र गन्दा नहीं होता, उसी प्रकार किसी असमर्थ निर्बल मनुष्य के द्वारा छोटी-सी भूल हो जाने पर पवित्र जिनधर्म मलिन नहीं हो जाता। जिस तरह माता इच्छा करती है कि मेरा पुत्र उत्तम गुणवान हो, फिर भी पुत्र में कोई छोटा-बड़ा दोष देख कर वह उसे प्रसिद्ध नहीं करती, परन्तु ऐसा उपाय करती है कि उसके गुण की वृद्धि हो; उसी प्रकार धर्मात्मा भी धर्म में कोई अपवाद हो, ऐसा कार्य नहीं करते परन्तु धर्म की प्रभावना हो वही करते हैं। यदि कभी किसी गुणवान धर्मात्मा में कदाचित् दोष आ जाय तो उसे गौण करके उसके गुणों को मुख्य करते हैं और एकान्त में बुला कर उसे प्रेम से समझाते हैं, जिससे उसका दोष दूर हो और धर्म की शोभा बढ़े।

उसी प्रकार, यहाँ जब सभी लोग चले गये तो बाद में जिनभक्त सेठ ने भी उस सूर्य नामक चोर को एकान्त में बुलाकर उलाहना दिया और कहा "भाई ! ऐसा पाप कार्य तुम्हें शोभा नहीं देता। विचार तो कर कि तू यदि पकड़ा जाता तो तुझे कितना दुख भोगना पड़ता तथा इससे जैनधर्म की भी कितनी बदनामी होती। लोग कहते कि जैन धर्म के त्यागी ब्रह्मचारी भी चोरी करते हैं, इसलिए इस धन्धे को तू छोड़ दे।"

वह चोर भी सेठ के ऐसे उत्तम व्यवहार से लज्जित हुआ। स्वयं के अपराध की माफी माँगते हुए

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उसने कहा - "सेठजी ! आपने ही मुझे बचाया है। आप जैनधर्म के सच्चे भक्त हो। लोगों के समक्ष आपने मुझे सज्जन धर्मात्मा कह कर पहचान करायी अत: मैं भी चोरी छोड़कर सच्चा धर्मात्मा बनने का प्रयत्न करूंगा। सच में, जैनधर्म महान् है और आपके जैसे सम्यग्दृष्टि जीवों को ही वह शोभा देता है।"

इस प्रकार उस सेठ के उपगूहन गुण से धर्म की प्रभावना हुई।

वारिषेण

जिनधर्म से अथवा सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र से च्युत होते हुए प्राणियों अथवा स्वयं अपने आप को जिनधर्म में स्थिर करना **स्थितीकरण** अंग है।

मगध देश के राजा श्रेणिक की प्राणप्रिया चेलना की कुक्षि से उत्पन्न कुमार वारिषेण चतुर्दशी के दिन सारे आरम्भ परिग्रह का त्याग कर कायोत्सर्ग मुद्रा से श्मशान में ध्यान कर रहा था। उसी दिन मगध-सुन्दरी के मोहजाल में फँस कर विद्युत्चोर श्रीकीर्ति सेठ के गले का हार चुरा कर आ रहा था। हार के दिव्य तेज से सिपाहियों ने चोर समझ कर उसका पीछा किया पकड़ने के लिए। वह चोर भागता हुआ श्मशान की ओर आया तथा अपनी जान बचाने के लिए उसने वह हार कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित वारिषेण के चरणों में डाल दिया और वहाँ से भाग छूटा।

जब सिपाही वहाँ पहुँचे तो हार के प्रकाश में वारिषेण को पहचान कर भौंचक से रह गए। उन्होंने सोचा कि राजकुमार के माता-पिता श्रावक हैं। भागने में असमर्थता देख राजकुमार अपने आगे हार रखकर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हो गये हैं अपने पाप को छिपाने के लिए। अत: उन्होंने राजसभा में जाकर सारी बात राजा को कही।

श्रेणिक का चेहरा क्रोध के मारे तमतमा उठा।उनके ओठ काँपने लगे, आँखों में क्रोध की चिनगारियाँ निकलने लगीं। उन्होंने गरज कर कहा - "देखो, इस पापी का नीच कर्म जो श्मशान में जाकर ध्यान करता है और लोगों को यह बतलाकर कि मैं बड़ा धर्मात्मा हूँ, ठगता है, धोखा देता है। पापी कुलकलंक है। जाना मैंने उसके धर्म का ढोंग। सच है दुराचारी व्यक्ति धोखा देने के लिए क्या-क्या अनर्थ नहीं करते ! जाओ, इस पापी को तलवार से दो टुकड़े कर यमराज के घर पहुँचा दो। उसके लिए मेरे यहाँ स्थान नहीं।

स्वपुत्र के लिए राजा की ऐसी कठोर आज्ञा सुनकर सब चित्र लिखे से होकर महाराज की ओर एक नजर से देखने लगे। सब के नयनों से झर-झर पानी बहने लगा पर किसकी हिम्मत जो उनकी आज्ञा का प्रतिवाद कर सके। तत्काल जल्लाद को लेकर श्मशान में गये। ज्योंही जल्लाद ने वारिषेण पर तलवार का प्रहार किया कि पुष्पवृष्टि होने लगी। जय-जयकार शब्द से आकाश व्याप्त हो गया। तलवार का प्रहार फूलहार रूप में परिणत हो गया। ठीक ही है - पुण्य के उदय से अग्नि जल बन जाती है, समुद्र स्थल हो

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जाता है, सर्प हार रूप परिणत हो जाता है और विपत्ति सम्पत्ति रूप हो जाती है, इसीलिए सुख - इच्छुक प्राणी को पवित्र कार्यों द्वारा पुण्य उपार्जन करना चाहिए।

इस अलौकिक घटना को सुनकर राजा श्रेणिक को अपने अविचार पर बहुत पश्चाताप हुआ। वह तत्काल श्मशान में पहुँचा और उससे क्षमायाचना कर घर आने के लिए प्रार्थना की। परन्तु संसारस्वरूप के ज्ञाता वारिषेण ने घर जाने के लिए इन्कार कर दिया और तपोवन में जाकर दिगम्बर मुद्रा धारण कर ली।

घोर तपश्चरण करते हुए वारिषेण मुनि एक बार विहार करते हुए पलाशकूट नामक शहर में पहुँचे। वहाँ श्रेणिक के मंत्री का पुत्र पुष्पडाल रहता था। वारिषेण मुनि भिक्षार्थ पुष्पडाल के घर पर आये। वारिषेण को देखकर पुष्पडाल का हृदय गद्‌गद हो गया। उसने बड़ी भक्ति से मुनिराज का पड़गाहन किया। निरंतराय आहार होने के बाद महाराज का कमण्डलु लेकर पहुँचाने के लिए उनके साथ-साथ चल पड़ा। सोचा था कि थोड़ी दूर निकल जाने पर मुनिराज उसे घर लौटने के लिये कहेंगे परन्तु मुनिराज ने उसको घर लौटने के लिए नहीं कहा, इसके विपरीत उन्होंने पुष्पडाल के कल्याण की इच्छा से वैराग्य का उपदेश देकर उसे मुनिदीक्षा दे दी।

मुनिराज के उपदेश से मुनिव्रत अंगीकार करके भी पुष्पडाल का मन अपनी प्रियतमा की ओर लगा था। वह दिन-रात उसी का ध्यान करता था। कभी वह अपनी प्रियतमा का चित्र बनाता, कभी अत्यन्त अभ्यास के कारण यह अनुभव करता कि उसकी वल्लभा सामने खड़ी है और वह उसके चरणों में प्रणाम कर रही है। कभी स्वप्न में संयोग का सुख भोगता तो कभी वियोग का कष्ट उठाता। बारह वर्ष तक संयम का पालन तथा शास्त्राभ्यास करने पर भी उसकी विषयवासना नहीं मिटी।

उन काम, मोह और भोगों को धिक्कार हो जिनके वश होकर उत्तम मार्ग में चलने वाले भी अपना हित नहीं कर पाते।

एक दिन सुअवसर पाकर वारिषेण राजमन्दिर में गये। चेलना ने वारिषेण को देखकर उसके मन की परीक्षा करने के लिए दो आसन बिछा दिए। उनमें एक आसन रागियों के योग्य था और दूसरा विरागियों के योग्य। वारिषेण अपने मित्र के साथ विरागियों के योग्य आसन पर बैठ गया और बोला - "माता ! अपनी सब बहुओं को बुलाओ।" चेलना राजभवन में गई और वारिषेण की पत्नियों को वारिषेण के सम्मुख ले आई। सब रानियाँ मुनिराज को नमस्कार कर सम्मुख बैठ गईं। वे अपने रूप से देवांगनाओं को भी लज्जित कर रही थीं। उनके साथ पुष्पडाल की पत्नी सुदति भी आई, जो कानी थी और कोयले से भी अधिक काली थी।

वारिषेण मुनिराज के वचन सुनकर पुष्पडाल बहुत लज्जित हुआ। वह मुनिराज के चरणों में नमस्कार करके बोला - "प्रभो, आप धन्य हैं। आप मिथ्यात्व रूप पिशाच को नष्ट कर लोभ-पंक से

रहित हुए हैं, आपने ही सत्य आत्मस्वरूप को समझा है। इतने वैभव को लात मार कर परम वैराग्यमय तप को धारण किया है। हे दयासागर ! मैं तो सचमुच जन्मान्ध महामूर्ख हूँ। इसीलिए मुनिमुद्रा को धारण करके भी अपनी स्त्री की ममता में फँसा रहा। बारह वर्ष तक आत्मा को कष्ट पहुँचाने के सिवाय कुछ नहीं किया। केवल शरीर का शोषण किया। आत्मतत्त्व को नहीं पहचाना, स्वामी ! मैं बहुत अपराधी हूँ इसलिए हे कृपासिन्धु ! पापों का प्रायश्चित्त देकर मुझे पवित्र कीजिए।''

पुष्पडाल के भावों की पवित्रता जानकर वारिषेण मुनिराज बोले, ''धीर ! इतने दुखी मत बनो। मिथ्यात्व रूप पाप कर्म के उदय से ज्ञानी जन भी हतबुद्धि हो जाते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।'' तदनन्तर पुष्पडाल को प्रायश्चित्त देकर शुद्ध किया और धर्मोपदेश देकर पुनः चारित्र में स्थिर किया।

धन्य हैं वे सम्यग्दृष्टि महापुरुष जो वारिषेण मुनिराज के समान भव्यात्माओं को सम्यग्दर्शन और चारित्र में दृढ़ कर स्थितीकरण अंग का पालन करते हैं।

विष्णुकुमार मुनि

धर्म और धर्मात्माओं के प्रति अनुराग रखना, स्नेह करना **वात्सल्य अंग** है। यह वात्सल्य अंग भी निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। चतुर्गति रूप संसार समुद्र से पार करने के लिए नौका के समान मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चार प्रकार के संघ के प्रति स्नेह, अनुराग रखना जैसे सद्यःप्रसूता गाय अपने बछड़े से अनुराग रखती है। सम्यग्दृष्टि जीव प्रिय वचनों के साथ, निश्छल मन से, अत्यंत श्रद्धा-भक्ति से धार्मिक जनों में अनुराग रखता है, यह व्यवहार वात्सल्य अंग है। जब व्यवहार वात्सल्य से जिनधर्म में दृढ़ता आ जाती है, तब मिथ्यात्व, रागादि सारे शुभ, अशुभ बाह्य पदार्थों में प्रीत का परित्याग कर रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित परम स्वरूप के अनुभव से उत्पन्न सदा आनंद रूप सुखमय अमृत के आस्वादन के प्रति अनुराग - प्रीति होती है, वह निश्चय वात्सल्य है।

व्यवहार वात्सल्य कारण है और निश्चय वात्सल्य कार्य है। जैसे कारण के बिना कार्य नहीं होता वैसे ही व्यवहार के बिना निश्चय नहीं होता। यह वात्सल्य अंग सम्यग्दर्शन का अंग है। ''लक्षणं च गुणाश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः'' लक्षण, गुण और अंग ये शब्द एकार्थवाची हैं। अंग का अर्थ वात्सल्यगुण, वात्सल्य का लक्षण है तथा यह सम्यग्दर्शन का कारण है।

एकदा देश-देशान्तर में धर्मामृत की वर्षा से भव्यजन शस्य को पुष्ट करते हुए अकम्पनाचार्य सात सौ मुनियों के साथ उज्जयिनी नगरी के ब्रह्म उद्यान में जाकर ठहरे। भविष्य में होने वाली अनिष्ट की आशंका से आचार्यश्री ने सर्वसंघ को आदेश दिया कि सर्व मुनिराज मौन धारण कर ध्यान मग्न हो जाँय, किसी से वार्तालाप न करें। अन्यथा संघ पर घोर उपसर्ग आयेगा। गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य कर सर्व मुनिगण ध्यान लीन हो गए। ठीक ही है, वही शिष्य प्रशंसा के पात्र होते हैं जो गुरु-आज्ञा का पालन करते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मुनिराज के आगमन की वार्ता सारे नगर में फैल गई, जैसे वायु के झकोरे से पुष्पों की सौरभ। मुनिराज के दर्शन के लिए प्रजा उमड़ पड़ी, उनके जय - जयकार के शब्द से आकाश गूँज उठा। प्रजा को उत्साहपूर्वक मुनिवन्दना के लिए जाते देखकर राजा भी दर्शन के लिए आतुर हो उठा। उसने तत्काल मंत्रियों को बुलाया और बोला - "मंत्रिगण ! हमारे नगर में महामुनिराज का आगमन हुआ है, उनके दर्शनों से अपने नेत्रों को सफल करना चाहता हूँ," मंत्रियों ने कहा, 'अच्छा'।

मंत्रियों के साथ राजा मुनिराज के दर्शन के लिए गया। मुनियों को ध्यान में लीन देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने क्रम से एक-एक मुनि को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। सब मुनि अपने आचार्य की आज्ञानुसार मौन रहे। किसी ने भी राजा को धर्मवृद्धि नहीं दी। राजा उनकी वन्दना कर महल लौट चले। लौटते समय मंत्रियों ने उनसे कहा - "महाराज ! देखा साधुओं को ? बेचारे बोलना तक भी नहीं जानते, सब नितान्त मूर्ख हैं। यही कारण है कि सब मौनी बने बैठे हैं। उन्हें देखकर सर्व साधारण तो यह समझेंगे कि ये सब आत्मध्यान कर रहे हैं। बड़े तपस्वी हैं। पर इनका यह ढोंग है। अपनी पोल न खुल जाये, इसलिए इन्होंने लोगों को धोखा देने को यह कपटजाल रचा है, महाराज ! ये दम्भी हैं।" इस प्रकार त्रिलोकपूज्य और परम शान्त मुनिराजों की निन्दा करते हुए ये मलिन-हृदय मंत्रीगण राजा के साथ आ रहे थे कि रास्ते में इन्हें एक मुनि मिल गये, जो शहर से आहार करके वन की ओर आ रहे थे। मुनि को देखकर इन पापियों ने उनकी हँसी की। महाराज, देखिये वह एक बैल और पेट भरकर चला आ रहा है। श्रुतसागर मुनि ने मंत्रियों के निन्दावचनों को सुन लिया। उनका कर्त्तव्य था कि वे शान्त रह जाते, पर वे निन्दा न सह सके। कारण वे आहार के लिए शहर में चले गये थे। इसलिए उन्हें अपने आचार्य महाराज की आज्ञा मालूम नहीं थी। यह समझ कर कि इन मंत्रियों को अपनी विद्या का बड़ा अभिमान है, मैं उसे चूर्ण करूँगा, मुनि ने उनसे कहा - "तुम व्यर्थ क्यों किसी की बुराई करते हो, यदि तुम में कुछ विद्या हो, आत्मबल हो तो मुझसे शास्त्रार्थ करो। फिर तुम्हें मालूम पड़ेगा कि बैल कौन है ?" वे भी राजमंत्री थे। उस पर दुष्टता उनके हृदय में कूटकर भरी हुई थी, फिर वे कैसे एक अकिंचन साधु के वचनों को सहन कर सकते थे। उन्होंने मुनिराज के साथ शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया। अभिमान के वश उन्होंने कह तो दिया कि हम शास्त्रार्थ करेंगे पर जब शास्त्रार्थ हुआ तब उन्हें जान पड़ा कि शास्त्रार्थ करना बच्चों का खेल नहीं है। मुनिराज ने स्याद्वाद के बल से बात-की-बात में चारों मंत्रियों को पराजित कर दिया।

विजयलाभ कर श्रुतसागर मुनिराज अपने आचार्य के पास आये और अपनी सारी घटना कह सुनाई, जिसे सुनकर आचार्य खेद के साथ बोले - "हाय ! तुमने उनके साथ शास्त्रार्थ करके अपने हाथों से सारे संघ का घात किया है।" गुरु के वचन सुनकर श्रुतसागर मुनि ने कहा- "गुरुदेव ! अब मुझे क्या करना चाहिए जिससे संघ पर आपत्ति न आवे।" गुरुराज ने कहा - "हे शिष्य ! जिस स्थान पर तुमने मंत्रियों के साथ विवाद किया है, उसी स्थान पर जाकर रात्रि व्यतीत करो तो संघ का उपद्रव मिट सकता है, अन्यथा नहीं।" गुरुआज्ञा शिरोधार्य कर श्रुतसागर मुनि उसी स्थान पर जाकर कायोत्सर्ग पूर्वक खड़े हो गये।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मुनिराज के साथ विवाद कर पराजित हो जाने से क्रोधित हुए शुक्र, बृहस्पति, प्रह्लाद और बलि चारों मंत्रियों ने तलवार लेकर वन की ओर गमन किया। जिस स्थान पर विवाद हुआ था, उसी स्थान पर श्रुतसागर महाराज को खड़े देखकर उन्होंने विचार किया, सर्वप्रथम इसी का काम तमाम करना चाहिए, उसके बाद दूसरों का। तत्काल चारों ने एक साथ मुनिराज पर तलवार का प्रहार करने का उद्यम किया, परन्तु मुनिराज के पुण्य प्रभाव व प्रताप से प्रेरित होकर वहाँ के यक्ष ने उनको वैसे-का-वैसे कील दिया। वे वहाँ से हिल नहीं सके। प्रहार की मुद्रा में पत्थर की मूर्ति के समान स्थिर रहे।

प्रात:काल होते ही मंत्रियों की करतूत सारे नगर में फैल गई। राजा ने सुना तो वह भी दौड़ा-दौड़ा आया और देखकर आश्चर्यचकित होकर उनकी बार-बार निन्दा की। देवता ने भी उनको फटकार लगाई। राजा ने उन चारों मंत्रियों को मंत्रिपद से च्युत कर अपने देश से निकाल दिया।

हस्तिनापुर के राजा महापद्म ने पद्म नामक पुत्र को राज्य देकर विष्णु नामक पुत्र के साथ दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली। तपश्चरण के प्रभाव से विष्णुकुमार को विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हुई।

पिता के दीक्षित हो जाने पर हस्तिनापुर पर पद्म राजा राज्य करने लगे। उन्हें सब कुछ सुख होने पर भी एक बात का बड़ा दुख था। वह यह कि कुंभपुर का राजा सिंहबल उनको बहुत कष्ट पहुँचाया करता था। सिंहबल पद्मराजा की प्रजा पर एकाएक धावा बोल कर अपने किले में जाकर छिप जाता।

इसी समय श्रीवर्मा के चारों मंत्री उज्जयिनी से निकल कर हस्तिनापुर में आ पहुँचे। योगायोग से पद्म नामक राजा के मंत्री बनकर सिंहबल को पकड़कर पद्म राजा के चरणों में झुकाकर उसे चिन्ता से मुक्त कर दिया। राजा ने खुश होकर कहा - "तुम्हारा मैं बहुत कृतज्ञ हूँ। यद्यपि उसका प्रतिफल नहीं दिया जा सकता, तब भी तुम जो कहो, वह मैं तुम्हें देने को तैयार हूँ।"

उत्तर में बलि नाम के मंत्री ने कहा - "प्रभो ! आपकी हम पर कृपा है, तो हमें सब कुछ मिल चुका। इस पर भी आपका आग्रह है तो उसे हम अस्वीकार भी नहीं कर सकते। अभी हमें कुछ आवश्यकता नहीं है। जब समय आएगा तब आपसे प्रार्थना करेंगे।"

इसी समय श्री अकम्पनाचार्य संघ सहित अनेक देशों में विहार करते हुए हस्तिनापुर के उद्यान में आकर ठहरे। अकम्पनाचार्य के आगमन को सुनकर मंत्रियों का हृदय प्रतिहिंसा से बेचैन हो उठा। थोड़ी देर विचार कर पद्म राजा के पास जाकर उन्होंने अपना पुरस्कार माँगा केवल सात दिन का राज्य।

राजा ने उनका छल-कपट नहीं समझा। उसने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए शीघ्र ही 'तथास्तु' कह दिया।

राज्य के प्राप्त होते ही उनकी प्रसन्नता का कुछ ठिकाना न रहा। उन्होंने मुनिजनों का घात करने के लिए यज्ञ का बहाना बनाकर षड़यंत्र रचा जिससे सर्व साधारण न जान सके कि उनकी नीयत कैसी है।

जिस स्थान पर मुनिराज ध्यान कर रहे थे, उसको चारों तरफ काष्ठ एवं काँटों की बाड़ से घेर कर विशाल मंडप बनाया। वेदों के जानकार बड़े-बड़े विद्वान् यज्ञ कराने लगे।

वेदध्वनि से यज्ञ मंडप गूँज उठा। बेचारे निरपराध पशुओं की आहुतियाँ अग्नि में दी जाने लगीं। देखते-देखते पशुओं की करुणामय चीत्कार के साथ दुर्गन्धित धुएँ से आकाश आच्छादित हो गया।

सात सौ मुनियों पर घोर उपसर्ग हो रहा था। परन्तु उन शान्ति की मूर्तियों ने इसे अपने किये कर्मों का फल समझकर बड़ी धीरता के साथ सहन करना प्रारम्भ किया। वे मेरु के समान निश्चल होकर एकचित्त से परमात्मा का ध्यान करने लगे।

मिथिलानगरीस्थ श्रुतसागर मुनि के मुखारविन्द से अकम्पनाचार्य व संघ पर घोर उपसर्ग जानकर पुष्पदन्त क्षुल्लक ने इसे दूर करने का उपाय पूछा। निमित्तज्ञ मुनिश्री श्रुतसागर ने कहा, "विक्रियाऋद्धिप्राप्त विष्णुकुमार मुनि इस उपसर्ग को दूर करने में समर्थ हैं, दूसरा कोई नहीं।" इस प्रकार के वचन सुनकर पुष्पदन्त शीघ्र ही विष्णुकुमार मुनि के पास आये और उन्हें सारे समाचार कहे।

विष्णुकुमार मुनि इतने निस्पृह थे कि उन्हें यह भी ज्ञात नहीं था कि उन्हें विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हुई है। उन्होंने परीक्षा के लिए हाथ पसारा तो वह लवणसमुद्र में गिरा।

सर्वप्रथम विष्णुकुमार मुनि पद्म राजा के पास आकर बोले, "तुमने अपने नगर में यह क्या अनर्थ किया है, निष्परिग्रही मुनियों पर घोर उपसर्ग और तुम अपनी आँखों से देख रहे हो; शीघ्र ही उपसर्ग को शान्त करो, नहीं तो घोर विपत्ति का सामना करना पड़ेगा।"

विष्णुकुमार मुनि की बात सुनकर पद्म राजा ने कहा - "गुरुदेव ! मैं सात दिन का राज्य इन मंत्रियों को दे चुका हूँ। इसलिए मैं कुछ नहीं कर सकता। सात दिन तक ये जैसा करेंगे वह मुझे सहन करना होगा। क्योंकि मैं वचनबद्ध हो चुका हूँ। अब तो आप ही उपसर्ग दूर कर सकते हैं।"

विष्णुकुमार मुनि विक्रिया ऋद्धि से वामन ब्राह्मण का रूप धारण कर मधुरता से वेदध्वनि का उच्चारण करते हुए मंडप में पहुँचे। उनका मनोज्ञ सौन्दर्य और मनोहर वेदोच्चार सुनकर सब बड़े प्रसन्न हुए। बलि तो उन पर इतना मुग्ध हुआ कि उसके आनन्द का कुछ पार नहीं रहा।

उसने बड़ी प्रसन्नता से कहा - "महाराज ! आपके पधारने से यज्ञ की अपूर्व शोभा हुई है, मैं बहुत खुश हूँ। आपकी जो इच्छा हो माँगिये, इस समय मैं सब कुछ देने को समर्थ हूँ।"

विष्णुकुमार मुनि ने कहा - "मैं एक गरीब ब्राह्मण हूँ। मुझे केवल तीन पैंड पृथ्वी की आवश्यकता है। यदि कृपा करके इतनी भूमि मुझे प्रदान कर दें तो मैं टूटी-फूटी झोपड़ी बना कर रह सकूँगा। स्थान की निरापदता से अपने समय को वेदपाठ से व्यतीत करूँगा।

बलि ने और भी कुछ माँगने का बहुत आग्रह किया, परन्तु विष्णुकुमार ने कहा, ''मुझे और कुछ नहीं चाहिए। इतने में ही मुझे संतोष है।'' जब वामन ब्राह्मण तीन पैंड भूमि के सिवाय कुछ भी माँगने को तैयार नहीं हुए, तब बलि ने कहा - ''जैसी आपकी इच्छा। आप अपने पैरों से भूमि माप लीजिए।''यह कहकर बलि ने विष्णुकुमार के हाथ में संकल्प जल छोड़ा। संकल्प छोड़ते ही उन्होंने पृथ्वी मापना शुरू किया।

पहला पैर उन्होंने सुमेरु पर्वत पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर, तीसरा पैर रखने को जगह नहीं रही। उनके इस प्रभाव से सारी पृथ्वी काँप उठी। सारे पर्वत हिल गये। समुद्र ने मर्यादा तोड़ दी। देवों और ग्रहों के विमान परस्पर टकराने लगे। देवगण आश्चर्यचकित हो गये। सारे देव विष्णुकुमार के पास आकर क्षमायाचना करने लगे। इस घटना से बलि का हृदय भी काँप गया। उसने विष्णुकुमार मुनि के चरणों में गिर कर क्षमा याचना की।

इस प्रकार विष्णुकुमार मुनि ने सात सौ मुनियों का उपसर्ग दूर कर वात्सल्य प्रकट किया। देवों ने विष्णुकुमार की पूजा की।

इस प्रकार जो वात्सल्य अंग से युक्त होता है, उसी के सम्यग्दर्शन निर्मल होता है। ❖

अज्ञान रूपी अंधकार की व्याप्ति दूर करके अपनी शक्ति अनुसार जिनधर्म की प्रभावना करना, उद्योत-प्रचार करना प्रभावना अंग है। निश्चय और व्यवहार के भेद से प्रभावना अंग दो प्रकार का है।

व्यवहार प्रभावना गुण के बल से मिथ्यात्व, विषय, कषाय आदि सारे विभावपरिणाम स्वरूप पर - समय के प्रभाव का विनाश कर शुद्धोपयोग लक्षण वाले स्वसंवेदन ज्ञान से निर्मल ज्ञान - दर्शन स्वभाव वाली निज शुद्धात्मा का प्रकाशन करना, अनुभव करना निश्चय प्रभावना अंग है अथवा निश्चय व्यवहार रत्नत्रय के द्वारा अपनी आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों का नाश कर अपनी आत्मा को निर्मल उज्ज्वल करने का प्रयत्न करना निश्चय प्रभावना है। क्योंकि मोह शत्रु के नाश होने से शुद्ध, शुद्धतर और शुद्धतम अवस्था की प्राप्ति ही आत्मप्रभावना कहलाती है। पर-समय मिथ्यामत रूपी जुगनुओं के प्रकाश को पराभूत करने वाले ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश से, इंद्रों के आसन को कँपा देने वाले महोपवासादि सम्यक् तप के द्वारा तथा भव्य जन रूपी कमलों को विकसित करने वाली जिनपूजा के द्वारा जिनधर्म का उद्योत करना, प्रचार-प्रसार करना व्यवहार प्रभावना अंग है।

प्र - उपसर्ग है और भा - धातु कांति अर्थ में है, अत: उत्कृष्ट रूप से जिनधर्म को प्रकाशित करना प्रभावना है। सम्यग्दर्शन को निर्मल करने के लिए निश्चय और व्यवहार रूप दोनों प्रभावना अंग का पालन करना आवश्यक है। अत: महापुराणादि धर्मकथा के व्याख्यान के द्वारा, हिंसादि दोष रहित तपश्चरण कर जीवों की दया, अनुकंपा, अष्टांग निमित्त ज्ञान, दान, पूजा आदि द्वारा तथा परवादियों के साथ विवाद कर विद्या के अतिशयों के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए।

वज्रकुमार

सोमदत्त नामक विद्वान् अपने मामा के पास गया और उनसे बोला, "हे मातुल ! तुम मुझे राजा से मिला दो। मैं राजा को देखना चाहता हूँ।" परन्तु मामा ने सोचा यह विद्वान् है। राजा को अपने वश में करके मंत्री बन सकता है, इसको राजा के पास ले जाना उचित नहीं है।

सोमदत्त को मामा की यह बात बहुत खटकी। आखिर वह मामा के अभिमान को नष्ट करने के लिए स्वयं राजा के समीप गया और अपने पाण्डित्य और प्रतिभाशालिनी बुद्धि का परिचय कराकर राजमंत्री बन गया। ठीक ही है, सबको अपनी शक्ति ही सुख देने वाली होती है।

जब सोमदत्त राजमंत्री बन गया तब मामा ने उसके साथ अपनी पुत्री यज्ञदत्ता का विवाह कर दिया।

कुछ दिन के बाद यज्ञदत्ता को गर्भ रहा और उसे आम खाने की प्रबल उत्कण्ठा हुई। आम का समय न होने पर भी सोमदत्त आम्रफल की खोज में वन में पहुँचा। ठीक ही है, साहसी पुरुष असमय में भी अप्राप्य वस्तु के लिए साहस करते हैं।

वन में भटकते-भटकते सोमदत्त ने देखा कि एक वृक्ष आम्रफलों के भार से झुका हुआ है। उनकी सौरभ सारे वन में फैल रही है, आश्चर्यचकित हो सोमदत्त ने जैसे ही वृक्ष की तरफ पुनः दृष्टि डाली तो उसे दृष्टिगोचर हुए उसके नीचे बैठे नग्न दिगम्बर मुनिराज। उसने मुनिराज के चरण-कमलों में नमस्कार कर उनके मुखारविन्द से धर्मोपदेश सुना तथा संसार की असारता को जानकर मुनिराज के चरणों में दिगम्बर मुद्रा धारण कर नाभिगिरि पर तपश्चरण करने लगा।

यज्ञदत्ता को पुत्र की उत्पत्ति हुई, परन्तु पति के वियोग ने उसके मन को झकझोर दिया था। निरंतर पति की खोज में तत्पर यज्ञदत्ता ने एक दिन किसी के मुख से सुना कि सोमदत्त मुनि बन कर नाभिगिरि पर ध्यान कर रहा है। नन्हे बच्चे को लेकर वह पर्वत पर गई। मुनि भेष में सोमदत्त को देखकर उसकी क्रोधाग्नि भड़क उठी।

मुनिराज को गाली देकर, दुर्वचन के द्वारा उनका तिरस्कार करती हुई वह पापिनी अपने हृदय के टुकड़े निर्दोष बालक को मुनिराज के चरणों में पटक कर घर चली गई। ठीक ही है, क्रोध के वशीभूत हुआ प्राणी कौनसा अनर्थ नहीं करता है !

बालक मुनिराज के चरणों में पड़ा था। इतने में दिवाकर नामक विद्याधर अपनी पत्नी सहित मुनिराज की वन्दना करने आया। ज्योंही उसकी दृष्टि उस बालक पर पड़ी उसने झट उसको गोदी में लेकर छाती से चिपका लिया और मधुर वाणी से अपनी पत्नी से बोला - "प्रिये ! आज तेरी सूनी गोद पुत्ररत्न से भर गई, ले इस पुत्र का पालन-पोषण कर।" पत्नी पुत्ररत्न को प्राप्त कर बहुत खुश हुई।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उसके हाथ में वज्र का चिह्न होने से उसका नाम वज्रकुमार रखा गया। बालक द्वितीया के चन्द्रमा के समान बढ़ता हुआ यौवन अवस्था को प्राप्त कर शस्त्र-शास्त्र विद्या का पारगामी हो गया तथा गरुड़वेग विद्याधर की पुत्री पवनवेगा के साथ इसका विवाह हो गया। आनन्द से समय व्यतीत हो रहा था।

वज्रकुमार को सभी दिवाकर विद्याधर का पुत्र समझते थे। वज्रकुमार ने अपने पराक्रम से अनेक राजाओं को वश में करके विशाल राज्य स्थापित किया।

वज्रकुमार के आने के बहुत दिनों के बाद दिवाकर की पत्नी जयश्री के भी पुत्र उत्पन्न हुआ था। जब वज्रकुमार का यश सर्वत्र फैलने लगा तो जयश्री भीतर-ही-भीतर कुढ़ने लगी, विचार करने लगी कि इसके जीवित रहते मेरे पुत्र को राज्य नहीं मिल सकता।

एक दिन जयश्री एकांत में उदास बैठी हुई थी। आँखों में अश्रुधारा बह रही थी। ज्यों ही उसकी दासी की दृष्टि उसके मुखपर पड़ी तो वह बोल उठी - "स्वामिनी ! ऐसे पराक्रमी पुत्र की माता को दुःख किस बात का ?" दासी की बात सुनकर जयश्री ने कहा - "यही तुम लोगों का भ्रम है कि वज्रकुमार मेरा पुत्र है। वह तो मुझे जंगल में पड़ा मिला था। दया कर इसको मैंने पाला। आज वह राज्य का मालिक बन बैठा है। मेरे पुत्र को राज्य कैसे प्राप्त होगा ? इस आशंका से मेरा मन दुःखित हो उठा है।"

वज्रकुमार के कानों में भी यह भनकार पड़ गई, उसे संसार से घृणा हो गई। उसने दिवाकर विद्याधर से सारे समाचार जानकर सोमदत्त मुनिराज के चरणों में दिगम्बर मुद्रा धारण कर घोर तपश्चरण करना प्रारंभ कर दिया।

मथुरानगरी के राजा पूतगन्ध की पटरानी उर्मिला प्रत्येक अष्टाह्निका पर्व में जिनेन्द्र भगवान की पूजा करती, दान देती और रथयात्रा करके धर्म प्रभावना करती थी।

मथुरानगरी के सागरदत्त सेठ के घर में पुत्री का जन्म हुआ, परन्तु पापकर्म के उदय से माता - पिता का मरण हो गया, सम्पदा नष्ट हो गई। वह अबोध बालिका दूसरों की जूठन खाकर पेट भरती और वृक्षों के नीचे विश्रान्ति लेती।

एक दिन अभिनन्दन एवं नन्दन नाम के मुनिराज उधर से निकले। जूठे अन्न का एक-एक कण बीनकर खाती हुई उस बालिका को देखकर अभिनन्दन नामक मुनि ने खेद प्रकट किया। नन्दन मुनिराज ने कहा, "कर्मों की लीला बड़ी विचित्र है। क्षण में राजा को रंक और रंक को राजा बना देते हैं। अभी कोट्याधीश की पुत्री जूठन खाकर उदर पूर्ति कर रही है। यौवन अवस्था में यह राजा की पटरानी बनेगी।" मुनिराज के वचन सुनकर एक बौद्ध साधु उसे अपने आश्रम में ले गया। वह जानता था कि दिगम्बर साधुओं के वचन कभी असत्य नहीं होते।

जब वह बालिका यौवन अवस्था को प्राप्त हुई तो उसके शरीर से सौन्दर्य की सुधा-धारा बहने

लगी, जिसे देखकर देवाङ्गनायें भी लज्जित हो जातीं।

एक दिन पूतगन्ध राजा की दृष्टि उस युवती कन्या पर पड़ी, तो उसका शरीर कामबाण से बिंध गया। उसने बौद्धाश्रम में जाकर उसका परिचय पूछा तथा उसको कुलीन पुत्री जानकर श्रीवन्दक भिक्षु से कन्या की याचना की। श्रीवन्दक बौद्ध गुरु ने कहा, "राजन्! यदि आप बौद्ध धर्म स्वीकार करते हों तो मैं इस कन्या का विवाह आपके साथ कर सकता हूँ, अन्यथा नहीं।"

कामान्ध कौनसा कार्य नहीं करता। राजा ने बौद्धगुरु की बात स्वीकार कर ली और उस कन्या के साथ विवाह कर उसे पटरानी पद दे दिया। अष्टाह्निका पर्व आया। उर्मिला रानी ने उत्सव करना प्रारंभ किया, तब बौद्ध धर्मी रानी ने (राजा की नयी पटरानी ने) रथ रुकवा दिया। पहले बुद्ध भगवान का रथ निकलेगा, बाद में उर्मिला के भगवान का।

उर्मिला के हृदय पर वज्रपात हो गया। उसने राजा से अनुनय-विनय किया, परन्तु राजा ने उसकी एक भी बात नहीं सुनी। उर्मिला की पुकार जब राजा ने नहीं सुनी तब उसने वीतराग प्रभु के चरणों में प्रतिज्ञा की कि यदि प्रथम मेरा रथ नहीं निकलेगा तो मैं अन्न, पानी ग्रहण नहीं करूंगी। यह प्रतिज्ञा कर वह मुनिराज के दर्शन करने गई और सोमदत्त तथा वज्रकुमार मुनि को सारा वृत्तान्त सुनाया।

वज्रकुमार मुनिराज के दर्शन करने दिवाकर आदि विद्याधर भी आये हुये थे। वज्रकुमार ने उर्मिला की तथा जिनधर्म पर आई हुई विपत्ति को दूर करने के लिए विद्याधरों को कहा। वज्रकुमार मुनिराज की आज्ञानुसार सर्व विद्याधर लोग मथुरा में आये तथा पूतगन्ध राजा को युद्ध में हराकर जैनधर्म का रथ निकलवाकर धर्म की प्रभावना की।

रथ के निर्विघ्न निकलने से उर्मिला के आनन्द की सीमा नहीं रही। बहुत से भव्यों ने मिथ्यात्व का वमन कर सम्यग्दर्शन को ग्रहण किया तथा राजा और बुद्धदासी भी शुद्ध अन्तःकरण से जैनधर्म के अनुयायी हो गये।

जिस प्रकार वज्रकुमार मुनि ने जिनधर्म की प्रभावना की, उसी प्रकार धर्मात्माओं को जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए।

ये (अंग) सम्यग्दर्शनाराधना के उपाय हैं।

ज्ञानाराधना का उपाय

अक्षरहीनाध्ययनाद्यपोहनं ज्ञानभावनाढ्यमपि।
कालाद्यध्ययनयुतं ज्ञानस्याराधनोपायः ॥२३७॥

अन्वयार्थ - **अक्षरहीनाध्ययनाद्यपोहनं** - अक्षरहीन अध्ययन से रहित। **ज्ञानभावनाढ्यं** -

ज्ञान भावना से युक्त और। **कालाद्यध्ययनयुतं** - काल आदि में पढ़ना। **ज्ञानस्य** - ज्ञान की। **आराधनोपायः** - आराधना का उपाय है।

अर्थ - जिस प्रकार सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान के भी आठ अंग हैं।

शास्त्रों में लिखित अक्षर शुद्ध पढ़ना, अक्षरों का वाच्य जो अर्थ है उसको शुद्ध पढ़ना, अर्थ और अक्षर दोनों शुद्ध पढ़ना, काल में स्वाध्याय करना, विनय से पढ़ना, गुरु का नाम नहीं छिपाना, बहुमान से पढ़ना और उपधान युक्त पढ़ना, ये ज्ञान-आराधना के उपाय हैं, इन आठ अंग विहीन अध्ययन करने से ज्ञान आराधना नहीं होती।

व्यंजन शुद्धि - क् आदि अक्षरों को व्यंजन कहते हैं, गणधरादि आचार्यों ने जो निर्दोष सूत्रों की रचना की है, उनको दोषरहित पढ़ना व्यंजन शुद्धि है।

शंका - शब्द तो पौद्गलिक हैं, उनका शुद्ध उच्चारण ज्ञान विनय कैसे हो सकता है ?

उत्तर - यद्यपि शब्द पौद्गलिक हैं, ज्ञानस्वरूप नहीं हैं, तथापि परार्थ जो श्रुतज्ञान है, वह शब्द की भित्ति पर ही खड़ा है, शब्द के द्वारा ही हम वस्तु को जान सकते हैं। शब्द ज्ञानोत्पत्ति का साधन है, अतः शब्दों को ज्ञान कह देते हैं और व्यंजनों को शुद्ध पढ़ना ज्ञान विनय कहलाता है। अक्षरहीन वा अशुद्ध पढ़ने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

सिंहरथ और वीरसेन राजा के परस्पर शत्रुता थी सो अवसर पाकर वीरसेन ने सिंहरथ पर चढ़ाई कर दी। जब वीरसेन बहुत दिन तक वापिस नहीं आ सका, तब उसने राज्य व्यवस्था सुचारु रूप से चलाने के लिए अपने मंत्री को पत्र लिखा और उसमें यह भी लिखा कि राजकुमार सिंह के पठन-पाठन की व्यवस्था अच्छी तरह करना। पूर्व में संस्कृत भाषा में पत्र लिखने का प्रचार था। अतः उसने लिखा "सिंहोऽध्यापयितव्यः"। इस शब्द का वास्तविक अर्थ था कि सिंह राजकुमार को अच्छी तरह से पठन कराना। परंतु पढ़ने वाले ने "सिंहः अध्यापयितव्यः" के स्थान पर एक अक्षर अ को छोड़कर पढ़ लिया, जिसका अर्थ हो गया राजकुमार को राज्य के कार्य में लगा देना। व्याकरण के अनुसार तो उक्त वाक्य के दोनों ही अर्थ होते हैं और दोनों ही पद शुद्ध थे क्योंकि घोष अक्षर एवं अकार इन दोनों के मध्यस्थ विसर्ग का 'ओ' होता है और अकार का लोप हो जाता है पर यहाँ केवल व्याकरण की आवश्यकता नहीं थी। कुछ अनुभव भी होना चाहिए था। बाल्यावस्था में पठन-पाठन छूट जाने से राजकुमार मूर्ख रह गया। जब राजा को यह ज्ञात हुआ तो उसने पत्र पढ़ने वाले को कड़ी सजा दी। अतः शास्त्रों का पठन करते समय गुरु परम्परा, आगम की कुशलता एवं प्रकरणवश अर्थ करना चाहिए। अक्षर मात्र हीन नहीं पढ़ना, क्योंकि अक्षर हीन पढ़ने से अर्थ का अनर्थ होता है और ज्ञान के अविनय से ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है।

अर्थ शुद्धि - शब्द के वाच्य को अर्थ कहते हैं, जैसे 'मानव' यह शब्द है, इसका वाच्य अर्थ

है आदमी। अत: शब्दों के उच्चारण के अनंतर मन में जो अभिप्राय उत्पन्न होता है, उसे अर्थ कहते हैं। गणधरादि रचित सूत्रों के अर्थ का यथार्थ रूप से विवेचन करना, आगमानुकूल अर्थ करना अर्थ शुद्धि है। केवल सूत्रों का विवेचन मात्र नहीं क्योंकि केवल विवेचन से विपरीत अर्थ भी हो सकता है, जैसे ''सैन्धवमानय'' इस शब्द का विवेचन है, 'सैन्धव को लाओ', 'घोड़ा लाओ' यह अर्थ भी हो सकता है और नमक लाओ, सैन्धव देश की कोई वस्तु लाओ, यह अर्थ भी हो सकता है, अत: शब्दों का प्रकरणवश निर्दोष अर्थ करना ही अर्थशुद्धि है, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो जाता है। जैसे - क्षीरकदम्ब के पुत्र पर्वत ने अर्थ शुद्ध न पढ़कर विपरीत अर्थ करके हिंसा का प्रचार किया तथा संसार में हिंसामय धर्म की प्रवृत्ति की और मरकर नरक में गया। अत: एक शब्द में अनेक अर्थ होते हैं, उनका युक्ति और आगमानुसार शुद्ध अर्थ करना अर्थशुद्धि है।

उभय शुद्धि - व्यंजन की शुद्धि और उसके वाच्य अभिप्राय की शुद्धि को उभय शुद्धि कहते हैं, जैसे कोई पुरुष सूत्र का अर्थ तो नेक कहता है, परंतु सूत्र उच्चारण ठीक नहीं करता। दीर्घ के स्थान में ह्रस्व का और ह्रस्व के स्थान में दीर्घ का तथा संयुक्त अक्षरों को तोड़कर और असंयुक्त अक्षरों का संयुक्त उच्चारण करता है। इसलिए व्यंजन शुद्धि कही गई है। कोई पुरुष शब्दों का उच्चारण शुद्ध करता है, परंतु अर्थ की प्ररूपणा विपरीत करता है, इसलिए अर्थशुद्धि का उल्लेख किया है। तीसरा मानव सूत्र का उच्चारण भी अशुद्ध करता है और उसका अर्थ भी अंटसंट बकता है। इन दोनों दोषों को दूर करने के लिए उभय शुद्धि का निरूपण किया है, जैसे - एक राजा ने हजार स्तंभ का एक मंदिर देखकर अपने कर्मचारियों को आदेशपत्र लिख कर दिया ''महास्तंभसहस्रस्य कर्त्तव्य: संग्रहो ध्रुवं'' जिसको पढ़ते समय पाठक ने स्तंभ के स्थान पर स्तभ पढ़ा और उसका अंटसंट अर्थ किया बकरा और कह सुनाया - राजाज्ञा है एक हजार बकरों का संग्रह करने की। जब राजा के समक्ष एक हजार बकरे लाये गये तो उन्हें देखकर राजा सिर से पैर तक जल उठे। उन्होंने क्रोधित होकर कहा - मैंने तो तुम्हें एक हजार खंभे एकत्र करने के लिए कहा था, तुम लोगों ने यह क्या किया ? राजा की क्रोधित दृष्टि से भयभीत होकर सर्व कर्मचारियों ने राजा के चरणों में गिर कर प्रार्थना की कि यह हमारा दोष नहीं है, यह दोष है - पत्रवाचक का। राजा ने पत्रवाचक को दंड दिया। अत: शास्त्रों के पठन - पाठन एवं अर्थ करते समय प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि प्रमाद वा अज्ञानवश व्यंजन, अर्थ और उभय (व्यंजन और अर्थ दोनों) शुद्ध नहीं पढ़ने से अनर्थ होता है और इसी से अनेक विसंवादों की उत्पत्ति होती है, इसीलिए पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में लिखा है कि शास्त्रों का अर्थ करने वाला युक्ति और आगम में कुशल तथा शास्त्रों की परम्परा को जानने वाला होना चाहिए।

कालाध्ययन

शास्त्रों का अध्ययन संध्याकाल, सूर्योदय के दो घड़ी पूर्व, दो घड़ी पश्चात् तथा सूर्यास्त के दो घड़ी पूर्व, दो घड़ी पश्चात्, मध्याह्न काल के दो घड़ी पूर्व और दो घड़ी पश्चात् के काल को छोड़कर करना

चाहिए क्योंकि ये स्वाध्याय के लिए अकाल हैं तथा अष्टाह्निक आदि वर्जनीय काल का परिहार कर शेष काल में स्वाध्याय, पठन - पाठन, व्याख्यान आदि करना चाहिए। क्योंकि अकाल में स्वाध्याय करने से जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का तिरस्कार होता है, ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है, इसलिए कालशुद्धि पूर्वक पठन - पाठन करना ज्ञानाराधना का उपाय है।

अकाल में स्वाध्याय करने से हानि और काल में स्वाध्याय करने के फल का दृष्टान्त - विद्वच्छिरोमणि वीरभद्र मुनि सारी रात स्वाध्याय करते रहे, काल-अकाल का ध्यान नहीं रखा, उनको संबोधित करने के लिए श्रुतदेवी एक ग्वालिन का भेष धारण कर, मस्तक पर छाछ की मटकी रख कर और यह कहती हुई कि "मेरे पास बहुत मीठी छाछ है" मुनिराज के चारों तरफ घूमने लगी। मुनि ने तब उसकी ओर देखकर कहा - "अरी ! तू बड़ी बेसमझ जान पड़ती है, कहीं पागल तो नहीं हो गई। बतला तो ऐसे एकांत स्थान में और सो भी रात में खरीदेगा कौन तेरी छाछ ?" देवी ने कहा - "महाराज ! क्षमा कीजिये, मैं तो पगली नहीं हूँ, किन्तु मुझे तो दीख रहे हैं पागल आप, अन्यथा असमय शास्त्राभ्यास कैसे करते ? कैसे करते जिन भगवान की आज्ञा का उल्लंघन ?" देवी का उत्तर सुनकर मुनिराज ने आकाश की ओर नजर उठाकर देखा तो उन्हें दीख पड़े चमकते हुए तारे तब उन्हें भान हुआ कि सचमुच मैंने अकाल में स्वाध्याय कर बड़ी भूल की।

उनका हृदय पश्चाताप से जलने लगा। प्रातःकाल गुरु के समीप जाकर उन्होंने अपनी भूल की आलोचना की और गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त ग्रहण करके मनः शुद्धि करके अन्त में समाधिमरण कर स्वर्ग प्राप्त किया।

जो स्वाध्याय के काल-अकाल को जानकर भी अकाल में स्वाध्याय करना नहीं छोड़ते, वे शिवनंदी मुनि के समान दुर्गति में जाते हैं। शिवनंदी मुनि ने अपने गुरु के द्वारा यद्यपि यह जान रखा था कि स्वाध्याय का समय श्रवण नक्षत्र के उदय होने के बाद ही माना गया है, तथापि कर्मों के तीव्र उदय से वे अकाल में भी स्वाध्याय करना नहीं छोड़ते, जिसके फलस्वरूप वे असमाधि से मरण कर गंगा नदी में मगरमच्छ हुए थे। ठीक ही है, जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करने वालों को दुर्गति के दुख भोगने पड़ते हैं।

एक दिन गंगा तट पर किसी मुनिराज को स्वाध्याय करते देख मगरमच्छ को जातिस्मरण ज्ञान की प्राप्ति हो गई, जिससे अपने पूर्वभव के वृत्तांत को जानकर वह पश्चाताप करने लगा। अंत में, शुभ परिणामों से प्राण छोड़कर वह मगरमच्छ स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ। काल में शास्त्राभ्यास करना ज्ञान का आदर करना है, ज्ञान का विनय करना है।

विनय शुद्धि - श्रुतज्ञान और श्रुतधर के गुणों की प्रशंसा करना, उनका संस्तवन करना, श्रुतभक्ति

एवं आचार्यभक्ति पढ़कर स्वाध्याय प्रारंभ करना विनय शुद्धि है। विनयपूर्वक शास्त्राभ्यास करने से विद्याएँ सिद्ध होती हैं, शीघ्र ही ज्ञान की प्राप्ति होती है।

अक्षरज्ञान से शून्य नन्दीषेण श्रुत और श्रुतधारियों की विनय करने से ११ अंग और १४ पूर्व के पाठी बन गये थे।

नन्दीषेण

नन्दीषेण एक दरिद्र बुद्धिहीन प्राणी था। घर में संपन्नता थी, नौ भाई थे, परन्तु इसके पूर्वोपार्जित पापकर्म के उदय से घर में या बाहर में इसका कोई भी सत्कार-पुरस्कार नहीं करता था। न इसे पेट भरकर भोजन मिलता था। एक दिन किसी जगह कोई मेला लगा था। सारे नगरवासियों की भीड़ लगी थी। शारीरिक दुर्बलता के कारण नंदीषेण गिर गया। भीड़ के कारण मानव उसको पैरों से रौंदते हुए चले गये। किसी ने उसको उठाने का साहस नहीं किया। इस प्रकार अपना अनादर एवं दुखद अवस्था देखकर वह मरने का निश्चय करके एक पर्वत पर चढ़ा, परन्तु मरने से भयभीत होकर पर्वत पर चढ़ना-उतरना करने लगा।

पर्वत तट पर स्थित मुनिराज की दृष्टि उस पर पड़ी। उसको आसन्नभव्य जानकर उन्होंने संबोधित किया तथा सारे सांसारिक बंधनों से छुड़ाकर जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान की।

नंदीषेण ने जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर श्रुत और श्रुतधारियों का विनय करना प्रारंभ किया।

वे विनय में इतने निष्णात हो गये कि उनके यश की सौरभ स्वर्ग तक पहुँच गई। एक दिन स्वर्ग की सभा में इन्द्र ने नंदीषेण की प्रशंसा की, जिसे सुनकर एक देव उनकी परीक्षा करने के लिए मुनि के वेश में आकर उन के चरणों में गिर पड़ा। उसको रुग्ण देखकर उन्होंने उसकी आहार व्यवस्था की, परंतु ज्योंही उनका आहार हुआ, उन्होंने नंदीषेण पर वमन कर दिया, जिससे नंदीषेण का सारा शरीर वमन के कीचड़ में भर गया तथापि उनके मानसिक विकृति नहीं हुई। देव ने अपनी विक्रिया समेट कर क्षमायाचना की।

इस प्रकार आंतरिक श्रुत तथा श्रुतधारी के विनय से वे ११ अंग और १४ पूर्व के पाठी हो गये थे।

उपधान विनय - विशेष नियम धारण करना, जब तक यह शास्त्र या यह अनुयोग प्रकरण समाप्त नहीं होगा, तब तक मैं एक उपवास, एक पारणा करूँगा, इत्यादि रूप में संकल्प करना उपधान विनय है, यह उपधान ज्ञानावरणीय कर्म का नाशक तथा श्रुतज्ञान का उत्पादक है।

एक मुनिराज निरंतर स्वाध्याय करते थे, परन्तु उनको धारणा ज्ञान नहीं होता था। धारणा न होने से कालांतर में स्मृति नहीं रहती। अतः वे शास्त्राध्ययन करके भी ज्ञान से शून्य थे। एक दिन उन्होंने अपने

गुरुदेव से नम्र निवेदन किया कि भगवन् ! निरन्तर स्वाध्याय करने पर भी मुझे शास्त्रज्ञान प्राप्त नहीं हो रहा है, आप कोई उपाय बताइये, जिससे मुझे ज्ञान की प्राप्ति हो ! मुनिराज ने कहा - "किसी वस्तु का त्याग कर पठन करने से आपको स्मरण ज्ञान की प्राप्ति होगी।" गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य करके उन्होंने निर्विकृति भोजन करने का नियम लिया। अल्पदिनों में ही वे श्रुत के पारगामी हो गये।

बहुमान विनय - पवित्रता से हाथ जोड़कर चौकी आदि पर शास्त्र को स्थापित कर मन की एकाग्रता से अर्थ की अवधारणा करते हुए शास्त्राभ्यास करना बहुमान है। आत्मपरिणाम की विशुद्धि व कषायों के मंद होने से ही देवशास्त्र और गुरुजनों के प्रति बहुमान आता है और परिणामविशुद्धि कर्मक्षय में निमित्त कारण है तथा शास्त्रों (जिनवचनों) का बहुमान करना जिन भगवान का बहुमान करना है क्योंकि जिनदेव और जिनवाणी में कोई अंतर नहीं है। जिनदेव, जिनवचन एवं निर्ग्रन्थ गुरु के प्रति बहुमान होने से कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा होती है और कर्मों की निर्जरा से ज्ञान की प्राप्ति होती है। बहुमान विनय ज्ञान प्राप्त होने का कारण है अर्थात् शास्त्र का बहुमान करने वालों को शीघ्र ही ज्ञान की प्राप्ति होती है।

एक मुनिराज प्रतिदिन शास्त्र को नमस्कार करते, उसकी स्तुति पढ़ते, बहुमान से उच्च स्थान पर शास्त्र को रखते थे, जिससे वे ११ अंग १४ पूर्व के पाठी हो गये। अत: शास्त्र का बहुमान करना चाहिए, स्वप्न में भी श्रुत की अवेहलना नहीं करनी चाहिए।

अनिह्नव - अपलाप करना, अन्यथा प्रवृत्ति करना, असलियत को छिपाना निह्नव है। जिस गुरु के समीप अध्ययन किया है, उसके नाम को छिपाकर दूसरे किसी विख्यात गुरु से मैंने अध्ययन किया है, ऐसा कहना निह्नव है। निह्नव का त्याग करना अनिह्नव है। निह्नव दोष से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है और अनिह्नव से होती है सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति।

चण्डप्रद्योत राजपुत्र को कालसंदीव नामक ब्राह्मण अध्ययन कराता था। चण्डप्रद्योत को कई भाषाओं का ज्ञान कराकर कालसंदीव अनार्य भाषाओं का ज्ञान करा रहे थे, परन्तु क्लिष्ट होने के कारण कितनी बार गुरु के बता देने पर भी चण्डप्रद्योत उसका शुद्ध उच्चारण नहीं कर सका। कालसंदीव ने उसको शुद्ध उच्चारण कराने का बहुत प्रयत्न किया, परंतु उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। इससे कालसंदीव को कुछ क्रोध आ गया और क्रोध के वशीभूत होकर उसने चण्डप्रद्योत की पीठ पर एक लात मार दी। चण्डप्रद्योत था तो राजकुमार ही सो उसका भी मिजाज कुछ बिगड़ गया। क्रोध में आकर उसने कहा, "आपने जो मुझे मारा है, मैं भी इसका बदला लिये बिना नहीं छोड़ूँगा। मुझे आप राजा होने दीजिये, फिर देखना मैं भी आपके इस पाँव को काटकर ही रहूँगा।"

कुछ कारण पाकर कालसंदीव दिगंबर मुनि बन गये और चण्डप्रद्योत राजकुमार राजा।

एक दिन चण्डप्रद्योत के समीप अनार्य भाषा में लिखा हुआ एक पत्र आया, जिसका पढ़ना अति

दुष्कर था, कोई भी सभासद उसे पढ़ नहीं सका किन्तु राजा चण्डप्रद्योत ने उसे पढ़ लिया, जिससे उसका यश सारे जगत् में फैल गया। अब चण्डप्रद्योत को अपनी भूल पर पश्चाताप हुआ। शीघ्र ही गुरुदेव काल-संदीव के पास जाकर उसने क्षमायाचना की। उनके पद-कमलों की पूजा की जिससे उसे शीघ्र ही विशेष ज्ञान की प्राप्ति हुई।

जो मूढ़ अज्ञान के वशीभूत होकर गुरु के नाम का निह्नव करते हैं, वे श्वेतसंदीव नामक मुनिराज के समान दुख के भाजन बनते हैं।

कालसंदीव मुनि से दीक्षा ग्रहण कर तथा उनसे ज्ञानोपार्जन करने वाले श्वेतसंदीव मुनि वृक्ष के नीचे आतापन योग धारण कर तपश्चरण कर रहे थे। उनका तपश्चरण सर्वजन में विख्यात था। एक दिन दर्शनार्थ आये हुए श्रेणिक राजा ने पूछ लिया - "भगवन्! आपके दीक्षा एवं शिक्षागुरु कौन हैं ?" श्वेतसंदीव ने अपने गुरु का नाम न बताकर अपनी ख्याति के लिए कह दिया - "मेरे गुरु तो भगवान महावीर हैं, मैं साक्षात् भगवान के मुखारविन्द से निकली हुई वाणी को सुनकर ज्ञानी बना हूँ।" इतना कहने मात्र से उनका सारा शरीर कृष्ण वर्ण का हो गया और उस पर कुष्ठ रोग के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। ठीक ही है, जो गुरु के नाम को छिपाते हैं, वे अशुभ कर्मों का बंध कर दुख के भाजन बनते हैं।

श्रेणिक राजा ने जान लिया कि इन्होंने अपने गुरु के नाम का अपलाप किया है, इसी से इनके शरीर की यह दशा हुई है। श्रेणिक ने श्वेतसंदीव मुनिराज को कहा - "गुरु के नाम का अपलाप करने से आपके शरीर में यह व्याधि उत्पन्न हुई है। आपको ऐसा नहीं करना चाहिए।" राजा की सत् शिक्षा से मुनिराज को अपनी भूल का पश्चाताप हुआ और उन्होंने गुरु के चरणों में प्रायश्चित्त ग्रहण कर मन की शुद्धि की। तदनन्तर क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर केवलज्ञान प्राप्त किया।

इस प्रकार अंगहीन ज्ञान की आराधना से होने वाली हानि और अंग सहित पढ़ने से लाभ को जानकर हेय को छोड़कर उपादेय को ग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार ज्ञान के आठ अंगों सहित शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन करना-कराना ज्ञानाराधना का उपाय है।

चारित्र आराधना का उपाय

दुर्लेश्याध्यानाव्रतकषायदण्डप्रमादमदशल्याः।
संयमगारव भय संज्ञादिक दोषावलीत्यागः ॥२३८॥

व्रत समिति गुप्ति संयम सल्लेश्याध्यानभावनाधर्म-।
शुद्ध्यादिगुणाभ्यासश्चारित्राराधनोपायः ॥२३९॥

अन्वयार्थ - दुर्लेश्याध्यानाव्रतकषायदण्डप्रमादमदशल्याःसंयम-गारव-भय-संज्ञादिक-दोषावली-त्यागः - दुर्लेश्या, अपध्यान, अव्रत, कषाय, दण्ड, प्रमाद, मद, शल्य, असंयम, गारव, भय, संज्ञा आदिक दोषों के समूह का त्याग करना। **व्रतसमिति गुप्ति संयम सल्लेश्या ध्यान भावना धर्म-शुद्ध्यादिगुणाभ्यासः** - व्रत, समिति, गुप्ति, संयम, शुभलेश्या, ध्यान, भावना, धर्म, शुद्धि आदि गुणों का अभ्यास करना। **चारित्राराधनोपायः** - चारित्र आराधना के उपाय हैं।

अर्थ - जो आत्मा को पुण्य-पाप रूप से लिप्त करती है वा कषाय के उदय से अनुरंजित मन, वचन, काय की प्रवृत्ति है, उसको लेश्या कहते हैं।

द्रव्य और भाव की अपेक्षा लेश्या दो प्रकार की है। वर्ण नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ जो शरीर का वर्ण है वह द्रव्य लेश्या है। उस वर्ण के छह भेद हैं - कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। अर्थात् - भौंरे के समान कृष्णवर्ण है। नील मणि या मयूर के कण्ठ के समान नील वर्ण है, कबूतर के समान वर्ण कपोत रंग है। तप्त सुवर्ण के समान वर्ण तेज या पीत वर्ण है। पद्म के सदृश वर्ण पद्मवर्ण है। काँस के फूल के समान श्वेत वर्ण शुक्ल लेश्या है।

इन छह वर्णों में एक-एक के भेद अपने-अपने उत्तर भेदों के द्वारा अनेक रूप हैं। जिस प्रकार कृष्णवर्ण हीन, उत्कृष्ट अनन्त भेदों को लिये हुए हैं इसी प्रकार छहों द्रव्य लेश्याओं के जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त शरीर के वर्ण की अपेक्षा संख्यात, असंख्यात और अनन्त तक भेद हो जाते हैं।

जो आत्मा को कर्म से लिप्त करती है, आत्मा का कर्म के साथ सम्बन्ध कराती है उसे तथा कषाय के उदय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति को भाव लेश्या कहते हैं। अथवा मोहनीय कर्म के उदय, क्षय, क्षयोपशम, उपशम और क्षय से उत्पन्न परिस्पन्दन भाव लेश्या है। कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल के भेद से छह प्रकार की है।

यद्यपि भाव लेश्या आत्मा का परिणाम है, परन्तु मन्द, मन्दतर और मन्दतम के भेद से उसके संख्यात, असंख्यात, अनन्त भेद होते हैं। उन असंख्यात, अनन्त भेदों का कथन करना संभव नहीं है क्योंकि संख्यात वचनों के द्वारा असंख्यात एवं अनन्त वाच्य नहीं होते। अतः लेश्याओं के छह भेद कहे हैं। इसीलिए छठे नरक के नारकियों की कृष्ण लेश्या की अपेक्षा मानवों एवं तिर्यञ्चों की कृष्ण लेश्या मन्द है और सातवें नरक के नारकी की लेश्या तीव्रतम है। इसी प्रकार स्वर्गादि में भी जानना चाहिए।

लेश्याओं का स्वरूप

लेश्याएँ आत्मा के विभाव परिणाम हैं। इन लेश्याओं के कारण ही आत्मा के साथ पुद्गल कर्मों का सम्बन्ध होता है और जीव संसार में भटकता है।

इन लेश्याओं का स्वरूप इस प्रकार है – दुराग्रह, उपदेशावमानन, तीव्र वैर, अति क्रोध, दुर्मुख,

निर्दयता, क्लेश, ताप, हिंसा, असंतोष आदि कार्यों से जानी जाने वाली कृष्ण लेश्या है। कृष्ण लेश्या के वशीभूत हुआ प्राणी तीव्र क्रोधी, वैर को नहीं छोड़ने वाला, कलहकारी, दया-धर्म से रहित स्वभावी, दुष्ट, किसी के वश में नहीं होने वाला हो जाता है तथा कार्य-अकार्य की विचार-रहितता, स्वच्छन्दता, माया, आलस्य आदि दुर्गुणों का पात्र भी कृष्ण लेश्या से ही होता है।

बहुत निद्रा आना, दूसरों के ठगने में दक्षता, धन - धान्यादिक के संग्रह करने की अति अभिलाषा आदि परिणाम नील लेश्या के लक्षण हैं। क्योंकि नील लेश्या के कारण ही यह संसारी प्राणी आलसी, मायावी, भीरु, असत्यभाषी, परवंचक व अतिलोभी होता है।

मात्सर्य, पैशून्य, पर-परिभव, आत्मप्रशंसा, पर-परिवाद, जीवननैराश्य, प्रशंसक को धनप्रदान, युद्ध में मरण की इच्छा, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विचार की शून्यता आदि कापोत लेश्या के लक्षण हैं। इस लेश्या के कारण ही यह प्राणी ईर्षालु, चुगलखोर आदि दुर्गुणों का पात्र बनता है। इन अशुभ लेश्याओं वाले चारित्र की आराधना नहीं कर सकते हैं।

दृढ़ता, मित्रता, दयालुता, सत्यवादिता, दानशीलता, स्वकार्यपटुता, सर्वधर्म-समदर्शित्व आदि तेजो पीतलेश्या के लक्षण हैं। क्योंकि कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार, सेव्य - असेव्य का ज्ञान तथा दयालुता आदि गुण तेजो लेश्या के कारण ही होते हैं।

सत्यवाक्, क्षमा, सात्विक दान, पाण्डित्य, देवशास्त्रगुरु की पूजा में रुचि आदि पद्म लेश्या के चिह्न हैं।

निर्वैर, वीतरागता, शत्रु के दोषों पर दृष्टि नहीं देना, निन्दा नहीं करना, पाप कार्यों से उदासीनता, श्रेयोमार्ग में रुचि आदि शुक्ल लेश्या के लक्षण हैं।

इन छहों लेश्याओं में कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेश्याएँ अशुभ हैं, आर्त्तरौद्र ध्यान की कारण हैं। आर्त्तरौद्र ध्यान का लक्षण पहले लिखा है, वे अपध्यान कहलाते हैं।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह की अभिलाषा अव्रत है।

जो आत्मा को कषती है, दुःख देती है, वह कषाय है। जिस प्रकार किसान खेत का कर्षण करता है, तब खेती बहुत अच्छी होती है; उसी प्रकार कषाय के द्वारा जो आत्मा का कर्षण करता है, उसके कर्म रूपी खेती बहुत अच्छी होती है। अतः आत्मा का कर्षण करने वाले, कर्म रूपी धान्य को उत्पन्न करने वाले कारण को कषाय कहते हैं।

मूलभूत कषाय चार प्रकार की है, क्रोध, मान, माया, लोभ। गुस्से को क्रोध कहते हैं। घमण्ड अभिमान को कहते हैं, छलकपट को माया कहते हैं और लालच को लोभ कहते हैं। इनके उत्तर भेद २५ हैं :

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ; संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ; हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

अनन्तानुबंधी के उदय से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती, यह सम्यग्दर्शन की घातक है। यह आत्मा अप्रत्याख्यान के उदय में देशव्रत धारण करने में समर्थ नहीं होता। प्रत्याख्यान कषाय मुनिव्रत की घातक है और संज्वलन यथाख्यात चारित्र की घातक है। इन कषायों के उदय में चारित्र की आराधना नहीं होती है।

मन, वचन, काय की अनर्गल या पाप प्रवृत्ति को दण्ड कहते हैं। मन, वचन, काय के भेद से दण्ड तीन प्रकार का है। राग-द्वेष, मोह के भेद से मानसिक दण्ड तीन प्रकार है अर्थात् मन में किसी के प्रति राग (प्रेम) होता है, द्वेष होता है तथा विषयानुराग से मोह उत्पन्न होता है, यह प्राणी विषयों में आसक्त है, अनुरंजित होता है, वह मानसिक मोह नामक दण्ड है।

असत्य भाषण, किसी के अंतरंग प्राणों के घातक वचन बोलना, चुगली करना, मर्मभेदी वचन बोलना, किसी के ज्ञान के घातक वचन बोलना, स्वकीय प्रशंसा करना, संतापकारक वचन कहना वाक्दण्ड है।

प्राणियों का वध करना, चोरी करना, मैथुन सेवन करना, परिग्रह का अर्जन करना, आरंभ करना किसी का ताड़न तथा उग्रवेष (भयानक आकृति) धारण करना आदि शारीरिक क्रिया कायदण्ड है। इन तीनों प्रकार के दण्डों का सम्बन्ध परस्पर सापेक्षिक है।

धार्मिक-आत्महित के कार्यों में प्रवृत्ति नहीं होना प्रमाद है। प्रमाद के पन्द्रह, अस्सी तथा साढ़े सैंतीस हजार भेद हैं।

चार कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ; चार विकथा - राजकथा, देशकथा, भोजनकथा और चौरकथा; स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण पाँच इन्द्रिय, निद्रा और स्नेह ये १५ प्रमाद हैं। एक कषाय, एक विकथा और एक इन्द्रिय का विषय एक समय में रहता है। इन चार कषाय, चार विकथा तथा पाँच इन्द्रियों को परस्पर गुणा करने पर प्रमाद के अस्सी भेद होते हैं। कषायों के उत्तर भेद २५ हैं, विकथा भी २५ हैं, पाँच इन्द्रिय और मन ये छह हैं।

स्त्यानगृद्धि, निद्रा, निद्रा - निद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला ये निद्रा के पाँच भेद हैं और रागद्वेष दो हैं, इनको परस्पर गुणा करने से प्रमाद के साढ़े सैंतीस हजार भेद होते हैं।

२५ × २५ = ६२५ × ६ = ३७५० × ५ = १८७५० × २ = ३७५०० ।

इन प्रमादों के वशीभूत हुए प्राणी चारित्र की आराधना नहीं कर सकते।

ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर के सौन्दर्य का अभिमान करना मद है।

शल्य (काँटे) के समान निरंतर चुभती रहती है, आत्मपरिणामों को स्थिर नहीं रहने देती, उसे शल्य कहते हैं।

भाव शल्य और द्रव्य शल्य के भेद से शल्य दो प्रकार की होती हैं।

द्रव्यशल्य सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार की है।

मिथ्यादर्शन शल्य, माया शल्य और निदान शल्य के भेद से भाव शल्य तीन प्रकार की होती है।

मिथ्यादर्शन, माया और निदान शल्य जिस कर्म के उदय से उत्पन्न होती हैं, वे मिथ्यादर्शन आदि कर्मप्रकृति द्रव्यशल्य हैं। जिस कर्म के उदय से अश्रद्धान रूप मिथ्यादर्शन, मायाचार और आगामी भोगों की इच्छा उत्पन्न होती है, उसको भाव शल्य कहते हैं।

अथवा सम्यग्दर्शन शल्य, सम्यग्ज्ञान शल्य और सम्यक्चारित्र शल्य के भेद से भावशल्य तीन प्रकार भी है। तत्त्वों में शंका करना, सांसारिक भोगों की वाञ्छा करना आदि सम्यग्दर्शन के घातक परिणाम सम्यग्दर्शन शल्य हैं। अकाल में शास्त्र पढ़ना, अक्षर-अर्थ शुद्ध नहीं पढ़ना, आदि सम्यग्ज्ञान शल्य हैं।

व्रत, समिति, गुप्ति आदि में अनादर करना, उनमें अतिचार लगाना सम्यक् चारित्र शल्य है।

माया, मिथ्यात्व और निदान की अपेक्षा के भेद से शल्य तीन प्रकार की है।

बाह्य में काय और वचन की प्रवृत्ति भिन्न होती है और आंतरिक मानसिक प्रवृत्ति भिन्न होती है अथवा हृदय में लोहे की कांड के समान निरंतर चुभती रहती है, उसे **मायाशल्य** कहते हैं।

आत्मा का स्वरूप परमात्मा के समान नित्य, निरंजन, निर्दोष है, उसको भूल कर पर-पदार्थों में रुचि की जाती है तथा आत्मस्वरूप में संशय रहता है, उसको **मिथ्याशल्य** कहते हैं।

देखे हुए, सुने हुए और अनुभूत भोगों में निरंतर चित्त का लीन रहना, आगामी भव में होने वाले भोगों की अभिलाषाओं का चित्त से नहीं निकलना **निदान** नामक शल्य है।

पंचेन्द्रिय के विषयों और मन पर विजय प्राप्त नहीं करना, छह काय के जीवों की विराधना करना असंयम है, अव्रत है। घमण्ड वा अभिमान करना गारव है। गारव तीन प्रकार का है: शब्द गारव, ऋद्धि गारव और सात गारव।

शब्द-उच्चारण का घमण्ड करना **शब्द गारव** है।

शिष्य, पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छी या पट्ट आदि के द्वारा अपने को महान् मानना **ऋद्धि गारव** है।

शरीरकी नीरोगता से अपने को उत्कृष्ट मानना **साता गारव** है, वा उत्कृष्ट भोजन-पान सामग्री के प्राप्त होने पर उनसे उत्पन्न सुख की लीला से मस्त होकर मोहमद करना साता गारव या रस गारव है। ये गारव चारित्र के घातक हैं।

जिसके उदय से उद्वेग होता है, चित्त आकुलित होता है, वह **भय** कहलाता है। भय सात प्रकार का है। इहलोक भय, परलोक भय, अरक्षा (अत्राण) भय, अगुप्ति भय, मरण भय, वेदना भय और अकस्मात् भय।

इस भव में मुझे इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग न होवे, इन पुत्र-पौत्रादिक के वियोग से भयभीत रहना **इहलोक** भय है।

परभव में भावी पर्यायरूप अंश को धारण करने वाला आत्मा परलोक है और उस परलोक से जो कम्पन के समान भय होता है, उसको **परलोक भय** कहते हैं। मेरा स्वर्ग में वा अच्छी गति में जन्म होवे, मैं दुर्गति में न जाऊँ इत्यादि रूप से हृदय का आकुलित होना **पारलौकिक भय** कहलाता है।

शरीर में वात, पित्त, कफादि के प्रकोप से होने वाली बाधा वेदना कहलाती है। मोह के कारण विपत्ति के पूर्व ही करुण क्रन्दन करना अथवा मैं नीरोग हो जाऊँ, मुझे कभी वेदना न हो, इस प्रकार की मूर्च्छा वा बार-बार चिंतन करना **वेदना भय** है।

इस भव में मेरा कोई रक्षक नहीं है, पुत्र-पौत्रादि से मैं रहित हूँ, वृद्धापन में या रोगादिक के उत्पत्तिकाल में मेरी रक्षा कौन करेगा, ऐसा चिंतन करके आक्रन्दन करना **अरक्षा** या **अत्राण भय** है।

शीत, उष्ण आदि से बचने का मेरे यहाँ कोई स्थान नहीं है, चौरादि से मुझे कोई पीड़ा न हो, ऐसा कोई गुप्त स्थान नहीं है, ऐसा चिंतन करके आकुलित होना वा आक्रन्दन करना **अगुप्ति भय** है।

जीवन की अभिलाषा से अथवा पुत्र, पौत्र, धन, धान्यादि की ममता के कारण मृत्यु से भयभीत रहना **मरणभय** है।

अकस्मात् होने वाले महान् दुःख आकस्मिक कहलाते हैं। जैसे बिजली आदि के गिरने से प्राणियों का मरण होता है। मुझ पर बिजली न गिर जाये, यह घर जीर्ण-शीर्ण है, इसकी छत मुझ पर न गिर जाये, पंखा, बिजली आदि के गिरने से मेरा अकस्मात् मरण न हो जाये, इत्यादि विचारों से मन का आकुलित रहना **अकस्मात् भय** है। ये सात प्रकार के भय सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र के घातक होने से चारित्र आराधना के उपाय नहीं हैं।

आहारादिक की अभिलाषाओं को **संज्ञा** कहते हैं। आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा के भेद से संज्ञा चार प्रकार की है।

अनेक प्रकार के अन्न-फलादि पदार्थों के देखने से, उनका बार-बार चिंतन करने से, जठराग्नि के प्रज्वलित होने से तथा असाता कर्म के उदीरण से जो खाने-पीने की, भोजन ग्रहण करने की इच्छा होती है, उसको **आहार संज्ञा** कहते हैं।

भयानक पदार्थ के देखने से, उनका बार - बार चिंतन करने से, आंतरिक शक्ति के अभाव से तथा भय कर्म की उदीरणा होने से मानसिक आकुलता होती है, शरीर में कम्पन होता है, उसको **भय संज्ञा** कहते हैं।

गरिष्ठ पदार्थ के सेवन करने से, कुशील पुरुषों की संगति से, कामोत्पादक गीत आदि के सुनने से, मन को विकृत करने वाली स्त्री-पुरुष सम्बन्धी कथाओं के सुनने से, शरीर को शृंगारित करने से तथा स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद कर्म की उदीरणा होने से स्त्री एवं पुरुष के साथ रमण करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है, उसको **मैथुन संज्ञा** कहते हैं।

क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, भांड आदि परिग्रह के देखने से, उनका बार - बार चिंतन करने से तथा लोभ कषाय की उदीरणा से जो मानसिक आकुलता होती है अर्थात् उस परिग्रह को ग्रहण करने की भावना जागृत होती है, उसको **परिग्रह संज्ञा** कहते हैं। इन दुर्लेश्या, अपध्यान, अव्रत, कषाय, दण्ड, प्रमाद, मद, शल्य, असंयम, गारव, भय, संज्ञा आदि दोषों के समूह का त्याग करना चारित्र आराधना का उपाय है।

हिंसादि पापों का त्याग करना **व्रत** है। व्रत के भेद-प्रभेदों का कथन चारित्र आराधना में किया जा चुका है।

सम्=सम्यक्प्रकार से, इति=गमनादि पाँच प्रकार की क्रिया करना **समिति** है।

जिनेन्द्रदेव ने संयमशुद्धि के लिए ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और प्रतिष्ठापन समिति ये पाँच समितियाँ कही हैं।

ईर्या समिति - चार हाथ आगे की भूमि को देखते हुए चलना अर्थात् चार हाथ आगे देखे हुए मार्ग में गमन करना।

भाषा समिति - आगमानुसार हित, मित, प्रिय, वचन बोलना।

एषणा समिति - जो चर्म आदि अशुद्ध पदार्थों के स्पर्श से रहित, उद्गम, उत्पादन आदि छ्यालीस दोषों से रहित प्रासुक हो पुनः पुनः शोधित कर उस शुद्ध आहार को ग्रहण करना।

आदान निक्षेपण समिति - पुस्तक, कमण्डलु, आदि वस्तुओं को अच्छी तरह से देखकर तथा कोमल पिच्छिका से प्रमार्जन कर उठाना और रखना।

प्रतिष्ठापन समिति - मल-मूत्र क्षेपण करते समय उस स्थान को अच्छी तरह से देखकर मृदु पिच्छिका से अच्छी तरह प्रमार्जित करके मल-मूत्र करना।

सम्यक्प्रकार से मन, वचन, काय रूप योगनिग्रह करना **गुप्ति** है। वह गुप्ति तीन प्रकार की है-

मन को विषयवासना में नहीं जाने देना, आर्त्तरौद्र ध्यान से दूर कर धर्म एवं शुक्ल ध्यान में लीन करना **मनोगुप्ति** है।

सर्व प्रकार वचन बोलने को छोड़कर अन्तर्जल्प से भी मुक्त होना **वचन गुप्ति** है।

काय सम्बन्धी चेष्टा को छोड़कर निश्चल काष्ठवत् स्थिर होना **काय गुप्ति** है।

सम्यग्दर्शन सहित यम-नियम का पालन करना, षट्काय के जीवों की रक्षा करना तथा विषय-वासनाओं में दौड़ते हुए पंचेन्द्रिय और मन को वश में करना **संयम** है। इनका विस्तार पूर्वक कथन चारित्र आराधना में किया है।

लेश्या शुभ-अशुभ के भेद से दो प्रकार की है, जिनका कथन लेश्या के प्रकरण में किया है। उनमें कृष्ण, नील, कापोत ये तीन लेश्या अशुभ हैं। पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्या हैं, अशुभ लेश्या को छोड़कर शुभ लेश्या में प्रवृत्ति करना **सल्लेश्य प्रवृत्ति** है।

सांसारिक विषय-वासना को छोड़कर पंच परमेष्ठी के गुणों का चिंतन करना या आत्मस्वरूप में लीन होना **ध्यान** है। ध्यान का विस्तारपूर्वक कथन तप आराधना में किया है।

आत्मकल्याणकारी मार्ग में ध्यान प्रमुख है तथा ध्यान में सर्वप्रथम पंच परमेष्ठी का **ध्यान** है। अतः सर्वप्रथम मन को स्थिर या एकाग्र करने के लिए पंच परमेष्ठी का ध्यान प्रमुख है। पंच परमेष्ठी वाचक ३५ अक्षरों का चिंतन करना अथवा नाभि, हृदय, कण्ठ, मुख और मस्तक पर इन पंच परमेष्ठी वाचक असिआउसा का ध्यान करना चाहिए। यह सद् ध्यान चारित्र आराधना का उपाय है।

जिसका बार-बार चिंतन किया जाता है, उसको **भावना** कहते हैं। वे भावना अनित्यादि के भेद से १२ हैं जिनका कथन तप आराधना में विस्तारपूर्वक किया है।

दर्शनविशुद्धि आदि १६ भावना तथा मैत्री आदि चार भावना चारित्र आराधना का उपाय है, जिनका कथन आगे सत्त्वादि भावना में करेंगे।

जो संसारी प्राणियों को संसार के दुःखों से निकाल कर उत्तम सुख में पहुँचाता है, उसको धर्म कहते हैं। वा वस्तु स्वभाव को धर्म कहते हैं। अहिंसा परम धर्म है। वा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र धर्म है क्योंकि इन तीनों की एकता से ही संसार के दुःखों का नाश होता है।

शुद्धि भी चारित्र आराधना का उपाय है। शुद्धि का अर्थ पवित्रता है। वह शुद्धि (पवित्रता) अंतरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार की है : बहिरंग शुद्धि वा लौकिक शुद्धि आठ प्रकार की है। काल शुद्धि, अग्नि शुद्धि, भस्म शुद्धि, मृतिका शुद्धि, गोबर शुद्धि, जल शुद्धि, ज्ञानशुद्धि और निर्विचिकित्सा शुद्धि।

कुछ काल निकलने के बाद जो शुद्धि होती है, उसे **कालशुद्धि** कहते हैं। जैसे प्रसूति वाली स्त्री की शुद्धि ४५ दिन के बाद होती है, मासिक धर्म वाली की शुद्धि पाँचवें दिन या चतुर्थ दिन में होती है। जिस घर में बालक उत्पन्न हुआ है, उस परिवार की शुद्धि दसवें दिन तथा मृतक के परिवार की शुद्धि १२वें दिन होती है, इत्यादि कालशुद्धि है। मांसाहारी या मासिक धर्म वाली स्त्री के भोजन करने पर उस बर्तन की शुद्धि **अग्नि** से तपाने पर होती है। जूठे बर्तनों को **भस्म** (राख) से माँजने पर शुद्धि होती हैं। मल, मूत्र करके आने पर मिट्टी से हाथ धोने से शुद्धि होती है, वह मृतिका शुद्धि है। कच्चे आँगन को **गोबर** से लीपने से शुद्धि होती है। वस्त्र आदि की जल से प्रक्षालन करने से शुद्धि होती है, वह **जलशुद्धि** है।

किसी वस्तु के प्रति भ्रान्ति होने से ग्लानि होती है, ज्ञान से वह भ्रान्ति मिट जाती है, वह **ज्ञान शुद्धि** है।

किसी कारण से धर्मात्माओं के प्रति ग्लानि होती है। उसको छोड़कर मन की शुद्धि करना **निर्विचिकित्सा शुद्धि** है। इस प्रकार अनेक शुद्धियों का कथन किया है। इन सब शुद्धियों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की शुद्धि प्रमुख है, वही चारित्र आराधना का मुख्य उपाय है।

२५ दोष रहित और निःशंकितादि आठ अंग सहित सम्यग्दर्शन धारण करना, सम्यग्दर्शन की घातक अभक्ष्य वस्तुओं के भक्षण करने का त्यागकर सम्यक्त्वाचरण का पालन करना **सम्यग्दर्शन की शुद्धि** है।

ज्ञान उपार्जन की साधनीभूत स्वाध्याय सम्बन्धी चार शुद्धियाँ होती हैं - द्रव्य शुद्धि, क्षेत्र शुद्धि, काल शुद्धि और भाव शुद्धि।

ज्वर, कुक्षिरोग, शिरोरोग, कुत्सित स्वप्न, रुधिर, अतिसार, पीप, मल-मूत्र के लेप रहित हो तो स्वाध्याय करना, शास्त्र पढ़ना यह द्रव्य शुद्धि है, द्रव्य की अशुद्धि में शास्त्र वाचना नहीं करनी चाहिए।

व्याख्याता से अधिष्ठित प्रदेश की चारों ही दिशाओं में अड्ढाईस हजार धनुष प्रमाण क्षेत्र में विष्ठा, मूत्र, हड्डी, केश, नख और चर्म, मांस आदि का नहीं होना **क्षेत्र शुद्धि** है।

अथवा मल छोड़ने की भूमि से सौ अरत्नि (हाथ) प्रमाण दूर, मूत्र छोड़ने की भूमि से पचास हाथ दूर, मनुष्य शरीर सम्बन्धी अवयव के स्थान से पचास धनुषतक तथा तिर्यंच शरीर सम्बन्धी अवयव से २५ धनुष दूर तक के क्षेत्र की भूमि को शुद्ध करना चाहिए।

बिजली गिरना, इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्रग्रहण का समय, अकालवृष्टि, मेघगर्जन वा मेघ से

आच्छादित दिशा, दिशादाह, धूमिकापात (कुहरा), संन्यास, महोपवास, नन्दीश्वर महिमा, जिनमहिमा आदि से रहित समय कालशुद्धि है तथा तीनों संध्याकाल और रात्रि के मध्यकाल में भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए क्योंकि उस समय काल शुद्धि नहीं है।

सूर्योदय के ४८ मिनट पूर्व और उदय होने के ४८ मिनट पश्चात् तक, उसी प्रकार सूर्य अस्त के ४८ मिनट होने के पूर्व और पश्चात् ४८ मिनट तक, मध्याह्न काल के ४८ मिनट पूर्व पश्चात् तक स्वाध्याय नहीं करना काल शुद्धि है।

आर्त्तरौद्र ध्यान को छोड़कर शास्त्र के अर्थ को ग्रहण करते हुए पठन-पाठन करना भाव शुद्धि है।

इन पाँच प्रकार की शुद्धि पूर्वक ग्रन्थ पढ़ना ज्ञानशुद्धि है। अर्थ आदि शुद्ध पढ़ना ज्ञान शुद्धि है, जिसका कथन पूर्व में किया है।

भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि, शयनासनशुद्धि और वाक्यशुद्धि ये आठ अपहृत संयम शुद्धियाँ हैं।

भावशुद्धि - कर्म के क्षयोपशम से जन्य मोक्षमार्ग की रुचि से जिसमें विशुद्धि प्राप्त हुई है और जो रागादि उपद्रवों से रहित है वह भाव शुद्धि है। इसके होते आचार उसी तरह चमक उठता है जैसे स्वच्छ दीवार पर आलेखित चित्र।

कायशुद्धि - यह समस्त आवरणों और आभरणों से रहित और सर्वत्र यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति रूप है। यह मूर्तिमान् प्रशममुख की तरह है। इसके होने पर न तो दूसरों से अपने को भय होता है और न अपने से दूसरे को।

विनयशुद्धि - अर्हन्त आदि परम गुरुओं में यथायोग्य पूजा-भक्ति आदि तथा ज्ञान आदि में यथाविधि भक्ति से युक्त गुरुओं में सर्वत्र अनुकूल वृत्ति रखने वाली प्रश्न, स्वाध्याय, वाचना, कथा और विज्ञप्ति आदि में कुशल; देश, काल और भाव के स्वरूप को समझने में तत्पर तथा आचार्य के मत का आचरण करने वाली विनयशुद्धि है। समस्त सम्पदाएँ विनयमूलक हैं। यह पुरुष का भूषण है। यह संसार समुद्र से पार उतरने के लिए नौका के समान है।

पृथिवीकायिक आदि सम्बन्धी आरम्भादि की प्रेरणा जिसमें न हो तथा जो निष्ठुर और पर-पीड़ाकारी प्रयोगों से रहित हो, व्रतशील आदि का उपदेश देने वाली हो वह सर्वतः योग्य हित, मधुर और मनोहर **वाक्यशुद्धि** है। वाक्यशुद्धि सभी सम्पदाओं का आश्रय है।

अनेक प्रकार के जीवस्थान, योनिस्थान, जीवाश्रय आदि के विशिष्ट ज्ञानपूर्वक प्रयत्न के द्वारा जिसमें जन्तुपीड़ा का बचाव किया जाता है, जिसमें ज्ञानसूर्य प्रकाश और इन्द्रिय प्रकाश से अच्छी तरह

देखकर गमन किया जाता है तथा जो शीघ्र, विलम्बित, सम्भ्रान्त, त्रिवलित, लीला, विकार, अन्य दिशाओं की ओर देखना आदि गमन के दोषों से रहित गतिवाली है, वह **ईर्यापथ शुद्धि** है।

शास्त्रोक्त विधि से ४६ दोषों का परिहार करके आहार लेना, आहार की शुद्धि रखना **भिक्षा शुद्धि** है। जैन ग्रन्थों के अनुसार दिगम्बर साधुओं का आहार भिक्षा होती है, भोजन नहीं। उस भिक्षा के चार नाम हैं - गोचरी, भ्रामरी अक्षम्रक्षण और गर्त्तपूर्ण।

जिस प्रकार गाय घास खाती है, परन्तु घास डालने वाले की तरफ नहीं देखती है, किसी पर गुस्सा नहीं करती है, अपने उदर भरने का सिर्फ अभिप्राय रहता है, उसी प्रकार दिगम्बर साधु आहार करते समय इधर-उधर नहीं देखते, इशारा संकेत आदि नहीं करते, दाता के वस्त्र आभूषण का अवलोकन नहीं करते, इसप्रकार निर्दोष शुद्ध छियालीस दोष रहित प्रासुक आहार करना **गोचरी** कहलाती है।

जिस प्रकार भ्रमर फूलों का रस चूसता है, परन्तु फूल को कष्ट नहीं देता है ; जैसे-जैसे कमल का रस चूसता है, वैसे-वैसे कमल विकसित होता है, उसी प्रकार दिगम्बर साधु जिस श्रावक के घर आहार करता है, उस श्रावक को कष्ट का अनुभव नहीं होता, अपितु उसका मन रूपी कमल अधिक आनन्दित होकर विकसित होता है। अत: उस भिक्षा को **भ्रामरी** कहते हैं।

जिस प्रकार गाड़ी के पहियों में तेल लगाकर चलाते हैं, उसे अक्षम्रक्षण कहते हैं, वह ओंगन गाड़ी चलाने के लिए होता है; उसी प्रकार तप, संयम एवं ज्ञान के साधनभूत शरीर को सुरक्षित रखने के लिए ओंगन के समान जो सरस-नीरस आहार लिया जाता है, उसको **अक्षम्रक्षण** कहते हैं।

जैसे पत्थर, मिट्टी डालकर गड्ढा भरा जाता है, उसी प्रकार सुस्वादु वा नीरस आदि का विचार न करके संयम, तप एवं ज्ञान के साधनार्थ उदर भरा जाता है, उसको **गर्त्तपूरण** कहते हैं।

इस प्रकार साधु की निर्दोष चर्या होती है। प्रासुक, शुद्ध आहार ग्रहण किया जाता है, वह **भिक्षा शुद्धि** है।

भिक्षाशुद्धि से चारित्र निर्मल एवं शुद्ध होता है। कमण्डलु, शास्त्र आदि उपकरणों को उठाना-रखना, मल-मूत्र आदि निक्षेपण करने की शुद्धि रखना, शास्त्रोक्त विधि से मल, मूत्र, नख, केश, कफ आदि का निक्षेपण करना **प्रतिष्ठापन शुद्धि** है।

शास्त्रोक्त विधि से शयन करना और बैठना **शयनासन शुद्धि** है।

संयम की रक्षा करने वाली ये आठ शुद्धियाँ हैं :

आलोचना शुद्धि, शय्यासंस्तर शुद्धि, उपकरण शुद्धि, भक्तपान शुद्धि, वैयावृत्य शुद्धि, सल्लेखना सम्बन्धी शुद्धि आदि जितनी शुद्धियाँ हैं, वे सारी चारित्र सम्बन्धी शुद्धियाँ उपरिकथित आठ प्रकार की शुद्धियों में गर्भित हो जाती हैं।

इस प्रकार व्रत, समिति, गुप्ति, संयम, शुभलेश्या, ध्यान, भावना, धर्म, शुद्धि आदि गुणों का अभ्यास करना चारित्र आराधना का उपाय है।

द्वाविंशतिभेदपरीषहविजयः सत्त्वभावनादीनाम्।
अभ्यासश्च भवेदिह तपसो ह्याराधनोपायः ॥२४०॥

अन्वयार्थ - **विंशतिभेदपरीषहविजयः** - बावीस परीषह पर विजय प्राप्त करना। **सत्त्वभावनादीनां** - सत्त्व आदि भावनाओं का। **अभ्यासः** - अभ्यास करना। **इह** - इसलोक में। **हि** - निश्चय से। **तपसः** - तपकी। **आराधनोपायः** - आराधना का उपाय। **भवेत्** - होता है।

अर्थ - इस लोक में बावीस परीषह को सहन करना, सत्त्वादि भावनाओं का अभ्यास करना, चिंतन करना, मनन करना, आत्मसात् करना तप आराधना का उपाय है अर्थात् बावीस परीषह विजयी निरंतर सत्त्वादि भावनाओं का चिंतन करता है, वही तप का आराधक होता है।

मार्ग से च्युत नहीं होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा करने के लिए जो सहन की जाती है, उसे परिषह कहते हैं।

संवरलक्षण मार्ग से अच्यवन, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग से च्युत नहीं होने के लिए जिनका अनुशीलन अभ्यास किया जाता है; जिनके सहन करने से कर्मों की निर्जरा होती है, इसलिए उन परिषह को सहन करना परिषहजय कहलाता है।

इन परिषहों को सहन करने से कर्मों के आगमनद्वार का आच्छादन होता है। परिषह को सहन करने से संवर भी होता है।

औपक्रमिक कर्मों के फल भोगते हुए मुनिजन निर्जरण कर्म वाले हो जाते हैं और क्रम से मोक्षफल को प्राप्त करते हैं।

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परिषह हैं।

निर्दोष आहार न मिलने पर अथवा अल्प आहार मिलने पर मानसिक खेद नहीं होना व कर्मनिर्जरा के लिए समतापूर्वक क्षुधा वेदना को सहन करना **क्षुधा परिषहजय** कहलाता है।

उपवास व गर्मी आदि के कारण तीव्र प्यास लगने पर भी उसका प्रतिकार नहीं करना, अपितु सन्तोष रूपी जल के द्वारा प्यास को शांत करना **तृषापरिषह जय** है।

शीतकालीन ठण्डी वायु या हिम की असह्य शीत को शांति पूर्वक सहन करना **शीतपरिषह जय** है।

ग्रीष्मकाल की प्रचण्ड गर्म वायु आदि से उत्पन्न वेदना को समतापूर्वक सहन करना **उष्ण परिषह जय** है।

डाँस, मच्छर आदि द्वारा होने वाले कष्ट को सहन करना **दंशमशक परिषह** जय है।

नग्नता से अपने मन में किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होने देना, **नाग्न्य परिषह जय** है। नाग्न्य से ही ब्रह्मचर्य व्रत का निर्दोष पालन होता है।

इन्द्रिय विषयों से विरक्त होकर संगीत आदि से रहित शून्य गृह-वृक्ष कोटर आदि में निवास करना तथा स्वाध्याय में लीन रहना **अरति परिषह जय** है।

स्त्रियों के भ्रूविलास, नेत्र कटाक्ष, शृंगार आदि को देखकर मानसिक विकार उत्पन्न नहीं होना, कछुए के समान इन्द्रियों और मन का संयमन करना **स्त्री परिषह जय** है।

नंगे पैर चलते समय कंकड़, काँटे आदि के चुभने पर उत्पन्न वेदना को समतापूर्वक सहन करना **चर्या परिषह जय** है।

ध्यान स्वाध्याय के लिए नियत काल पर्यन्त स्वीकार किये गये आसन से देवादिकृत उपसर्ग आने पर भी च्युत नहीं होना **निषद्या परिषह जय** है।

ऊँची-नीची, कंकड़, बालू आदि से कठोर भूमि पर एक करवट से लकड़ी-पत्थर के समान निश्चल सोना **शय्या परिषह जय** है।

दुष्ट और अज्ञानी जनों के द्वारा कहे गये कठोर वचन व असत्य दोषारोपण को सुनकर हृदय में रंच मात्र भी कषाय नहीं करना **आक्रोश परिषह जय** है।

तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों के द्वारा शरीर पर प्रहार करने वाले पर भी द्वेष नहीं करना, अपितु उसे पूर्वोपार्जित कर्म का फल जान कर शांतिपूर्वक सहन करना **वध परिषह जय** है।

तप या रोग के द्वारा शरीर के सूख कर अस्थि-पंजर मात्र बन जाने पर भी दीन वचन, मुख-वैवर्ण्य आदि के द्वारा भोजन-औषधि आदि की याचना नहीं करना **याचना परिषह जय** है।

अनेक दिनों तक आहार न मिलने पर भी मन में खेद नहीं करना, लाभ की अपेक्षा अलाभ को ही तप का हेतु समझना **अलाभ परिषह जय** है।

शारीरिक रोगों के उत्पन्न होने पर भी रंच मात्र मानसिक आकुलता का नहीं होना, औषधि आदि से उसके प्रतिकार की भावना नहीं करना **रोग परिषह जय** है।

चलते समय काँटे आदि के चुभने पर खेद-खिन्न नहीं होना **तृणस्पर्श परिषह जय** है।

पसीना आदि से शरीर पर धूलि आदि के जम जाने पर उत्पन्न खुजली आदि से खेद-खिन्न नहीं होना, शरीर को नहीं खुजलाना **मल परिषह जय** कहलाता है।

प्रशंसा करने को सत्कार तथा किसी कार्य में किसी को प्रधान बना देना पुरस्कार है। लोगों द्वारा सत्कार तथा किसी कार्य में पुरस्कार न दिये जाने पर भी मलिन चित्त नहीं होना, **सत्कार-पुरस्कार परिषह जय** है।

तर्क, व्याकरण, साहित्य, छन्द, अलंकार, अध्यात्मशास्त्र आदि विद्याओं में निपुण होने पर भी ज्ञान का मद नहीं करना **प्रज्ञा परिषह जय** है। सकल शास्त्रों के पारगामी होने पर भी दूसरों के द्वारा कियेगये 'यह महामूर्ख' आदि आक्षेपों को सुनकर मन में कषायों का प्रादुर्भाव नहीं होना **अज्ञान परिषह जय** है।

चिरकाल तक तप करने पर भी ऋद्धियों आदि के उत्पन्न न होने पर यह विचार नहीं करना कि यह दीक्षा निष्फल है, व्रतों का धारण करना व्यर्थ है, यह **अदर्शन परिषह जय** है।

इन बाईस परिषहों को सहन करने से आस्रव का निरोध करने वाली (संवरपूर्वक) निर्जरा होती है। जो मुनि इन बाईस परिषहों को शक्ति अनुसार सहन करते हैं तथा जो संवरपूर्वक निर्जरा करने में तत्पर हैं, उनके संवरपूर्वक निर्जरा होती है। इन बाईस परिषहों को सहन करना तप आराधना का उपाय है अर्थात् परिषहों को सहन करने वाला ही तपस्वी होता है। अतः तप आराधना के इच्छुक प्राणी को बाईस परिषहों को सहन करने का अभ्यास करना चाहिए।

वीर्यान्तराय का क्षयोपशम, चारित्रमोहोपशम-क्षयोपशम और अंगोपांग नाम कर्मोदय की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा जो भायी जाती हैं, जिनका बार-बार अनुशीलन किया जाता है, वे **भावना** हैं।

जाने हुए अर्थ का पुनः-पुनः चिन्तन करना भावना है। तपोभावना, श्रुतभावना, सत्त्व भावना, एकत्व भावना और धृतिबल भावना ऐसी पाँच भावनाएँ तप आराधना की कारण हैं।

तपश्चरण से इन्द्रियों का मद नष्ट होता है, इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं, जिससे रत्नत्रय में स्थिरता होती है, साधुगण उसे **तपोभावना** कहते हैं।

श्रुतभावना करना अर्थात् तद्विषयक ज्ञान में बारम्बार प्रवृत्ति करना श्रुत भावना है। इस श्रुतज्ञान की भावना से सम्यग्ज्ञान, दर्शन, तप, संयम इन गुणों की प्राप्ति होती है।

देवों से उपद्रव किया गया हो, भयंकर व्याघ्रादिरूप धारण कर पीड़ित किया गया हो तो मुनि जिस भावना को हृदय में रखकर, दुखों को सहन कर और निर्भय होकर संयम का सम्पूर्ण भार धारण करता है उसे **सत्त्व भावना** कहते हैं।

एकत्व भावना का आश्रय लेकर विरक्त हृदय से मुनि कामभोग में, चतुर्विध संघ में और शरीर

में आसक्त न होकर उत्कृष्ट रूप चारित्र धारण करता है। चार प्रकार के उपसर्गों के साथ भूख-प्यास, शीत-उष्ण वगैरह बाईस प्रकार के दुखों को उत्पन्न करने वाली बाईस परिषह रूपी सेना दुर्द्धर संकट रूपी वेग से युक्त होकर जब मुनिराज पर आक्रमण करती है, तब अल्पशक्तिधारक मुनिगण को भय होता है। धैर्यरूपी परिधान जिसने बाँधा है, ऐसा पराक्रमी मुनि धृति भावना हृदय में धारण कर परिषहों को सहन करने में समर्थ होता है, उसे **धृतिबल भावना** कहते हैं।

प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार प्रकार के आगम हैं, उनका अभ्यास करना **श्रुत भावना** है।

मूल और उत्तर गुण आदि के अनुष्ठान के विषय में गाढ़ वृत्ति होना **सत्त्व भावना** है।

अथवा घोर उपसर्गविजयी सुकुमाल आदि के गुणों का चिंतन करके परिषहादि उपसर्ग आने पर व्रतों से च्युत नहीं होना **धृति भावना** है।

ज्ञान, दर्शन, लक्षण वाली मेरी आत्मा से पौत्र-पुत्र आदि सर्व भिन्न हैं। ये संयोगी हैं, मेरे स्वरूप वा मेरा हित करने वाले नहीं हैं, ऐसा चिंतन **एकत्व भावना** है।

मान में, अपमान में, सुख में, दुःख-हानि में, लाभ में समता रखना **संतोष भावना** है।

सर्व जीवों के साथ **मैत्री**-भाव, गुणीजनों के प्रति **प्रमोद** भाव, दीन-दुःखी जीवों पर **कारुण्य** भाव और दुर्जन एवं कुमार्गरतों पर **माध्यस्थ** भाव ये आत्मकल्याणकारी चार **भावनाएँ** हैं।

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म रूप स्वतत्त्व का चिंतन करने योग्य १२ भावनाएँ हैं। दर्शन विशुद्धि आदि १६ कारण भावनाएँ हैं।

वैराग्य भावना, एक-एक व्रत की पाँच-पाँच भावना आदि अनेक प्रकार से भावनाओं का कथन किया है, परन्तु आराधना में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की भावनाओं को मुख्य कहा है।

संसार और शरीर का चिंतन करके उनसे विरक्त होना **वैराग्य भावना** है।

संवेग और वैराग्य के लिए संसार एवं शरीर का चिंतन करना परमावश्यक है।

विषयों से विरक्त होना विराग है और विराग के भाव या कर्म को वैराग्य कहते हैं।

माध्यस्थ, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृहा, वैतृष्ण्य, परम शांति ये सर्व एकार्थवाची हैं। इनसे वैराग्य, समता, निस्पृहता उत्पन्न होती है।

शारीरिक अशुचि का विचार करने से शरीर से विरक्ति होती है और संसार के स्वभाव का चिंतन करने से सांसारिक दुःखों से भय उत्पन्न होता है और संसार से अरुचि उत्पन्न होती है।

इस प्रकार बाईस परिषहों को सहन करना और सत्त्वादि भावनाओं का अभ्यास करना तप आराधना का उपाय है।

आराधना उपाय का कथन पूर्ण हुआ।

चार प्रकार की आराधना का फल

आराधनाचतुष्कप्रभवं फलमपि चतुर्विधं भवति।
तत्रैकैकं द्विविधं त्वमुख्यमुख्यप्रभेदेन ॥२४१॥

अन्वयार्थ - आराधनाचतुष्कप्रभवं - चार आराधना से उत्पन्न। **फलं** - फल। **अपि** - भी। **चतुर्विधं** - चार प्रकार का। **भवति** - होता है। **तु** - परन्तु। **तत्र** - उसमें। **एकैकं** - एक-एक का। **अमुख्य-मुख्यप्रभेदेन** - अमुख्य और मुख्य के भेद से। **द्विविधं** - दो प्रकार का है।

अर्थ - चार आराधना से उत्पन्न होने वाला फल भी चार प्रकार का है - दर्शनाराधना का फल, ज्ञानाराधना का फल, चारित्र आराधना का फल और तपाराधना का फल। इनमें एक-एक आराधना का फल, मुख्य और अमुख्य के भेद से दो-दो प्रकार का है।

प्राणियों के द्वारा की गई कोई भी क्रिया (मन, वचन और काय की चेष्टा) निष्फल निरर्थक नहीं होती। क्रिया का फल अवश्य प्राप्त होता है। आराधना भी क्रिया है। मन, वचन और काय की चेष्टा है। अत: इसका भी फल अवश्य है। उनमें एक-एक आराधना का मुख्य और अमुख्य के भेद से फल दो - दो प्रकार का है।

सम्यग्दर्शन आराधना का मुख्य और अमुख्य फल

एकेन्द्रियजात्यादिष्वनुद्भवः संभवस्तु नाकादि-।
निलयेष्वमुख्यफलमिह सम्यक्त्वाराधनायास्तत् ॥२४२॥
निःशेषदुरितनिवहक्षयकारणमचलरूपतत्त्वरुचिः।
क्षायिकसम्यक्त्वं तन्मुख्यफलं बुधजनाभीष्टम् ॥२४३॥

अन्वयार्थ - इह - इस लोक में। **सम्यक्त्वाराधनायाः** - सम्यग्दर्शनाराधना का। **एकेन्द्रियजात्यादिषु** - एकेन्द्रियादि जातियों में। **अनुद्भवः** - उत्पत्ति नहीं होना है। **तु** - और। **नाकादिनिलयेषु** - स्वर्गादि स्थानों में। **संभवः** - उत्पत्ति होना। **तत्** - वह। **अमुख्यफलं** - अमुख्यफल है॥

निःशेषदुरितनिवहक्षयकारणं - सम्पूर्ण पाप-प्रकृतियों के समूह के क्षय की कारणीभूत। **अचलरूपतत्त्वरुचिः** - अचल रूप तत्त्व रुचि। **क्षायिक सम्यक्त्वं** - क्षायिक सम्यक्त्व है। **तत्** - वह। **बुधजनाभीष्टं** - विद्वानों को अभीष्ट। **मुख्य फलं** - मुख्य फल है।

अर्थ - सम्यग्दर्शन की आराधना करने वाला प्राणी एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय नहीं होता। मिथ्यात्व अवस्था में नरकायु वा तिर्यंच आयु का बन्ध कर लिया हो, तदनन्तर क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त किया हो, ऐसे जीव प्रथम नरक में और भोगभूमिया तिर्यंचों में उत्पन्न हो सकते हैं; अन्यथा सम्यग्दृष्टि नरक और तिर्यञ्चों में उत्पन्न नहीं होते हैं।

सर्व प्रकार की स्त्रियों में, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषियों में, नीच कुल में उत्पन्न नहीं होते हैं। वे विकलांग नहीं होते हैं। वर्त्तमान में उनके ४१ कर्मप्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है। यह सम्यग्दर्शनाराधना का अमुख्य फल है।

सम्यग्दृष्टि स्वर्गों में उत्पन्न होते हैं, उनको चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है और अनेक प्रकार के सांसारिक सुख प्राप्त होते हैं, यह भी अमुख्य फल है।

सम्पूर्ण पाप प्रकृतियों के समूह का नाश करने वाली अचल तत्त्व रुचि रूप क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होना ही सम्यक्त्व आराधना का मुख्य फल विद्वज्जनों को इष्ट है अर्थात् दर्शनाराधना का मुख्य फल क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति है।

जैन ग्रन्थों में जो सम्यग्दर्शन की महिमा लिखी है, वही सम्यग्दर्शन आराधना का फल है। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जो सांसारिक अभ्युदय प्राप्त होता है, वह अमुख्य फल है और कर्मास्रव का निरोध एवं क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति एवं कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा होती है, वह मुख्य फल है।

ज्ञानाराधना का फल

अज्ञानस्य विनाशनमवधिमन:पर्ययादिसंज्ञानो-।
त्पत्तिश्चामुख्यफलं तद्ज्ञानाराधनोद्भूतम्॥२४४॥
क्रमकरणव्यवधानापेतस्त्रैकाल्यवर्त्ति विश्वार्थ-।
द्योती केवलबोधो मुख्यफलं तत्र भवति भृशम्॥२४५॥

अन्वयार्थ - **तद्ज्ञानाराधनोद्भूतम्** - उस ज्ञान आराधना से उत्पन्न। **अमुख्यफलं** - अमुख्य फल। **अज्ञानस्य विनाशनं** - अज्ञान का विनाश। **च** - और। **अवधिमन:पर्ययादिसंज्ञानोत्पत्ति:** - अवधिज्ञान, मन:पर्यय आदि सम्यग्ज्ञानों की उत्पत्ति है। **च** - और। **तत्र** - इस सम्यग्ज्ञान की आराधना में। **मुख्यफलं** - मुख्यफल। **क्रमकरणव्यवधानापेत:** - क्रम और इन्द्रियों के व्यवधान से रहित। **त्रैकाल्यवर्त्ती विश्वार्थद्योती** - त्रिकालवर्त्ती सारे पदार्थों को प्रकाशित करने वाला। **केवलबोध:** - केवलज्ञान। **भृशं** - शीघ्र ही। **भवति** - होता है॥३५॥

अर्थ - अक्षर आदि शुद्ध पढ़कर जो ज्ञान की आराधना करते हैं अर्थात् आठ अंग सहित शास्त्र आदि का पठन-पाठन करते हैं वह ज्ञान आराधना है। उस ज्ञान आराधना का अमुख्य फल है - अवधिज्ञान

और मन:पर्ययज्ञान की प्राप्ति। क्योंकि अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान श्रुत की आराधना से ही उत्पन होते हैं। श्रुत का अभ्यास अंतरंग तप है और तप से कर्मों की निर्जरा होती है तथा कर्मों की निर्जरा से अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान की प्राप्ति होती है।

केवलज्ञान की प्राप्ति भी श्रुतज्ञान की आराधना से होती है। क्योंकि शुक्ल ध्यान ११ अंग और १४ पूर्व के पाठी को ही होता है। अथवा श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप को जानकर निर्विकल्प समाधि में लीन हो स्वकीय शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं, वे शुक्ल ध्यान के द्वारा चार घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। जो इन्द्रियों की सहायता के बिना क्रम रहित तीन लोक में स्थित सारे पदार्थों को एक समय में ही जान लेते हैं, ऐसे सारे पदार्थों को एक साथ जानने वाले केवलज्ञान की उत्पत्ति वा प्राप्ति ज्ञान-आराधना का मुख्य फल है। यद्यपि इस ग्रन्थ में ज्ञान आराधना के कथन में चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये चार दर्शन और आठ ज्ञान तथा नयों का कथन या भेद कहे गये हैं, परन्तु वास्तव में श्रुतज्ञान की आराधना ही ज्ञान आराधना है। ज्ञान की आराधना में श्रुतज्ञान का ही विशेष कथन है तथा अक्षर शुद्ध पढ़ना, अर्थ शुद्ध पढ़ना आदि श्रुतज्ञान के ही आठ अंग हैं। विशेष रूप से पूजा, आराधना, भक्ति श्रुतज्ञान की ही की जाती है। क्योंकि अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान श्रुतज्ञान की आराधना के फल हैं।

अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान के बिना केवलज्ञान हो सकता है, परन्तु श्रुतज्ञान के बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता। अत: ज्ञानाराधना का अमुख्य (गौण) फल है अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान की प्राप्ति और मुख्य फल है केवलज्ञान की प्राप्ति। अर्थात् ज्ञानाराधना के आराधक को शीघ्र ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

चारित्र आराधना का अमुख्य फल

परिहाराहारर्द्धिक सूक्ष्मचरित्रादि बहुविधोऽभ्युदय:।
सप्तर्द्धयोऽप्यमुख्यं फलं चरित्रस्य जानीयात्॥२४६॥

अन्वयार्थ - परिहाराहारर्द्धिक सूक्ष्म चरित्रादि बहुविध: - परिहार विशुद्धि संयम, आहारक ऋद्धि, सूक्ष्म सांपराय चारित्र आदि बहुत प्रकार के। **अभ्युदय:** - अभ्युदय। **अपि** - और। **सप्तर्द्धय:** - सात प्रकार की ऋद्धियाँ। **चरित्रस्य** - चारित्र आराधना का। **अमुख्यफलं** - अमुख्य फल। **जानीयात्** - जानना चाहिए।

अर्थ - परिहार विशुद्धि संयम, सूक्ष्म साम्पराय चारित्र आदि अनेक प्रकार का अभ्युदय और बुद्धि आदि सात ऋद्धियों की प्राप्ति चारित्र आराधना का अमुख्य फल जानना चाहिए।

परिहारविशुद्धि संयम का और सूक्ष्म साम्पराय चारित्र का लक्षण चारित्राराधना में लिखा है।

इन्द्रपद, चक्रवर्ती पद, नारायण पद, आदि अनेक प्रकार के सांसारिक वैभव अभ्युदय कहलाते हैं, इन अभ्युदयों की प्राप्ति चारित्र के बल पर ही होती है।

बुद्धि ऋद्धि, तपर्द्धि, विक्रियर्द्धि, औषधर्द्धि, रसर्द्धि, बलर्द्धि और अक्षीणर्द्धि ये ऋद्धियाँ भी चारित्राराधना के कारण से उत्पन्न होती हैं, अत: ये चारित्राराधना का अमुख्य फल हैं।

कहा भी है -

बुद्धितवो वि य लद्धी विउवणलद्धी तहेव ओसहिया।
रसबलअक्खीणा वि य लद्धीओ सत्त पण्णत्ता॥

बुद्धि लब्धि, तपलब्धि, विक्रियालब्धि, औषधिलब्धि, रसलब्धि, बललब्धि और अक्षीणलब्धि ये सात लब्धियाँ कही हैं।

अन्य ग्रन्थों में आठ ऋद्धियाँ कही हैं, यहाँ पर सात ऋद्धियाँ कही हैं। विक्रियर्द्धि और चारण ऋद्धि का भेदरूप कथन नहीं करने पर सात ऋद्धियाँ होती हैं।

तपश्चरण के प्रभाव से कदाचित् किन्हीं योगिजन को कुछ चामत्कारिक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं, उन्हें ऋद्धि कहते हैं। यद्यपि ऋद्धियाँ अनेक प्रकार की हैं तथा आचार्यदेव ने मूल में सात प्रकार की वा किन्हीं अन्य आचार्यों के मतानुसार आठ प्रकार की ऋद्धियाँ होती हैं और उनके उत्तर भेद ६४ (चौंसठ) हैं। बुद्धि ऋद्धि के अठारह भेद हैं, वे इस प्रकार हैं -

अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुण्डा और प्रत्यामुण्डा ये बुद्धि के पर्यायवाची नाम हैं अर्थात् जिसके द्वारा अभिहित अर्थ 'बुद्ध्यते' जाना जाता है, वह बुद्धि है।

बुद्धि का अर्थ ज्ञान है। बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान इनका एक ही अर्थ है। उस बुद्धि की उपलब्धि बुद्धि ऋद्धि है।

केवलज्ञान ऋद्धि - ज्ञानावरण कर्म के सर्वथा क्षय से उत्पन्न असहाय, त्रैकालिक एवं तीन लोक में स्थित सर्व पदार्थों को एक साथ जानना केवलज्ञान ऋद्धि है।

मन:पर्ययज्ञान ऋद्धि - मन:पर्यय ज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न दूसरों के मन की बात को जानने वाला ज्ञान।

अवधिज्ञान ऋद्धि - अवधि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा से रूपी पदार्थों को जानने वाला ज्ञान।

बीजबुद्धि ऋद्धि - नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय इन तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट

क्षयोपशम होने से विशुद्ध परिणामों के धारी किसी महर्षि को बीजबुद्धि प्राप्त होती है। जो संख्यात स्वरूप शब्दों के बीच में से लिंग सहित एक ही बीजभूत पद को पर के उपदेश से प्राप्त करके उस पद के आश्रय से सम्पूर्ण श्रुत को विचार कर के ग्रहण करती है, वह **बीजबुद्धि** है।

बीज समान होने से बीज कही जाती है, जैसे बीज मूल, अंकुर, पत्र, पोर, स्कन्ध, प्रसव, तुष, कुसुम, क्षीर और तन्दुल आदि का आधार है, उसी प्रकार बारह अंगों के अर्थ का आधारभूत जो पद है, वह बीज तुल्य होने से बीज कहलाता है। बीजपद विषयक मतिज्ञान भी कार्य में कारण के उपचार से बीज है अर्थात् १२ अंगों के अर्थ को जानने का आधार बीजबुद्धि है। यह बीजबुद्धि विशिष्ट अवग्रहावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होती है। यह बीज बुद्धि संख्यात शब्दों के अनन्त अर्थों से सम्बद्ध अनन्त लिंगों के साथ बीज पद को जानने वाली है।

कोष्ठबुद्धि ऋद्धि - उत्कृष्ट धारणा से युक्त जो कोई पुरुष गुरु के उपदेश से नाना प्रकार के ग्रन्थों में से विस्तार पूर्वक लिंग सहित शब्द रूप बीजों को अपनी बुद्धि में ग्रहण करके उन्हें मिश्रण के बिना बुद्धि रूपी कोठे में धारण करता है, उसकी बुद्धि कोष्ठबुद्धि कही जाती है।

जैसे शालि, ब्रीहि, जौ, गेहूँ आदि के आधारभूत कोथली, पल्ली आदि का नाम कोष्ठ है, उसी प्रकार समस्त द्रव्य, पर्याय और गुणों को धारण करने वाली बुद्धि कोष्ठ के समान होने से इसको भी कोष्ठबुद्धि कहते हैं। इसका अर्थधारणा काल जघन्य से संख्यात वर्ष और उत्कृष्ट से असंख्यात वर्ष है क्योंकि संख्यात वा असंख्यात वर्ष तक धारणा रह सकती है अर्थात् धारणावरणीय ज्ञानावरण कर्म के तीव्र क्षयोपशम से, बीजबुद्धि के द्वारा ज्ञात पदार्थों को असंख्यात वर्षों तक नहीं भूलना, ज्ञान में स्थित रखना **कोष्ठबुद्धि** है।

पद का जो अनुसरण या अनुकरण करती है, वह **पदानुसारी बुद्धि** है। बीजबुद्धि से बीजपद को जानकर, यहाँ यह इन अक्षरों का लिंग होता है और इनका नहीं, इस प्रकार विचार कर समस्त श्रुत के अक्षर पदों को जानने वाली पदानुसारी बुद्धि है (उन पदों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है, वह अक्षर-पदविषयक नहीं है, क्योंकि उन अक्षरों-पदों का बीजपद में अन्तर्भाव है। ईहावरणीय कर्म के तीव्र क्षयोपशम से होती है।)

विचक्षण पुरुषों ने पदानुसारिणी बुद्धि को **अनुसारणी, प्रतिसारणी** और **उभयसारणी** के भेद से तीन प्रकार का कहा है, इस बुद्धि के ये यथार्थ नाम हैं। जो बुद्धि आदि, मध्य अथवा अन्त में गुरु के उपदेश से एक बीजपद को ग्रहण करके उपरिम (अर्थात् उससे आगे के) ग्रन्थ को ग्रहण करती है, वह **'अनुसारिणी'** बुद्धि कहलाती है। गुरु के उपदेश से आदि, मध्य अथवा अन्त में एक बीजपद को ग्रहण करके जो बुद्धि अधस्तन (पीछे वाले) ग्रन्थ को जानती है, वह **'प्रतिसारिणी'** बुद्धि है। जो बुद्धि नियम अथवा अनियम से एक बीजशब्द के (ग्रहण करने पर) उपरिम और अधस्तन (अर्थात् उस पद के आगे व पीछे के सर्व) ग्रन्थ को एक साथ जानती है, वह **'उभयसारिणी'** बुद्धि है।

श्रोत्रेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर श्रोत्रेन्द्रिय के उत्कृष्ट क्षेत्र से बाहर दशों दिशाओं में संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित मनुष्य एवं तिर्यञ्चों के अक्षरानक्षरात्मक बहुत प्रकार के उठने वाले शब्दों को सुनकर जिससे (युगपत्) प्रत्युत्तर दिया जाता है, वह **संभिन्न श्रोतृत्व नामक बुद्धि ऋद्धि** कहलाती है। यह ऋद्धि बहु, बहुविध और क्षिप्र (मति) ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से होती है।

इन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय इन तीन प्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नाम कर्म के उदय होने पर उस सम्बन्धित विषयों को जान लेना उस-उस नाम की ऋद्धि है। यथा जिह्वा इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से 'दूरास्वादित्व', स्पर्शन इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से 'दूरस्पर्शत्व', 'घ्राणेन्द्रियावरण के क्षयोपशम से 'दूरघ्राणत्व', श्रोत्रेन्द्रियावरण के क्षयोपशम से 'दूरश्रवणत्व' और चक्षुरिन्द्रियावरण के क्षयोपशम से 'दूरदर्शित्व' ऋद्धि होती है।

श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर 'प्रज्ञाश्रमण' ऋद्धि उत्पन्न होती है। प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि से युक्त महर्षि बिना अध्ययन किये ही चौदह पूर्वों में विषय की सूक्ष्मता को लिये हुए सम्पूर्ण श्रुत को जानता है और उसको नियमपूर्वक निरूपण करता है, उसकी बुद्धि को प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि कहते हैं। वह औत्पत्तिकी, पारिणामिकी, वैनयिकी और कर्मजा, इन भेदों से चार प्रकार की जाननी चाहिए।

विनय से अधीत श्रुतज्ञान यदि किसी प्रकार प्रमाद से विस्मृत हो जाता है तो उसे वह पूर्वभव में उपस्थित करती है और केवलज्ञान को बुलाती है, यह औत्पत्तिकी प्रज्ञाश्रमण छह मास के उपवास से कृश होता हुआ भी उस बुद्धि के माहात्म्य को प्रकट करने के लिए पूछने रूप क्रिया में प्रवृत्त हुए चौदह पूर्वी को भी उत्तर देता है। निज-निज जाति विशेषों में उत्पन्न हुई बुद्धि 'पारिणामिकी' है। द्वादशांग श्रुत के योग्य विनय से उत्पन्न होने वाली 'वैनयिकी' और उपदेश के बिना ही विशेष तप की प्राप्ति से आविर्भूत हुई चतुर्थ 'कर्मजा' प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि समझनी चाहिए।

जिसके द्वारा गुरु-उपदेश के बिना ही कर्मों के उपशम से सम्यग्ज्ञान और तप के विषय में प्रगति होती है, वह प्रत्येकबुद्धि ऋद्धि कहलाती है।

जो महर्षि सम्पूर्ण आगम के पारंगत हैं और श्रुतकेवली नाम से प्रसिद्ध हैं, उनके चौदह पूर्वी नामक बुद्धि ऋद्धि होती है। पूर्ण श्रुतकेवली हो जाना चतुर्दशपूर्वीत्व नामकी ऋद्धि होती है।

दसवें पूर्व के पठन में रोहिणी प्रभृति महाविद्याओं के पाँच सौ और अंगुष्ठप्रसेनादिक (प्रश्नादिक) क्षुद्र विद्याओं के सात सौ देवता आकर आज्ञा माँगते हैं। इस समय जो महर्षि जितेन्द्रिय होने के कारण उन विद्याओं की इच्छा नहीं करते हैं, वे 'विद्याश्रमण' इस पर्याय नाम से भुवन में प्रसिद्ध होते हुए अभिन्नदशपूर्वी कहलाते हैं। उन मुनियों की बुद्धि को दशपूर्वी जानना चाहिए।

महारोहिण्यादि लौकिक विद्याओं के प्रलोभन में न पड़कर दशपूर्व का पाठी होता है, वह दशपूर्वित्व है।

भिन्न अथवा अभिन्न के भेद से दशपूर्वी दो प्रकार हैं। उनमें ११ अंगों को पढ़कर पश्चात् परिकर्म सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका इन पाँच अधिकारों में निबद्ध दृष्टिवाद के पढ़ते समय उत्पाद पूर्व को आदि करके पढ़ने वाले के दशमपूर्व विद्यानुवाद के समाप्त होने पर अंगुष्ठप्रसेनादि सात सौ क्षुद्र विद्याओं से अनुगत रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याएँ 'भगवान् क्या आज्ञा देते हैं' ऐसा कहकर उपस्थित होती हैं। इस प्रकार उपस्थित हुई सब विद्याओं के लाभ को प्राप्त होता है, वह भिन्न दशपूर्वी है। किन्तु जो कर्मक्षय का अभिलाषी होकर उनमें लोभ नहीं करता है, वह अभिन्नदशपूर्वी कहलाता है। भिन्नदशपूर्वियों के जिनत्व नहीं है, क्योंकि जिनके महाव्रत नष्ट हो चुके हैं, उनमें जिनत्व घटित नहीं होता।

आठ महानिमित्तों में कुशलता अष्टांग महानिमित्तज्ञता है। नैमित्तिक ऋद्धि अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, चिह्न (छिन्न) और स्वप्न इन आठ भेदों से विस्तृत है। वहाँ स्वप्न निमित्तज्ञान के चिह्न और मालारूप से दो भेद हैं।

सूर्य, चन्द्र और ग्रह इत्यादि के उदय व अस्तमान आदिकों को देखकर जो क्षीणता और सुख-दुख (जन्म-मरण) को जानता है, वह नभ या **अन्तरिक्ष निमित्तज्ञान** है। पृथ्वी के घन, सुषिर (पोलापन) स्निग्धता और रुक्षता प्रभृति गुणों को विचार कर जो ताँबा, लोहा, सुवर्ण और चांदी आदि धातुओं की हानि-वृद्धि को तथा दिशा-विदिशाओं के अन्तराल में स्थित चतुरंग बल को देखकर जो जय-पराजय को भी जानता है, उसे **भौम निमित्तज्ञान** कहा गया है। मनुष्यों और तिर्यंचों के निम्न व उन्नत अंगोपांगों के दर्शन व स्पर्श से वात, पित्त, कफ रूप तीन प्रकृतियों और रुधिरादि सात धातुओं को देखकर तीनों कालों में उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख या मरणादि को जानना, यह **अंगनिमित्त** नाम से प्रसिद्ध है। मनुष्यों और तिर्यंचों के विचित्र शब्दों को सुनकर कालत्रय में होने वाले सुख-दुःख को जानना, यह **स्वर निमित्तज्ञान** है। सिर, मुख और कन्धे आदि पर तिल एवं मस्से आदि को देखकर तीनों काल के सुखादिक को जानना, यह **व्यञ्जन निमित्तज्ञान** है। हाथ, पाँव के नीचे की रेखायें, तिल आदि देखकर त्रिकाल सम्बन्धी सुख-दुःखादि को जानना सो **लक्षण निमित्त** है। देव, दानव, राक्षस, मनुष्य और तिर्यञ्चों के द्वारा छेदे गये शस्त्र एवं वस्त्रादिक तथा प्रासाद, नगर और देशादिक चिह्नों को देखकर त्रिकालभावी शुभ, अशुभ, मरण, विविध प्रकार के द्रव्य और सुख-दुःख को जानना, यह **चिह्न या छिन्न निमित्तज्ञान** है। वात, पित्तादि दोषों से रहित व्यक्ति, सोते हुए रात्रि के पश्चिम भाग में अपने मुखकमल में प्रविष्ट चन्द्र-सूर्यादि रूप शुभस्वप्न को और घृत व तेल की मालिश आदि, गर्दभ व ऊँट आदि पर चढ़ना तथा परदेशगमन आदि रूप जो अशुभ स्वप्न को देखता है, इसके फलस्वरूप तीन काल में होने वाले दुःख-सुखादिक को बतलाना यह **स्वप्न निमित्त** है। इसके चिह्न और मालारूप दो भेद हैं। इनमें से स्वप्न में हाथी, सिंहादिक के दर्शन मात्र आदिक को चिह्नस्वप्न और पूर्वापर सम्बन्ध रखने वाले स्वप्न को माला स्वप्न कहते हैं।

वादित्व का लक्षण - जिस ऋद्धि के द्वारा शक्रादि के पक्ष को भी बहुत वाद से निरुत्तर कर दिया जाता है और पर के द्रव्यों की गवेषणा (परीक्षा) करता है, (अर्थात् दूसरों के छिद्र या दोष ढूँढता है) वह वादित्व ऋद्धि कहलाती है।

अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान और कामरूप इस प्रकार के अनेक भेदों से युक्त विक्रिया नामक ऋद्धि तपोविशेष से श्रमणों को हुआ करती है। अथवा अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामरूपित्व - इस प्रकार विक्रिया ऋद्धि आठ प्रकार की है।

अणिमा विक्रिया - शरीर को अणु के बराबर करना अणिमा ऋद्धि है। इस ऋद्धि के प्रभाव से महर्षि अणु के बराबर छिद्र में प्रविष्ट होकर वहीं चक्रवर्ती के कटक और निवेश की विक्रिया द्वारा रचना करते हैं।

शरीर को मेरु के बराबर करने को **महिमा**, शरीर को वायु से भी लघु (हलका) करने को **लघिमा** ऋद्धि कहते हैं। शरीर को मेरु से भी अधिक भारी करने को **गरिमा** कहते हैं।

भूमि पर स्थित रहकर अंगुलि के अग्रभाग से सूर्य-चन्द्रमादिक को तथा अन्य वस्तु को प्राप्त करना यह **प्राप्ति** ऋद्धि है। जिस ऋद्धि के प्रभाव से जल के समान पृथ्वी पर उन्मज्जन क्रिया करता है और पृथ्वी के समान जल पर भी गमन करता है, वह **प्राकाम्य** ऋद्धि है।

कुलाचल और मेरु पर्वत के पृथिवीकायिक जीवों को बाधा न पहुँचाकर उनमें, तपश्चरण के बल से उत्पन्न हुई गमनशक्ति को **प्राकाम्य** ऋद्धि कहते हैं।

कोई कोई आचार्य, अनेक तरह की क्रिया, गुण वा द्रव्य के आधीन होने वाले सेना आदि पदार्थों को अपने शरीर से भिन्न अथवा अभिन्न रूप बनाने की शक्ति प्राप्त होने को **प्राकाम्य** कहते हैं।

जिससे सब जगत् पर प्रभुत्व होता है, वह **ईशित्व** नामक ऋद्धि है और जिससे तपोबल द्वारा जीवसमूह वश में होते हैं, वह **वशित्व** ऋद्धि कही जाती है।

सब जीवों तथा ग्राम, नगर एवं खेड़े आदिकों को भोगने की शक्ति उत्पन्न होती है, वह **ईशित्व** ऋद्धि कही जाती है। मनुष्य, हाथी, सिंह एवं घोड़े आदिक रूप अपनी इच्छा से विक्रिया करने की (अर्थात् उनका आकार बदल देने की) शक्ति का नाम **वशित्व** है।

ईशित्व व वशित्व विक्रिया में अन्तर - वशित्व का ईशित्व ऋद्धि में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि अवशीकृतों का भी उनका आकार नष्ट किये बिना ईशित्वकरण पाया जाता है।

प्रश्न - क्या ईशित्व और वशित्व के विक्रियापने विरोध सम्भव है ?

उत्तर - नहीं, क्योंकि नाना प्रकार के गुणों व ऋद्धियों से युक्त होने का नाम विक्रिया है, अतएव उन दोनों के विक्रियापने में कोई विरोध नहीं है।

जिस ऋद्धि के बल से शैल, शिला और वृक्षादि के मध्य में होकर आकाश के समान गमन किया जाता है, वह सार्थक नाम वाली **अप्रतिघात** ऋद्धि है। जिस ऋद्धि से अदृश्यता प्राप्त होती है, वह **अन्तर्धान** नामक ऋद्धि है और जिससे युगपत् बहुत से रूपों को रचता है, वह **कामरूप** ऋद्धि है।

इच्छित रूप के ग्रहण करने की शक्ति का नाम **रूपित्व** है।

चारण ऋद्धि क्रम से जलचारण, जंघाचारण, फलचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, अग्निशिखाचारण, धूमचारण, मेघचारण, धाराचारण, मर्कटतन्तुचारण, ज्योतिषचारण और मरुचारण इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्प समूहों से विस्तार को प्राप्त है। इस चारण ऋद्धि के विविध भंगों से युक्त विभक्त किये हुए और भी भेद होते हैं। परन्तु उनके स्वरूप का कथन करने वाला उपदेश हमारे लिए नष्ट हो चुका है। नभस्तलगामिनी और चारणत्व के भेद से चारण ऋद्धि दो प्रकार की है।

जल, जंघा, तन्तु, फल, पुष्प, बीज, आकाश और श्रेणी के भेद से चारण ऋद्धिधारक आठ प्रकार के हैं।

जिस ऋद्धि के द्वारा कायोत्सर्ग अथवा अन्य प्रकार से स्थित होकर या बैठकर ऊपर जाता है, वह **आकाशगामिनी** ऋद्धि है।

पर्यंकासन से बैठकर अथवा अन्य किसी आसन से बैठकर या कायोत्सर्ग शरीर से पैरों को उठाकर-रखकर तथा बिना पैरों के उठाये-रखे आकाश में गमन करने में जो कुशल होते हैं, वे आकाशगामी हैं।

आकाश में इच्छानुसार मानुषोत्तर पर्वत से घिरे हुए इच्छित प्रदेशों में गमन करने वाले आकाशगामी हैं, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। यहाँ देवों व विद्याधरों का ग्रहण नहीं है।

चार अंगुल से अधिक प्रमाण में भूमि से ऊपर आकाश में गमन करने वाले ऋषि **आकाशचारण** कहे जाते हैं।

प्रश्न - आकाशचारण और आकाशगामी में क्या भेद है ?

उत्तर - चरण, चारित्र, संयम व पापक्रियानिरोध इनका एक ही अर्थ है। इसमें जो कुशल अर्थात् निपुण है, वह चारण कहलाता है। तपविशेष से उत्पन्न हुई ऋद्धि के आकाशस्थित जीवों के (वध के) परिहार की अपेक्षा नहीं होती। सामान्य आकाशगामित्व की अपेक्षा जीवों के वधपरिहार की कुशलता से विशेषत: आकाशगामित्व के विशेषता पायी जाने से दोनों में भेद है।

जो ऋषि जलकायिक जीवों को बाधा न पहुँचाकर जल को न छूते हुए इच्छानुसार भूमि के समान जल में गमन करने में समर्थ हैं, वे **जलचारण** कहलाते हैं (जल पर भी पादनिक्षेपपूर्वक गमन करते हैं)।

ओस, ओला, कुहरा और बर्फ आदि पर गमन करने वाले चारणों का जलचारणों में अन्तर्भाव होता है। क्योंकि इनमें जलकायिक जीवों के परिहार की कुशलता देखी जाती है।

चार अंगुल प्रमाण पृथिवी को छोड़कर आकाश में घुटनों को मोड़े बिना या जल्दी-जल्दी जंघाओं का उत्क्षेप (क्षेप) निक्षेप करते हुए बहुत योजनों तक गमन करता है, वह **जंघाचारण** ऋद्धि है।

भूमि में पृथिवीकायिक जीवों को बाधा न करके अनेक सौ योजन गमन करने वाले जंघाचारण कहलाते हैं। कीचड़, भस्म, गोबर और भूसे आदि पर से गमन करने वालों का जंघाचारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि भूमि से कीचड़ आदि में कथंचित् अभेद है।

अग्निशिखा में स्थित जीवों की विराधना न करके उन विचित्र अग्निशिखाओं पर से गमन करने को **'अग्निशिखाचारण'** ऋद्धि कहते हैं। जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनिजन नीचे से ऊपर और तिरछे फैलने वाले धुएँ का अवलम्बन करके अस्खलित पादक्षेप देते हुए गमन करते हैं, वह **धूमचारण** नामक ऋद्धि है। जिस ऋद्धि से मुनि अप्कायिक जीवों को पीड़ा न पहुँचाकर बहुत प्रकार के मेघों पर से गमन करता है वह **'मेघचारण'** नामक ऋद्धि है। जिसके द्वारा मुनि महर्षि शीघ्रता से किये गये पद-विक्षेप से अत्यन्त लघु होते हुए मकड़ी के तन्तुओं की पंक्ति पर से गमन करता है, वह **'मकड़ीतन्तुचारण'** ऋद्धि है। जिसके प्रभाव से मुनि नाना प्रकार की गति से युक्त वायु के प्रदेशों की पंक्ति पर से अस्खलित होकर पदविक्षेप करते हैं, वह **'मारुतचारण'** ऋद्धि है।

धूम, अग्नि, वायु और मेघ आदि के आश्रय से चलने वाले चारणों का 'तन्तु-श्रेणी' चारणों में अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि वे अनुलोम और प्रतिलोम गमन करने में जीवों को पीड़ा न करने की शक्ति से संयुक्त हैं।

जिसके प्रभाव से मुनि मेघों से छोड़ी गयी जलधाराओं में स्थित जीवों को पीड़ा न पहुँचाकर उनके ऊपर से जाते हैं, वह **धाराचारण** ऋद्धि है। जिससे तपस्वी नीचे ऊपर और तिरछे फैलने वाली ज्योतिषी देवों के विमानों की किरणों का अवलम्बन करके गमन करता है, वह **ज्योतिश्चारण** ऋद्धि है।

जिस ऋद्धि का धारक मुनि वनफलों में, फूलों में तथा पत्तों में रहने वाले जीवों की विराधना न करके उनके ऊपर से जाते है, वह **फलचारण, पुष्पचारण** तथा **पत्रचारण** नामक ऋद्धि है।

तन्तुचारण, फलचारण, पुष्पचारण और बीजचारण का स्वरूप भी जलचारणों के समान कहना चाहिए (अर्थात् उनमें रहने वाले जीवों को पीड़ा न पहुँचाकर उनके ऊपर गमन करना)। कुंथुजीव, मत्कुण और पिपीलिका आदि पर से संचार करने वालों का फलचारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि इनमें त्रस

जीवों के परिहार की कुशलता की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। पत्र, अंकुर, तृण और प्रवाल आदि पर से संचार करने वालों का पुष्पचारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि हरितकाय जीवों के परिहार की कुशलता की अपेक्षा इनमें समानता है।

आकाशप्रदेशों के अनुसार गमन करना आकाशगमन या श्रेणीचारण ऋद्धि है।

तपऋद्धि के उग्र तप आदि अनेक भेद हैं -

उग्रतप ऋद्धि के धारक दो प्रकार के हैं - उग्रोग्रतप ऋद्धि धारक और अवस्थित उग्रतप ऋद्धि। उनमें जो एक उपवास करके पारणा कर दो उपवास करता है, फिर (पश्चात्) पारणा कर तीन उपवास करता है; इस प्रकार एक अधिक वृद्धि के साथ जीवन पर्यन्त तीन गुप्तियों से रक्षित होकर उपवास करने वाला 'उग्रोग्रतप' ऋद्धि का धारक है। इसके उपवास और पारणाओं का प्रमाण लाने के लिए सूत्र में चार गाथाएँ दी हैं। जिनका भावार्थ यह है कि १४ दिन में १० उपवास व ४ पारणा आते हैं। इसी क्रम से आगे भी जानना (ति.प. ४/१०५०-५१) दीक्षा के लिए एक उपवास करके पारणा करे, पश्चात् एक दिन के अन्तर से ऐसा करते हुए किसी निमित्त से षष्ठ उपवास (बेला) हो गया। फिर (पूर्ववत् हो) उस षष्ठोपवास से बिहार करने वाले के (कदाचित्) अष्टमोपवास (तेला) हो गया। इस प्रकार दशमद्वादशम आदि क्रम से नीचे न गिरकर जो जीवन पर्यन्त विहार करता है, वह अवस्थित उग्रतप ऋद्धि का धारक कहा जाता है। तप का यह अनुष्ठान भी वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से होता है।

जिस ऋद्धि के बल से ज्वर और शूलादिक रोग से शरीर के अत्यन्त पीड़ित होने पर भी साधुजन दुर्धर तप सिद्ध करते हैं, वह घोर तप ऋद्धि है। उपवासों में छह मास का उपवास, अवमोदर्य तपों में एक ग्रास, वृत्तिपरिसंख्यान में चौराहे में भिक्षा की प्रतिज्ञा, रसपरित्यागों में उष्ण जल युक्त ओदन का भोजन, विविक्तशय्यासनों में वृक, व्याघ्र, तरक्ष, छवल्ल आदि श्वापद अर्थात् हिंस्रजीवों से सेवित सह्य, विन्ध्य आदि (पर्वतों की) अटवियों में निवास, कायक्लेशों में हिमालय आदि के अन्तर्गत देशों में, खुले आकाश के नीचे, अथवा वृक्षमूल में, आतापन योग अर्थात् ध्यान ग्रहण करना। इसी प्रकार अभ्यन्तर तपों में भी उत्कृष्ट तप की प्ररूपणा करनी चाहिए। ये बारह प्रकार के ही तप कायरजनों को भयकारक (भयोत्पादक) हैं, इसी कारण घोर तप कहलाते हैं। यह तप जिनके होता है, वे घोर तप ऋद्धि के धारक हैं। बारह प्रकार के तपों की उत्कृष्ट अवस्था में वर्तमान साधु घोर तप करते हैं, यह तात्पर्य है। यह भी तपजनित (तप से उत्पन्न होने वाली) ऋद्धि ही है, क्योंकि बिना तप के इस प्रकार का आचरण बन नहीं सकता।

जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनिजन अनुपम एवं वृद्धिंगत तप से सहित, तीनों लोकों के संहार करने की शक्ति से युक्त, कंटक, शिला, अग्नि, पर्वत, धुआँ तथा उल्का आदि के बरसाने में समर्थ और सहसा सम्पूर्ण समुद्र के सलिल समूह को सुखाने की शक्ति से भी संयुक्त होते हैं, वह घोर-पराक्रम तप ऋद्धि है।

जिस ऋद्धि से मुनि के क्षेत्र में चौरादिक की बाधाएँ और अकाल एवं महायुद्धादि नहीं होते हैं, वह **अघोर ब्रह्मचारित्व ऋद्धि** है। चारित्र मोहनीय का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर जो ऋद्धि दुःस्वप्न को नष्ट करती है तथा जिस ऋद्धि के आविर्भूत होने पर महर्षिजन सब गुणों के साथ अघोर अर्थात् अविनश्वर ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, वह अघोर ब्रह्मचारित्व ऋद्धि है (रा.वा. तथा चा.सा. में इस लक्षण का निर्देश ही घोर गुण ब्रह्मचारी के लिए किया गया है।)

घोर अर्थात् रौद्र हैं गुण जिनके वे घोरगुण कहे जाते हैं।

प्रश्न - चौरासी लाख गुणों के घोरत्व कैसे सम्भव है ?

उत्तर - घोर कार्यकारी शक्ति को उत्पन्न करने के कारण घोरत्व सम्भव है। ब्रह्म का अर्थ पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति स्वरूप चारित्र है, क्योंकि वह शान्ति के पोषण हेतु है। अघोर अर्थात् शान्त हैं गुण जिसमें वह अघोरगुण है। अघोर गुण ब्रह्म (चारित्र) का आचरण करने वाले अघोरगुणब्रह्मचारी कहलाते हैं। (भावार्थः अघोर शान्त को कहते हैं। जिनका ब्रह्म अर्थात् चारित्र शान्त है उनको अघोरगुणब्रह्मचारी कहते हैं। ऐसे मुनि शान्ति, पुष्टि के कारण होते हैं, इसलिए उनके तपश्चरण के माहात्म्य से उपर्युक्त ईति, भीति, युद्ध व दुर्भिक्षादि शान्त हो जाते हैं।)

गुण और पराक्रम के एकत्व नहीं है, क्योंकि गुण से उत्पन्न हुई शक्ति की पराक्रम संज्ञा है।

जिस ऋद्धि के प्रभाव से मन, वचन और काय से बलिष्ठ ऋषि के बहुत प्रकार के उपवासों द्वारा सूर्य के समान दीप्ति अर्थात् शरीर की किरणों का समूह बढ़ता है, वह दीप्त तप ऋद्धि है। (धवला में यह और कहा है कि उनके केवल दीप्ति नहीं बढ़ती है, किन्तु बल भी बढ़ता है। इसलिए उनके आहार भी नहीं होता, क्योंकि उसके कारणों का अभाव है। यदि कहा जाय कि भूख के दुःख को शान्त करने के लिए भोजन करते हैं, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उनके भूख के दुःख का अभाव है।) तपी हुई लोहे की कड़ाही में गिरे हुए जलकण के समान जिस ऋद्धि से खाया हुआ अन्न धातुओं सहित क्षीण होता है, अर्थात् मल-मूत्रादि रूप परिणमन नहीं करता है, वह निज ध्यान से उत्पन्न हुई तप्त **'तप ऋद्धि'** है।

जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि चार सम्यग्ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्यय) के बल से मन्दर-पंक्ति प्रमुख सब ही महान् उपवासों को करता है, वह 'महातप ऋद्धि' है।

जो अणिमादि आठ गुणों से सहित हैं, जलचारणादि आठ प्रकार के चारणगुणों से अलंकृत हैं, प्रकाशमान शरीर प्रभा से संयुक्त हैं, दो प्रकार की अक्षीण ऋद्धि से संयुक्त हैं, सर्वौषध स्वरूप हैं, पाणिपात्र में गिरे हुए आहार को अमृत स्वरूप से पलटाने में समर्थ हैं, समस्त इन्द्रों से भी अनन्तगुणे बल के धारक हैं, आशीर्विष और दृष्टिविष लब्धियों से समन्वित हैं, तप्त तप ऋद्धि से संयुक्त हैं, समस्त विद्याओं के धारक हैं तथा मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानों से तीन लोकों के व्यापार को जानने वाले हैं, वे मुनि

'महातप' ऋद्धि के धारक हैं। कारण कि महत्त्व के हेतुभूत तपोविशेष को उपचार से महान् कहा जाता है। वह जिनके होता है वे महातप ऋषि हैं, ऐसा सिद्ध है। अथवा महस् अर्थात् तेजों का हेतुभूत जो तप है, वह उपचार से महा होता है। (तात्पर्य यह कि सातों ऋद्धियों की उत्कृष्टता को प्राप्त होने वाले ऋषि महातप युक्त समझे जाते हैं।)

मन, वचन और काय के भेद से बल ऋद्धि तीन प्रकार की है। इनमें से जिस ऋद्धि के द्वारा श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय इन दो प्रकृतियों का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर मुहूर्त्त मात्र काल के भीतर अर्थात् अन्तर्मुहूर्त्त काल में सम्पूर्ण श्रुत का चिन्तन करता है, जानता है, वह **'मनोबल'** नामक ऋद्धि है। जिह्वेन्द्रियावरण, नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर जिस ऋद्धि के प्रगट होने से मुनि श्रमरहित और अहीनकंठ होता हुआ मुहूर्त्त मात्र काल के भीतर सम्पूर्ण श्रुत को जानता व उच्चारण करता है, उसे **'वचनबल'** नामक ऋद्धि जानना चाहिए।

जिस ऋद्धि के बल से वीर्यान्तराय प्रकृति के उत्कृष्ट क्षयोपशम की विशेषता होने पर मुनि, मास व चातुर्मासादि रूप कायोत्सर्ग को करते हुए भी श्रम से रहित होते हैं तथा शीघ्रता से तीनों लोकों को कनिष्ठ अँगुली के ऊपर उठाकर अन्यत्र स्थापित करने में समर्थ होते हैं, वह **'कायबल'** नामक ऋद्धि है।

असाध्य भी सर्वरोगों की निवृत्ति की हेतुभूत **औषध ऋद्धि** आठ प्रकार की है - आमर्ष, क्ष्वेल, जल्ल, मल्ल, विट्, सर्व आस्याविष और दृष्टिविष।

जिस ऋद्धि के प्रभाव से जीव पास में आने पर ऋषि के हस्त व पादादि के स्पर्शमात्र से ही नीरोग हो जाते हैं, वह **'आमर्षौषधि'** ऋद्धि है। जिस ऋद्धि के प्रभाव से लार, कफ, अक्षिमल और नासिकामल शीघ्र ही जीवों के रोगों को नष्ट करते हैं , वह **'क्ष्वेलौषधि'** ऋद्धि है। पसीने के आश्रित अंगरज जल्ल कहा जाता है। जिस ऋद्धि के प्रभाव से उस अंगरज से भी जीवों के रोग नष्ट होते हैं, वह **'जल्लौषधि'** ऋद्धि कहलाती है। जिस शक्ति से जिह्वा, ओठ, दाँत, नासिका और श्रोत्रादिक का मल भी जीवों के रोगों को दूर करने वाला होता है, वह **'मलौषधि'** नामक ऋद्धि है।

तप के प्रभाव से जिनका स्पर्श समस्त औषधियों के स्वरूप को प्राप्त हो गया है, उनकी 'आमर्षौषधि प्राप्त' ऐसी संज्ञा है। इनका अघोरगुण ब्रह्मचारियों में अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि इनके अर्थात् अघोरगुण ब्रह्मचारियों के केवल व्याधि के नष्ट करने में ही शक्ति देखी जाती है पर इनका स्पर्श औषध रूप नहीं होता।

जिस ऋद्धि के बल से दुष्कर तप से युक्त मुनियों का स्पर्श किया हुआ जल व वायु तथा उनके रोम और नखादिक व्याधि के हरने वाले हो जाते हैं, वह **सर्वौषधि** नामक ऋद्धि है।

रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र, पुप्फस, खरीष, कालेय, मूत्र, पित्त, अँतड़ी,

उच्चार अर्थात् मल आदिक सब जिनके औषधिपने को प्राप्त हो गये हैं, वे सर्वौषधि प्राप्त जिन हैं।

जिस ऋद्धि से तिक्तादिक रस व विष से युक्त विविध प्रकार का अन्न वचन मात्र से ही निर्विषता को प्राप्त हो जाता है, वह 'वचननिर्विष' नामक ऋद्धि है। उग्र विष से मिला हुआ भी आहार जिनके मुख में जाकर निर्विष हो जाता है, अथवा जिनके मुख से निकले हुए वचन के सुनने मात्र से महाविष व्याप्त भी कोई व्यक्ति निर्विष हो जाता है, वे **'आस्याविष'** हैं। अथवा जिस ऋद्धि के प्रभाव से बहुत व्याधियों से युक्त जीव ऋषि के वचन को सुनकर ही झट से नीरोग हो जाया करते हैं, वह **वचन निर्विष नामक ऋद्धि** है। रोग और विष से युक्त जीव, ऋषि के वचन को सुनकर ही झट से नीरोग हो जाया करते हैं, वह **वचन निर्विष नामक ऋद्धि** है। रोग और विष से युक्त जीव जिस ऋद्धि के प्रभाव से झट देखने मात्रसे ही नीरोगता और निर्विषता को प्राप्त कर लेते हैं, वह **'दृष्टिनिर्विष'** ऋद्धि है।

जिस शक्ति से दुष्कर तप से युक्त मुनि के द्वारा 'मर जाओ' इस प्रकार कहने पर जीव सहसा मर जाता है, वह **आशीर्विष** नामक ऋद्धि कही जाती है।

अविद्यमान अर्थ की इच्छा का नाम आशिष है। आशिष है विष (वचन) जिनका वे आशीर्विष कहे जाते हैं। 'मर जाओ' इस प्रकार जिनके प्रति निकला हुआ जिनका वचन उसे मारता है। ''भिक्षा के लिए भ्रमण करो'' ऐसा वचन शिर को छेदता है, (अशुभ) ये आशीर्विष नामक साधु हैं।

प्रश्न - वचन के विष संज्ञा कैसे संभव है ?

उत्तर - विष के समान विष है। इस प्रकार उपचार से वचन को विष संज्ञा प्राप्त है। आशिष है अविष अर्थात् अमृत जिनका वे (शुभ) आशीर्विष हैं। स्थावर अथवा जंगम विष से पूर्ण जीवों के प्रति 'निर्विष हो' इस प्रकार निकला हुआ, उन्हें जिलाता है, व्याधि, वेदना और दारिद्र्य आदि के विनाश हेतु निकला हुआ जिनका वचन उस कार्य को करता है, वे भी आशीर्विष हैं, यह सूत्र का अभिप्राय है।

जिस ऋद्धि के बल से रोषयुक्त हृदय वाले महर्षि से देखा गया जीव सर्प द्वारा काटे गये के समान मर जाता है, वह **दृष्टि-विषनामक ऋद्धि** है।

दृष्टि शब्द से यहाँ चक्षु और मन (दोनों) का ग्रहण है, क्योंकि उन दोनों में दृष्टि शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है। उनकी सहचरता से क्रिया का भी ग्रहण है। रुष्ट होकर वह यदि 'मारता हूँ' ऐसा इस प्रकार देखता है, (या) सोचता है, वह क्रिया करता है तो मारता है तथा क्रोधपूर्वक अवलोकन से अन्य भी अशुभ कार्य को करने वाला (अशुभ) **दृष्टिविष** कहलाता है।

इसी प्रकार दृष्टि अमृतों का भी लक्ष्य जानकर कहना चाहिए। (अर्थात् प्रसन्न होकर वह यदि 'नीरोग करता हूँ' इस प्रकार देखता है, (या) सोचता है, या क्रिया करता है, तो नीरोग करता है तथा प्रसन्नता पूर्वक अवलोकन से अन्य भी शुभ कार्य को करने वाला **दृष्टि अमृत** कहलाता है।)

प्रश्न - दृष्टि अमृत और अघोर गुण ब्रह्मचारी में क्या भेद है ?

उत्तर - उपयोग की सहायतामुक्त दृष्टि में स्थित लब्धि से संयुक्त दृष्टिविष कहलाते हैं। किन्तु अघोरगुणब्रह्मचारियों की लब्धियाँ सर्वांगगत असंख्यात हैं। इनके शरीर से स्पृष्ट वायु में भी समस्त उपद्रवों को नष्ट करने की शक्ति देखी जाती है, इस कारण दोनों में भेद है।

विशेष इतना है कि अशुभ लब्धियों की प्रवृत्ति लब्धियुक्त जीवों की इच्छा के वश से होती है। किन्तु शुभ लब्धियों की प्रवृत्ति दोनों ही प्रकारों से सम्भव है, क्योंकि उनकी इच्छा के बिना भी उक्त लब्धियों की प्रवृत्ति देखी जाती है।

जिससे हस्ततल पर रखे हुए रूखे आहारादिक तत्काल ही दुग्धपरिणाम को प्राप्त हो जाते हैं, वह **'क्षीरस्रावी'** ऋद्धि कही जाती है। अथवा जिस ऋद्धि से मुनियों के वचनों के श्रवण मात्र से ही मनुष्य-तिर्यञ्चों के दुःखादि शान्त हो जाते हैं, उसे क्षीरस्रावी ऋद्धि समझना चाहिए। जिस ऋद्धि से मुनि के हाथ में रखे गये रूखे आहारादिक क्षण भर में मधुरस से युक्त हो जाते हैं, वह **'मध्वास्रव'** ऋद्धि है। अथवा जिस ऋषि-मुनि के वचनों के श्रवण मात्र से मनुष्य-तिर्यञ्च के दुखादिक नष्ट हो जाते हैं, वह मध्वास्रव ऋद्धि है। जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के हाथ में स्थित रूखे आहारादिक क्षणमात्र में अमृतपने को प्राप्त करते हैं, वह **'अमृतस्रावी'** ऋद्धि है। अथवा जिस ऋद्धि से महर्षि के वचनों के श्रवणकाल में शीघ्र ही दुःखादि नष्ट हो जाते हैं, वह अमृतस्रावी ऋद्धि है। जिस ऋद्धि से ऋषि के हस्ततल में निक्षिप्त रूखा आहारादिक भी क्षण मात्र में घृतरूप को प्राप्त करता है, वह **'सर्पिरास्रावी'** ऋद्धि है। अथवा जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनीन्द्र के दिव्य वचनों के सुनने से ही जीवों के दुःखादि शान्त हो जाते हैं, वह सर्पिरास्रावी ऋद्धि है।

प्रश्न - अन्य रसों में स्थित द्रव्य का तत्काल ही क्षीरस्वरूप से परिणमन कैसे सम्भव है ?

उत्तर - नहीं, क्योंकि जिस प्रकार अमृतसमुद्र में गिरे हुए विष का अमृत रूप परिणमन होने में कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों के समूह से घटित अंजलिपुट से गिरे हुए आहारों का क्षीरस्वरूप परिणमन करने में कोई विरोध नहीं है।

लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से संयुक्त जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के आहार से शेष, भोजनशाला में रखे हुए अन्न में से जिस किसी भी प्रिय वस्तु को यदि उस दिन चक्रवर्ती का सम्पूर्ण कटक भी खाये तो भी वह लेशमात्र क्षीण नहीं होती है, वह **'अक्षीणमहानसिक'** ऋद्धि है। जिस ऋद्धि से समचतुष्कोण चार धनुषप्रमाण क्षेत्र में असंख्यात मनुष्य-तिर्यंच समा जाते हैं, वह **'अक्षीणमहालय'** ऋद्धि है।

एक आत्मा में युगपत् अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न नहीं होतीं, यह कोई नियम नहीं है, क्योंकि गणधरों के एक साथ सातों ही ऋद्धियों का सद्भाव पाया जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रश्न - आहारक ऋद्धि के साथ मन:पर्ययज्ञान का तो विरोध देखा जाता है।

उत्तर - यदि आहारक ऋद्धि के साथ मन:पर्यय ज्ञान का विरोध देखने में आता है, तो रहा आवे। किन्तु मन:पर्यय के साथ विरोध है, इसलिए आहारक ऋद्धि का दूसरी सम्पूर्ण ऋद्धियों के साथ विरोध है, ऐसा नहीं कहा जाता है। अन्यथा अव्यवस्था की आपत्ति आ जायेगी।

अणिमादि लब्धियों से सम्पन्न प्रमत्तसंयत जीव के विक्रिया करते समय आहारक शरीर की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

छठे गुणस्थान में वैक्रियिक और आहारक शरीर की क्रिया युगपत् नहीं होती और योग भी नियम से एक काल में एक ही होता है। इस प्रकार तप के प्रभाव से अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं।

चारित्राराधना से उत्पन्न होने वाला मुख्य फल

भवति यथाख्याताख्यं, चरित्रं नि:शेषवस्तुसमभावम्।
मुख्यफलं तद्विद्याच्चारित्राराधनाप्रभवम्॥२४७॥

अन्वयार्थ - **चारित्राराधनाप्रभवं** - चारित्र आराधना से उत्पन्न। **नि:शेषवस्तुसमभावं** - सर्व वस्तुओं में समभाव रखने वाला। **यथाख्याताख्यं** - यथाख्यात नामक। **चरित्रं** - चारित्र की उत्पत्ति है। **तत्** - वह। **मुख्यफलं** - मुख्यफल। **विद्यात्** - जानो।

अर्थ - सर्व वस्तुओं में समभाव रखने वाले यथाख्यात चारित्र की उत्पत्ति ही चारित्राराधना का मुख्यफल है अर्थात् चारित्राराधना का अमुख्य फल ऋद्धियों की उत्पत्ति और स्वर्ग-सम्पदा आदि अभ्युदय है और मुख्यफल यथाख्यात नामक चारित्र की उत्पत्ति है। (यथाख्यात चारित्र का लक्षण चारित्राराधना में लिखा है।)

तपाराधना का फल

सम्यग्दृशि देशयतौ विरतेऽनन्तानुबन्धिविनियोगे।
दर्शनमोहक्षपके कषायशमके तदुपशान्ते॥२४८॥
क्षपके क्षीणकषाये जिनेष्वसंख्येयसंगुणश्रेण्या।
निर्जरणं दुरितानां तपसो मुख्यं फलं भवति॥२४९॥ युग्मम्।

अन्वयार्थ - **सम्यग्दृशि** - सम्यग्दृष्टि के। **देशयतौ** - देशविरति के। **विरते** - छठे-सातवें गुणस्थानस्थ मुनि के। **अनन्तानुबन्धि-विनियोगे** - अनन्तानुबंधी का विसंयोजन करने वाले के। **दर्शनमोहक्षपके** - दर्शन मोह का क्षय करने वाले के। **कषायशमके** - उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होने वाले के। **तदुपशान्ते** - सर्व कषायों का उपशमन करके ११वें गुणस्थान में स्थित के। **क्षपके** - क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होने वाले के। **क्षीणकषाये** - क्षीणकषाय नामक १२वें गुणस्थान में। **जिनेषु** - जिनेन्द्रभगवान के

अर्थात् १३वें और १४वें गुणस्थान में। **दुरितानां** - पाप कर्मों की। **असंख्येयगुणश्रेण्या** - असंख्यात गुण श्रेणी रूप। **निर्जरणं** - निर्जरा। **भवति** - होती है। **तपसः** - तप का। **मुख्यं** - मुख्य। **फलं** - फल है।

अर्थ - सम्यग्दृष्टि, देशव्रती, सरागसंयमी, अनन्तानुबंधी का विसंयोजन करने वाले, दर्शनमोह की सत्ता-व्युच्छित्ति करके क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के समय, उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होने वाले के, ग्यारहवें गुणस्थान में, क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होने वाले के, १२वें गुणस्थान को प्राप्त क्षपक के और तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थान में कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा होती है, यह तपश्चरण का मुख्य फल है अर्थात् तपश्चरण का मुख्य फल है- कर्मों की संवरपूर्वक असंख्यात गुणी निर्जरा होना और अमुख्य फल है सांसारिक अभ्युदय।

तपश्चरण का मुख्य फल

अतिशयमात्मसमुत्थं विषयातीतं च निरुपममनन्तम्।
ज्ञानमयं नित्यसुखं तपसो जातं तु मुख्यफलम्॥२५०॥

अन्वयार्थ - **अतिशयं** - अतिशयवान। **आत्मसमुत्थं** - आत्मा से उत्पन्न। **विषयातीतं** - विषयातीत। **निरुपमं** - निरुपम। **अनन्तं** - अन्तरहित। **च** - और। **ज्ञानमयं** - ज्ञानमय। **नित्यसुखं** - नित्य सुख की। **जातं** - उत्पत्ति होना ही। **तपसः** - तप का। **मुख्यफलं** - मुख्य फल है। **तु** - पादपूर्ति के लिए है।

अर्थ - तपश्चरण के द्वारा इस मानव को अतिशयवान, पर-पदार्थनिरपेक्ष, आत्मा से उत्पन्न, पंचेन्द्रिय विषयों से रहित, निरुपम, अनन्त, अविनाशी और ज्ञानानन्दमय नित्य सुख उत्पन्न होता है। आत्मीय सुख की प्राप्ति ही तपश्चरण का मुख्य फल है।

॥ इति आराधनाफलम् ॥

उपसंहार

छद्मस्थतया यस्मिन् यदि बद्धं किंचिदागमविरुद्धम्।
शोध्यं तद् धीमद्भिर्विशुद्धबुद्ध्या विचार्य पदम्॥२५१॥

अन्वयार्थ - **छद्मस्थतया** - छद्मस्थ होने से। **यस्मिन्** - जिस ग्रन्थ में वा इस ग्रन्थ में। **यदि** - यदि। **किंचित्** - कुछ। **आगमविरुद्धं** - आगमविरुद्ध। **बद्धं** - लिखा हो, निबद्ध किया हो। **तत्** - वह। **पदं** - पद का (अक्षरसन्धि, रेफ, अर्थादि का)। **विचार्य** - विचार करके। **विशुद्धबुद्ध्या** - विशुद्ध बुद्धि के द्वारा। **धीमद्भिः** - बुद्धिमानों द्वारा। **शोध्यं** - शुद्ध करना चाहिए।

अर्थ - छद्मस्थ होने के कारण यदि मैंने इस ग्रन्थ में किंचित् भी आगमविरुद्ध लिखा हो, तो पद, अक्षरादि का विचार करके ज्ञानीजन निर्मल बुद्धि से इसका संशोधन करें अर्थात् मेरी भूल का सुधार करें।

ग्रन्थ रचयिता का और उनके ग्राम का नाम

श्रीरविचन्द्रमुनीन्द्रैः पनसोगेग्रामवासिभिर्ग्रन्थः।
रचितोऽयमखिलशास्त्रप्रवीणविद्वन्मनोहारी ॥२५२॥

अन्वयार्थ - पनसोगेग्रामवासिभिः - पनसोगे ग्राम में रहने वाले। **श्रीरविचन्द्रमुनीन्द्रैः** - श्री रविचन्द्र मुनीन्द्र ने। **अखिलशास्त्रप्रवीणविद्वन्मनोहारी** - सम्पूर्ण शास्त्रीय ज्ञान में प्रवीण विद्वानों के मन को हरण करने वाला। **अयं** - यह आराधना - समुच्चय नामक। **ग्रन्थः** - ग्रन्थ। **रचितः** - रचा गया है।

अर्थ - इस ग्रन्थ के रचनाकर्त्ता पनसोगे ग्राम में रहने वाले श्री रविचन्द्र मुनीन्द्र हैं। यह ग्रन्थ सर्वशास्त्र के ज्ञाता विद्वानों को रुचिकर है, अन्य को नहीं। जो अज्ञानी हैं, उनकी तत्त्व के कथन में रुचि, श्रद्धा नहीं होती। इस ग्रन्थ का नाम आराधना समुच्चय है।

इस ग्रन्थ में दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्राराधना और तपाराधना का कथन है - जिसका पठन, मनन, चिंतन करने से आत्मीय आनन्द प्राप्त होता है, आत्मसुख का अनुभव होता है।

॥ इत्याराधनासमुच्चयं समाप्तम् ॥

❋ श्लोकानुक्रमणिका ❋

श्लोक	संख्या	पृ. सं.
अक्षरजमनक्षरजं	६७	८९
अक्षरहीनाध्ययना-	२३७	३२५
अज्ञानस्य विनाशन-	२४४	३४७
अतिशयमात्मसमुत्थं	२५०	३६२
अत्युष्णशीतकर्कश	१६१	२२१
अथ मिथ्यात्वोदयगो	२०	४८
अथवा द्वित्रिचतु:पञ्चादि	५८	८०
अथवा द्वेधा दशधा	३७	६९
अथ सम्यक्त्वं प्राप्त:	२४	६१
अथ सम्यङ्मिथ्यात्वं	२२	५७
अध्रौव्याशरणैक	१३२	२०६
अन्तर्मुहूर्तकाल	२३	५७
अन्तर्मुहूर्तकालं	२५	६१
अन्तर्मुहूर्तभङ्ग-	१०१	१५५
अन्तर्मुहूर्तमपरं	१००	१५४
अन्तर्मुहूर्तसमयौ	९९	१५३
अन्यमनोगतविषय:	८१	१०५
अन्योऽज्ञोऽयं प्राणी	१४९	२१५
अभ्यन्तरजातत्वा	२१०	२७२
अभ्यन्तरं च षोढा	११०	१७१
अभ्युदयजनि:श्रेयस-	१८६	२६०
अर्तिर्दु:खं तस्यां	११७	१८८
अर्थानां याथात्म्या-	८०	१०४
अर्थेष्वेकं पूर्वं-	२००	२६७
अवधिज्ञानात्पूर्वं	४६	७५
अविरतसम्यग्दृष्ट्या	२९	६५
अविरतसम्यग्दृष्ट्याद्या	५१	७७
अशुचितमशुक्रशोणित	१६७	२५१
अष्टविधकर्मरहिता:	२१५	२७८
अस्थिघटितं सिरा-	१६८	२५२
आकाशस्फटिकमणि-	१९८	२६५
आज्ञेत्यागमसंज्ञा	१२२	१९४

श्लोक	संख्या	पृ. सं.
आचारादिविकल्पाद्	६८	८९
आचारं पञ्चविधं	२१७	२८०
आद्यचरित्रद्वितयं	९६	१५०
आद्ये चरिते स्यातां	९५	१५०
आद्येषु त्रिषु चरिते	९८	१५३
आद्येष्वार्तध्यानं	२०४	२६८
आद्यं विज्ञानत्रय	७९	१०४
आर्तध्यानविकल्पा	२०६	२७०
आत्मन्येकीभूत:	१३८	२०६
आप्तागमतत्त्वार्थ-	४	११
आप्तोक्ता वागागम	५	१२
आराधनाचतुष्क-	२४१	३४६
आराधयता चरितं	२३४	२९८
आराध्याराधकजन-	२	१०
आस्रवहेतुर्मिथ्यात्वा-	१७३	२५४
इतरत्रिकसंहनन	११६	१८७
इत्यतिदुर्लभरूपां	१९६	२६४
इन्द्रादिनिलिम्पाना-	१३५	२०६
इन्द्रियमनसोर्दर्प-	१०२	१५६
इन्द्रियमनसां षण्णां	५६	८०
इन्द्रियमनोभिरभिमुख-	५५	८०
उत्कृष्टजघन्यद्वय-	७७	१०२
उत्तमसंहननस्यैकाग्रज-	११५	१८२
उत्पद्यतेऽथ मिथ्या-	७५*१	१०२
उत्पद्यते हि वेदक	३३	६७
उत्सर्पणावसर्पण	१५५	२१६
उदयोत्था संसृतिगत-	१८२	२५९
उपशमकश्रेणिं तेना-	२८	६३
उपशमवेदकसम्यग्-	२२२	२९२
ऋजुधीपर्ययबोधन-	८२	१०५
एकद्वित्रिचतु:पञ्चेन्द्रिय-	१६३	२२१
एकाक्षरादिवृद्ध्या	६४	८६

श्लोक	संख्या	पृ. सं.
एकेन्द्रियजात्यादि-	२४२	३४६
एको गर्भार्भकनव-	१४५	२१३
एतानि ज्ञानानि	८४	१०८
कारणवशेन गाढं	१७४	२५५
कार्येण जनस्य जन:	१५०	२१५
कालेऽप्यपरिसमाप्ते	१८३	२५९
कालो द्वितीयगुणिनो	१८	४६
कालोपायाभ्यां फल-	१८५	२६०
किंजल्कपुञ्जपिञ्जर	१४३	२१२
केवलदर्शनबोधौ	४९	७६
केवलबोधनविषय:	४७	७५
कैवल्यबोधनोऽर्थान्	२०२	१६८
क्रमकरणव्यवधाना	२४५	३४७
क्रोधाद्यास्रवजानां	१८०	२५८
कृतदोषस्य निवृत्तिं	१११	१७१
क्षपके क्षीणकषाये	२४९	३६१
क्षपकश्रेणीसदृश-	३१	६५
क्षायिकसम्यग्दर्शन-	३२	६७
क्षायोपशमिकमन्यद्	९७	१५०
क्षुत्तृड्भीक्रुध्राग	६	१४
क्षेत्रादिदशत्यागो	२०९	२७१
गुणकारणजं तिर्यङ्	७३	९८
गुणकारणस्य नाभे:	७५	९८
गुणिन: पञ्चविकल्पा	२११	२७२
चक्रधरादिनराणां	१३६	२०६
चक्षुर्ज्ञानात्पूर्वं	४४	७३
चक्षुर्मनसोर्नास्ति	५७	८०
चतुरिन्द्रियादिनष्ट-	५०	७७
छद्मस्थतया यस्मिन्	२५१	३६२
छेदनभेदनताडन-	१६२	२२१
जन्मसमुद्रे बहुदोष-	१७१	२५३
जलबुद्बुदेन्द्रचाप-	१३९	२०७
जाग्रदवस्थावस्थ:	१३	३३
जानाति यत्पदार्थान्	५३	७८
ज्ञानादनन्तगुणविज्ञानं	६३	८५
ज्ञानादिगुणप्रकृतिक	१५१	२१५

श्लोक	संख्या	पृ. सं.
ज्ञानावरणादीना-	१२३	१९५
जीवाजीवौ धर्माधर्मौ	९	१७
जीवाद्यर्था यस्मिन्	१५८	२२०
तत्कालस्यान्तर्यदि	१७	४६
तत्त्वक्षुरादिदर्शन-	४३	७३
तद्वक्त्रात् पूर्वापर-	८	१६
तद्वै मतिश्रुतावधि-	५४	७९
तनुचेतोदर्पहरं	२३२	२९७
तत्राराध्यं गुणगुणि-	३	११
तत्त्वज्ञानमुदासीन-	२०४*१	२६९
तत्सरागं विरागं च	१०*१	२८
तस्योपरि षड्वृद्धिषु	६२	८५
तीर्थकृदिन्द्रस्थान्न	१३०	२०४
तेषूपशमजसम्यग्	११	३२
त्रिकरणशुद्धिं कृत्वा	१४	३३
त्रिकरणशुद्ध्या नीचै-	११२	१७५
त्रिकरण्या दृग्मोह-	२७	६३
त्रिभुवनपतिभिरभिष्टुत-	२१३	२७४
त्रिविधविकल्पसमन्वित-	८९	१४४
त्रिंशद्वर्षाद् योगी	९०	१४६
त्रैलोक्यस्य च लाभा-	४०	७१
दर्शनमाराधयता	२२६	२९५
दर्शननष्टो नष्टो	३९	७०
दर्शयति यत्पदार्थां	४२	७२
दशचतुरेकं सप्तदशा	१२७	१९५
दुरितानां तु शुभाशुभ-	१२९	२०४
दुर्लेश्याध्यानव्रत-	२३८	३३१
दुष्कर्मपाकसंभव-	१४०	२११
दु:परिणामसमुद्भव-	२०८	२७१
देशविरतादिनष्ट-	२२४	२९४
देशविरतादिनष्ट-	२२५	२९४
देशसकलाभिधाभ्यां	१८४	२५९
देशावधिविज्ञानं	७१	९८
दोषास्तेषां हन्ता	७	१४
दृक्पूर्व एव बोध:	४८	७६

श्लोक	संख्या	पृ. सं.
दृग्बोधनादिगुणरूपा-	१४७	२१३
दृष्टिव्रतसामयिक-	१८८	२६१
द्रव्यं क्षेत्रं कालं	७२	९८
द्रव्यक्षेत्रादिवशात्	१०४	१५७
द्वादशधा गदितानुप्रेक्षा	१३१	२०५
द्वाविंशतिभेदपरीषह-	२४०	३४२
द्वित्रिचतुःपञ्चादि-	२१	५०
धर्मः कल्पमहीजो	१९१	२६२
धर्मध्यानविशेषाद्	२०७	२७०
धर्मसहचारिपुरुषो	१२१	१९३
धर्मो बन्धुर्जगतां	१९०	२६२
ध्रौव्याध्रौव्याद्यात्म-	१३३	२०६
नरकजघन्यायुष्या-	१५६	२१६
निर्गलितसिक्थमूषा	२१४	२७८
निर्वाणराज्यलक्ष्म्याः	४१	७१
निर्वृतियोग्ये क्षेत्रे	३०	६५
निःशेषदुरितनिवह-	२४३	३४६
निष्पतदन्तर्ज्योति-	५९	८४
पञ्चविधे संसारे	१५२	२१६
पञ्चेन्द्रियता नृत्वं	१९३	२६३
पतिता बोधिः सुलभा	१९७	२६४
परमावधिविज्ञानं	७६	१०२
परिहारमनःपर्यय-	१६	४६
परिहारर्द्धिसमेतः	९२	१४६
परिहाराहारर्द्धिक-	२४६	३४८
पर्यायाक्षरपदसंघातादि-	६०	८४
पुद्गलपरिवर्ताधं	३६	६९
पूर्वोपार्जितकर्म-	१८१	२५८
प्रथमतृतीये कालः	५२	७७
प्रागाश्रितकर्मवशाद्	१७५	२५६
प्राणीन्द्रियेषु षड्विध	८६	१२९
प्रादेशिकं तु गौण्यं	७४	९८
बद्धायुष्यचतुष्को	३५	६८
बन्धादिभिर्विकल्पै-	१२४	१९५
बहुजात्यश्वमदद्विप	१४२	२१२

श्लोक	संख्या	पृ. सं.
बाह्यजनज्ञातत्वाद्-	१०९	१७०
बाह्यं षडात्मकं स्यात्	१०३	१५७
बुद्धितवो वि य लद्धी	२४६*१	३४९
बोधिस्तत्त्वार्थानां	१९२	२६३
भवति यथाख्याताख्यं	२४७	३६१
भिक्षासमुत्थकांक्षा	१०७	१६८
भुवनत्रितये पुण्योदर्कज-	१३४	२०६
मक्षिकपत्रसमानं	१७०	२५३
मतिजश्रुतजे ज्ञाने	६९	९८
मत्यादिछद्मस्थज्ञान-	२२३	२९२
मर्त्यक्षेत्रसमाने	१६६	२२१
मनुजेषु पापपाकात्	१६४	२२१
मातृपितृपुत्रपौत्र-	१४८	२१४
मिथ्यात्वास्रवजानां	१७९	२५८
मिथ्यादृष्टिर्भव्यो	१२	३३
मिथ्यादृष्टौ च यतौ	२२८	२९५
मूलोत्तराभिधानै-	२२०	२९०
मोहानुदयादेकाकार-	९४	१५०
यत्तु जघन्यं ज्ञानं	६१	८४
यत्साम्यशनं तत्स्यात्	१०६	१६७
यद्वत्सास्रवपोतो	१७२	२५४
यद्वदनास्रवपोतो	१७७	२५७
यद्वन्न शरणमुग्र	१४४	२१२
यस्माच्चारित्रवतः	२३१	२९६
युक्तायुक्तविवेको	१९४	२६३
रसाद् रक्तं ततो मांसं	१६७*१	२५१
रुद्रः क्रूरस्तस्मिन्	११९	१९०
रूपिद्रव्यनिबद्धं	७०	९८
रूपं कान्तिस्तेजो	१३७	२०६
लब्धेषु तेषु नितरां	१९५	२६४
लांतवकप्पे तेरस	२५*१	६२
वस्त्वेकं पूर्वश्रुत-	२०१	२६७
वातं पित्तं तथा	१६७*२	२५२
विनिहतघातिचतुष्का	२१२	२७४
विपुलमनःपर्ययमपि	८३	१०६

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

श्लोक	संख्या	पृ. सं.
विविधसुखदुःखकारण	१४६	२१३
वृक्षस्य यथा मूलं	३८	७०
वेदकसम्यग्दृष्टिः	२६	६३
व्यापदि यत् क्रियते तत्	११३	१८०
व्रतसमितिगुप्तिसंयम-	८८	१३०
व्रतसमितिगुप्तिसंयम-	२१८	२८९
व्रतसमितिगुप्तिसंयम-	२३९	३३१
शङ्कादिदोषसंकुल-	२३६	२९९
शान्तकषाये प्रथमं	२०५	२७०
शिष्यानुग्रहनिग्रह-	२१६	२७९
शीलेशितामुपेतो	२०३	२६८
शुचिसुरभिपूतजल-	१६९	२५३
शुद्धनयाविज्ञानं	२२९	२९६
शुद्धाशुद्धचरित्रै-	१६५	२२१
शुद्धाशुद्धनयद्वय-	२३५	२९८
शुद्धं वा मिश्रं वा	१५	४५
शेषेन्द्रियावबोधात्	४५	७४
श्रीरविचन्द्रमुनीन्द्रैः	२५२	३६३
षट्सु अधः पृथ्वीषु	३४	६७
षोडशकपञ्चविंशति	१२५	१९५
स द्विविधः सागारो	१८७	२६१
सप्ताधो नरकाः स्युः	१६०	२२१
सप्ताष्टषोडशैकैकं	१२८	१९५
स पृथक्त्ववितर्कान्वित-	१९९	२६५
सम्यग्दर्शनबोधन-	१	१
सम्यग्दर्शनचिह्नं	१०	२०
सम्यग्दर्शनभाजा	२२७	२९५
सम्यग्दृशि देशयतौ	२४८	३६१
सम्यग्दृशोऽप्यविरत-	२३३	२९७
सर्वत्र जगत्क्षेत्रे	१५४	२१६
सर्वप्रकृतिस्थित्यनु-	१५७	२१६
सर्वावधिविज्ञानं	७८	१०२
सर्वेऽपि पुद्गलाः	१५३	२१६
सामान्यविशेषात्मक-	८५	१०९
सावद्ययोगविरतिः	८७	१२९
सासादनस्य नरकेषु	१९	४७
सूक्ष्मीकृते तु लोभ-	९३	१४९
सैकद्विषोडश	१२६	१९५
संख्येयाक्षरजनितं	६५	८७
संघातादिज्ञाना-	६६	८७
संयममाराधयता	२३०	२९६
संयमविनाशभीरु-	९१	१४६
संवरहेतुः सम्यग्	१७८	२५७
संसारवारिराशेः	१७६	२५६
सिंहगजवृषभमृगपशु-	२२१	२९०
स्त्रीपश्वादिविवर्जित-	१०८	१७०
स्यात्सुप्रतिष्ठकाकृति	१५९	२२१
स्युः क्षान्तिमार्दवार्जव	१८९	२६२
स्वध्ययनमागमस्य	११४	१८१
स्वपरव्यापृतिरहितं	१०५	१६७
स्वपरसमयागमानां	२१९	२८९
स्वर्गो दुर्गं वज्रं	१४१	२११
स्वेष्टवियोगादौ सति	११८	१८८
हिंसादीनां बाह्ये	१२०	१९०

卐 उद्धृतपद्यानां सूची 卐

उत्पद्यतेऽथ मिथ्या	७५*१	१०२
तत्त्वज्ञानमुदासीन-	२०४*१	२६९
तत्सरागं विरागं च	१०*१	२८
बुद्धितवो वि य लद्धी	२४६*१	३४९
रसाद् रक्तं ततो मांसं	१६७*१	२५१
लांतवकप्पे तेरस	२५*१	६२
वातं पित्तं तथा	१६७*२	२५२